जिनवाणी

मंगल-मूल धर्म की जननी, शाश्वत, सुखदा, कल्याणी।
द्रोह, मोह, छल, मान-मर्दिनी, फिर प्रगटी यह 'जिनवाणी'।।

भगवान महावीर के २६००वें जन्म-कल्याणक महोत्सव के अवसर पर प्रकाशित

जैनागम साहित्य-विशेषांक
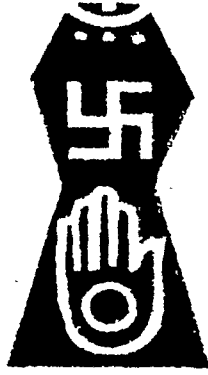
परस्परोपग्रहो जीवानाम्

❁ सम्पादक ❁

डॉ. धर्मचन्द जैन

❁ प्रकाशक ❁

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
बापू बाजार, जयपुर

जिनवाणी

जैनागम साहित्य-विशेषाङ्क

जनवरी, फरवरी, मार्च, अप्रेल [illegible]

वीर निर्वाण सम्वत् 2528

पौष, माघ, फाल्गुन, चैत्र सम्वत् [illegible]

वर्ष : 59 **अंक : 1, 2, 3, 4**

प्रकाशक

प्रकाशचन्द डागा
मन्त्री-सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल,
दुकान नम्बर 182-183 के ऊपर, बापू बाजार,
जयपुर-302003 (राज.), फोन : 565997

संस्थापक

श्री जैन रत्न विद्यालय, भोपालगढ़

सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र

3 K 25, कुड़ी भगतासनी
हाउसिंग बोर्ड, जोधपुर-342005 (राज.)
फोन : 0291 -747981

भारत सरकार द्वारा प्रदत्त
रजिस्ट्रेशन नं. 3653/57
डाक पंजीयन सं. RJ 2803/02

सदस्यता

स्तम्भ सदस्यता	11,000 रु.
संरक्षक सदस्यता	5,000 रु.
आजीवन सदस्यता देश में	500 रु.
आजीवन सदस्यता विदेश में	100 $ (डालर)
त्रिवर्षीय सदस्यता	120 रु.
वार्षिक सदस्यता	50 रु.
इस विशेषाङ्क का मूल्य	50 रु.

मुद्रक : दी डायमण्ड प्रिन्टिंग प्रेस, मोतीसिंह भोमियों का रास्ता, जयपुर, फोन : 562929

“जहा सूई ससुत्ता, पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ।।

—उत्तराध्ययन २९.५९

जैसे सूत्रसहित सूची, गिर कर भी होती नष्ट नहीं।
वैसे ससूत्र प्राणी जग में रहकर भी होते नष्ट नहीं।।

जिस प्रकार धागे सहित सुई गिर जाने पर भी खोती नहीं है उसी प्रकार शास्त्रज्ञान सहित जीव संसार में विनष्ट नहीं होता।

प्रकाशकीय

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के द्वारा विगत ५९ वर्षों से 'जिनवाणी' मासिक पत्रिका का प्रकाशन किया जा रहा है। 'जिनवाणी' पत्रिका के समय-समय पर प्रकाशित विशेषांकों ने पाठकों को एक विषय पर विशिष्ट ज्ञानराशि उपलब्ध कराने का प्रयास किया है। उसी शृंखला में यह १५वाँ विशेषांक जैनागमों के अध्ययन की ओर पाठकों को आकृष्ट कर रहा है। इस अंक में प्रायः समस्त श्वेताम्बर आगमों का परिचय देने के साथ प्रमुख दिगम्बर आगम-तुल्य ग्रन्थों का भी परिचय दिया गया है। जिनवाणी के अब तक प्रकाशित १४ विशेषांक इस प्रकार हैं— 'स्वाध्याय' (१९६४), 'सामायिक' (१९६५), 'तप' (१९६६), 'श्रावक धर्म' (१९७०), 'साधना' (१९७१), 'ध्यान' (१९७२), 'जैन संस्कृति और राजस्थान' (१९७५), 'कर्म-सिद्धान्त' (१९८४), 'अपरिग्रह' (१९८६), 'आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. श्रद्धांजलि अंक' (१९९१), आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा.: व्यक्तित्व एवं कृतित्व' (१९९२), 'अहिंसा' (१९९३), 'सम्यग्दर्शन' (१९९६) एवं 'क्रियोद्धार : एक चेतना' (१९९७)।

भगवान महावीर के २६००वें जन्म-कल्याणक वर्ष में प्रस्तुत 'जैनागम-साहित्य' विशेषांक प्रकाशित करते हुए हमें महती प्रसन्नता है। जैनागम का एक अर्थ जिनवाणी भी है। सम्प्रति आध्यात्मिक एवं धार्मिक अध्ययन के प्रति लोगों में रुचि की अभिवृद्धि दृष्टिगोचर होती है। सन्तों की प्रेरणा, परीक्षाओं के आयोजन आदि इसमें सहकारी निमित्त रहे हैं। ज्ञान के प्रति बढ़ती इस रुचि को देखकर लगता है कि पाठक जिनवाणी के इस विशेषाङ्क का अवश्य स्वागत करेंगे। वे आगमों का परिचय प्राप्त कर अपना ज्ञानवर्द्धन करेंगे तथा जिज्ञासा भाव बढ़ने पर अभीष्ट आगम का विस्तृत अध्ययन करने हेतु तत्पर बनेंगे। जिनागम हमारे जीवन को सही दिशा प्रदान कर आत्मबल एवं पुरुषार्थ की वृद्धि में सहायक बनते हैं।।

हम उन सम्माननीय विद्वानों, सन्तों एवं लेखकों के प्रति आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने अपने आलेख भेजकर इस विशेषांक को समृद्ध बनाया है। आकारवृद्धि के कारण विशेषाङ्क में जिन समीक्षात्मक लेखों का समावेश नहीं हो सका है, उन्हें जिनवाणी के आगामी किसी अंक में प्रकाशित किया जाएगा। सम्पादक डॉ० धर्मचन्द जी एवं अन्य सभी सहयोगियों का भी हम धन्यवाद ज्ञापित करते हैं। जिन महानुभावों ने इस विशेषांक के प्रकाशन में सहयोग राशि भेजी है, उनकी आगमनिष्ठा की हम प्रशंसा करते हैं।

चेतनप्रकाश डूंगरवाल	ईश्वरलाल जैन	प्रकाशचन्द डागा
अध्यक्ष	कार्याध्यक्ष	मंत्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

सम्पादकीय

जिनभाषित वाणी के अभिप्रेत अर्थ को ग्रहण कर गणधरों एवं उनके अनन्तर स्थविर मुनियों ने जिन्हें शब्द रूप में गूंथा, वे ही ग्रन्थ 'आगम' नाम से जाने जाते हैं। 'आगम' शब्द का यह अर्थ जैनागमों के संदर्भ में है। वैसे 'आगम' मात्र जैन धर्म-दर्शन का शब्द नहीं है, इसका प्रयोग शैव, न्याय, सांख्य आदि जैनेतर भारतीय दर्शनों में भी हुआ है। 'आगम' शब्द प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि प्रमाणों की भांति एक पृथक् प्रमाण है। कुछ बातें/प्रमेय जब प्रत्यक्ष एवं अनुमान से न जान सकें, तो उन्हें 'आगम' से जाना जा सकता है। वेद को प्रमाण मानने के संबंध में कथन है- **प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते। तं विदन्ति वेदेन, तस्माद् वेदस्य वेदता।।** अर्थात् जिसे प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण से न जाना जा सके, उसे वेद से जाना जाता है। वेद का यही वैशिष्ट्य है। 'आगम' प्रमाण का भी यही वैशिष्ट्य है कि यह हमें साधारण इन्द्रियों से एवं मन से होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान तथा तर्क के आधार पर होने वाले अनुमान ज्ञान से भी भिन्न विषयों का यथार्थ ज्ञान कराता है।

'आगम' प्रमाण का दूसरा नाम 'शब्द' प्रमाण भी है। आगम या शब्द को प्रमाण मानने वाले न्याय, सांख्य, मीमांसा, वेदान्त, शैव, जैन आदि दर्शन 'आगम' को प्रमाण मानकर भी उसके स्वरूप के संबंध में एकमत नहीं हैं। हाँ 'आप्तवचनम् आगमः' इस लक्षण में तो सबकी सहमति है, किन्तु वह 'आप्त' कौन है, इस संबंध में मतभेद हैं। जैनागमों के संदर्भ में तो तीर्थंकर, गणधर एवं स्थविर ही आप्त हैं, तथा उनकी वाणी ही आगम है।

यह आगम-वाणी अहिंसा, सत्य, संयम, तप आदि जीवनमूल्यों को स्थापित करती है। आगम-वाणी इस दृष्टि से अर्थरूप में शाश्वत होती है, किन्तु शब्द रूप में गणधरों एवं स्थविरों द्वारा पुनः पुनः ग्रथित की जाती है। इस दृष्टि से वह अशाश्वत भी है। तीर्थंकर संसार के दुःखों से मुक्त होने का मार्ग बतलाते हैं। वह मार्ग तो शाश्वत है, किन्तु प्रतिपादन-कर्ताओं की शब्दावली में अन्तर आ जाता है। जैनधर्म में अर्थ/अभिप्राय का महत्त्व रहा है, वेदों में शब्द का महत्त्व रहा है। धीरे-धीरे जैनधर्म में भी अर्थ की सुरक्षा हेतु शब्द को महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा।

आगमों की भाषा अर्धमागधी प्राकृत रही है। सभी श्वेताम्बर आगमों की मूलभाषा अर्धमागधी है। तीर्थंकर महावीर ने अर्धमागधी भाषा में ही प्रवचन किया है- **भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खई** (समवायांग, समवाय ३४, सूत्र २२)। औपपातिक सूत्र, भगवतीसूत्र एवं आचारांगचूर्णि में भी भगवान के द्वारा अर्धमागधी भाषा में प्रवचन करने का उल्लेख मिलता है। दिगम्बर परम्परा भी इस बात से सहमत है कि भगवान महावीर ने अर्धमागधी भाषा में उपदेश दिया। फिर भी स्थानीय प्रभाव आदि से दिगम्बरों के मान्य ग्रन्थ इस समय शौरसेनी प्राकृत में तथा श्वेताम्बरों के

आगम अर्धमागधी में हैं। श्वेताम्बर आगमों पर भी स्थानीय कारणों से महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

तीर्थंकर महावीर के ११ गणधरों की ९ आगम-वाचनाएँ थी, किन्तु इनमें से ९ गणधर तो भगवान महावीर के निर्वाण के पूर्व ही मुक्त हो गए थे। गौतम गणधर भी वीर निर्वाण संवत् १२ में निर्वाण प्राप्त हो गए। पंचम गणधर आर्य सुधर्मा स्वामी की वाचना शेष रही तथा वही अभी संप्राप्त है। तीर्थंकरों के उपदेशों का अभिप्राय ही गणधरों के द्वारा सूत्ररूप में प्रस्तुत किया जाता है-

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ।।

– आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 192

अरहन्त अर्थरूप वाणी फरमाते हैं तथा शासन के हित के लिए गणधर उसे सूत्ररूप में गूंथते हैं। गणधर भी मात्र अंग आगमों की ही रचना करते हैं, किन्तु उनके अनन्तर स्थविर अंगबाह्य आगमों की रचना करते हैं-

गणहरथेरकयं वा आएसा, मुक्कवारणओ वा।
धुव-चल-विसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं।। -विशेषावश्यक भाष्य

गणधरों अथवा स्थविरों द्वारा रचित अंग एवं अनंग (अंग बाह्य) आगम दोनों का प्रामाण्य है। जब स्थविरकृत आगम तीर्थंकर वाणी के अनुरूप एवं अबाधित हो तभी उनका प्रामाण्य स्वीकार्य होता है।

मूलाचार में कहा गया है कि सूत्र गणधर कथित, प्रत्येकबुद्ध कथित, श्रुतकेवलि कथित तथा दशपूर्वी कथित होता है-

सुत्तं गणहरकथिदं, तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।
सुदकेवलिणा कथिदं, अभिण्णदसपुव्वकथिदं च।। -मूलाचार 5.80

आगमों की पाटलिपुत्र (वीर निर्वाण १६० वर्ष), कुमारी पर्वत (वीर निर्वाण ३०० वर्ष), मथुरा (वीर निर्वाण ८२७), वल्लभी (नागार्जुनीय वाचना एवं वल्लभी (वीर निर्वाण ९८० वर्ष) में वाचनाएँ हुई। इनमें अन्तिम वाचना देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय हुई। आगम की यह परम्परा उसके पश्चात् निरन्तर उसी रूप में चल रही है। देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने आगमों का नया निर्माण नहीं किया, किन्तु उन्होंने आगमों को सम्पादित कर उन्हें लिपिबद्ध कराया। आगमों का लेखन देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय ही हुआ, ऐसा माना जाता है।

आगमों का पूर्णतः आज वह स्वरूप तो उपलब्ध नहीं है जो गणधर सुधर्मा के समय स्थिर हुआ था, क्योंकि दृष्टिवाद का पूर्णरूपेण विलोप हो चुका है। अंग आगमों में भी आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का महापरिज्ञा नामक सप्तम अध्याय उपलब्ध नहीं है। प्रश्नव्याकरण सूत्र का प्राचीन रूप लुप्त हो गया है। इस प्रकार अंग आगमों में भी कुछ विच्छिन्नता दृष्टिगोचर होती है। देवर्द्धिगणि ने आगम लेखन कराकर इस क्षरण को रोका है।

आगमों की अपनी विशिष्ट शैली है, जिसमें जम्बूस्वामी आर्य सुधर्मा

स्वामी से पृच्छा करते हैं तथा आर्य सुधर्मास्वामी शिष्य जम्बूस्वामी को भगवान महावीर से जैसा सुना वैसा अर्थ सूत्र-रूप में फरमाते हैं- "**सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं**" (हे आयुष्मन् (जम्बू) मैंने सुना है, उन भगवान (महावीर) के द्वारा इस प्रकार कहा गया है)।

आगमों का अध्ययन करते समय हमें तीर्थंकरों के उपदेश के भावों को महत्त्व देकर साधना में सहयोगी विचारों को एवं तदनुरूप सूत्रार्थ को महत्त्व देना चाहिए। आगमों का अध्ययन साधकों के लिए तो उपयोगी है ही, किन्तु संस्कृति, इतिहास, दर्शन, स्वमत-परमत, खगोल, भूगोल, समाजशास्त्र, गणित, ज्योतिष, भौतिक शास्त्र, स्वप्न-शास्त्र, मनोविज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान आदि विषयों के अध्येताओं के लिए भी आगमों में पाठ्य-सामग्री उपलब्ध है।

आगमों के वर्गीकरण को लेकर अब तक चार रूप प्राप्त होते हैं। सबसे प्राचीन रूप समवायांग सूत्र में दृष्टिगोचर होता है, जिसके अनुसार आगमों को पूर्व और अंग के रूप में विभक्त किया गया है। पूर्वों की संख्या चौदह एवं अंगों की संख्या बारह बताते हुए उनके नाम भी दिए गए हैं। (द्रष्टव्य समवायांग, समवाय १४ एवं गणिपिटक वर्णन) दूसरा वर्गीकरण नन्दिसूत्र में उपलब्ध होता है, जिसके अनुसार आगमों को अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य भेदों में विभक्त किया गया है- **अहवा तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तंजहा अंगपविट्ठं अंगबाहिरं च (नंदसूत्र, 43)**। तृतीय वर्गीकरण चार अनुयोगों के रूप में प्राप्त होता है, जिसके अनुसार समस्त आगम चार अनुयोगों में समाविष्ट हो जाते हैं। चार अनुयोग हैं- १. चरणकरणानुयोग २. धर्मकथानुयोग ३. गणितानुयोग ४. द्रव्यानुयोग। यह वर्गीकरण आर्यरक्षित द्वारा किये जाने का उल्लेख मिलता है। दिगम्बर परम्परा में चार अनुयोगों के नाम इस प्रकार हैं- १ प्रथमानुयोग २. करणानुयोग ३. चरणानुयोग और ४. द्रव्यानुयोग। आगमों के चौथे वर्गीकरण में इन्हें अंग, उपांग, मूल और छेद सूत्रों में विभक्त किया गया है। पहले अंगसूत्रों के अतिरिक्त सभी सूत्र अंगबाह्य में सम्मिलित होते थे, किन्तु उपांग आदि के रूप में विभाजन होने पर यह ही वर्गीकरण अधिक प्रचलन में आ गया। विक्रम संवत् १३३४ में निर्मित प्रभावक चरित में अंग, उपांग, मूल और छेद के विभाजन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है-

ततश्चतुर्विधः कार्योऽनुयोगोऽतः परं मया।
ततोऽङ्गोपाङ्गमूलाख्यग्रन्थच्छेदकृतागमः।।-प्रभावकचरितम्, 24

इसके अनन्तर उपाध्याय समयसुन्दरगणि विरचित 'समाचारी शतक' में भी इस विभाजन का उल्लेख मिलता है। प्रकीर्णक शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत प्राचीन है, जिसे आगम की चार विधाओं से पृथक् माना जाता है।

वर्तमान में स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदाय ३२ आगमों को मान्य करते हैं तथा श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के अनुसार ४५ आगम मान्य हैं।

मूर्तिपूजकों के मत में ८४ आगम भी मान्य रहे हैं।

स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदाय में ३२ आगमों की गणना इस प्रकार होती है- ११ अंग, १२ उपांग, ४ मूलसूत्र, ४ छेद सूत्र एंव आवश्यक सूत्र।

11 अंग आगम हैं— आचारांग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति), ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण और विपाक सूत्र।

आचारांग सूत्र में अहिंसा, असंगता, अप्रमत्ततारूप साधना के विभिन्न सूत्र बिखरे पड़े हैं। इसमें पुनर्जन्म एवं आत्म-स्वरूप का भी निरूपण है। इसके द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भगवान महावीर की साधना का भी विवरण उपलब्ध है। सूत्रकृतांग में भी आचारांग की भांति दो श्रुतस्कन्ध हैं। दोनों श्रुतस्कन्धों में कुल २३ अध्ययन हैं। इसमें विभिन्न दार्शनिक मतों का उपस्थापन कर निराकरण किया गया है तथा अहिंसा, अपरिग्रह, प्रत्याख्यान आदि साधना के विभिन्न विषयों की चर्चा की गई है। अंगसूत्रों में आचाराङ्ग एवं सूत्रकृताङ्ग की प्राचीनता के संबंध में सभी विद्वान् एकमत हैं। इन दोनों आगमों की भाषा एवं विषयवस्तु दोनों प्राचीन हैं। स्थानांग एवं समवायांग सूत्र में संख्या के आधार पर विविध विषयों एवं तथ्यों का संकलन है। स्थानांग सूत्र में एक से लेकर दश संख्याओं में इतिहास, संस्कृति, दर्शन, साधना आदि के विभिन्न विषय संगृहीत हैं। समवायांग सूत्र में एक से लेकर सौ एवं कोटि संख्या तक के तथ्यों का संकलन है, जिनमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि की सूचनाओं के अतिरिक्त जीवादि भेदों का वर्णन है। व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र का अपर नाम भगवती सूत्र है। भगवती सूत्र में प्रश्नोत्तर शैली में स्वसमय, परसमय जीव, अजीव, लोक, अलोक आदि के संबंध में विस्तृत एवं सूक्ष्म चर्चा उपलब्ध होती है। विभज्यवाद की शैली में भ. महावीर ने गौतम गणधर, रोह अणगार, जयन्ती श्राविका आदि के प्रश्नों का सुन्दर समाधान किया है। इसमें गोशालक, शिवराजर्षि, स्कन्द परिव्राजक, तामली तापस आदि का भी वर्णन मिलता है। ज्ञाताधर्मकथा में ऐतिहासिक एवं काल्पनिक दृष्टान्तों से आचार की दृढ़ता का उपदेश दिया गया है। इसका सांस्कृतिक दृष्टि से भी बड़ा महत्त्व है। उपासकदशांग सूत्र में आनन्द आदि दस श्रमणोपासकों की साधना का वर्णन है, जो श्रावक समाज के लिए प्रेरणादायी है। अन्तकृद्दशा सूत्र उन ९० साधकों के जीवन का वर्णन करता है जो उसी भव में मोक्ष को प्राप्त हुए। इसमें गजसुकुमाल, अर्जुनमाली और अतिमुक्त कुमार का जीवन चरित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अनुत्तरौपपातिक दशा सूत्र में उन साधकों का वर्णन है जिन्होंने अपनी साधना के बल पर अनुत्तर विमान में जन्म ग्रहण किया है। प्रश्नव्याकरण सूत्र का प्राचीन रूप लुप्त हो गया है। वर्तमान में जो प्रश्नव्याकरण उपलब्ध है, उसमें हिंसा आदि ५ आस्रव और अहिंसा आदि ५ संवर का वर्णन उपलब्ध है। विपाक सूत्र में शुभ-अशुभ कर्म करने के फल को सुख और दुःख की प्राप्ति में घटित करते हुए कई कथानक

दिये गये हैं। बारहवाँ अंग दृष्टिवाद इस समय अनुपलब्ध है। इसमें परिकर्म, सूत्र, अनुयोग, पूर्व और चूलिका के भेद से विस्तृत निरूपण हुआ था।

12 उपांग सूत्र हैं– औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति निरयावलिका. कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा।

औपपातिक सूत्र में चम्पानगरी, पूर्णभद्र उद्यान, वनखण्ड, अशोक वृक्ष, कोणिक राजा, धारिणी रानी और भगवान महावीर का वर्णन हुआ है। राजप्रश्नीय सूत्र में सूर्याभदेव के द्वारा भगवान महावीर के प्रति नाट्यादि विधि से भक्ति-भाव प्रकट किया गया है। इसके उत्तरार्द्ध भाग में केशी श्रमण के साथ राजाप्रदेशी का रोचक संवाद है, जिसमें आत्मा को शरीर से भिन्न सिद्ध किया गया है। जीवाजीवाभिगम सूत्र में जीव और अजीव द्रव्यों का विस्तार से वर्णन हुआ है। अजीव का वर्णन संक्षेप में तथा जीव का वर्णन विस्तार से हुआ है। इस आगम की ९ प्रतिपत्तियों में जीव के विविध प्रकार से भेद किये गये हैं। प्रज्ञापना सूत्र के ३६ पदों में जीव-अजीव, आस्रव-संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष तत्त्वों से संबद्ध विभिन्न विषयों का प्रतिपादन हुआ है। इसमें स्थिति, उच्छ्वास, भाषा, शरीर, कषाय, इन्द्रिय, लेश्या, अवगाहना, क्रिया, कर्म-प्रकृति, आहार, उपयोग आदि विषय चर्चित हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र में जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, भगवान ऋषभदेव, भरत चक्रवर्ती, कालचक्र आदि का निरूपण है। सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति का विषय लगभग एक जैसा है। इनमें खगोलशास्त्र का व्यवस्थित वर्णन है। निरयावलिका आदि पाँच सूत्रों में ऐतिहासिक कथानक हैं। निरयावलिका में नरक में जाने वाले राजकुमारों का वर्णन है। कल्पावतंसिका में कल्प अर्थात् देवलोक में उत्पन्न होने वाले सम्राट श्रेणिक के दस पौत्रों का वर्णन है। पुष्पिका सूत्र में उन दस देवों का वर्णन है जो पुष्पक विमानों में बैठकर भगवान महावीर के दर्शन करने आये। पुष्पचूलिका सूत्र में भी दस देवों का वर्णन है जो पुष्पचूलिका विमान में बैठकर भगवान का दर्शन करने आये। वृष्णिदशा सूत्र में वृष्णिवंश के बलभद्र के निषध कुमारादि बारह पुत्रों का वर्णन है, जो भ. नेमिनाथ के पास दीक्षित हुए और सर्वार्थसिद्ध विमान में देवायु को भोगकर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेते हुए मोक्ष प्राप्त करेंगे।

4 मूलसूत्र हैं– उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार।

उत्तराध्ययन सूत्र ३६ अध्ययनों में विभक्त है। इन अध्ययनों में विनय, परीषह, मरण, अप्रमत्तता, मोक्ष-मार्ग, प्रवचन माता, कर्म-प्रकृति, लेश्या आदि विषयों की चर्चा है। आचार्य शय्यंभव रचित दशवैकालिक सूत्र के १० अध्ययनों में श्रमणाचार का अच्छा प्रतिपादन है। नन्दीसूत्र देववाचक द्वारा रचित है तथा इसमें पंचविध ज्ञानों का सुन्दर निरूपण है। अनुयोगद्वार सूत्र में निक्षेप, उपक्रम, आनुपूर्वी, प्रमाणद्वार, अनुगम, नय आदि के वर्णन के साथ

काव्यशास्त्र आदि के संबंध में भी जानकारी विद्यमान है।

4 छेदसूत्र हैं– दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ।

छेदसूत्रों में श्रमणाचार के उत्सर्ग एवं अपवाद नियम दिये हैं। प्रायश्चित्त का विधान भी किया गया है। दशाश्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों में २० असमाधि दोष, २१ शबल दोष, ३३ आशातना आदि का वर्णन है। कल्पसूत्र इसके आठवें अध्ययन से प्रसूत है। बृहत्कल्पसूत्र में श्रमण-श्रमणियों के लिए कल्पनीय एवं अकल्पनीय वस्त्र-पात्र आदि का विवेचन है। व्यवहार सूत्र में विहार, चातुर्मास, आवास, पद आदि व्यवहारों का निरूपण है। निशीथ सूत्र को आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पांचवी चूला माना जाता है। इसमें साध्वाचार में लगे दोषों के निवारण हेतु प्रायश्चित्त की विशेष व्यवस्था है।

बत्तीसवें आवश्यक सूत्र में सामायिक आदि षड्आवश्यकों का वर्णन है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में जीतकल्प एंव महानिशीथ की छेदसूत्रों में गणना करके छः छेदसूत्र माने जाते हैं। ओघनिर्युक्ति-पिण्डनिर्युक्ति को मूलसूत्रों में गिना जाता है। वे दस प्रकीर्णकों को भी आगम में सम्मिलित करते है। दस प्रकीर्णक हैं- १. चतु:शरण २. आतुर प्रत्याख्यान ३. भक्त-परिज्ञा ४. संस्तारक ५. तंदुलवैचारिक ६. चन्द्रवेध्यक ७. देवेन्द्रस्तव ८. गणिविद्या ९. महाप्रत्याख्यान १०. गच्छाचार। इस प्रकार श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में ४५ सूत्र मान्य हैं (स्थानकवासी द्वारा मान्य ३२ आगम+ उपर्युक्त १३ आगम)। इस परम्परा में ८४ आगम भी मान्य हैं, जिसकी सूची इस विशेषांक के प्रारंभिक लेख में दी गयी है।

दिगम्बर परम्परा इन अर्धमागधी आगमों को मान्य नहीं करती। इनके यहाँ पुष्पदन्त एवं भूतबली द्वारा रचित षट्खण्डागम, गुणधर द्वारा रचित कषायप्राभृत, वट्टकेर कृत मूलाचार, अपराजित सूरि की भगवती आराधना, आचार्य कुन्दकुन्द की समयसार आदि कृतियों को आगम के रूप में मान्य किया गया है।

२१वीं शती का यह युग जहाँ एक ओर हिंसा, आतंक, भय, वैमनस्य और आशंकाओं की वृद्धि का युग है, वहां इस युग में ज्ञान-विज्ञान का भी पर्याप्त प्रचार-प्रसार हुआ है। विज्ञान की दृष्टि से यह सूचना के प्रचार-प्रसार का विकसित युग है। इन्टरनेट जैसे साधनों के कारण ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के संबंध में प्रत्येक व्यक्ति नवीनतम जानकारी प्राप्त करने में समर्थ हुआ है।

बीसवीं शती में जैनागम और उसके व्याख्या-साहित्य का प्रकाशन अनेक स्थानों से हुआ। अधिकांश आगमों के अनुवाद और विवेचन हिन्दी और गुजराती भाषाओं में उपलब्ध हैं। कुछ आगम अंग्रेजी भाषा में भी अनूदित और विवेचित हुए हैं। हर्मन जेकोबी, वाल्टर शुब्रिंग आदि विदेशी

विद्वानों ने भी इस दिशा में अग्रणी रूप से कार्य कर जैन साहित्य की महत्ता को भारतीयों और वैदेशिकों के मध्य प्रतिष्ठित किया है। आचारांग सूत्र का प्रथम संस्करण हर्मन जैकोबी द्वारा बर्लिन से प्रकाशित किया गया था। भारत में आचार्य आत्माराम जी म.सा., आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा., पूज्य अमोलकऋषि जी, मुनि पुण्यविजय जी, मुनि जम्बूविजय जी, सागरानन्दसूरि जी, आचार्य तुलसी जी, आचार्य महाप्रज्ञ जी, उपाध्याय श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' आदि ने आगमों के संपादन, अनुवाद, विवेचन या टीका लेखन के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान किया है। विद्वत् समाज में प. दलसुख मालवणिया, पं. बेचरदास दोशी, पं. शोभाचन्द भारिल्ल आदि के नाम आदरपूर्वक लिए जाते हैं।

अभी तक भाष्य, चूर्णि और संस्कृत टीकाओं के अनुवाद सामने नहीं आए हैं। प्रकीर्णकों का अनुवाद आगम-अहिंसा एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर से हो रहा है। निर्युक्तियों पर लाडनूँ और वाराणसी में कार्य चल रहा है।

भगवान महावीर के २६००वें जन्मकल्याणक के अवसर पर उनकी वाणी के अंश रूप में मान्य आगमों के अध्ययन को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से 'जिनवाणी' मासिक पत्रिका का यह १५वाँ विशेषाङ्क 'जैनागम-साहित्य' विशेषाङ्क के रूप में समर्पित है। इस विशेषांक में स्थानकवासी एवं तेरापन्थ सम्प्रदाय द्वारा मान्य सभी ३२ आगमों के अतिरिक्त प्रकीर्णकों एवं आगमों के व्याख्या-साहित्य पर भी निबन्ध संगृहीत हैं। दिगम्बर परम्परा में मान्य प्रमुख आगमतुल्य ग्रन्थों का परिचय भी इसमें समाविष्ट है। इस प्रकार यह ग्रन्थ जैनागम साहित्य का लगभग सम्पूर्ण कलेवर समेट रहा है।

जैनागम-साहित्य के परिचय हेतु पूर्व में भी कुछ प्रकाशन हुए हैं, उनमें एच. आर. कापडिया की पुस्तक-A History of Jaina Canoniocal Literature, श्री विजयमुनि शास्त्री की "आगम और व्याख्या साहित्य', आचार्य देवेन्द्रमुनिजी की 'जैन आगम साहित्य: मनन और मीमांसा', आचार्य जयन्तसेनसूरि जी द्वारा सम्पादित 'जैनागम : एक अनुशीलन' पुस्तकें प्रकाश में आई हैं। पार्श्वनाथ विद्यापीठ से प्रकाशित जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास के प्रथम दो भाग भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज के 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' एवं डॉ. जगदीशचन्द्र जैन के 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' पुस्तकों में भी आगम-साहित्य का परिचय विद्यमान है। इसके अतिरिक्त अहमदाबाद में १९८६ में हुई संगोष्टी के शोध-पत्रों की पुस्तक 'जैन आगम साहित्य' डॉ.के.आर.चन्द्र के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुई है। श्री मधुकरमुनि जी द्वारा संक्षेप में 'जैनागम : एक परिचय' नामक लघुपुस्तिका भी लिखी गई है। आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर से प्रकाशित आगमों की भूमिकाएँ भी आगमों का ज्ञान कराने में सहायक हैं।

प्रस्तुत विशेषाङ्क का अपना उद्देश्य एवं वैशिष्ट्य है। अब तक

आगम के परिचय हेतु जो प्रकाशन हुआ है वह पुस्तक के रूप में हुआ है, जिसे हर एक क्रय करने का प्रयत्न नहीं करता। यह एक मासिक पत्रिका का विशेषाङ्क है जो पाठकों को सहज सुलभ हो सकेगा। एक साथ आठ नौ हजार सदस्यों के पास पहुंचने से कम से कम इसके दस गुना लोग इससे लाभान्वित होंगे। दूसरी बात यह है कि यह किसी एक लेखक की कृति नहीं है। इसमें विभिन्न प्रतिष्ठित लेखकों के लेख हैं जो आगम की विषयवस्तु एवं वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालते हैं। किसी पत्रिका के विशेषाङ्क के रूप में प्रकाशन का यह प्रथम प्रयास है। एक ही अंक में सभी आगमों से परिचित कराना एक कठिन कार्य अवश्य था, किन्तु लेखकों के सहयोग से यह सम्भव हो सका है। बिना किसी खण्डन-मण्डन के सीधे सरलरूप में आगमों के हार्द से पाठकों को अवगत कराना ही इस विशेषाङ्क का महत्त्वपूर्ण लक्ष्य रहा है।

यह उल्लेख करते हुए हर्ष का अनुभव होता है कि लेखकों ने तत्परतापूर्वक अपना सहयोग दिया है।

इस विशेषाङ्क की योजना कुछ अधिक थी। इसमें आगम-साहित्य के परिचय के साथ आगम-साहित्य में वीतरागता, विज्ञान, अहिंसा, पर्यावरण संरक्षण, संगीतकला, शिक्षा, आगम-साहित्य की काव्यशास्त्रीय समीक्षा आदि अनेक लेख भी सम्मिलित किए जाने थे, किन्तु कलेवर की अधिकता को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत विशेषाङ्क में उपर्युक्त लेख हमें प्राप्त हो जाने पर भी सम्मिलित नहीं किये जा सके। हम इन लेखों का पृथक् रूप से जिनवाणी का एक अंक निकालने का विचार रखते हैं। अतः पाठकों को आगम-साहित्य विषयक पाठ्यसामग्री एक बार पुनः प्राप्त हो सकेगी।

मैं उन सब विद्वत् सन्तों एवं माननीय लेखकों का हार्दिक आभार ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने इस विशेषाङ्क के लिए अपने लेख प्रेषित किए। उनके सहयोग के बिना इस विशेषाङ्क का प्रकाशन संभव नहीं था। सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के अध्यक्ष श्री चेतनप्रकाश जी डूंगरवाल के प्रोत्साहन एवं मन्त्री श्री प्रकाशचन्द जी डागा के सर्वविध सहयोग के लिए मैं उनका भी हार्दिक कृतज्ञ हूँ।

जिनवाणी के पाठक-सदस्यों का विशेष रूप से आभारी हूँ, जिन्होंने तीन माह तक धैर्य रखकर इस विशेषाङ्क के प्रकाशन में मूक सहयोग प्रदान किया। वे विशेषाङ्क को पढ़कर अपनी प्रतिक्रिया से अवश्य अवगत करायेंगे, ऐसी आशा एवं प्रार्थना है।

-डॉ. धर्मचन्द जैन

विषयानुक्रमणिका

विभिन्न जैन-सम्प्रदायों में मान्य आगम

वर्तमान में जैन धर्म की प्रमुख चार सम्प्रदायें हैं— दिगम्बर, श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक, स्थानकवासी एवं तेरापन्थ। इनमें श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के अनुसार ४५ अथवा ८४ आगम मान्य हैं। स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदाय ३२ आगमों को मान्यता देती है। दिगम्बर सम्प्रदाय इनमें से किसी भी आगम को मान्य नहीं करती, उसके अनुसार षट्खण्डागम, कसायपाहुड आदि ग्रन्थ ही आगम हैं।

स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदायों द्वारा मान्य ३२ आगम

इन दोनों सम्प्रदायों में सम्प्रति ११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल, ४ छेदसूत्र एवं १ आवश्यक सूत्र मिलाकर ३२ आगम स्वीकृत हैं। इनके हिन्दी एवं प्राकृत भाषा के नाम नीचे दिए जा रहे हैं। कोष्ठकवर्ती नाम प्राकृतभाषा में हैं।

11 अंग

१. आचारांग (आयारो)
२. सूत्रकृतांग (सूयगडो)
३. स्थानांग (ठाणं)
४. समवायांग (समवाओ)
५. भगवती / व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवई / वियाहपण्णत्ती)
६. ज्ञाताधर्मकथा (णायाधम्मकहाओ)
७. उपासकदशा (उवासगदसाओ)
८. अन्तकृद्दशा(अंतगडदसाओ)
९. अनुत्तरौपपातिकदशा(अनुत्तरोववाइयदसाओ)
१०. प्रश्नव्याकरण (पण्हावागरणाइं)
११. विपाकसूत्र (विवागसुयं)

नोट— दृष्टिवाद नामक १२ वाँ अंग उपलब्ध नहीं है। इसका उल्लेख नन्दीसूत्र, समवायांग एवं स्थानांग सूत्र में मिलता है।

12 उपांग

१. औपपातिक (उववाइयं)
२. राजप्रश्नीय (रायपसेणइज्जं)
३. जीवाजीवाभिगम(जीवाजीवाभिगम)
४. प्रज्ञापना (पण्णवणा)
५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति(जम्बुद्दीवपण्णत्ती)
६. चन्द्रप्रज्ञप्ति (चंदपण्णत्ती)
७. सूर्यप्रज्ञप्ति (सूरपण्णत्ती)
८. निरयावलिका(निरयावलियाओ)
९. कल्पावतंसिका (कप्पवडंसियाओ)

१०.पुष्पिका (पुप्फियाओ)
११.पुष्पचूलिका (पुप्फचूलाओ)
१२. वृष्णिदशा (वण्हिदसाओ)

4 मूलसूत्र

१. उत्तराध्ययन (उत्तरज्झयणाइं)
२. दशवैकालिक (दसवेयालियं)
३. नन्दीसूत्र (नंदिसुत्तं)
४. अनुयोगद्वार (अणुओगद्दाराइं)

4 छेदसूत्र

१. दशाश्रुतस्कन्ध (आयारदसाओ)
२. बृहत्कल्प (कप्पं)
३. व्यवहार (ववहारं)
४. निशीथ सूत्र (निसीहं)

नोट– कल्पसूत्र और बृहत्कल्प भिन्न हैं। कल्पसूत्र दशाश्रुतस्कन्ध का ही एक भाग है, जो विकसित हुआ।

बत्तीसवां सूत्र– आवश्यक सूत्र (आवस्सयं)

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में मान्य ४५ आगम

इस सम्प्रदाय में सम्मिलित खरतरगच्छ, तपोगच्छ आदि सभी उपसम्प्रदायें ४५ आगम मान्य करती हैं। उन ४५ आगमों में ११ अंग, १२ उपांग, ४ मूलसूत्र, ६ छेदसूत्र, १० प्रकीर्णक एवं २ चूलिका सूत्रों की गणना की जाती है।

11 अंग

स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदाय द्वारा मान्य सभी अंग सूत्र।

12 उपांग

स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदाय द्वारा मान्य सभी उपांग सूत्र।

4 मूलसूत्र

मूलसूत्रों की संख्या एवं नामों के संबंध में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में एकरूपता नहीं है। प्रायः निम्नांकित ४ मूलसूत्र माने जाते हैं–

१. उत्तराध्ययन
२. दशवैकालिक
३. आवश्यक
४. पिण्डनिर्युक्ति

नोट– कुछ आचार्यों ने पिण्डनिर्युक्ति के साथ ओघनिर्युक्ति को भी मूलसूत्र में माना है एवं वे 'पिण्डनिर्युक्ति–ओघनिर्युक्ति' नाम देते हैं।

6 छेदसूत्र

स्थानकवासी एवं तेरापंथ परम्परा में मान्य ४ छेदसूत्र तो समान ही हैं, अन्य २ छेदसूत्र हैं—

५. महानिशीथ (महानिसीह)
६. जीतकल्प (जीयकप्प)

10 प्रकीर्णक सूत्र

१. चतु:शरण (चउसरण)
२. आतुरप्रत्याख्यान (आउरपच्चक्खाण)
३. भक्तपरिज्ञा (भत्तपरिण्णा)
४. संस्तारक (संथारय)
५. तंदुलवैचारिक (तंडुलवेयालिय)
६. चन्द्रवेध्यक (चंदवेज्झय)
७. देवेन्द्रस्तव (देविंदत्थय)
८. गणिविद्या (गणिविज्जा)
९. महाप्रत्याख्यान (महापच्चक्खाण)
१०. वीरस्तव (वीरत्थय)

नोट— कहीं कहीं पर वीरस्तव के स्थान पर इस गणना में मरणविधि का नाम लिया जाता है।

2 चूलिका सूत्र

१. नन्दीसूत्र
२. अनुयोगद्वार

८४ आगम (श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में मान्य)

पूर्वोक्त ४५ आगम + २० अन्य प्रकीर्णक सूत्र + १० निर्युक्तियाँ + ९ अन्य ग्रन्थ = ८४ आगम।

20 अन्य प्रकीर्णक (उपर्युक्त 10 प्रकीर्णकों को मिलाकर 30 प्रकीर्णक मान्य)

१. ऋषिभाषित
२. अजीवकल्प
३. गच्छाचार
४. मरणसमाधि
५. तित्थोगालिय
६. आराधनापताका
७. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
८. ज्योतिष्करण्डक
९. अंगविद्या
१०. सिद्धप्राभृत
११. सारावली
१२. जीवविभक्ति
१३. पिण्डविशुद्धि
१४. पर्यन्त-आराधना
१५. योनिप्राभृत
१६. अंगचूलिका
१७. बंगचूलिका
१८. वृद्धचतु:शरण
१९. जम्बूपयन्ना
२०. कल्पसूत्र

10 निर्युक्तियाँ

१. आवश्यनिर्युक्ति
२. दशवैकालिकनिर्युक्ति
३. उत्तराध्ययननिर्युक्ति
४. आचारांगनिर्युक्ति
५. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति
६. सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्ति
७. बृहत्कल्पनिर्युक्ति
८. व्यवहारनिर्युक्ति
९. दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति
१०. ऋषिभाषितनिर्युक्ति

9 अन्य ग्रन्थ

१. यतिजीतकल्प
२. श्राद्धजीतकल्प
३. पाक्षिकसूत्र
४. क्षमापनासूत्र
५. वन्दित्तु
६. तिथिप्रकरण
७. कवचप्रकरण
८. संसक्तनिर्युक्ति
९. विशेषावश्यकभाष्य

दिगम्बर सम्प्रदाय मान्य आगम

दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य ग्रन्थ हरिवंशपुराण एवं धवलाटीका में १२ अंगों एवं १४ अंगबाह्यों का उल्लेख है। अंगबाह्यों में सर्वप्रथम सामायिक आदि छः आवश्यकों का उल्लेख है, तत्पश्चात् दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पिकाकल्पिक, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक एवं निशीथ का उल्लेख है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार इनमें से अभी कोई भी आगम उपलब्ध नहीं है। इसलिए जिन आगमों को आगम की श्रेणी में रखते हैं, उनमें से प्रमुख नाम हैं–

१. षट्खण्डागम
२. कषायप्राभृत
३. मूलाचार
४. भगवती आराधना
५. आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ– समयसार, प्रवचनचार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड आदि।
६. अन्य ग्रन्थ– तिलोयपण्णत्ति (यतिवृषभ), अंगपण्णत्ति, जम्बूद्वीप पण्णत्ति, गोम्मटसार, क्षपणसार एवं लोक विभाग।

यापनीय सम्प्रदाय के मान्य आगम

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदाय के अतिरिक्त यापनीय सम्प्रदाय का भी एक सहस्र वर्ष की अवधि तक अस्तित्व रहा है। यह सम्प्रदाय श्वेताम्बरों के स्त्रीमुक्ति, केवलि भुक्ति आदि सिद्धान्तों को स्वीकार करने के साथ मुनि की अचेलता को लेकर दिगम्बर परम्परा का अनुसरण करती है।

इस सम्प्रदाय के साहित्य के अनुसार आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, निशीथ, व्यवहार, आवश्यक आदि आगम मान्य थे। आगमों के विच्छेद होने की दिगम्बर मान्यता यापनीय संघ के आचार्यों को स्वीकार्य नहीं थी।

डॉ. सागरमल जैन ने 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' पुस्तक में षट्खण्डागम, कसायपाहुड, मूलाचार एवं भगवती आराधना को यापनीय सम्प्रदाय के ग्रन्थ सिद्ध किया है। वे इन्हें दिगम्बर ग्रन्थ नहीं मानकर यापनीय ग्रन्थ मानते हैं।

आगमों के संबंध में कतिपय बिन्दु

- अर्थरूप प्ररूपण की दृष्टि से सभी तीर्थंकरों के आगम एक जैसे होते हैं, इस दृष्टि से आगमों को शाश्वत भी कहा जाता है, किन्तु शब्द की दृष्टि से प्रत्येक तीर्थंकर के काल में आगमों का ग्रथन या निर्माण किया जाता है।

- वर्तमान में उपलब्ध अंग-आगम गणधर सुधर्मास्वामी द्वारा ग्रथित हैं, किन्तु उपांग, मूल, छेद आदि अंगबाह्य सूत्र स्थविर कृत हैं। स्मरणशक्ति में आयी शिथिलता के कारण इन आगमों की पाँच बार वाचनाएँ हुई। अन्तिम वाचना देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय वीर निर्वाण संवत् ९८० में हुई। उन्होंने वाचना के अन्तर्गत आगमों का सर्वथा नया लेखन नहीं किया, परन्तु पूर्व प्रचलित आगमों को ही लिपिबद्ध कराया। जहाँ आवश्यक था वहाँ सम्पादन भी किया।

- दिगम्बर परम्परा भले ही श्वेताम्बर आगमों को मान्य नहीं करती हो, किन्तु स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि दो—चार बातों को छोड़कर श्वेताम्बरों एवं दिगम्बरों में कोई मतभेद नहीं है। इसी प्रकार श्वेताम्बर मूर्तिपूजकों के साथ तेरापंथ एवं स्थानकवासियों का मूर्तिपूजा के बिन्दु के अतिरिक्त कोई विशेष मतभेद नहीं है। स्थानकवासियों एवं तेरापंथियों के तो आगम पूर्णत: समान हैं । इनमें जो मतभेद उभरकर आते हैं, वे व्याख्यागत मतभेद हैं। जैनदर्शन के सभी सम्प्रदायों में मूल दार्शनिक मान्यताओं में प्राय:एकरूपता है, जो भेद है वह आचारगत भेद है। वह आचार-सम्बन्धी भेद ही फिर दार्शनिक रूप से विकसित हुए हैं।

- आगमों का अध्ययन सबके लिए समान रूप से उपादेय है। एक दूसरे की परम्परा के आगमों का अध्ययन करने से मिथ्यात्व नहीं लगता है। मिथ्यात्व तो दृष्टि में होता है, उससे बचना चाहिए।

- आगमों में से भी जीवन-शोधक तत्त्वों को ग्रहण करने की दृष्टि रहनी चाहिए, उनमें आयी कतिपय बातों को छोड़कर परस्पर विवाद नहीं करना चाहिए। आगमों का अध्ययन तो जीवन को आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत बनाता है।

- आगमों में संस्कृति, इतिहास, खगोल, भूगोल, दर्शन, साहित्य-शास्त्र, कला, मनोविज्ञान, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिविज्ञान, भौतिक-शास्त्र आदि विविध विषयों की भी जानकारी मिलती है।

—सम्पादक

जैन आगम–साहित्य : एक दृष्टिपात

©आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

आगम-साहित्य विश्ववाङ्मय की अनमोल निधि है। इसमें जीवन के आध्यात्मिक उन्नयन का पथप्रदर्शन तो मिलता ही है, साथ ही संस्कृति, इतिहास, दर्शन, खगोल, गणितकला आदि विविध विषयों की भी चर्चा आगमों में हुई है। आगमों के संबंध में अनेकविध जिज्ञासाएँ हो सकती हैं, उनमें से कतिपय का समाधान प्रस्तुत लेख में हुआ है। आगमों के महत्त्व, वर्गीकरण, निर्यूहण आगम, भाषा, आगम-विच्छेद, लेखन आदि के संबंध में यह लेख सारगर्भित जानकारी से परिपूर्ण है। प्रस्तुत लेख आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी की लघुकृति (ट्रेक्ट) ''जैनागम साहित्य : एक परिशीलन' से संकलित किया गया है। आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी की आगम विषयक एक प्रसिद्ध कृति है– ''जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा। विस्तृत अध्ययन के लिए पाठक उस पुस्तक का अवलोकन कर सकते हैं।

—सम्पादक

आगम साहित्य का महत्त्व

जैन आगम-साहित्य भारतीय-साहित्य की अनमोल उपलब्धि है, अनुपम निधि है और ज्ञान विज्ञान का अक्षय भण्डार है। अक्षर-देह से वह जितना विशाल और विराट् है उससे भी कहीं अधिक उसका सूक्ष्म एवं गम्भीर चिन्तन विशद व महान् है। जैनागमों का परिशीलन करने से सहज ही ज्ञात होता है कि यहां केवल कमनीय कल्पना के गगन में विहरण नहीं किया गया है, न बुद्धि के साथ खिलवाड़ ही किया गया है और न अन्य मत—मतान्तरों का निराकरण ही किया गया है। जैनागम जीवन के क्षेत्र में नया स्वर, नया साज और नया शिल्प लेकर उतरते हैं। उन्होंने जीवन का सजीव, यथार्थ व उजागर दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जीवनोत्थान की प्रबल प्रेरणा प्रदान की है, आत्मा की शाश्वत सत्ता का उद्घोष किया है और उसकी सर्वोच्च विशुद्धि का पथ प्रदर्शित किया है। उसके साधन रूप में त्याग, वैराग्य और संयम से जीवन को चमकाने का संदेश दिया है। संयम-साधना, आत्म-आराधना और मनोनिग्रह का उपदेश दिया है।

जैन आगमों के पुरस्कर्ता केवल दार्शनिक ही नहीं, अपितु महान् व सफल साधक रहे हैं। उन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की साधना की, कठोर तप की आराधना की और अन्तर में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों को नष्ट कर आत्मा में अनन्त पारमात्मिक ऐश्वर्य के दर्शन किये। उसके पश्चात् उन्होंने सभी जीवों की रक्षा रूप दया के लिए प्रवचन किए। आत्म-साधना का नवनीत जन-जन के समक्ष प्रस्तुत किया। यही कारण है कि जैनागमों में जिस प्रकार आत्म-साधना का वैज्ञानिक और क्रमबद्ध वर्णन उपलब्ध होता है, वैसा किसी भी प्राचीन पौर्वात्य और पाश्चात्त्य विचारक के साहित्य में नहीं मिलता। वेदों में आध्यात्मिक चिन्तन नगण्य है और लोक चिन्तन अधिक। उसमें जितना

देवस्तुति का स्वर मुखरित है, उतना आत्म-साधना का नहीं। उपनिषद् आध्यात्मिक चिन्तन की ओर अवश्य ही अग्रसर हुए हैं, किन्तु उनका ब्रह्मवाद और आध्यात्मिक विचारणा इतनी अधिक दार्शनिक है कि उसे सर्व साधारण के लिए समझना कठिन ही नहीं, कठिनतर है। जैनागमों की तरह आत्म-साधना का अनुभूत मार्ग उनमें नहीं है। डॉक्टर हर्मन जेकोबी, डॉक्टर शुब्रिंग प्रभृति पाश्चात्त्य विचारक भी यह सत्य तथ्य एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि जैनागमों में दर्शन और जीवन का, आचार और विचार का, भावना और कर्त्तव्य का जैसा सुन्दर समन्वय हुआ है, वैसा अन्य साहित्य में दुर्लभ है।

आगम के पर्यायवाची शब्द

मूल वैदिक शास्त्रों को जैसे 'वेद', बौद्ध शास्त्रों को जैसे 'पिटक' कहा जाता है वैसे ही जैन शास्त्रों को 'श्रुत', 'सूत्र' या 'आगम' कहा जाता है। आजकल 'आगम' शब्द का प्रयोग अधिक होने लगा है किन्तु अतीत काल में 'श्रुत केवली', 'श्रुत स्थविर' शब्दों का प्रयोग आगमों में अनेक स्थलों पर हुआ है, कहीं पर भी आगम-केवली या आगम-स्थविर का प्रयोग नहीं हुआ है।

सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन, आगम, आप्तवचन, ऐतिह्य, आम्नाय, जिनवचन और श्रुत ये सभी आगम के ही पर्यायवाची शब्द हैं।

आगम की परिभाषा

'आगम' शब्द— 'आ' उपसर्ग और 'गम्' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'आ' उपसर्ग का अर्थ 'समन्तात्' अर्थात् पूर्ण है और 'गम्' धातु का अर्थ गति प्राप्ति है।

'आगम' शब्द की अनेक परिभाषाएँ आचार्यों ने की हैं। 'जिससे वस्तु तत्त्व (पदार्थ रहस्य) का परिपूर्ण ज्ञान हो, वह आगम है। जो तत्त्व आचार-परम्परा से वासित होकर आता है, वह आगम है। आप्त वचन से उत्पन्न अर्थ (पदार्थ) ज्ञान आगम कहा जाता है। उपचार से आप्तवचन भी आगम माना जाता है। आप्त का कथन आगम है। जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है, विशेष ज्ञान उपलब्ध होता है वह शास्त्र आगम या श्रुतज्ञान कहलाता है। इस प्रकार 'आगम' शब्द समग्र श्रुति का परिचायक है, पर जैन दृष्टि से वह विशेष ग्रन्थों के लिए व्यवहृत होता है।

जैन दृष्टि से आप्त कौन है? प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जिन्होंने राग—द्वेष को जीत लिया है वे जिन, तीर्थंकर, सर्वज्ञ भगवान् आप्त हैं और उनका उपदेश एवं वाणी ही जैनागम है, क्योंकि उनमें वक्ता के साक्षात् दर्शन एवं वीतरागता के कारण दोष की संभावना नहीं होती और न

पूर्वापर विरोध तथा युक्तिबाध ही होता है।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु कहते हैं— 'तप—नियम—ज्ञान रूप वृक्ष के ऊपर आरूढ होकर अनन्तज्ञानी केवली भगवान भव्यात्माओं के विबोध के लिए ज्ञानकुसुमों की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धि-पट में उन सकल कुसुमों को झेलकर प्रवचनमाला गूंथते हैं।

तीर्थंकर केवल अर्थ रूप में उपदेश देते हैं और गणधर उसे ग्रन्थबद्ध या सूत्रबद्ध करते हैं। अर्थात्मक ग्रन्थ के प्रणेता तीर्थंकर होते हैं। एतदर्थ आगमों में यत्र तत्र 'तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते' (समवाय) शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन आगमों को तीर्थंकर प्रणीत कहा जाता है। यहाँ पर यह विस्मरण नहीं होना चाहिए कि जैनागमों की प्रामाणिकता केवल गणधरकृत होने से ही नहीं है, अपितु उसके अर्थ प्ररूपक तीर्थंकर की वीतरागता एवं सर्वार्थ साक्षात्कारित्व के कारण है।

जैन अनुश्रुति के अनुसार गणधर के समान ही अन्य प्रत्येक बुद्ध निरूपित आगम भी प्रमाण रूप होते हैं। गणधर केवल द्वादशांगी की ही रचना करते हैं। अंग बाह्य आगमों की रचना स्थविर करते हैं।

यह भी माना जाता है कि गणधर सर्वप्रथम तीर्थंकर भगवान के समक्ष यह जिज्ञासा अभिव्यक्त करते हैं कि भगवन! तत्त्व क्या है? 'भगवं किं तत्तं?' उत्तर में भगवान उन्हें 'उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा' यह त्रिपदी प्रदान करते हैं। त्रिपदी के फल स्वरूप वे जिन आगमों का निर्माण करते हैं वे आगम अंगप्रविष्ट कहलाते है और शेष रचनाएँ अंगबाह्य। द्वादशांगी अवश्य ही गणधर कृत है, क्योंकि वह त्रिपदी से उद्भूत होती है, किन्तु गणधर कृत समस्त रचनाएं अंग में नहीं आती। त्रिपदी के बिना जो मुक्त व्याकरण से रचनाएं होती हैं वे चाहे गणधरकृत हों या स्थविरकृत, अंगबाह्य कहलाती हैं।

स्थविर दो प्रकार के होते हैं— १. सम्पूर्ण श्रुतज्ञानी और २. दशपूर्वी।

सम्पूर्ण श्रुतज्ञानी चतुर्दशपूर्वी होते हैं। वे सूत्र और अर्थ रूप से सम्पूर्ण द्वादशांगी रूप जिनागम के ज्ञाता होते हैं। वे जो कुछ भी कहते हैं या लिखते हैं उसका किंचित् मात्र भी विरोध मूल जिनागम से नहीं होता। एतदर्थ ही 'वृहत्कल्पभाष्य' में कहा गया है कि जिस बात को तीर्थंकर ने कहा है उस बात को श्रुतकेवली भी कह सकता है। श्रुतकेवली भी केवली के सदृश ही होता है। उसमें और केवली में विशेष अन्तर नहीं होता। केवली समग्रत्व को प्रत्यक्षरूपेण जानते हैं, श्रुतकेवली उसी समग्रत्व को परोक्षरूपेण श्रुतज्ञान द्वारा जानते हैं। एतदर्थ उनके वचन भी प्रामाणिक होने का एक कारण यह भी है कि दशपूर्वधर और उससे अधिक पूर्वधर साधक नियमतः सम्यग् दृष्टि होते हैं। 'तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं' तथा 'णिग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे' उनका मुख्य घोष होता है। वे सदा निर्ग्रन्थ प्रवचन को आगे करके ही चलते हैं। एतदर्थ उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में

द्वादशांगी से विरुद्ध तथ्यों की संभावना नहीं होती, उनका कथन द्वादशांगी से अविरुद्ध होता है। अत: उनके द्वारा रचित ग्रन्थों को भी आगम के समान प्रामाणिक माना गया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उनमें स्वत: प्रामाण्य नहीं, परत: प्रामाण्य है। उनका परीक्षण-प्रस्तर द्वादशांगी है। अन्य स्थविरों द्वारा रचित ग्रन्थों की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का मापदण्ड भी यही है कि वे जिनेश्वर देवों की वाणी के अनुकूल हैं तो प्रामाणिक और प्रतिकूल हैं तो अप्रामाणिक।

पूर्व और अंग

जैन आगमों का प्राचीनतम वर्गीकरण 'समवायांग' में मिलता है। वहां आगम साहित्य का 'पूर्व' और 'अंग' के रूप में विभाजन किया गया है। पूर्व संख्या की दृष्टि से चौदह थे और अंग बारह।

पूर्व—'पूर्व' श्रुत व आगम-साहित्य की अनुपम मणिमंजूषा है। कोई भी विषय ऐसा नहीं है जिस पर 'पूर्व साहित्य' में विचार चर्चा न की गई हो। पूर्व श्रुत के अर्थ और रचनाकाल के संबंध में विज्ञों के विभिन्न मत हैं। आचार्य अभयदेव आदि के अभिमतानुसार द्वादशांगी से प्रथम पूर्व साहित्य निर्मित किया गया था। इसी से उसका नाम पूर्व रखा गया है। कुछ चिन्तकों का यह मन्तव्य है कि पूर्व भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा की श्रुत राशि है। श्रमण भगवान महावीर से पूर्ववर्ती होने के कारण यह 'पूर्व' कहा गया है। जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि पूर्वों की रचना द्वादशांगी से पहले हुई।

वर्तमान में पूर्व द्वादशांगी से पृथक् नहीं माने जाते हैं। दृष्टिवाद बारहवां अंग है। पूर्वगत उसी का एक विभाग है तथा चौदह पूर्व इसी पूर्वगत के अन्तर्गत हैं।

जब तक आचारांग आदि अंग साहित्य का निर्माण नहीं हुआ था, तब तक भगवान महावीर की श्रुत राशि चौदह पूर्व या दृष्टिवाद के नाम से ही पहचानी जाती थी। जब आचार प्रभृति ग्यारह अंगों का निर्माण हो गया तब दृष्टिवाद को बारहवें अंग के रूप में स्थान दे दिया गया।

आगम-साहित्य में द्वादश अंगों को पढने वाले और चौदह पूर्व पढ़ने वाले दोनों प्रकार के साधकों का वर्णन मिलता हैं, किन्तु दोनों का तात्पर्य एक ही है। जो चतुर्दश पूर्वी होते थे वे द्वादशांगवित् भी होते थे।

अंग—जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही भारतीय परम्पराओं में 'अंग' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन परम्परा में उसका प्रयोग मुख्य आगम-ग्रन्थ गणिपिटक के अर्थ में हुआ है। 'दुवालसंगे गणिपिडगे' कहा गया है। बारह अंग हैं—

१. आचार २. सूत्रकृत ३. स्थान ४. समवाय ५. भगवती ६. ज्ञाताधर्म कथा ७. उपासकदशा ८. अन्तकृत्दशा ९. अनुत्तरौपपातिक १०. प्रश्नव्याकरण ११. विपाक और १२. दृष्टिवाद।

आचार प्रभृति आगम श्रुत पुरुष के अंगस्थानीय होने से भी अंग कहलाते हैं।

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य

आगमों का दूसरा वर्गीकरण देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय का है। उन्होंने आगमों को अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य इन दो भागों में विभक्त किया।

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य का विश्लेषण करते हुए जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने तीन हेतु बतलाये हैं। अंगप्रविष्ट श्रुत वह है—

१. जो गणधर के द्वारा सूत्र रूप से बनाया हुआ होता है।
२. जो गणधर के द्वारा प्रश्न करने पर तीर्थंकर के द्वारा प्रतिपादित होता है।
३. जो शाश्वत सत्यों से संबंधित होने के कारण ध्रुव एवं सुदीर्घकालीन होता है।

एतदर्थ ही 'समवायांग' एवं 'नन्दीसूत्र' में स्पष्ट कहा है— द्वादशांगभूत गणिपिटिक कभी नहीं था, ऐसा नहीं है, कभी नहीं है, और कभी नहीं होगा, यह भी नहीं। वह था, और होगा। वह ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है।

अंगबाह्य श्रुत वह होता है जो स्थविर कृत होता है।

वक्ता के भेद की दृष्टि से भी अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य दो भेद किये गये हैं। जिस आगम के मूल वक्ता तीर्थंकर हों और संकलन कर्ता गणधर हो वह अंग प्रविष्ट है। पूज्यपाद ने वक्ता के तीन प्रकार बतलाये हैं— १. तीर्थंकर २. श्रुत केवली ३. आरातीय। आचार्य अकलंक ने कहा है कि आरातीय आचार्यों के द्वारा निर्मित आगम अंग प्रतिपादित अर्थ के निकट या अनुकूल होने के कारण अंग बाह्य कहलाते हैं।

'समवायांग' और 'अनुयोगद्वार' में तो केवल द्वादशांगी का ही निरूपण है किन्तु 'नन्दी सूत्र' में अंग प्रविष्ट, अंग बाह्य का तो भेद किया ही गया है, साथ ही अंग बाह्य के आवश्यक, आवश्यक व्यतिरिक्त, कालिक और उत्कालिक रूप में आगम की सम्पूर्ण शाखाओं का परिचय दिया गया है।

अनुयोग

विषय सादृश्य की दृष्टि से प्रस्तुत वर्गीकरण किया गया है। व्याख्या क्रम की दृष्टि से आगमों के दो रूप होते हैं—

१. अपृथक्त्वानुयोग
२. पृथक्त्वानुयोग

आर्यरक्षित से पहले अपृथक्त्वानुयोग का प्रचलन था। अपृथक्त्वानुयोग में हर एक सूत्र की व्याख्या चरणकरण, धर्म, गणित और द्रव्य की दृष्टि से होती थी। यह व्याख्या अत्यधिक क्लिष्ट और स्मृति सापेक्ष थी। आर्यरक्षित के चार मुख्य शिष्य थे— १. दुर्बलिका पुष्यमित्र २. फल्गु

रक्षित ३. विन्ध्य और ४. गोष्ठामाहिल। उनके शिष्यों में विन्ध्य प्रबल मेधावी था। उसने आचार्य से अभ्यर्थना की कि सहपाठ से अत्यधिक विलम्ब होता है अत: ऐसा प्रबन्ध करें कि मुझे शीघ्र पाठ मिल जाए। आचार्य के आदेश से दुर्बलिका पुष्यमित्र ने उसे वाचना देने का कार्य अपने ऊपर लिया। अध्ययन-क्रम चलता रहा। समयाभाव के कारण दुर्बलिका पुष्यमित्र अपना स्वाध्याय व्यवस्थित रूप से नहीं कर सके। वे नौवें पूर्व को भूलने लगे, तो आचार्य ने सोचा कि प्रबल प्रतिभा सम्पन्न दुर्बलिका पुष्यमित्र की भी यह स्थिति है तो अल्प मेधावी मुनि किस प्रकार स्मरण रख सकेंगे?

पूर्वोक्त कारण से आचार्य आर्यरक्षित ने पृथक्त्वानुयोग का प्रवर्तन किया। चार अनुयोगों की दृष्टि से उन्होंने आगमों का वर्गीकरण भी किया।

'सूत्रकृतांग चूर्णि' के अभिमतानुसार अपृथक्त्वानुयोग के समय प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण करण, धर्म, गणित और द्रव्य आदि अनुयोग की दृष्टि से व सप्त नय की दृष्टि से की जाती थी, किन्तु पृथक्त्वानुयोग के समय चारों अनुयोगों की व्याख्याएँ अलग-अलग की जाने लगी।

यह वर्गीकरण करने पर भी यह भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती कि अन्य आगमों में भिन्न वर्णन नहीं है। उत्तराध्ययन में धर्म कथाओं के अतिरिक्त दार्शनिक तत्त्व भी पर्याप्त रूप से हैं। भगवती सूत्र तो सभी विषयों का महासागर है ही। आचारांग आदि में भी यही बात है। सारांश यह है कि कुछ आगमों को छोड़कर शेष आगमों में चारों अनुयोगों का सम्मिश्रण है। एतदर्थ प्रस्तुत वर्गीकरण स्थूल वर्गीकरण ही रहा।

दिगम्बर साहित्य में इन चार अनुयोगों का वर्णन कुछ रूपान्तर से मिलता है। उनके नाम इस प्रकार हैं— १. प्रथमानुयोग २. करणानुयोग ३. चरणानुयोग ४. द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग में महापुरुषों का जीवन चरित्र है। करणानुयोग में लोकालोकविभक्ति, काल, गणित आदि का वर्णन है। चरणानुयोग में आचार का निरूपण है और द्रव्यानुयोग में द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्व आदि का विश्लेषण है।

दिगम्बर परम्परा आगमों को लुप्त मानती है अतएव प्रथमानुयोग में महापुराण और अन्य पुराण, करणानुयोग में त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, त्रिलोक-सार, चरणानुयोग में मूलाचार और द्रव्यानुयोग में प्रवचनसार, गोम्मटसार आदि का समावेश किया गया है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने चारों अनुयोगों का आध्यात्मिक उपयोग बताते हुए लिखा है—'यदि मन शंकाशील हो गया है तो द्रव्यानुयोग का चिन्तन करना चाहिये, प्रमाद में पड़ गया है तो चरण करणानुयोग का, कषाय से अभिभूत है तो धर्म कथानुयोग का और जड़ता प्राप्त कर रहा है तो गणितानुयोग का।'

अनुयोगों की तुलना वैदिक-साधना के विभिन्न पक्षों के साथ की

जाय तो द्रव्यानुयोग का संबंध ज्ञानयोग से है, चरणकरणानुयोग का कर्मयोग से, धर्म कथानुयोग का भक्ति योग से। गणितानुयोग मन को एकाग्र करने की प्रणाली होने से राजयोग से मिलता है।

अंग, उपांग, मूल और छेद

आगमों का सबसे उत्तरवर्ती चतुर्थ वर्गीकरण है—अंग, उपांग, मूल और छेद। नन्दी सूत्रकार ने मूल और छेद ये दो विभाग नहीं किये हैं और न वहां पर 'उपांग' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। 'उपांग' शब्द भी 'नन्दी' के पश्चात् ही व्यवहृत हुआ है। 'नन्दी' में 'उपांग' के अर्थ में ही अंगबाह्य शब्द आया है।

आचार्य उमास्वाति ने, जिनका समय पं. सुखलालजी संघवी ने विक्रम की पहली शताब्दी से चतुर्थ शताब्दी के मध्य माना है, 'तत्त्वार्थभाष्य' में अंग के साथ उपांग शब्द का प्रयोग किया है। 'उपांग' से उनका तात्पर्य अंगबाह्य आगमों से ही है।

आचार्य श्रीचन्द्र ने, जिनका समय ई. १११२ से पूर्व माना जाता है, उन्होंने 'सुखबोधा समाचारी' की रचना की। उसमें उन्होंने आगम के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन करते हुए अंगबाह्य के अर्थ में 'उपांग' शब्द प्रयुक्त किया है।

आचार्य जिनप्रभ, जिन्होंने ई. १३०६ में 'विधिमार्गप्रपा' ग्रन्थ पूर्ण किया था, उन्होंने उसमें आगमों के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन करते हुए 'इयाणिं उवंगा' लिखकर जिस अंग का जो उपांग है, उसका निर्देश किया है।

जिनप्रभ ने 'वायणाविही' की उत्थानिका में जो वाक्य दिया है, उसमें भी उपांग—विभाग का उल्लेख हुआ है।

पण्डित बेचरदासजी दोशी का अभिमत है कि चूर्णि साहित्य में भी 'उपांग' शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु सर्वप्रथम किसने किया, यह अन्वेषण का विषय है।

मूल और छेद सूत्रों का विभाग किस समय हुआ, यह निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना स्पष्ट है कि 'दशवैकालिक', 'उत्तराध्ययन' आदि की निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्तियों में मूल सूत्र के संबंध में किंचित् मात्र भी चर्चा नहीं की गई है। इससे यह ध्वनित होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक 'मूल सूत्र' इस प्रकार का विभाग नहीं हुआ था। यदि हुआ होता तो अवश्य ही उसका उल्लेख इन ग्रन्थों में होता।

'श्रावक विधि' के लेखक धनपाल ने, जिनका समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है, अपने ग्रन्थ में पैंतालीस आगमों का निर्देश किया है और 'विचारसार—प्रकरण' के लेखक प्रद्युम्नसूरि ने भी, जिनका समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी है, पैंतालीस आगमों का तो निर्देश किया

है, पर मूलसूत्र के रूप में विभाग नहीं किया है।

विक्रम संवत् १३३४ में निर्मित 'प्रभावक चरित्र' में सर्वप्रथम अंग, उपांग, मूल और छेद का विभाग मिलता है और उसके पश्चात् उपाध्याय समयसुन्दर गणी ने भी 'समाचारी शतक' में उसका उल्लेख किया है। फलितार्थ यह है कि मूल सूत्र विभाग की स्थापना तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हो चुकी थी।

'दशवैकालिक', 'उत्तराध्ययन' आदि आगमों को 'मूलसूत्र' यह अभिधा क्यों दी गई, इसके संबंध में विभिन्न विज्ञों ने विभिन्न कल्पनाएँ की हैं।

प्रो. विन्टरनित्ज का मन्तव्य है कि इन आगमों पर अनेक टीकाएँ हैं। इनसे मूल ग्रन्थ का पृथक्करण करने के लिए इन्हें मूलसूत्र कहा गया है। किन्तु उनका यह तर्क वजनदार नहीं है क्योंकि उन्होंने 'पिण्डनिर्युक्ति' को मूलसूत्र में माना है जबकि उसकी अनेक टीकाएँ नहीं हैं।

डॉ. सारपेन्टियर, डॉ. ग्यारीनो और प्रोफेसर पटवर्द्धन आदि का अभिमत है कि इन आगमों में भगवान महावीर के मूल शब्दों का संग्रह है, एतदर्थ इन्हें मूलसूत्र कहा गया है। किन्तु उनका यह कथन भी युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता क्योंकि भगवान महावीर के मूल शब्दों के कारण ही किसी आगम को मूलसूत्र माना जाता है तो सर्वप्रथम 'आचारांग' के प्रथम श्रुतस्कन्ध को मूल मानना चाहिये, क्योंकि वही भगवान महावीर के मूल शब्दों का सबसे प्राचीन संकलन है।

हमारे मन्तव्यानुसार जिन आगमों में मुख्य रूप से श्रमण के आचार संबंधी मूल गुणों, महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि का निरूपण है और जो श्रमण जीवनचर्या में मूलरूप से सहायक बनते हैं और जिन आगमों का अध्ययन श्रमण के लिए सर्वप्रथम अपेक्षित है, उन्हें मूलसूत्र कहा गया है।

हमारे इस कथन कि पुष्टि इस बात से भी होती है कि पूर्वकाल में आगमों का अध्ययन 'आचारांग' से प्रारम्भ होता था। जब 'दशवैकालिक' सूत्र का निर्माण हो गया तो सर्वप्रथम 'दशवैकालिक' का अध्ययन कराया जाने लगा और उसके पश्चात् 'उत्तराध्ययन' पढ़ाया जाने लगा।

पहले 'आचारांग' के 'शस्त्र परिज्ञा' प्रथम अध्ययन से शैक्ष की उपस्थापना की जाती थी परन्तु 'दशवैकालिक' की रचना होने के पश्चात् उसके चतुर्थ अध्ययन से उपस्थापना की जाने लगी।

मूलसूत्रों की संख्या के संबंध में भी मतैक्य नहीं है। समयसुन्दर गणी ने १. दशवैकालिक २. ओघ निर्युक्ति ३. पिण्डनिर्युक्ति और ४. उत्तराध्ययन, ये चार मूलसूत्र माने हैं। भावप्रभसूरि ने १. उत्तराध्यन २. आवश्यक ३. पिण्डनिर्युक्ति— ओघनिर्युक्ति और ४. दशवैकालिक ये चार मूलसूत्र माने हैं।

श्रुतपुरुष की कल्पना आगमों के वर्गीकरण की दृष्टि से एक अतीव सुन्दर कल्पना है। प्राचीन ज्ञान भण्डारों में श्रुतपुरुष के हस्तरचित अनेक कल्पना चित्र मिलते हैं। द्वादश उपांगों की रचना होने के पश्चात् श्रुत पुरुष के प्रत्येक अंग के साथ एक–एक उपांग की भी कल्पना की गई है, क्योंकि अंगों में कहे हुए अर्थों का स्पष्ट बोध कराने वाले उपांग सूत्र हैं।

किस अंग का उपांग कौन है, यह इस प्रकार है–

अंग	उपांग
आचारांग	औपपातिक
सूत्रकृत	राजप्रश्नीय
स्थानाग	जीवाभिगम
समवाय	प्रज्ञापना
भगवती	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
ज्ञाताधर्मकथा	सूर्यप्रज्ञप्ति
उपासकदशा	चन्द्र प्रज्ञप्ति
अन्तकृतदशा	निरयावलिया-कल्पिका
अनुत्तरौपपातिक दशा	कल्पावतंसिका
प्रश्नव्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्पचूलिका
दृष्टिवाद	वृष्णिदशा

श्रुत पुरुष की तरह वैदिक वाङ्मय में भी वेद पुरुष की कल्पना की गई है। उसके अनुसार छन्द पैर हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष नेत्र हैं, निरुक्त श्रोत्र हैं, शिक्षा नासिका है और व्याकरण मुख है।

निर्यूहण आगम

जैन आगमों की रचनाएँ दो प्रकार से हुई हैं– १. कृत २. निर्यूहण। जिन आगमों का निर्माण स्वतन्त्र रूप से हुआ है वे आगम 'कृत' कहलाते हैं। जैसे गणधरों के द्वारा द्वादशांगी की रचना की गई है और भिन्न भिन्न स्थविरों के द्वारा 'उपांग' साहित्य का निर्माण किया गया है, वे सब 'कृत' आगम हैं। निर्यूहण आगम ये माने गये हैं–

१. आचारचूला
२. दशवैकालिक
३. निशीथ
४. दशाश्रुतस्कन्ध
५. बृहत्कल्प
६. व्यवहार
७. उत्तराध्ययन का परीषह अध्ययन

'आचारचूला' चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु के द्वारा निर्यूहण की गई है, यह बात आज अन्वेषण के द्वारा स्पष्ट हो चुकी है। 'आचारांग' से 'आचार चूला' की रचनाशैली सर्वथा पृथक् है। उसकी रचना 'आचारांग' के बाद हुई है। आचारांग–निर्युक्तिकार ने उसको स्थविर कृत माना है। स्थविर का अर्थ चूर्णिकार ने गणधर किया है और वृत्तिकार ने चतुर्दश पूर्व किया है, किन्तु

उनमें स्थविर का नाम नहीं आया है। विज्ञों का अभिमत है कि यहां पर स्थविर शब्द का प्रयोग चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु के लिए ही हुआ है।

'आचारांग' के गम्भीर अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए 'आचारचूला' का निर्माण हुआ है। निर्युक्तिकार ने पाँचों चूलाओं के निर्यूहण स्थलों का संकेत किया है।

'दशवैकालिक' चतुर्दशपूर्वी शय्यंभव के द्वारा विभिन्न पूर्वों से निर्यूहण किया गया है। जैसे— चतुर्थ अध्ययन आत्म-प्रवाद पूर्व से, पंचम अध्ययन कर्म- प्रवाद पूर्व से, सप्तम अध्ययन सत्य-प्रवाद पूर्व से और शेष अध्ययन प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु से उद्धृत किये गये हैं।

द्वितीय अभिमतानुसार 'दशवैकालिक' गणिपिटक द्वादशांगी से उद्धृत है।

'निशीथ' का निर्यूहण प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व से हुआ है। प्रत्याख्यान पूर्व के बीस वस्तु अर्थात् अर्थाधिकार हैं। तृतीय वस्तु का नाम आचार है। उसके भी बीस प्राभृतच्छेद अर्थात् उप विभाग हैं। बीसवें प्राभृतच्छेद से 'निशीथ' का निर्यूहण किया गया है।

पंचकल्पचूर्णि के अनुसार निशीथ के निर्यूहक भद्रबाहु स्वामी हैं। इस मत का समर्थन आगम प्रभावक मुनि श्री पुण्यविजयजी ने भी किया है।

दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार, ये तीनों आगम चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु स्वामी के द्वारा प्रत्याख्यान पूर्व से निर्यूढ़ हैं।

'दशाश्रुतस्कन्ध' की निर्युक्ति के मन्तव्यानुसार वर्तमान में उपलब्ध 'दशाश्रुत स्कन्ध ' अंग प्रविष्ट आगमों में जो दशाएं प्राप्त हैं उनसे लघु है। इसका निर्यूहण शिष्यों के अनुग्रहार्थ स्थविरों ने किया था। चूर्णि के अनुसार स्थविर का नाम भद्रबाहु है।

'उत्तराध्ययन' का दूसरा अध्ययन भी अंगप्रभव माना जाता है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु के मतानुसार वह कर्मप्रवाद पूर्व के सतरहवें प्राभृत से उद्धृत है।

इनके अतिरिक्त आगमेतर साहित्य में विशेषत: कर्म-साहित्य का बहुत सा भाग पूर्वोद्धृत माना जाता है।

निर्यूहण कृतियों के संबंध में यह स्पष्टीकरण करना आवश्यक है कि उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर हैं, सूत्र के रचयिता गणधर हैं और जो संक्षेप में उसका वर्तमान रूप उपलब्ध है उसके कर्त्ता वही हैं जिन पर जिनका नाम अंकित या प्रसिद्ध है। जैसे 'दशवैकालिक' के शय्यंभव, 'कल्प व्यवहार', 'निशीथ' और 'दशाश्रुत स्कन्ध' के रचयिता भद्रबाहु हैं।

जैन अंग साहित्य की संख्या के संबंध में श्वेताम्बर और दिगम्बर सभी एक मत हैं। सभी बारह अंगों को स्वीकार करते हैं। परन्तु अंगबाह्य

आगमों की संख्या के संबंध में यह बात नहीं है, उसमें विभिन्न मत हैं। यही कारण हैं कि आगमों की संख्या कितने ही ८४ मानते हैं, कोई ४५ मानते हैं और कितने ही ३२ मानते हैं।

'नन्दीसूत्र' में आगमों की जो सूची दी गई है, वे सभी आगम वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज मूल आगमों के साथ कुछ निर्युक्तियों को मिलाकर ४५ आगम मानता है और कोई ८४ मानते हैं। स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा बत्तीस को ही प्रमाणभूत मानती है। दिगम्बर समाज की मान्यता है कि सभी आगम विच्छिन्न हो गये हैं।

जैन आगमों की भाषा

जैन आगमों की मूल भाषा अर्द्धमागधी है, जिसे सामान्यत: प्राकृत भी कहा जाता है। 'समवायांग' और 'औपपातिक' सूत्र के अभिमतानुसार सभी तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में ही उपदेश देते हैं, क्योंकि चारित्र धर्म की आराधना व साधना करने वाले मन्द बुद्धि स्त्री–पुरुषों पर अनुग्रह करके सर्वज्ञ भगवान सिद्धान्त की प्ररूपणा जन-सामान्य के लिए सुबोध प्राकृत में करते हैं। यह देववाणी है। देव इसी भाषा में बोलते हैं। इस भाषा में बोलने वाले को भाषार्य कहा गया है। जिनदासगणी महत्तर अर्धमागधी का अर्थ दो प्रकार से करते हैं। प्रथम यह कि, यह भाषा मगध के एक भाग में बोली जाने के कारण अर्धमागधी कही जाती है, दूसरे इस भाषा में अठारह देशी भाषाओं का सम्मिश्रण हुआ है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो मागधी और देशज शब्दों का इस भाषा में मिश्रण होने से यह अर्धमागधी कहलाती है। भगवान महावीर के शिष्य मगध, मिथिला, कौशल आदि अनेक प्रदेश, वर्ग एवं जाति के थे।

बताया जा चुका है कि जैनागम ज्ञान का अक्षय कोष है। उसका विचार गाम्भीर्य महासागर से भी अधिक है। उसमें एक से एक दिव्य असंख्य मणि–मुक्ताएँ छिपी पड़ी हैं। उसमें केवल अध्यात्म और वैराग्य के ही उपदेश नहीं हैं किन्तु धर्म, दर्शन, नीति, संस्कृति, सभ्यता, भूगोल, खगोल, गणित, आत्मा, कर्म, लेश्या, इतिहास, संगीत, आयुर्वेद, नाटक आदि जीवन के हर पहलू को छूने वाले विचार यत्र–तत्र बिखरे पड़े हैं। उन्हें पाने के लिए अधिक गहरी डुबकी लगाने की आवश्यकता है। केवल किनारे–किनारे घूमने से उस अमूल्य रत्नराशि के दर्शन नहीं हो सकते।

'आचारांग' और 'दशवैकालिक' में श्रमण जीवन से संबंधित आचार–विचार का गम्भीरता से चिन्तन किया गया है। 'सूत्रकृतांग', अनुयोगद्वार', 'प्रज्ञापना', 'स्थानांग', 'समवायांग' आदि में दार्शनिक विषयों का गहराई से विश्लेषण किया गया है। 'भगवती सूत्र' जीवन और जगत् का विश्लेषण करने वाला अपूर्व ग्रन्थ है। 'उपासकदशांग' में श्रावक साधना का सुन्दर निरूपण है। 'अन्तकृतदशांग और 'अनुत्तरौपपातिक' में उन महान् आत्माओं के तप–जप का वर्णन है, जिन्होंने कठोर साधना से अपने जीवन

को तपाया था। 'प्रश्न व्याकरण' में आस्रव और संवर का सजीव चित्रण है। 'विपाक' में पुण्य—पाप के फल का वर्णन है। 'उत्तराध्ययन' में अध्यात्म चिन्तन का स्वर मुखरित है। 'राजप्रश्नीय' में तर्क के द्वारा आत्मा की संसिद्धि की गई है। इस प्रकार आगमों में सर्वत्र प्रेरणाप्रद, जीवनस्पर्शी, अध्यात्म रस से सुस्निग्ध सरस विचारों का प्रवाह प्रवाहित हो रहा है।

आगम वाचनाएँ

श्रमण भगवान महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् आगम संकलन हेतु पाँच वाचनाएँ हुई हैं। प्रथम वाचना वीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी में पाटलिपुत्र में हुई। द्वितीय वाचना ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्य में उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर हुई। तृतीय वाचना वीर निर्वाण ८२७ से ८४० के मध्य मथुरा में हुई। चतुर्थ वाचना उसी समय वल्लभी सौराष्ट्र में हुई और पाँचवीं वाचना वीर निर्वाण की दशवी शताब्दी में देवर्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में पुनः वल्लभी में हुई। इसके पश्चात् आगमों की पुनः कोई सर्वमान्य वाचना नहीं हुई।

आगम—विच्छेद का क्रम

श्वेताम्बर मान्यतानुसार वीर निर्वाण १७० वर्ष के पश्चात् भद्रबाहु स्वर्गस्थ हुए। अर्थ की दृष्टि से अन्तिम चार पूर्व उनके साथ ही नष्ट हो गये। दिगम्बर मान्यता के अनुसार भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर निर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् हुआ था।

वीर निर्वाण सं. २१६ में स्थूलभद्र स्वर्गस्थ हुए। वे शाब्दिक दृष्टि से अन्तिम चार पूर्व के ज्ञाता थे। वे चार पूर्व भी उनके साथ ही नष्ट हो गये। आर्य वज्र स्वामी तक दस पूर्वों की परम्परा चली। वे वीर निर्वाण ५५१ (वि. सं. ८१) में स्वर्ग पधारे। उस समय दसवाँ पूर्व नष्ट हो गया। दुर्बलिका पुष्यमित्र ९ पूर्वों के ज्ञाता थे। उनका स्वर्गवास वीर निर्वाण ६०४ (वि. सं. १३४) में हुआ। उनके साथ ही नवाँ पूर्व भी विच्छिन्न हो गया।

इस प्रकार पूर्वों का विच्छेद क्रम देवर्धिगणी क्षमाश्रमण तक चलता रहा। स्वयं देवर्धिगणी एक पूर्व से अधिक श्रुत के ज्ञाता थे। आगम साहित्य का बहुत सा भाग लुप्त होने पर भी आगमों का कुछ मौलिक भाग आज भी सुरक्षित है। किन्तु दिगम्बर परम्परा की यह धारणा नहीं है। श्वेताम्बर समाज मानता है कि आगम संकलन के समय उसके मौलिक रूप में कुछ अन्तर अवश्य ही आया है। उत्तरवर्ती घटनाओं एवं विचारणाओं का उसमें समावेश किया गया है, जिसका स्पष्ट प्रमाण 'स्थानांग' में सात निह्नवों और नव गणों का उल्लेख है। वर्तमान में 'प्रश्नव्याकरण' का मौलिक विषय वर्णन भी उपलब्ध नहीं है तथापि 'अंग' साहित्य का अत्यधिक अंश मौलिक है। भाषा की दृष्टि से भी ये आगम प्राचीन सिद्ध हो चुके हैं। 'आचारांग' के प्रथम श्रुत स्कन्ध की भाषा को भाषाशास्त्री पच्चीस सौ वर्ष पूर्व की मानते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि वैदिक वाङ्मय की तरह जैन आगम-साहित्य पूर्ण रूप से उपलब्ध क्यों नहीं है? वह विच्छिन्न क्यों हो गया? इसका मूल कारण है देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के पूर्व आगम-साहित्य व्यवस्थित रूप से लिखा नहीं गया। देवर्द्धिगणी के पूर्व जो आगम वाचनाएँ हुई, उनमें आगमों का लेखन हुआ हो, ऐसा स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। वह श्रुति रूप में ही चलता रहा। प्रतिभा सम्पन्न योग्य शिष्य के अभाव में गुरु ने वह ज्ञान शिष्य को नहीं बताया जिसके कारण श्रुत साहित्य धीरे—धीरे विस्मृत होता गया।

आगम लेखन-युग

जैन दृष्टि से चौदह पूर्वों का लेखन कभी हुआ ही नहीं। उनके लेखन के लिए कितनी स्याही अपेक्षित है, इसकी कल्पना अवश्य ही की गई है। वीर निर्वाण संवत् ८२७ से ८४० में जो मथुरा और वल्लभी में सम्मेलन हुआ, उस समय एकादश अंगों को व्यवस्थित किया गया। उस समय आर्य रक्षित ने 'अनुयोग द्वार' सूत्र की रचना की। उसमें द्रव्य श्रुत के लिए 'पत्तय पोत्थय लिहिअं' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके पूर्व आगम लिखने का प्रमााण प्राप्त नहीं है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि श्रमण भगवान महावीर के परिनिर्वाण की ९वीं शताब्दी के अंत में आगमों के लेखन की परम्परा चली, परन्तु आगमों को लिपिबद्ध करने का स्पष्ट संकेत देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय से मिलता है।

आगमों को लिपिवद्ध कर लेने पर भी एक मान्यता यह रही कि श्रमण अपने हाथ से पुस्तक लिख नहीं सकते और न अपने साथ रख ही सकते हैं, क्योंकि ऐसा करने में निम्न दोष लगने की संभावना रहती है—

१. अक्षर आदि लिखने से कुन्थु आदि त्रस जीवों की हिंसा होती है एतदर्थ पुस्तक लिखना संयम विराधना का कारण है।
२. पुस्तकों को एक ग्राम से दूसरे ग्राम ले जाते समय कन्धे छिल जाते है, व्रण हो जाते है।
३. उनके छिद्रों की सम्यक् प्रकार से प्रतिलेखना नहीं हो सकती।
४. मार्ग में वजन वढ़ जाता है।
५. कुन्थु आदि त्रस जीवों का आश्रय होने से अधिकरण हैं या चोर आदि के चुराये जाने पर अधिकरण हो जाते हैं।
६. तीर्थकरों ने पुस्तक नामक उपाधि रखने की अनुमति नहीं दी है।
७. पुस्तकें पास में होने से स्वाध्याय में प्रमाद होता है। अत: साधु जितनी बार पुस्तकों को बांधते हैं, खोलते हैं और अक्षर लिखते हैं, उन्हें उतने ही चतुर्लघुकों का प्रायश्चित आता है और आज्ञा आदि दोष लगते हैं।

यही कारण है कि लेखनकला का परिज्ञान होने पर भी आगमों का लेखन नहीं किया गया था। साधु के लिए स्वाध्याय और ध्यान का विधान मिलता है, पर कहीं पर भी लिखने का विधान प्राप्त नहीं होता। ध्यान कोष्ठोपगत, स्वाध्याय और

ध्यानरक्त पदों की तरह 'लेखरक्त' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। परन्तु पूर्वाचार्यों ने आगमों का विच्छेद न हो जाय एतदर्थ लेखन का और पुस्तक रखने का विधान किया और आगम लिखे।

जैनागमों का आलेखन यदि इसी शताब्दी में प्रारम्भ हुआ तो वैदिक ग्रन्थ भी गुप्त काल में ही लिपिबद्ध हुए थे। भारतीय संस्कृति के विभिन्न इतिहासज्ञों तथा शिशिर कुमार मित्र ने अपनी '**Vision of India**' नामक पुस्तक में स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'प्राचीन ग्रन्थ गुप्त साम्राज्य में और विशेषकर चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में लिखे गये हैं। रामायण, महाभारत, स्मृति आदि ग्रन्थों की रचना इसी काल में हुई।' इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य का लेखन काल गुप्त साम्राज्य तक खिंच आता है। सच्चाई यह है कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी भारतीय वाङ्मय के लिपिकरण का महत्त्वपूर्ण समय रहा है।

उक्त अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि जैन आगम-साहित्य अपनी प्राचीनता, उपयोगिता और समृद्धता के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। 'अंग साहित्य' में भगवान महावीर की वाणी अपने बहुत कुछ अंशों में ज्यों की त्यों अभी भी प्राप्त होती है। इस वाणी को तोड़ा—मरोड़ा नहीं गया है। यह जैन परम्परा की विशेषता रही है कि अंगों को लिपिबद्ध करने वाले श्रमणों ने मूल शब्दों में कुछ भी हेरा—फेरी नहीं की। 'अंग' एवं 'आगम' साहित्य पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णियों और टीकाओं आदि की रचना हुई, किन्तु आगम का मूल रूप ज्यों का त्यों रहा। साथ ही देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की यह उदारता रही कि जहां उन्हें पाठान्तर मिले वहाँ दोनों विचारों को ही तटस्थता पूर्वक लिपिबद्ध किया।

द्वादशांगी की रचना, उसका ह्रास एवं आगम-लेखन

✡आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा.

आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी महाराज ने नन्दीसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, बृहत्कल्पसूत्र, अंतगडदसासूत्र, प्रश्नव्याकरण आदि सूत्रों का विवेचन किया है। वे प्रसिद्ध आगम-विवेचक रहे। जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग—२ में उन्होंने आगम—विषयक प्रचुर जानकारी का समावेश किया है। उसमें से ही कुछ अंश का संकलन कर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। यह सामग्री 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग—२, के तीन स्थलों से ली गई है। इसमें वर्तमान द्वादशांगी की रचना, उसके ह्रास एवं आगम-लेखन पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। —सम्पादक

वर्तमान द्वादशांगी के रचयिता आर्य सुधर्मा

समस्त जैन परम्परा की मान्यतानुसार तीर्थंकर भगवान् अपनी देशना में जो अर्थ अभिव्यक्त करते हैं, उसको उनके प्रमुख शिष्य गणधर शासन के हितार्थ अपनी शैली में सूत्रबद्ध करते हैं। वे ही बारह अंग प्रत्येक तीर्थंकर के शासनकाल में द्वादशांगी-सूत्र के रूप में प्रचलित एवं मान्य होते हैं।[1] द्वादशांगी का गणिपिटक के नाम से भी उल्लेख किया गया है।[2] सूत्र गणधर-कथित या प्रत्येकबुद्ध-कथित होते हैं। वैसे श्रुतकेवलि-कथित और अभिन्न दशपूर्वी-कथित भी होते हैं।[3]

यद्यपि विभिन्न तीर्थंकरों के धर्मशासन में तीर्थस्थापना के काल में ही गणधरों द्वारा द्वादशांगी की नये सिरे से रचना की जाती है तथापि उन सब तीर्थंकरों के उपदेशों में जीवादि मूल भावों की समानता एवं एकरूपता रहती है, क्योंकि अर्थ रूप से जैनागमों को अनादि-अनंत अर्थात् शाश्वत माना गया है। जैसा कि नन्दीसूत्र के ५८वें सूत्र में तथा समवायांगसूत्र के १८५वें सूत्र में कहा गया है—

"इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाई नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ, भुविं च भवइ य भविस्सइ य, धुवे, निअए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए निच्चे ।।"

समय-समय पर अंगशास्त्रों का विच्छेद होने और तीर्थंकरकाल में नवीन रचना के कारण इन्हें सादि और सपर्यवसित भी माना गया है।[4] इस प्रकार द्वादशांगी के शाश्वत और अशाश्वत दोनों ही रूप शास्त्रों में प्रतिपादित किये गये हैं। इस मान्यता के अनुसार प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल के अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा चतुर्विध तीर्थ की स्थापना के दिन जो प्रथम उपदेश इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरों को दिया गया, भगवान की उस वाणी को अपने साथी अन्य सभी गणधरों की तरह आर्य सुधर्मा ने भी द्वादशांगी के रूप में सूत्रबद्ध किया।

ग्यारह गणधरों द्वारा पृथक्—पृथक् स्वतन्त्र रूप से ग्रथित बारह ही

अंगों में शब्दों और शैली की न्यूनाधिक विविधता होने पर भी उनके मूल भाव तो पूर्णरूपेण वही थे जो भगवान महावीर ने प्रकट किये।

भगवान महावीर के ११ गणधरों की वाचनाओं की अपेक्षा से ९ गण थे और उनकी पृथक्-पृथक् ९ वाचनाएँ थीं। ११ में से ९ गणधर तो भगवान महावीर के निर्वाण से पूर्व ही मुक्त हो गये। केवल इन्द्रभूति और आर्य सुधर्मा ये दो ही गणधर विद्यमान रहे। उनमें भी इन्द्रभूति गौतम तो प्रभु की निर्वाणरात्रि में ही केवली बन गये और १२ वर्ष पश्चात् आर्य सुधर्मा को अपना गण सौंप कर निर्वाण को प्राप्त हुए। अत: आर्य सुधर्मा को छोड़कर शेष दशों गणधरों की शिष्य-परम्परा और वाचनाएँ उनके निर्वाण के साथ ही समाप्त हो गई, आगे नहीं चल सकीं।

ऐसी अवस्था में भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनके धर्मतीर्थ के उत्तराधिकार के साथ—साथ भगवान के समस्त प्रवचन का उत्तराधिकार भी आर्य सुधर्मा को प्राप्त हुआ और केवल आर्य सुधर्मा की ही अंगवाचना प्रचलित रही। बारहवें अंग दृष्टिवाद का आज से बहुत समय पहले विच्छेद हो चुका है। आज जो एकादशांगी उपलब्ध है, वह आर्यसुधर्मा की ही वाचना है। इस तथ्य की पुष्टि करने वाले अनेक प्रमाण आगमों में उपलब्ध हैं। उनमें से कुछ प्रमाण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

आचारांग सूत्र के उपोद्घातात्मक प्रथम वाक्य में—"**सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं।**" अर्थात्— हे आयुष्मन् (जंबू) मैंने सुना है, उन भगवान महावीर ने इस प्रकार कहा है............। इस वाक्य रचना से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस वाक्य का उच्चारण करने वाला गुरु अपने शिष्य से वही कह रहा है जो स्वयं उसने भगवान महावीर के मुखारविन्द से सुना था।

आचारांग सूत्र की ही तरह समवायांग, स्थानांग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति आदि अंगसूत्रों में तथा उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि अंगबाह्य श्रुत में भी आर्य सुधर्मा द्वारा विवेच्य विषय का निरूपण— "**सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं**" इसी प्रकार की शब्दावली से किया गया है।

अनुत्तरौपपातिक सूत्र, ज्ञाताधर्म कथा आदि के आरंभ में और भी स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है:—

"..........**तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे, अज्ज सुहम्मस्स समोसरणं........परिसा पडिगया।।2।।**

जंबू जाव पज्जुवासइ एवं वयासी जइणं भंते! समणेणं जाव संपत्तेणं अट्ठमस्स अंगस्स अंतगडदसाणं अयमट्ठे पण्णत्ते, नवमस्स णं भंते! अंगस्स अणुत्तरोववाइयदसाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते।।3।।

तएणं से सुहम्मे अणगारे जंबू अणगारं एवं वयासी— एवं खलु जंबू! समणेणं जाव संपत्तेणं नवमस्स अंगस्स अणुत्तरोववाइयदसाणं तिण्णि वग्गा पण्णत्ता।।4।।"

आर्य जम्बू ने अपने गुरु आर्य सुधर्मा से समय-समय पर अनेक प्रश्न प्रस्तुत करते हुए पूछा— "भगवन्! श्रमण भगवान् महावीर ने अमुक

अंग का क्या अर्थ बताया?''

अपने शिष्य जम्बू के प्रश्न के उत्तर में उन अंगों का अर्थ बताने का उपक्रम करते हुए आर्य सुधर्मा कहते हैं– ''आयुष्मन् जंबू! अमुक अंग का जो अर्थ भगवान महावीर ने फरमाया, वह मैंने स्वयं ने सुना है। उन प्रभु ने अमुक अंग का, अमुक अध्ययन का, अमुक वर्ग का यह अर्थ फरमाया है......''

अपने शिष्य जम्बू को आगमों का ज्ञान कराने की उपरिवर्णित परिपाटी सुखविपाक, दु:खविपाक आदि अनेक सूत्रों में भी परिलक्षित होती है।

नायाधम्मकहाओ के प्रारम्भिक पाठ से भी यही प्रमाणित होता है कि वर्तमान काल में उपलब्ध अंगशास्त्र आर्य सुधर्मा द्वारा गुम्फित किये गये हैं।[५]

आगमों में उल्लिखित– ''उन भगवान ने इस प्रकार कहा–'' इस वाक्य से यह स्पष्टत: प्रकट होता है कि इन आगमों में जो कुछ कहा जा रहा है उसमें किंचित्मात्र भी स्वकल्पित नहीं, अपितु पूर्णरूपेण वही शब्दबद्ध किया गया है जो श्रमण भगवान महावीर ने उपदेश देते समय अर्थत: श्रीमुख से फरमाया था।

केवल धवला को छोड़कर सभी प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थों में भी यही मान्यता अभिव्यक्त की गई है कि अर्थ रूप में भगवान् महावीर ने उपदेश दिया और उसे सभी गणधरों ने द्वादशांगी के रूप में ग्रथित किया। आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी ने विक्रम की छठी शताब्दी में तत्त्वार्थ पर सर्वार्थसिद्धि की रचना की, उसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि परम अचिन्त्य केवलज्ञान की विभूति से विभूषित सर्वज्ञ परमर्षि तीर्थंकर ने अर्थरूप से आगमों का उपदेश दिया। उन तीर्थंकर भगवान् के अतिशय बुद्धिसम्पन्न एवं श्रुतकेवली प्रमुख शिष्य गणधरों ने अंग-पूर्व लक्षण वाले आगमों (द्वादशांगी) की रचना की।[६]

इसी प्रकार आचार्य अकलंक देव (वि. ८वीं शती) ने तत्त्वार्थ पर अपनी राजवार्तिक टीका में[७] और आचार्य विद्यानन्द[८] (वि.९वीं शती) ने अपने तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिक में इसी मान्यता को अभिव्यक्त किया है कि तीर्थंकर आगमों का अर्थत: उपदेश देते हैं और उसे सभी गणधर द्वादशांगी के रूप में शब्दत: ग्रथित करते हैं।

धवला में यह मन्तव्य दिया गया है कि आर्य सुधर्मा को अंगज्ञान इन्द्रभूति गौतम ने दिया। परन्तु श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के प्राचीन ग्रन्थों में कहीं इस प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता। ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि धवलाकार की यह अपनी स्वयं की नवीन मान्यता है।

श्वेताम्बर आचार्यों की ही तरह धवलाकार के अतिरिक्त अन्य सभी

प्राचीन दिगम्बर आचार्यों की यह मान्यता है कि भगवान महावीर ने सभी गणधरों को अर्थत: द्वादशांगी का उपदेश दिया। जयधवला में जब यह स्पष्टत: उल्लेख किया गया है कि आर्य सुधर्मा ने अपने उत्तराधिकारी शिष्य जम्बूकुमार के साथ-साथ अन्य अनेक आचार्यों को द्वादशांगी की वाचना दी थी[१] तो यह कल्पना धवलाकार ने किस आधार पर की कि श्रमण भगवान महावीर ने अर्थत: द्वादशांगी का उपदेश सुधर्मादि अन्य गणधरों को न देकर केवल इन्द्रभूति गौतम को ही दिया?

ऐसी स्थिति में अपनी परंपरा के प्राचीन आचार्यों की मान्यता के विपरीत धवलाकार ने जो यह नया मन्तव्य रखा है कि आर्य सुधर्मा को द्वादशांगी का ज्ञान भगवान् महावीर ने नहीं, अपितु इन्द्रभूति गौतम ने दिया, इसका औचित्य विचारणीय है।

ऊपर उल्लिखित प्रमाणों से यह निर्विवादरूपेण सिद्ध हो जाता है कि अन्य गणधरों के समान आर्य सुधर्मा ने भी भगवान महावीर के उपदेश के आधार पर द्वादशांगी की रचना की। अन्य दश गणधर आर्य सुधर्मा के निर्वाण से पूर्व ही अपने-अपने गण उन्हें सम्हला कर निर्वाण प्राप्त कर चुके थे। अत: आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित द्वादशांगी ही प्रचलित रही और आज वर्तमान में जो एकादशांगी प्रचलित है वह आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित है। शेष गणधरों द्वारा ग्रथित द्वादशांगी वीर निर्वाण के कुछ ही वर्षों पश्चात् विलुप्त हो गई।

द्वादशांगी का ह्रास एवं विच्छेद

जिस प्रकार आज की श्रमण-परम्परा आर्य सुधर्मा की शिष्य परम्परा है उसी प्रकार आज की श्रुतपरम्परा भी आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित द्वादशांगी ही है।

भगवान महावीर ने विकट भवाटवी के उस पार पहुँचाने वाला, जन्म, जरा, मृत्यु के अनवरत चक्र से परित्राण करने वाला, अनिर्वचनीय शाश्वत सुखधाम मोक्ष का जो प्रशस्त पथ प्रदर्शित किया था, उस मुक्तिपथ पर अग्रसर होने वाले असंख्य साधकों को आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित द्वादशांगी प्रकाशदीप की तरह २५०० वर्ष से आज तक पथ प्रदर्शन करती आ रही है। इस ढाई हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में भीषण द्वादशवार्षिक दुष्कालों जैसे प्राकृतिक प्रकोपों, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक क्रान्तियों आदि के कुप्रभावों से आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित द्वादशांगी भी पूर्णत: अछूती नहीं रह पाई। इन सबके अतिरिक्त कालप्रभाव, बुद्धिमान्द्य, प्रमाद, शिथिलाचार, सम्प्रदायभेद, व्यामोह आदि का घातक दुष्प्रभाव भी द्वादशांगी पर पड़ा। यद्यपि आगमनिष्णात आचार्यों, स्वाध्यायनिरत श्रमण-श्रमणियों एवं जिनशासन के हितार्थ अपना सर्वस्व तक न्यौच्छावर कर देने वाले सद्गृहस्थों ने श्रुतशास्त्रों को अक्षुण्ण और सुरक्षित बनाये रखने के लिये सामूहिक तथा

व्यक्तिगत रूप से समय–समय पर प्रयास किये, अनेक बार श्रमण-श्रमणी वर्ग और संघ ने एकत्रित हो आगम– वाचनाएँ कीं, किन्तु फिर भी काल अपनी काली छाया फैलाने में येन केन प्रकारेण सफल होता ही गया। परिणामत: उपरिवर्णित दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों के कारण द्वादशांगी का समय-समय पर बड़ा ह्रास हुआ।

द्वादशांगी का कितना भाग आज हमारे पास विद्यमान है और कितना भाग हम अब तक खो चुके हैं, इस प्रकार का विवरण प्रस्तुत करने से पूर्व यह बताना आवश्यक है कि मूलत: अविच्छिन्नावस्था में द्वादशांगी का आकार–प्रकार कितना विशाल था। इस दृष्टि से आर्य सुधर्मा के समय में द्वादशांगी का जिस प्रकार का आकार–प्रकार था, उसकी तालिका यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

श्वेताम्बर परम्परानुसार द्वादशांगी की पदसंख्या

अंग का नाम	समवायांग के अनुसार	नंदीसूत्र	सम.वृत्ति	नंदी वृत्ति
१. आचारांग	१८०००	,,	,,	,,
२. सूत्रकृतांग	३६०००	,,	,,	,,
३. स्थानांग	७२०००	,,	,,	,,
४. समवायांग	१४४०००	,,	,,	,,
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति	८४०००	२८८०००	८४०००	२८८०००
६. ज्ञाताधर्मकथा	संख्यात हजार	संख्यात हजार	५७६०००	५७६०००
७. उपासकदशा	,,	,,	११५२०००	११५२०००
८. अंतकृद्दशा	,,	,,	२३०४०००	२३०४०००
९. अनुत्तरौपपातिक	,,	,,	४६०८०००	४६०८०००
१०. प्रश्नव्याकरण	,,	,,	९२१६०००	९२१६०००
११. विपाकसूत्र	,,	,,	१८४३२०००	१८४३२०००
१२. दृष्टिवाद	,,	,,	—	—

दिगम्बर परम्परानुसार[10] द्वादशांगी की पद, श्लोक एवं अक्षर-संख्या

अंग का नाम	पद संख्या	श्लोक संख्या	अक्षर संख्या
१. आचारांग	१८०००	९१९५९२३११८७०००	२९९२६९५४८१९८४०००
२. सूत्रकृत	३६०००	१८३९१८४६३७४०००	५८८५३९०८३९६८०००
३. स्थानांग	४२०००	२१४५७१५४१०३०००	६८६६२८१३१२९६०००
४. समवायांग	१६४०००	८३७८५०७७९२६०००	२६८११२२४१३६३२०००
५. विपाकप्रज्ञप्ति	२२८०००	११६४८१६९३७०२०००	३७२७४१४९१८४६४०००
६. ज्ञाताधर्मकथा	५५६०००	२८४०५१८८९५५४०००	९८१६५११८५७२८०००
७. उपासकाध्ययन	११७०००	५९७७३५००७१५५०००	१९१२७५२०२२८९६००००
८. अंतकृद्दशांग	२३२८०००	११८९३३९३१८८५२०००	३८०५८८६०७६३२३४०००
९. अनुत्तरौत्पाद	९२२४०००	४७२२६१७८८१४६०००	१५११२३७५८११६६७०००
१० प्रश्नव्याकरण	९३१६०००	४७५९१४०११३३८९४०००	१५२३००८३६२८८६०८०००

११.विपाकसूत्रांग	१८४००००	९४००२७७०३५६०००००	३००८०८८६५१३९२०००००
१२.दृष्टिवादांग	१०८६८५६००५	५५५२५८०१८७३९४२७१०७	१७७६८२५६५९९६६१६६७४०

पूर्वो की पदसंख्या

पूर्वनाम	श्वेताम्बर परम्परानुसार	दिगम्बर परम्परानुसार
१. उत्पादपूर्व	एक करोड़ पद	एक करोड़ पद
२. अग्रायणीय	छियानवे लाख	छियानवे लाख
३. वीर्यप्रवाद	सत्तर लाख	सत्तर लाख
४. अस्तिनास्ति प्रवाद	साठ लाख	साठ लाख
५. ज्ञानप्रवाद	एक कम एक करोड़	एक कम एक करोड़ पद
६. सत्यप्रवाद	एक करोड़ छ: पद	एक करोड़ छ: पद
७. आत्मप्रवाद	छब्बीस करोड़ पद	छब्बीस करोड़ पद
८. कर्मप्रवाद	१ करोड़ अस्सी हजार	१ करोड़ ८० लाख पद
९. प्रत्याख्यान पद	८४ लाख पद	८४ लाख पद
१०. विद्यानुवाद	१ करोड़ १० लाख पद	१ करोड़ १० लाख पद
११. अवंध्य	२६ करोड़ पद	२६ करोड़ पद[११]
१२. प्राणायु	१ करोड़ ५६ लाख पद	१३ करोड़ पद[१२]
१३. क्रियाविशाल	९ करोड़ पद	९ करोड़ पद
१४. लोकबिन्दुसार	साढ़े बारह करोड़ पद	साढ़े बारह करोड़ पद

उपर्युल्लिखित तालिकाओं में अंकित दृष्टिवाद और चतुर्दश पूर्वों की पदसंख्या से यह स्पष्टत: प्रकट होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के आगमों एवं आगम संबंधी प्रामाणिक ग्रन्थों में दृष्टिवाद की पदसंख्या संख्यात मानी गई है। शीलांकाचार्य ने सूत्रकृतांग की टीका में पूर्व को अनन्तार्थ युक्त बताते हुए लिखा है–

''पूर्व अनन्त अर्थ वाला होता है और उसमें वीर्य का प्रतिपादन किया जाता है। अत: उसकी अनन्तार्थता समझनी चाहिए।''

अपने इस कथन की पुष्टि में उन्होंने दो गाथाएँ प्रस्तुत करते हुए लिखा है– ''समस्त नदियों के बालुकणों की गणना की जाय अथवा सभी समुद्रों के पानी को हथेली में एकत्रित कर उसके जलकणों की गणना की जाय तो उन बालुकणों तथा जलकणों की संख्या से भी अधिक अर्थ एक पूर्व का होगा।

इस प्रकार पूर्व के अर्थ की अनन्तता होने के कारण वीर्य की भी पूर्वार्थ के समान अनन्तता (सिद्ध) होती है।[१३]

नंदी बालावबोध में प्रत्येक पूर्व के लेखन के लिए आवश्यक मसि की जिस अतुल मात्रा का उल्लेख किया गया है उससे पूर्वों के संख्यात पद और अनन्तार्थयुक्त होने का आभास होता है।[१४] ये तथ्य यही प्रकट करते हैं कि पूर्वों की पदसंख्या असीम अर्थात् उत्कृष्टसंख्येय पदपरिमाण की थी।

इन सब उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि द्वादशांगी का पूर्वकाल में बहुत बड़ा पद परिमाण था। कालजन्य मन्दमेधा आदि कारणों से उसका निरन्तर ह्रास होता रहा। आचार्य कालक ने अपने प्रशिष्य सागर को कभी गर्व न करने का उपदेश देते हुए जो धूलि की राशि का दृष्टांत दिया उस दृष्टांत से सहज ही यह समझ में आ जाता है कि वस्तुत: द्वादशांगी का ह्रास किस प्रकार हुआ। कालकाचार्य ने अपनी मुट्ठी में धूलि भर कर उसे एक स्थान पर रखा। फिर आचार्य कालक ने अपने प्रशिष्य सागर को संबोधित करते हुए कहा– "वत्स! जिस प्रकार यह धूलि की राशि इदा एक स्थान से दूसरे, दूसरे से तीसरे और तीसरे से चौथे स्थान पर रखने के कारण निरन्तर कम होती गई है, ठीक इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान महावीर से गणधरों को जो द्वादशांगी का ज्ञान प्राप्त हुआ था वह गणधरों से हमारे पूववर्ती अनेक आचार्यों को, उनसे उनके शिष्यों और प्रशिष्यों आदि को प्राप्त हुआ, वह द्वादशांगी का ज्ञान एक स्थान से दूसरे, दूसरे से तीसरे और इसी क्रम में अनेक स्थानों में आते–आते निरन्तर ह्रास को ही प्राप्त होता चला आया है।" ३४ अतिशय, ३५ वाणी के गुण और अनन्त ज्ञान–दर्शन–चारित्र के धारक प्रभु महावीर ने अपनी देशना में अनन्त भावभंगियों की अनिर्वचनीय एवं अनुपम तरंगों से कल्लोलित जिस श्रुतगंगा को प्रवाहित किया, उसे द्वादशांगी के रूप में आबद्ध करने का गणधरों ने यथाशक्ति पूरा प्रयास किया, पर वे उसे निश्शेप रूप से तो आबद्ध नहीं कर पाये। तदनन्तर आर्य सुधर्मा से आर्य जम्बू ने, जम्बू से आर्य प्रभव ने और आगे चलकर क्रमश: एक के पश्चात् दूसरे आचार्यों ने अपने–अपने गुरु से जो द्वादशांगी का ज्ञान प्राप्त किया उसमें एक स्थान से दूसरे स्थान में आते–आते द्वादशांगी के अर्थ के कितनी बड़ी मात्रा में पर्याय निकल गए, छूट गए अथवा विलीन हो गए, इसकी कल्पना करना भी कठिन है।

आर्य भद्रबाहु के पश्चात् (वी.नि.सं. १७०) अन्तिम चार पूर्व अर्थत: और आर्य स्थूलभद्र के पश्चात् (वी.नि.सं. २१५) शब्दत: विलुप्त हो गए।

द्वादशांगी के किस–किस अंश का किन–किन आचार्यों के समय में ह्रास हुआ यह यथास्थान बताने का प्रयास किया जायेगा। आर्य सुधर्मा से प्राप्त द्वादशांगी में से आज हमारे पास कितना अंश अवशिष्ट रह गया, यहाँ केवल यही बताने के लिए एक तालिका दी जा रही है, जो इस प्रकार है–

अंग का नाम	मूल पद संख्या	उपलब्ध पाठ (श्लोक प्रमाण)
आचारांग	१८०००	२५०० महापरिज्ञा नामक ७वाँ अध्ययन विलुप्त हो चुका है।
सूत्रकृतांग	३६०००	२१००
स्थानांग	७२०००	३७७०

समवायांग	१४४०००	१६६७	
व्याख्याप्रज्ञप्ति	२८८०००(नंदीसूत्र)[१५] ८४०००(समवायांग)[१६]	१५७५२	
ज्ञातृधर्मकथा	समवायांग और नन्दी के अनुसार संख्येय हजार पद और इन दोनों अंगों की वृत्ति के अनुसार ५७६०००	५५००	इस अंग के अनेक कथानक वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं।
उपासकदशा	संख्यात हजार पद सम. एवं नंदी के अनुसार पर दोनों सूत्रों की वृत्ति के अनुसार ११५२०००	८१२	
अंतकृद्दशा	संख्यात हजार पद, सम. नंदी वृत्ति के अनुसार २३०४०००	९००	
अनुत्तरौपपातिकदशा	संख्यात हजार पद, सम. नंदी वृ. के अनुसार ४६०८०००	१९२	
प्रश्नव्याकरण	संख्यात हजार पद, सम. एवं नंदी वृ. के अनुसार ९२१६०००	१३००	समवायांग और नंदी सूत्र में प्रश्नव्याकरण सूत्र का जो परिचय दिया गया है, वह उपलब्ध प्रश्नव्याकरण में विद्यमान नहीं है।
विपाक सूत्र	संख्यात हजार पद, सम. और नंदी वृ. के अनुसार १८४३२०००	१२१६	
दृष्टिवाद	संख्यात हजार पद		पूर्वो सहित बारहवां अंग वीर निर्वाण सं. १००० में विच्छिन्न हो गया।

वस्तुस्थिति यह है कि द्वादशांगी का बहुत बड़ा अंश कालप्रभाव से विलुप्त हो चुका है अथवा विच्छिन्न-विकीर्ण हो चुका है। इस क्रमिक ह्रास के उपरान्त भी द्वादशांगी का जितना भाग आज उपलब्ध है वह अनमोल निधि है और साधना पथ में निरत मुमुक्षुओं के लिए बराबर मार्गदर्शन करता आ रहा है।

श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता है कि दुःषमा नामक प्रवर्तमान पंचम आरक के अन्तिम दिन पूर्वाह्न काल तक भगवान् महावीर का धर्मशासन और

बढ़ाते हुए प्रमाद को घटाया जा सकेगा और ज्ञान-परम्परा को भी शताब्दियों तक अबाध रूप से सुरक्षित रखा जा सकेगा, तब शास्त्रों का लेखन सम्पन्न किया गया।

इस प्रकार संघ को ज्ञानहानि और प्रमाद से बचाने के लिये संतों ने शास्त्रों को लिपिबद्ध करने का निश्चय किया। जैन परम्परानुसार आर्यरक्षित एवं आर्य स्कन्दिल के समय में कुछ शास्त्रीय भागों का लेखन प्रारम्भ हुआ माना गया है। किन्तु आगमों का सुव्यवस्थित सम्पूर्ण लेखन तो आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण द्वारा वल्लभी में ही सम्पन्न किया जाना माना जाता है।

देवर्द्धि के समय में कितने व कौन–कौन से शास्त्र लिपिबद्ध कर लिये गये एवं उनमें से आज कितने उसी रूप में विद्यमान हैं, प्रमाणाभाव में यह नहीं कहा जा सकता। ''आगम पुत्थयलिहिओ'' इस परम्परागत अनुश्रुति में सामान्य रूप से आगम पुस्तक रूप में लिखे गये– इतना ही कहा गया है। संख्या का कहीं कोई उल्लेख तक भी उपलब्ध नहीं होता। अर्वाचीन पुस्तकों में ८४ आगम और अनेक ग्रन्थों के पुस्तकारूढ करने का उल्लेख किया गया है। नंदीसूत्र में कालिक और उत्कालिक श्रुत का परिचय देते हुए कुछ नामावली प्रस्तुत की है। बहुत संभव है देवर्द्धि क्षमाश्रमण के समय में वे श्रुत विद्यमान हों और उनमें से अधिकांश सूत्रों का देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने लेखन करवा लिया हो। नन्दीसूत्र में अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य भेद करके अंगप्रविष्ट में १२ अंगों का निरूपण किया गया है। अंगबाह्य को दो भागों में विभक्त किया गया है– १. आवश्यक एवं २. आवश्यक व्यतिरिक्त। आवश्यक–१. सामाइयं २. चउवीसत्थओ ३. वंदणयं ४. पडिक्कमणं ५. काउस्सग्गो ६. पच्चक्खाणं। आवश्यक व्यतिरिक्त– १. कालिक २. उत्कालिक। पूर्ण नामावली इस प्रकार है–

अंगप्रविष्ट (12 अंग)

१. आयारो	२. सुयगडो
३. ठाणं	४. समवाओ
५. वियाहपण्णत्ती	६. नायाधम्मकहाओ
७. उवासगदसाओ	८. अंतगडदसाओ
९. अणुत्तरोववाइयदसाओ	१०. पण्हावागरणाइं
११. विवाग सुयं	१२. दिट्ठिवाओ (विच्छिन्न)

उत्कालिक श्रुत

१. दसवेयालियं	२. कप्पियाकप्पियं
३. चुल्लकप्पसुयं	४. महाकप्पसुयं
५. उववाइय	६. रायपसेणइय
७. जीवाभिगम	८. पन्नवणा

९. महापन्नवणा
१०. पमायप्पमाय
११. नंदी
१२. अणुओगदाराइं
१३. देविन्दथव
१४. तंदुलवेयालिय
१५. चंदाविज्जय
१६. सूरपण्णत्ति
१७. पोरिसिमंडल
१८. मंडलपवेस
१९. विज्जाचरणविणिच्छओ
२०. गणिविज्जा
२१. झाणविभत्ती
२२. मरणविभत्ती
२३. आयविसोही
२४. वीयरागसुयं
२५. संलेहणासुयं
२६. विहारकप्पो
२७. चरणविहि
२८. आउरपच्चक्खाण
२९. महापच्चक्खाण आदि

कालिक श्रुत

१. उत्तरज्झयणाइं
२. दसाओ
३. कप्पो
४. ववहारो
५. निसीहं
६. महानिसीहं
७. इसिभासियाइं
८. जंबूदीवपण्णत्ती
९. दीवसागरपण्णत्ती
१०. चंदपण्णत्ती
११. खुडियाविमाणपविभत्ती
१२. महल्लियाविमाणपविभत्ती
१३. अंगचूलिया
१४. वग्गचूलिया
१५. विवाहचूलिया
१६. अरुणोववाए
१७. वरुणोववाए
१८. गरुलोववाए
१९. धरणोववाए
२०. वेसमणोववाए
२१. वेलंधरोववाए
२२. देविन्दोववाए
२३. उट्ठाणसुयं
२४. समुट्ठाणसुयं
२५. नागपरियावणियाओ
२६. निरयावलियाओ
२७. कप्पिया
२८. कप्पवडंसिया
२९. पुप्फियाओ
३०. पुप्फचूलियाओ
३१. वण्हिदसाओ

इस प्रकार कुल ७८ श्रुत बताये गये हैं।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा द्वारा वर्तमान में ४५ आगम माने जाते हैं, पर स्थानकवासी और तेरापन्थ परम्परा में ११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल, ४ छेद और १ आवश्यक इस प्रकार ३२ शास्त्रों को प्रामाणिक मानते हैं। ४५ सूत्रों की संख्या इस प्रकार है—

11 अंग

१. आचारांग
२. सूत्रकृतांग
३. स्थानांग
४. समवायांग
५. भगवती
६. ज्ञाताधर्मकथांग
७. उपासकदशांग
८. अंतकृतदशांग

इति वचनात्। (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ.६)

(ख) द्रव्यश्रुतं हि द्वादशांगवचनात्मकमाप्तोपदेशरूपमेव, तदर्थज्ञानं तु भावश्रुतं, तदुभयमपि गणधरदेवानां भगवदर्हत्सर्वज्ञवचनातिशयप्रसादात् स्वमतिश्रुतज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमातिशयाच्च उत्पद्यमानं कथमाप्तायत्तं न भवेत्? (तत्वार्थश्लोकवार्तिक)

९. तद्दिवसे चेव सुहम्माइरियो जंबूसामीयादीणमणेयाणमाइरियाणं वक्खाणिदद्दुवालसंगो घाइचउक्कखयेण केवली जादो। (जयधवला, पृ. ८४)

१०. अंगपण्णत्ति

११. दिगम्बर परम्परा में ११वें पूर्व का नाम कल्याण है।

१२. श्वेताम्बर परम्परानुसार पूर्वों की उपर्युक्त पदसंख्या समवायांग एवं नन्दीवृत्ति के आधार पर तथा दिगम्बर परम्परानुसार पदसंख्या धवला, जयधवला, गोम्मटसार एवं अंग पण्णत्ति के अनुसार दी गई हैं। (सम्पादक)

१३. यतोऽनन्तार्थं पूर्वं भवति, तत्र च वीर्यमेव प्रतिपाद्यते, अनन्तार्थता चातोऽवगनन्तव्या तद्यथा—

सव्वनईणं जा होज्ज वालुया गणणमागया सन्ती।
तत्तो वहुयतरागो, एगस्सस अत्थो पुव्वस्स।।१ ।।
सव्वसमुद्दाणजलं, जइ पत्थमियं हविज्ज संकलियं।
एत्तो वहुयतरागो, अत्थो एगस्स पुव्वस्स।।२।।

तदेव पूर्वार्थस्यानन्त्याद्वीर्यस्य च तदर्थत्वादनन्तता वीर्यस्येति।

{सूत्रकृतांग, (वीर्याधिकार) शीलांकाचार्यकृता टीका, आ. श्री जवाहरलाल जी म. द्वारा संपादित, पृ. ३३५)

१४. नंदीसूत्र (धनपतिसिंह द्वारा प्रकाशित) पृ. ४८२—८४

१५. दो लक्खा अट्ठासीइं पयसहस्साइं पयग्गेणं......(नंदी, पृ. ४५८, राय धनपतिसिंह)

१६. चउरासीइपयसहस्साइं पयग्गेणं पण्णत्ता.....(समवायांग, पृ.१७९अ, राय धनपतिसिंह)

१७. तित्थोगाली एत्थं, वत्तव्वा होई आणुपुव्वीए।
जे तस्स उ अंगस्स, वुच्छेदो जहिं विणिद्दट्ठो।। व्या. भा. १०,७०४

१८. नंदीचूर्णि, पृ. ९ (पुण्यविजयजी म. द्वारा संपादित)

आगमों की वाचनाएँ

✪ डॉ. सागरमल जैन

तीर्थंकरों की अर्थरूप वाणी गणधरों एवं स्थविरों के द्वारा सूत्रागम रूप में ग्रथित की गई। उस सूत्रागम की भी जब पूर्णतः स्मृति नहीं रह सकी, तो समय-समय पर योग्य संतों की सन्निधि में आगमों की वाचनाएँ हुई। इनमें आगमों को सुरक्षित एवं सम्पादित किया गया। पाटलिपुत्र, कुमारीपर्वत, मथुरा, वल्लभी एवं पुनः वल्लभी में हुई पाँच आगम-वाचनाओं का परिचय जैन धर्म-दर्शन के शिखरायमाण मनीषी विद्वान् डॉ. सागरमल जी जैन के आलेख में प्रस्तुत है। यह आलेख उनके अभिनन्दन ग्रन्थ के आगम खण्ड में प्रकाशित लेख ''अर्द्धमागधी आगम-साहित्य : एक विमर्श' में से संकलित है।

—सम्पादक

यह सत्य है कि वर्तमान में उपलब्ध श्वेताम्बर मान्य अर्धमागधी आगमों के अन्तिम स्वरूप का निर्धारण वल्लभी वाचना में वी. नि. संवत् ९८० या ९९३ में हुआ, किन्तु उसके पूर्व भी आगमों की वाचनाएँ तो होती रही हैं। जो ऐतिहासिक साक्ष्य हमें उपलब्ध हैं उनके अनुसार अर्धमागधी आगमों की पाँच वाचनाएँ होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

प्रथम वाचना

प्रथम वाचना महावीर के निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् हुई। परम्परागत मान्यता तो यह है कि मध्यदेश में द्वादशवर्षीय भीषण अकाल के कारण कुछ मुनि काल-कवलित हो गये और कुछ समुद्र के तटवर्ती प्रदेशों की ओर चले गये। अकाल की समाप्ति पर वे मुनिगण वापस आए तो उन्होंने पाया कि उनका आगम ज्ञान अंशतः विस्मृत एवं विशृंखलित हो गया है और कहीं—कहीं पाठभेद हो गया है। अतः उस युग के प्रमुख आचार्यों ने पाटलिपुत्र में एकत्रित होकर आगमज्ञान को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। दृष्टिवाद और पूर्व साहित्य का कोई विशिष्ट ज्ञाता वहाँ उपस्थित नहीं था। अतः ग्यारह अंग तो व्यवस्थित किये गये, किन्तु दृष्टिवाद और उसमें अन्तर्निहित साहित्य को व्यवस्थित नहीं किया जा सका, क्योंकि उसके विशिष्ट ज्ञाता भद्रबाहु उस समय नेपाल में थे। संघ की विशेष प्रार्थना पर उन्होंने स्थूलिभद्र आदि कुछ मुनियों को पूर्वसाहित्य की वाचना देना स्वीकार किया। स्थूलिभद्र भी उनसे दस पूर्वो तक का ही अध्ययन अर्थ सहित कर सके और शेष चार पूर्वो का मात्र शाब्दिक ज्ञान ही प्राप्त कर पाये।

इस प्रकार पाटलिपुत्र की वाचना में द्वादश अंगों को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न अवश्य किया गया, किन्तु उनमें एकादश अंग ही सुव्यवस्थित किये जा सके। दृष्टिवाद और उसमें अन्तर्भुक्त पूर्व साहित्य को पूर्णतः सुरक्षित नहीं किया जा सका और उसका क्रमशः विलोप होना प्रारम्भ हो गया। फलतः उसकी विषय वस्तु को लेकर अंगबाह्य ग्रन्थ निर्मित किये

जाने लगे।

द्वितीय वाचना

आगमों की द्वितीय वाचना ई.पू. द्वितीय शताब्दी में महावीर के निर्वाण के लगभग ३०० वर्ष पश्चात् उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर सम्राट् खारवेल के काल में हुई थी। इस वाचना के संदर्भ में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती है—मात्र यही ज्ञात होता है कि इसमें श्रुत के संरक्षण का प्रयत्न हुआ था। वस्तुत: उस युग में आगमों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा गुरु—शिष्य के माध्यम से मौखिक रूप में ही चलती थी। अत: देशकालगत प्रभावों तथा विस्मृति-दोष के कारण उसमें स्वाभाविक रूप से भिन्नता आ जाती थी। अत: वाचनाओं के माध्यम से उनके भाषायी स्वरूप तथा पाठभेद को सुव्यवस्थित किया जाता था। कालक्रम में जो स्थविरों के द्वारा नवीन ग्रन्थों की रचना होती थी, उस पर भी विचार करके उन्हें इन्हीं वाचनाओं में मान्यता प्रदान की जाती थी। इसी प्रकार परिस्थितिवश आचार—नियमों में एवं उनके आगमिक संदर्भों की व्याख्या में जो अन्तर आ जाता था, उसका निराकरण भी इन्हीं वाचनाओं में किया जाता था। खण्डगिरि पर हुई इस द्वितीय वाचना में ऐसे किन विवादों का समाधान खोजा गया था— इसकी प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

तृतीय वाचना

आगमों की तृतीय वाचना वी.नि. संवत् ८२७ अर्थात् ई. सन् की तीसरी शताब्दी में मथुरा में आर्य स्कंदिल के नेतृत्व में हुई। इसलिए इसे माथुरी वाचना या स्कन्दिली वाचना के नाम से भी जाना जाता है। माथुरी वाचना के संदर्भ में दो प्रकार की मान्यताएँ नन्दीचूर्णि में हैं। प्रथम मान्यता के अनुसार दुर्भिक्ष के अनन्तर सुकाल होने के पश्चात् आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में शेष रहे मुनियों की स्मृति के आधार पर कालिकसूत्रों को सुव्यवस्थित किया गया है। अन्य कुछ का मन्तव्य यह है कि इस काल में सूत्र नष्ट नहीं हुआ था, किन्तु अनुयोगधर स्वर्गवासी हो गये थे। अत: एक मात्र जीवित स्कन्दिल ने अनुयोगों का पुन: प्रवर्तन किया।

चतुर्थ वाचना

चतुर्थ वाचना तृतीय वाचना के समकालीन ही है। जिस समय उत्तर, पूर्व और मध्य क्षेत्र में विचरण करने वाला मुनिसंघ मथुरा में एकत्रित हुआ, उसी समय दक्षिण—पश्चिम में विचरण करने वाला मुनिसंघ वल्लभी (सौराष्ट्र) में आर्य नागार्जुन के नेतृत्व में एकत्रित हुआ। इसे नागार्जुनीय वाचना भी कहते हैं।

आर्य स्कन्दिल की माथुरी वाचना और आर्य नागार्जुन की वल्लभी वाचना समकालिक हैं। नन्दीसूत्र स्थविरावली में आर्य स्कन्दिल और नागार्जुन के मध्य आर्य हिमवन्त का उल्लेख है। इससे यह फलित होता है

कि आर्य स्कन्दिल और नागार्जुन समकालिक ही रहे होंगे। नन्दी स्थविरावली में आर्य स्कन्दिल के संदर्भ में यह कहा गया है कि उनका अनुयोग आज भी दक्षिणार्द्ध भरत क्षेत्र में प्रचलित है। इसका एक तात्पर्य यह भी हो सकता है कि उनके द्वारा सम्पादित आगम दक्षिण भारत में प्रचलित थे। ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ के विभाजन के फलस्वरूप जिस यापनीय सम्प्रदाय का विकास हुआ था उसमें आर्य स्कन्दिल के द्वारा सम्पादित आगम ही मान्य किये जाते थे और इस यापनीय सम्प्रदाय का प्रभाव क्षेत्र मध्य और दक्षिण भारत था। आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन ने तो स्त्री-निर्वाण प्रकरण में स्पष्ट रूप से मथुरागम का उल्लेख किया है। अत: यह स्पष्ट है कि यापनीय सम्प्रदाय जिन आगमों को मान्य करता था, वे माथुरी वाचना के आगम थे। मूलाचार, भगवती-आराधना आदि यापनीय आगमों में वर्तमान में श्वेताम्बर मान्य आचारांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, व्यवहार, संग्रहणीसूत्रों, निर्युक्तियों आदि की सैकड़ों गाथाएँ आज भी उपलब्ध हो रही हैं। इससे यही फलित होता है कि यापनीयों के पास माथुरी वाचना के आगम थे। हम यह भी पाते हैं कि यापनीय ग्रन्थों में जो आगमों की गाथाएँ मिलती हैं वे न तो अर्धमागधी में हैं, न महाराष्ट्री प्राकृत में, अपितु वे शौरसेनी में हैं। मात्र यही नहीं अपराजित की भगवती-आराधना की टीका में आचारांग, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र, निशीथ आदि से जो अनेक अवतरण दिये हैं वे सभी अर्द्धमागधी में न होकर शौरसेनी में हैं।

इससे यह फलित होता है कि स्कंदिल की अध्यक्षता वाली माथुरी वाचना में आगमों की अर्द्धमागधी भाषा पर शौरसेनी का प्रभाव आ गया था। दूसरे माथुरी वाचना के आगमों के जो भी पाठ भगवती-आराधना की टीका आदि में उपलब्ध होते हैं, उनमें वल्लभी वाचना के वर्तमान आगमों से पाठभेद भी देखा जाता है। साथ ही अचेलकत्व की समर्थक कुछ गाथाएँ और गद्यांश भी पाये जाते हैं। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में अनुयोगद्वारसूत्र, प्रकीर्णकों, निर्युक्ति आदि की कुछ गाथाएँ क्वचित् पाठभेद के साथ मिलती हैं—संभवत:उन्होंने ये गाथाएँ यापनीयों के माथुरी वाचना के आगमों से ही ली होगीं।

एक ही समय में आर्य स्कन्दिल द्वारा मथुरा में और नागार्जुन द्वारा वल्लभी में वाचना किये जाने की एक संभावना यह भी हो सकती है कि दोनों में किन्हीं बातों को लेकर मतभेद थे। संभव है कि इन मतभेदों में वस्त्र—पात्र आदि संबंधी प्रश्न भी रहे हों। पं० कैलाशचन्द्रजी ने जैन साहित्य का इतिहास —पूर्व पीठिका (पृ.५००) में माथुरी वाचना की समकालीन वल्लभी वाचना के प्रमुख रूप में देवर्द्धिगणी का उल्लेख किया है, यह उनकी भ्रान्ति है। वास्तविकता तो यह है कि माथुरी वाचना का नेतृत्व आर्य

स्कन्दिल और वल्लभी की प्रथम वाचना का नेतृत्व आर्य नागार्जुन कर रहे थे और ये दोनों समकालिक थे, यह बात हम नन्दीसूत्र के प्रमाण से पूर्व में ही कह चुके हैं। यह स्पष्ट है कि आर्य स्कन्दिल और नागार्जुन की वाचना में मतभेद था।

पं० कैलाशचन्द्र जी ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि वल्लभी वाचना नागार्जुन की थी तो देवर्द्धि ने वल्लभी में क्या किया? साथ ही उन्होंने यह भी कल्पना कर ली कि वादिवेतालशान्तिसूरि वल्लभी की वाचना में नागार्जुनीयों का पक्ष उपस्थित करने वाले आचार्य थे। हमारा यह दुर्भाग्य है कि दिगम्बर विद्वानों ने श्वेताम्बर साहित्य का समग्र एवं निष्पक्ष अध्ययन किये बिना मात्र यत्र-तत्र उद्धृत या अंशत: पठित अंशों के आधार पर अनेक भ्रान्तियाँ खड़ी कर दीं। इसके प्रमाण के रूप में उनके द्वारा उद्धृत मूल गाथा में ऐसा कहीं उल्लेख ही नहीं है कि शान्तिसूरि वल्लभी वाचना के समकालिक थे। यदि हम आगमिक व्याख्याओं को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि अनेक वर्षों तक नागार्जुनीय और देवर्द्धि की वाचनाएँ साथ–साथ चलती रही हैं, क्योंकि इनके पाठान्तरों का उल्लेख मूल ग्रन्थों में कम और टीकाओं में अधिक हुआ है।

पंचम वाचना

वी.नि. के ९८० वर्ष पश्चात् ई. सन् की पाँचवी शती के उत्तरार्द्ध में आर्य स्कन्दिल की माथुरी वाचना और आर्य नागार्जुन की वल्लभी वाचना के लगभग १५० वर्ष पश्चात् देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण की अध्यक्षता में पुन: वल्लभी में एक वाचना हुई। इस वाचना में मुख्यत: आगमों को पुस्तकारूढ़ करने का कार्य किया गया। ऐसा लगता है कि इस वाचना में माथुरी और नागार्जुनीय दोनों वाचनाओं को समन्वित किया गया है और जहां मतभेद परिलक्षित हुआ वहाँ ''नागार्जुनीयास्तु पठन्ति'' ऐसा लिखकर नागार्जुनीय पाठ को भी सम्मिलित किया गया है।

समीक्षा

प्रत्येक वाचना के संदर्भ में प्राय: यह कहा जाता है कि मध्यदेश में द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण श्रमणसंघ समुद्रतटीय प्रदेशों की ओर चला गया और वृद्ध मुनि, जो इस अकाल में लम्बी यात्रा न करे सके, कालगत हो गये। सुकाल होने पर जब मुनिसंघ लौटकर आया तो उसने यह पाया कि उनके श्रुतज्ञान में विस्मृति और विसंगति आ गयी है। प्रत्येक वाचना से पूर्व अकाल की यह कहानी मुझे बुद्धिगम्य नहीं लगती है। मेरी दृष्टि में प्रथम वाचना में श्रमण संघ के विशृंखलित होने का कारण अकाल की अपेक्षा मगध राज्य में युद्ध से उत्पन्न अशांति और अराजकता ही थी, क्योंकि उस समय नन्दों के अत्याचारों एवं चन्द्रगुप्त मौर्य के आक्रमण के कारण मगध में अशांति थी। उसी के फलस्वरूप श्रमण संघ सुदूर समुद्रीतट की ओर या

नेपाल आदि पर्वतीय क्षेत्र की ओर चला गया था। भद्रबाहु की नेपालयात्रा का भी संभवत: यही कारण रहा होगा।

जो भी उपलब्ध साक्ष्य हैं उनसे यह फलित होता है कि पाटलिपुत्र की वाचना के समय द्वादश अंगों को ही व्यवस्थित करने का प्रयत्न हुआ था। उसमें एकादश अंग सुव्यवस्थित हुए और बारहवें दृष्टिवाद, जिसमें अन्यदर्शन एवं महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ की परम्परा का साहित्य समाहित था, का संकलन नहीं किया जा सका। इसी संदर्भ में स्थूलिभद्र के द्वारा भद्रबाहु के सान्निध्य में नेपाल जाकर चतुर्दश पूर्वों के अध्ययन की बात कही जाती है। किन्तु स्थूलिभद्र भी मात्र दस पूर्वों का ही ज्ञान अर्थ सहित ग्रहण कर सके, शेष चार पूर्वों का केवल शाब्दिक ज्ञान ही प्राप्त कर सके। इसका फलितार्थ यही है कि पाटलिपुत्र की वाचना में एकादश अंगों का ही संकलन और सम्पादन हुआ था। किसी भी चतुर्दश पूर्वविद् की उपस्थिति नहीं होने से दृष्टिवाद के संकलन एवं सम्पादन का कार्य नहीं किया जा सका। उपांग साहित्य के अनेक ग्रन्थ जैसे प्रज्ञापना आदि, छेदसूत्रों में आचारांग, कल्प, व्यवहार आदि तथा चूलिकासूत्रों में नन्दी, अनुयोगद्वार आदि— ये सभी परवर्ती कृति होने से इस वाचना में सम्मिलित नहीं किये गए होंगे। यद्यपि आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थ पाटलिपुत्र की वाचना के पूर्व के हैं, किन्तु इस वाचना में इनका क्या किया गया, यह जानकारी प्राप्त नहीं है। हो सकता है कि सभी साधु-साध्वियों के लिये इनका स्वाध्याय आवश्यक होने के कारण इनके विस्मृत होने का प्रश्न ही न उठा हो।

पाटलिपुत्र वाचना के बाद दूसरी वाचना उड़ीसा के कुमारी पर्वत (खण्डगिरि) पर खारवेल के राज्य काल में हुई थी। इस वाचना के संबंध में मात्र इतना ही ज्ञात है कि इसमें भी श्रुत को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया था। संभव है कि इस वाचना में ई.पू. प्रथम शती से पूर्व रचित ग्रन्थों के संकलन और सम्पादन का कोई प्रयत्न किया गया हो।

जहां तक माथुरी वाचना का प्रश्न है, इतना तो निश्चित है कि उसमें ई.सन् की चौथी शती तक के रचित सभी ग्रन्थों के संकलन एवं सम्पादन का प्रयत्न किया गया होगा। इस वाचना के कार्य के संदर्भ में जो सूचना मिलती है, उसमें इस वाचना में कालिकसूत्रों को व्यवस्थित करने का निर्देश है। नन्दिसूत्र में कालिकसूत्र को अंगबाह्य, आवश्यक व्यतिरिक्त सूत्रों का ही एक भाग बताया गया है। कालिकसूत्रों के अन्तर्गत उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, दशाश्रुत, कल्प, व्यवहार, निशीथ तथा वर्तमान में उपांग के नाम से अभिहित अनेक ग्रन्थ आते हैं। हो सकता है कि अंग सूत्रों की जो पाटलिपुत्र की वाचना चली आ रही थी वह मथुरा में मान्य नहीं हो, किन्तु उपांगों में से कुछ को तथा कल्प आदि छेदसूत्रों को सुव्यवस्थित किया गया हो। किन्तु यापनीय ग्रन्थों की टीकाओं में जो माथुरी वाचना के आगमों के उद्धरण मिलते हैं , उन

पर जो शौरसेनी का प्रभाव दिखता है, उससे ऐसा लगता है कि माथुरी वाचना में न केवल कालिक सूत्रों का अपितु उस काल तक रचित सभी ग्रन्थों के संकलन का काम किया गया था। ज्ञातव्य है कि यह माथुरी वाचना अचेलता की पोषक यापनीय परम्परा में भी मान्य रही है। यापनीय ग्रन्थों की व्याख्याओं एवं टीकाओं में इस वाचना के आगमों के अवतरण तथा इन आगमों के प्रामाण्य के उल्लेख मिलते हैं। आर्य शाकटायन ने स्त्री-निर्वाण प्रकरण एवं अपने व्याकरण की स्वोपज्ञटीका में न केवल मथुरा आगम का उल्लेख किया है, अपितु उनकी अनेक मान्यताओं का निर्देश भी किया है तथा अनेक अवतरण भी दिये हैं। इसी प्रकार भगवती आराधना पर अपराजित की टीका में भी आचारांग, उत्तराध्ययन, निशीथ के अवतरण भी पाये जाते हैं, यह हम पूर्व में कह चुके हैं।

आर्य स्कंदिल की माथुरी वाचना वस्तुत: उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ के सचेल—अचेल दोनों पक्षों के लिये मान्य थी और उसमें दोनों ही पक्षों के सम्पोषक साक्ष्य उपस्थित थे। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि यदि माथुरी वाचना उभय पक्षों को मान्य थी तो फिर उसी समय नागार्जुन की अध्यक्षता में वल्लभी में वाचना करने की क्या आवश्यकता थी। मेरी मान्यता है कि अनेक प्रश्नों पर स्कंदिल और नागार्जुन में मतभेद रहा होगा। इसी कारण से नागार्जुन को स्वतन्त्र वाचना करने की आवश्यकता पड़ी।

यह सत्य है कि वल्लभी में न केवल आगमों को पुतकारूढ़ किया गया, अपितु उन्हें संकलित व सम्पादित भी किया गया, किन्तु यह संकलन एवं सम्पादन निराधार नहीं था। न तो दिगम्बर परम्परा का यह कहना उचित है कि वल्लभी में श्वेताम्बरों ने अपनी मान्यता के अनुरूप आगमों को नये सिरे से रच डाला और न यह कहना ही समुचित होगा कि वल्लभी में जो आगम संकलित किये गये वे अक्षुण्ण रूप से वैसे ही थे जैसे— पाटलिपुत्र आदि की पूर्व वाचनाओं में उन्हें संकलित किया गया था। यह सत्य है कि आगमों की विषयवस्तु के साथ—साथ अनेक आगम ग्रन्थ भी कालक्रम में विलुप्त हुए हैं। वर्तमान आगमों का यदि सम्यक् प्रकार से विश्लेषण किया जाय तो इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। ज्ञातव्य है कि देवर्द्धि की वल्लभी वाचना में न केवल आगमों को पुस्तकारूढ़ किया गया है, अपितु उन्हें सम्पादित भी किया गया है। इस सम्पादन के कार्य में उन्होंने आगमों की अवशिष्ट उपलब्ध विषयवस्तु को अपने ढंग से पुन: वर्गीकृत भी किया था और परम्परा या अनुश्रुति से प्राप्त आगमों के वे अंश जो उनके पूर्व की वाचनाओं में समाहित नहीं थे, उन्हें समाहित भी किया। उदाहरण के रूप में ज्ञाताधर्मकथा में सम्पूर्ण द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दस वर्ग और अध्ययन इसी वाचना में समाहित किये गये हैं, क्योंकि श्वेताम्बर, यापनीय एवं दिगम्बर परम्परा के प्रतिक्रमणसूत्र एवं अन्यत्र उसके उन्नीस अध्ययनों का ही उल्लेख मिलता है। प्राचीन ग्रन्थों

में द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दस वर्गों का कहीं कोई निर्देश नहीं है।

इसी प्रकार अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा और विपाकदशा के संदर्भ में स्थानांग में जो दस–दस अध्ययन होने की सूचना है उसके स्थान पर इनमें भी जो वर्गों की व्यवस्था की गई वह देवर्द्धि की ही देन है। उन्होंने इनके विलुप्त अध्यायों के स्थान पर अनुश्रुति से प्राप्त सामग्री जोड़कर इन ग्रन्थों को नये सिरे से व्यवस्थित किया था।

यह एक सुनिश्चित सत्य है कि आज प्रश्नव्याकरण की आस्रव–संवर द्वार संबंधी जो विषय वस्तु उपलब्ध है वह किसके द्वारा संकलित व सम्पादित है यह निर्णय करना कठिन कार्य है, किन्तु यदि हम यह मानते हैं कि नन्दीसूत्र के रचयिता देवर्द्धि न होकर देव वाचक हैं, जो देवर्द्धि से पूर्व के हैं तो यह कल्पना भी की जा सकती है कि देवर्द्धि ने आस्रव व संवर द्वार संबंधी विषयवस्तु को लेकर प्रश्नव्याकरण की प्राचीन विषयवस्तु का जो विच्छेद हो गया था, उसकी पूर्ति की होगी। इस प्रकार ज्ञाताधर्म से लेकर विपाकसूत्र तक के छः अंग आगमों में जो आंशिक या सम्पूर्ण परिवर्तन हुए हैं, वे देवर्द्धि के द्वारा ही किये हुए माने जा सकते हैं। यद्यपि यह परिवर्तन उन्होंने किसी पूर्व परम्परा या अनुश्रुति के आधार पर ही किया होगा, यह विश्वास किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त देवर्द्धि ने एक यह महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया कि जहां अनेक आगमों में एक ही विषयवस्तु का विस्तृत विवरण था वहाँ उन्होंने एक स्थल पर विस्तृत विवरण रखकर अन्यत्र उस ग्रन्थ का निर्देश कर दिया। हम देखते हैं कि भगवती आदि कुछ प्राचीन स्तरों के आगमों में भी, उन्होंने प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार जैसे परवर्ती आगमों का निर्देश करके आगमों में विषय वस्तु के पुनरावर्तन को कम किया। इसी प्रकार जब एक ही आगम में कोई विवरण बार–बार आ रहा था तो उस विवरण के प्रथम शब्द का उल्लेख कर उसे संक्षिप्त बना दिया। इसके साथ ही उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ जो यद्यपि परवर्तीकाल की थीं, उन्हें भी आगमों में दे दिया जैसे स्थानांगसूत्र में सात निह्नवों और सात गणों का उल्लेख। इस प्रकार वल्लभी की वाचना में न केवल आगमों को पुस्तकारूढ़ किया गया, अपितु उनकी विषयवस्तु को सुव्यवस्थित और सम्पादित भी किया गया। संभव है कि इस संदर्भ में प्रक्षेप और विलोपन भी हुआ होगा, किन्तु यह सभी अनुश्रुत या परम्परा के आधार पर किया गया था, अन्यथा आगमों को मान्यता न मिलती।

इसके अतिरिक्त इन वाचनाओं में वाचना-स्थलों की अपेक्षा से आगमों के भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ है। उदाहरण के रूप में आगम पटना तथा उड़ीसा के कुमारी पर्वत (खण्डगिरि) में सुव्यवस्थित किये गये थे, उनकी भाषा अर्द्धमागधी ही रही, किन्तु जब वे आगम मथुरा और वल्लभी में पुनः सम्पादित किये गये तो उनमें भाषिक परिवर्तन आ गये।

माथुरी वाचना में जो आगमों का स्वरूप तय हुआ था, उस पर व्यापक रूप से शौरसेनी का प्रभाव आ गया था। दुर्भाग्य से आज हमें माथुरी वाचना के आगम उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु उन आगमों के जो उद्धृत अंश उत्तर भारत की अचेल धारा यापनीय संघ के ग्रन्थों में और टीकाओं में उद्धृत मिलते हैं, उनमें हम यह पाते हैं कि भावगत समानता के होते हुए भी शब्दरूपों और भाषिक स्वरूप में भिन्नता है। आचारांग, उत्तराध्ययन, निशीथ, कल्प, व्यवहार आदि से जो अंश भगवती-आराधना की टीका में उद्धृत हैं वे अपने भाषिक स्वरूप और पाठभेद की अपेक्षा से वल्लभी के आगमों से किंचित भिन्न हैं। फिर भी देवर्द्धि को जो आगम-परम्परा से प्राप्त थे,उनका और माथुरी वाचना के आगमों का मूलस्रोत तो एक ही था। हो सकता है कि कालक्रम में भाषा एवं विषयवस्तु की अपेक्षा दोनों में क्वचित् अन्तर आ गये हों। अतः यह दृष्टिकोण भी समुचित नहीं होगा कि देवर्द्धि की वल्लभी वाचना के आगम माथुरी वाचना के आगमों से नितान्त भिन्न थे।

–सचिव, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
सागर टेण्ट हाउस, नई सड़क, शाजापुर (म.प्र.)

जैन आगमों की प्राचीनता

● डॉ. पदमचन्द मुणोत

जैन आगमों की रचना के संबंध में अनेकविध प्रश्न उठते हैं। इनके रचयिता कौन थे? रचना कब हुई? क्या ये अनादि अनन्त हैं? इन प्रश्नों के संबंध में गणितशास्त्र के सेवानिवृत्त आचार्य डॉ. पदमचन्द जी मुणोत ने जैनदर्शन मान्य कालचक्र का निरूपण करते हुए तीर्थंकरों की मूल वाणी को आधार बनाकर सूत्रबद्ध शास्त्र को आगम कहा है। यह अर्थ रूप में शाश्वत एवं शब्दरूप में नवीन होते हैं। वर्तमान में तीर्थंकर भगवान महावीर की वाणी को आधार मानकर ग्रथित सूत्र 'आगम' की संज्ञा प्राप्त हैं। आलेख की सामग्री अपने आप में जिज्ञासु पाठकों के लिये मार्गदर्शक है।—**सम्पादक**

जैन धर्म-दर्शन व संस्कृति का मूल आधार वीतराग-सर्वज्ञ तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित जैन वाङ्मय है। जैन वाङ्मय से तात्पर्य समस्त सुत्तागम, अत्थागम एवं तदुभयागम रूप शास्त्रों से है। सर्वज्ञ अर्थात् सम्पूर्ण रूप से आत्म दर्शन करने वाले ही विश्व दर्शन कर सकते हैं। जो समग्र को जानते हैं वे ही तत्त्वज्ञान का यथार्थ निरूपण कर सकते हैं, परम हितकर निःश्रेयस का यथार्थ उपदेश कर सकते हैं। उनकी वाणी में वीतरागता के कारण दोष की किंचित् मात्र भी संभावना नहीं रहती और न उसमें पूर्वापर विरोध या युक्तिबाध ही होता है।

जब तीर्थंकर भगवान को केवलज्ञान होता है अर्थात् वे सर्वज्ञ, अनन्तज्ञान के धारक हो जाते हैं, तब तीर्थंकर लब्धि के कारण वे साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चार तीर्थ की स्थापना करते हैं। इन तीर्थों की स्थापना तभी होती है जब इन्द्रों एवं देवों द्वारा रचित समवसरण में करुणासागर तीर्थंकर प्रभु जग-कल्याणार्थ भवभयभंजन उपदेश की सरिता बहाते हैं। उस समय उनके वचनामृत का पान करके अनेक भव्य प्राणी इन चार तीर्थों में स्थित हो जाते हैं। प्रभु अपने उपदेश में दो प्रकार का धर्म बतलाते हैं— एक अनगार धर्म व दूसरा आगार धर्म। अनगार धर्म स्वीकारने वाले पुरुष साधु कहलाते हैं और स्त्री साध्वी कहलाती हैं। इसी प्रकार अणुव्रत स्वीकार करने वाले पुरुष श्रावक एवं स्त्री श्राविका कहलाती है। इस प्रकार चार तीर्थ की स्थापना होती है। उनमें से कुछ पण्डित अपने गण (शिष्य समुदाय) को साथ लेकर दीक्षित होते हैं वे गणधर कहलाते हैं। उनमें पूर्वभव के संस्कार से गणधर लब्धि प्रकट होती है।

कहते हैं—

> **अत्थं भासइ अरहा।**
> **सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं।।**— अनुयोगद्वार

प्रभु द्वारा प्रस्फुटित वाणी अर्थागम है जो मुक्त सुमनों की वृष्टि के समान होती है। महान् प्रज्ञावान गणधर उसे सूत्र रूप से गूंथकर व्यवस्थित आगम का रूप देते हैं, जो सूत्रागम कहलाते हैं। गणधरों के प्रथम शिष्य की

रचनाएँ 'अनन्तरागम' और उनके शिष्य परम्परा में आगे की पीढ़ी के स्थविरों की रचनाएँ 'परम्परागम' कही जाती हैं। ये ही तदुभयागम हैं, ये सभी प्रभु सर्वज्ञ की वाणी का उपयोग करके ही रचित होती हैं। ये ही आगम शास्त्र कहलाते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आगम उतने ही प्राचीन हैं जितने प्राचीन तीर्थंकर हैं। तीर्थंकर अनादिकाल से होते आये हैं और आगे अनन्तकाल तक होते रहेंगे। अत: आगम भी अनादि प्रवाहयुक्त है अर्थात् अनादि काल से विद्यमान हैं और भविष्य में अनन्तकाल तक विद्यमान रहेंगे। तीर्थंकर परम्परा की शाश्वतता के साथ आगम की शाश्वतता स्वयं सिद्ध होती है।

तीर्थंकर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र व अनन्त बलवीर्य के धारक होते हैं। उनके मुख से जो अर्थागम वाणी जन-कल्याणार्थ निकलती है वह अत्यन्त सरल एवं अर्धमागधी भाषा में ही होती है। उनके अतिशय के कारण जो भी उसको सुनता है उसको लगता है कि वह उसकी भाषा में ही कही गई है और वह उसके हृदय को स्पर्श करती है। वह उसे पूर्ण रूप से समझ जाता है। स्पष्ट है कि सीमित समय में जो प्रभु भाषते हैं, वह सार रूप ही होता है। तीर्थंकर भगवान केवल अर्थ रूप में ही उपदेश देते हैं और गणधर उसे सूत्रबद्ध अथवा ग्रन्थबद्ध करते हैं। अर्थात्मक ग्रन्थ के प्रणेता तीर्थंकर हैं। आचार्य देववाचक ने इसीलिये आगमों को तीर्थंकर-प्रणीत कहा है। प्रबुद्ध पाठकों को यह स्मरण रखना होगा कि आगमसाहित्य की जो प्रामाणिकता है उसका मूल कारण गणधर कृत होने से नहीं, किन्तु उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर की वीतरागता और सर्वज्ञता के कारण है। गणधर केवल द्वादशांगी की रचना करते हैं, किन्तु अंगबाह्य आगमों की रचना स्थविर करते हैं। यह सभी ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा से उनके शासन में सदैव विद्यमान रहता है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो आगम-ज्ञाननिधि गुरु द्वारा शिष्य को उपदेश रूप में प्राप्त होती है वही आत्मा का कल्याण करने वाली होती है। शिष्य उसे स्मृति में रखने का प्रयत्न करता है।

तीर्थंकर किन क्षेत्रों में और किस काल में होते हैं, यहाँ पर इन बातों पर कुछ विचार करते हैं। चौदह राजु लोक में तिरछा लोक के १०१ क्षेत्रों में मनुष्य का होना माना जाता है। ये क्षेत्र हैं— पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच महाविदेह कुल १५ कर्मभूमियाँ, ३० अकर्म भूमियाँ और ५६ अन्तर्द्वीप हैं। इनमें से १५ कर्मभूमियों में ही तीर्थंकर होते हैं। शेष ३० अकर्मभूमियों एवं ५६ अन्तर्द्वीपों में तीर्थंकर नहीं होते। सभी भरत एवं सभी ऐरावत क्षेत्र काल चक्र के आधीन हैं। कालचक्र निरन्तर घूमता रहता है। इसके दो भाग हैं—एक अवसर्पिणी काल और दूसरा उत्सर्पिणी काल, जो एक के बाद एक निरन्तर आते रहते हैं। जैसे कि अपने भरत क्षेत्र में वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल

रहा है जिसमें पुद्‌गलों की शक्ति निरन्तर घटती जाती है। मानव देह, जो अजीव पुद्‌गलों से निर्मित है, की अवगाहना, उम्र, शारीरिक बल, स्मरण शक्ति आदि सब, ज्यों ज्यों यह काल बढ़ता है, घटते जाते हैं। अवसर्पिणी काल के बीत जाने के बाद तथा उसके पूर्व भी उत्सर्पिणी काल होता है, जिसमें अजीव पुद्‌गलों की शक्ति जैसे जीवों की अवगाहना, आयुष्य आदि सब बढ़ते जाते हैं। एक अवसर्पिणी काल और एक उत्सर्पिणी काल मिल कर एक कालचक्र बनता है, जिसका पूर्ण काल २० कोटाकोटि सागरोपम है, क्योंकि प्रत्येक अवसर्पिणी और प्रत्येक उत्सर्पिणी १०—१० कोटाकोटि सागरोपम के होते हैं। प्रत्येक अवसर्पिणी और प्रत्येक उत्सर्पिणी ६ आरों में विभक्त होते हैं। इनके नाम एवं प्रत्येक काल का विवरण निम्न सूचि में दर्शाया गया है।

अवसर्पिणी काल

प्रथम आरा	सुषम—सुषम	४ कोटाकोटि सागरोपम
दूसरा आरा	सुषम	३ कोटाकोटि सागरोपम
तीसरा आरा	सुषम—दुषम	२ कोटाकोटि सागरोपम
चौथा आरा	दुषम—सुषम	१ कोटाकोटि सागरोपम में ४२हजार वर्ष कम
पाँचवा आरा	दुषम	२१ हजार वर्ष
छठा आरा	दुषम—दुषम	२१ हजार वर्ष
	कुल	१० कोटाकोटि सागरोपम

अवसर्पिणी काल में सभी भरत एवं सभी ऐरावत क्षेत्रों में समस्त २४ तीर्थंकर चौथे आरे 'दुषम—सुषम' में ही होते हैं। इस समय दु:ख अधिक और सुख कम होता है।

उत्सर्पिणी काल

प्रथम आरा	दुषम—दुषम	२१ हजार वर्ष
दूसरा आरा	दुषम	२१ हजार वर्ष
तीसरा आरा	दुषम—सुषम	१ कोटाकोटि सागरोपम में ४२हजार वर्ष कम
चौथा आरा	सुषम—दुषम	२ कोटाकोटि सागरोपम
पाँचवा आरा	सुषम	३ कोटाकोटि सागरोपम
छठा आरा	सुषम—सुषम	४ कोटाकोटि सागरोपम
	कुल	१० कोटाकोटि सागरोपम

उत्सर्पिणी काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में सभी तीर्थंकर ''दुषम—सुषम'' नाम के तीसरे आरे में ही होते हैं। सभी कर्मों का तप आदि द्वारा क्षय करने का यही श्रेष्ठ समय होता है।

महाविदेह क्षेत्र में तो काल सदैव एक समान "दुषम—सुषम' आरे जैसा ही बना रहता है, अत: वहाँ तीर्थंकर सदैव विद्यमान रहते हैं, उनका कभी विच्छेद नहीं होता। अत: वहाँ आगम निरन्तर विद्यमान रहते हैं। भरत व ऐरावत में ऐसा नहीं है। यहाँ अवसर्पिणीकाल के अन्तिम तीर्थंकर (आगमकार) एवं आगे आने वाले उत्सर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर के मध्य कम से कम ८४ हजार वर्ष का अन्तराल रहता है जबकि उत्सर्पिणी काल के अन्तिम आगम प्रणेता एवं उससे अगले आने वाले अवसर्पिणी काल के प्रथम आगम प्रणेता (तीर्थंकर) के बीच १८ कोटाकोटि सागरोपम का अन्तराल हो जाता है।

स्पष्ट है कि महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से आगम बिना किसी अन्तराल के अव्याबाध, निरन्तर, शाश्वत अनादि अनन्त है।

आचार्य मलयगिरि के अभिमतानुसार गणधर तीर्थंकर के सन्मुख यह जिज्ञासा व्यक्त करते हैं कि तत्त्व क्या है? तब उत्तर में उनकी जिज्ञासा निवारणार्थ तीर्थंकर "उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा धुवेइ वा" इस त्रिपदी का प्रवचन करते हैं। त्रिपदी के आधार पर ही गणधर को १४ पूर्वों का ज्ञान उनके पूर्वभव के संस्कार एवं गणधर लब्धि के कारण तुरन्त हो जाता है। इन पूर्वों के ज्ञान से ही प्रभु की अर्थरूप वाणी को वे सूत्रबद्ध कर जिन आगमों की रचना करते हैं, जो अंग प्रविष्ट के रूप में विश्रुत होते हैं। अंग प्रविष्ट आगम गणधर कृत हैं।

श्रुत आगम के दो भेद हैं १. अंग प्रविष्ट और २. अंग बाह्य। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि अंग प्रविष्ट श्रुत वह है जो गणधरों द्वारा सूत्र रूप में बनाया गया हो, गणधरों के द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर तीर्थंकर के द्वारा समाधान किया हुआ हो। अंग बाह्य श्रुत वह है जो स्थविर कृत हो।

गणधर थेरकयं वा आएसा मुक्क वागरणाओ वा।
धुव चल विसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं।। –विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 252

स्थविर के चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वी ये दो भेद किये हैं, वे सूत्र एवं अर्थ की दृष्टि से अंग-साहित्य के पूर्ण ज्ञाता होते हैं। वे जो कुछ भी रचना करते हैं या कहते हैं उसमें किंचित् मात्र भी विरोध नहीं होता।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में यह मान्यता है कि गणधरकृत अंगप्रविष्ट साहित्य में द्वादशांगी का निरूपण किया गया है जिनके नाम हैं—

१. आचारांग २. सूत्रकृतांग ३. स्थानांग ४. समवायांग ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) ६. ज्ञाताधर्मकथा ७. उपासकदशा ८. अन्तकृत्दशा ९. अनुत्तरौपपातिक दशा १०. प्रश्नव्याकरण ११. विपाक सूत्र १२. दृष्टिवाद।

दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से अंग-साहित्य विच्छिन्न हो चुका है,

केवल दृष्टिवाद का कुछ अंश अवशेष है जो षट्खण्डागम के रूप में आज भी विद्यमान है। परन्तु श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से केवल १४ पूर्वों का ज्ञान विच्छिन्न हुआ है जो दृष्टिवाद का एक विभाग था। पूर्व साहित्य से निर्यूढ़ आगम आज भी विद्यमान हैं, जैसे—आचार चूला, दशवैकालिक, निशीथ, दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार, उत्तराध्ययन का परीषह अध्ययन आदि।

वर्तमान आगम सुधर्मा स्वामी की देन हैं। आगम ज्ञान तो बहुत विस्तृत था जो गुरु-शिष्य परम्परा से विचक्षण स्मृति के कारण चला आ रहा था। आगम विच्छिन्न होने के मूल कारण भगवान महावीर के पश्चात् होने वाले दुष्काल, स्मृति दुर्बलता, पात्रता का अभाव, गुरुपरम्परा का विच्छेद आदि हैं। कल्पसूत्र में वर्णन आता है कि वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी में इनको लिखकर स्थायी किया गया।

वर्तमान शास्त्र भगवान महावीर के निर्वाण के ९८० वर्ष बाद लिखित रूप में लाये गये, इससे यह कदापि न समझा जाय कि आगम १५४७ वर्ष पुराने ही हैं? कल्पसूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने एक दिन औषध रूप सूंठ का गांठिया बहरा था। उसमें से उपयोग में लेने के बाद जो अंश बच गया उसे या तो परठना था या फिर कल्पानुसार श्रावकजी को लौटाना था। उस दिन वे उसको अपने कान में अटका कर भूल गये। सांयकालीन प्रतिक्रमण के समय जब हाथ किसी कारणवश कान पर गया तो वह सूंठ का टुकड़ा सामने आ गिरा, तब उनके दिमाग में यह विचार कोंधा कि अब उनकी स्मृति में भूल पड़ने लगी है। अत: आगम ज्ञान जो उनको उनके गुरु से प्राप्त है, स्मृति दुर्बलता से उसमें भी भूल आ सकती है। प्रभु वाणी में स्पष्ट बताया गया है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जायेगा इस पांचवे आरे 'दुषम' में मानवों की स्मरणशक्ति कम होती जायेगी। अत: आगे आने वाली पीढ़ियों में आगम ज्ञान स्मरणशक्ति के बल पर सुरक्षित नहीं रह पायेगा। उस समय के श्रमणों का सम्मेलन बुला कर यह निर्णय लिया गया कि आगमज्ञान को जिसकी लेखनी सुन्दर हो उससे लिखवा कर लिखित रूप में सुरक्षित कर रखा जाय। इसी कारण वीर निर्वाण के ९८० वर्ष बाद आगम लिखे गये जो कि पूर्व में तो साधु समुदाय के मस्तिष्क में ही सुरक्षित रहते थे। अयोग्य तो उसको अर्जित करने का सोच भी नहीं सकते थे। अब तो जिसके भी ये लिखित शास्त्र हाथ पड़ जावें वहीं उसको पढ़ सकता था। यदि सुबुद्धि न हो तो कुबुद्धि से इनका दुरुपयोग भी किया जा सकता था।

आगम के लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद किये हैं। उसमें रामायण, महाभारत प्रभृति ग्रंथों को लौकिक आगम में गिना है। जबकि आचारांग, सूत्रकृतांग प्रभृति आगमों को लोकोत्तर आगम कहा गया है।

अन्य प्रदेशों की—ओ विभक्ति; र=ल के साथ-साथ र का र ही मिलना; सप्तमी विभक्ति ए.व. की—अंसि के साथ—साथ 'ए' विभक्ति, मागधी में तीनों ऊष्म व्यंजनों के स्थान पर 'श' का आदेश है, परंतु अर्धमागधी में सर्वत्र 'श, ष'= 'स' ही मिलता है (अशोक के पूर्वी भारत के शिलालेखों की भाषा की भी यही स्थिति है, उनमें 'श' कार नहीं मिल रहा है। हो सकता है कि बोलने में 'श' कार बोला जाता हो, परंतु लिखने में 'स' कार ही लिखा जाता हो।) आज भी पूर्वी उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगाल में 'स' के स्थान पर 'श' का उच्चारण अधिक मात्रा में किया जाता है। भ. बुद्ध की पालि भाषा का प्रदेश भी लगभग वही था जो भ. महावीर का था, परंतु उनके त्रिपिटक की पालि भाषा में भी 'श' कार नहीं मिलता है। यही अवस्था दोनों भाषाओं में 'ष' कार की भी है। उसके बदले में सर्वत्र 'स' कार ही मिलता है जैसाकि अशोक के पूर्वी भारत के शिलालेखों में पाया जाता है। खारवेल के हाथीगुंफा के कलिंग (उड़ीसा) और मथुरा के लेखों में भी सर्वत्र 'सकार' ही पाया जाता है। ये ही विशेषताएँ हैं जिनके कारण भ. महावीर के उपदेशों की भाषा को 'अर्धमागधी' कहा गया है।

सभी अर्धमागधी आगम ग्रंथ एक ही काल की रचनाएँ नहीं मानी गयी हैं, परंतु कुछ रचनाएँ और कतिपय रचनाओं में जो-जो प्राचीन अंश मिलते हैं, उनकी भाषा का स्वरूप पालि भाषा के समान ही होना चाहिए था, परंतु सर्वत्र ऐसा नहीं पाया जाता है। उदाहरण के लिए 'आचारांग' का प्रथम श्रुत स्कंध सभी आगम-ग्रंथों में प्राचीनतम रचना है जिसकी भाषा, शैली और विषयवस्तु से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है, परंतु इसकी भाषा भी अल्पांश में अन्य आगम ग्रंथों की तरह महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हुई है। मौखिक परंपरा और जैन धर्म के प्रसार के दरम्यान जैनों के बदलते हुए केन्द्र स्थलों (पूर्व में राजगृह, पाटलिपुत्र, वैशाली से मथुरा की तरफ और वहां से फिर वलभी (गुजरात) के कारण उन-उन प्रदेशों की भाषाओं का मिश्रण उसमें होता गया और आगमों का एक भी संस्करण मात्र शुद्ध (या प्राचीन) अर्धमागधी में उपलब्ध नहीं है। आगमों की अन्तिम (तीसरी) वाचना वलभीपुर में छठी शताब्दी के प्रारंभ में हुई और उस समय आगमों को लिपिबद्ध किया गया था, परंतु अद्यावधि सभी हस्तप्रतों में भी भाषा का स्वरूप एक समान नहीं मिल रहा है, चाहे वे ताड़पत्र की या कागज की प्रतें हों अथवा प्राचीन या पश्चकालीन प्रतें ही क्यों न हों?[3] इसका मुख्य कारण यह रहा है कि प्रारंभ से ही उपदेशों की विषयवस्तु पर अत्यधिक भार था न कि भाषा पर, जैसा कि वैदिक परम्परा में पाया जाता है। पालि भाषा को लंका में ई. सन् के पूर्व लगभग प्रथम शताब्दी में ही लिपिबद्ध कर दिया गया था और उसका सरंक्षण भी वहां पर ही होने के कारण उसमें किसी प्रकार का

परिवर्तन नहीं आ सका।

आगमों की अर्धमागधी तो महाराष्ट्री प्राकृत से इतनी प्रभावित हुई है कि इसका मूल स्वरूप भी निश्चित करना बहुत दुष्कर हो गया है। आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजय जी को तो ऐसा कहने को बाध्य होना पड़ा कि आगमों की मूल भाषा में बड़ा ही परिवर्तन आ गया है। मूल भाषा खिचड़ी ही बन गयी है।[6]

अब हमें यह दर्शाना है कि मौलिक अर्धमागधी में मध्यवर्ती व्यंजनों की ध्वनि-परिवर्तन संबंधी क्या अवस्था थी। सर्वप्रथम तो यह कहने को बाध्य होना पड़ता है कि किसी भी प्राकृत व्याकरणकार ने अर्धमागधी प्राकृत को कोई विशेष स्थान (अपने-अपने प्राकृत व्याकरण में) नहीं दिया है। सभी ने महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची, चूलिका और हेमचन्द्राचार्य ने अपभ्रंश के भी नियम दिये हैं। हेमचन्द्राचार्य स्वयं जैन थे, उन्हें जिनागमों का विशेष ज्ञान भी था, परंतु उन्होंने भी मध्यवर्ती व्यंजनों के ध्वनि-परिवर्तन संबंधी विशेष तौर पर कुछ भी नहीं लिखा है, यह एक बड़े ही आश्चर्य की बात है। उन्होंने इसे 'आर्ष' भाषा अवश्य कहा है और इसमें सभी विधियां लागू होती हैं—ऐसा कहकर के इस आर्ष भाषा को उन्होंने बड़ी ही स्वतन्त्रता दे दी। कहां पालि भाषा, अशोक के शिलालेखों, हाथी गुंफा और मथुरा के लेखों की भाषा और कहाँ यह अनियमित आर्ष—अर्धमागधी भाषा? उन्होंने आर्ष भाषा के दो मुख्य लक्षण अवश्य दिये हैं— १. पुं. अकारान्त की प्रथमा एक वचन की विभक्ति—ए और र कार का लकार हो जाना। इसके सिवाय जगह-जगह पर मूलसूत्रों की वृत्ति में आर्ष की कुछ विशेषताएं दर्शायी गयी हैं, परंतु शब्दों के मध्यवर्ती व्यंजनों के लिए तो महाराष्ट्री प्राकृत के नियम ही लागू होते हों ऐसा उनके प्राकृत व्याकरण के नियमों से स्पष्ट ही प्रतीत होता है।

प्राचीन अर्धमागधी ग्रंथों में भूतकाल (सामान्य भूत, अनद्यतन भूत और परोक्ष भूत) के प्रत्ययों वाले प्रयोग कहीं-कहीं पर अल्पांश में मिलते हैं।

हेत्वर्थक कृदन्त के लिए वैदिक परंपरा से प्राप्त—'त्तए—इत्तए,—एत्तए (संस्कृत —तवे, तवै, —त्वायै) प्रत्यय वाले प्रयोग बार-बार मिलते हैं जो अन्य प्राकृतों में मिलते ही नहीं हैं।''[5] पालि में भी यह प्रत्यय नहीं मिलता है। इस दृष्टि से पालि की अपेक्षा अर्धमागधी में भाषा की प्राचीनता सुरक्षित रही है।

अब जो मुख्य मुद्दा अर्धमागधी के लिए ध्यान देने योग्य है वह है शब्दों में मध्यवर्ती व्यंजनों की अनेक प्रयोगों में यथावत् स्थिति जो उसके लिए शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत से सर्वथा एक भिन्न भाषा होने का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

सर्वप्रथम तो यह ज्ञातव्य होना चाहिए कि हमारे मध्यकालीन प्राकृत व्याकरणकारों ने अर्धमागधी के लिए कोई विशिष्ट व्याकरण ही नहीं लिखे जिसके कारण महाराष्ट्री प्राकृत के मध्यवर्ती व्यंजनों के परिवर्तन के जो नियम थे वे ही नियम अर्धमागधी प्राकृत पर भी लागू कर दिये गये। आगमों की हस्तप्रतों (प्राचीन और अर्वाचीन) में जहां-जहां पर भी पालि के समान प्रयोग (मध्यवर्ती व्यंजनों में ध्वनिपरिवर्तन नहीं होने के पाठ) मिलते थे, उन्हें क्षतियुक्त मानकर उनके बदले में महाराष्ट्री की शब्दावली को ही अपनाया जाने लगा। उदाहरण के लिए देखिए प्रो. हर्मन याकोबी के और शुब्रिंग के आगमों में प्राचीनतम माने जाने वाले आचारांग के प्रथम श्रुत स्कंध के संस्करण के कतिपय पाठ—

अध्याय का पेरा नं.	याकोबी के पाठ लंडन 1882 ए.डी.	शुब्रिंग के पाठ लिप्जिग 1910
		(—त्—)
१.२.३.२	अकुतोभयं	अकुओभयं
१.४.४.१	परितावं	परियावं
१.१.५.७	एते	एए
१.५.५.१	सव्वतो	सव्वओ
१.२.३.५	अवहरति	अवहरइ
१.२.१.३	वेदेति	वेदेइ
		(—द्—)
१.९.४.१	ओमोदरियं	ओमोयरियं
१.४.३.१	धम्मविदु	धम्मविउ
१.१.६.१	पवाद	पवाय
१.२.१.३	वेदेति	वेएइ
१.९.१.१	वदिस्सामि	वइस्सामि
१.१.६.२	विदित्ता	विइत्ता
१.१.६.३	समादाय	समायाय
		(—ध्—)
१.७.१.३	असाधू	असाहू
१.१.५.२	अघं	अहं
१.९.२.१५	अधोवियडे	अहेवियडे

अव हम नीचे पिशल के 'प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' और महावीर जैन विद्यालय, बंबई के संस्करण के पाठ भी दे रहे हैं—

पिशल	शुब्रिंग	पिशल	म.जै. विद्यालय
	(त्)		
आतुर	आउरे	आउर	आतुर
पभिति	पभिइ	पभिइ	पभिति
ततिय	तइय	तइय	ततिय

मतिमं	मइमं	मइमं	मतिमं
	(ध्)		
मेधावी	मेहावी	मेहावी	मेधावी

(नाम, सर्वनाम, काल एवं कृदन्त रूप)

(—त—, —द्—)

भगवता	भगवया	भगवया	भगवता
ततो	तओ	तओ	ततो
परितावेंति	परियावेंति	परियावेंति	परितावेंति
भवति	भवइ	भवइ	भवति
सुणेति	सुणेइ	सुणेइ	सुणेति
नातं	नायं	नायं	णातं
पवेदितं	पवेइयं	पवेइयं	पवेदितं
रुदंति	रुयंति	रुवइ	रुदंति
वद्ंति	वयंति	वयंति	वदंति
वदिस्सामि	वइस्सामि	वइस्सामि	वदिस्सामि

इन प्रयोगों से पता चलता है कि प्रो. याकोबी महोदय ने हस्तप्रतों में प्राप्त पाठों को बदला नहीं हैं और जो-जो पाठ पालि भाषा से साम्य रखते थे उन्हें भी उसी रूप में अपनाया है न कि उन्हें महाराष्ट्री प्राकृत भाषा के अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया है। इसीलिए उन्होंने जैन प्राकृत (अर्थात् अर्धमागधी) के मूल पाठों को जहां पर भी उपलब्ध हो रहे हैं उन्हें भाषिक दृष्टि से यथावत् रखा है, परंतु शुब्रिंग महोदय ने उनके सामने याकोबी का आचारांग का संस्करण (१८८२ ए.डी.) विद्यमान होते हुए भी अपने (१९१० ए.डी.) के संस्करण में पालि के समान अर्धमागधी के पाठों को महाराष्ट्री में बदल डाला, जबकि उनको तो याकोबी से भी अधिक मात्रा में हस्तप्रतें, चूर्णीग्रंथ, टीका ग्रंथ इत्यादि प्राप्त हुए थे। श्री महावीर जैन विद्यालय के आगमों का संस्करण भी याकोबी के संपादन की पद्धति की पुष्टि कर रहा है। शुब्रिंग महोदय ने प्राकृत व्याकरणकारों के महाराष्ट्री भाषा के ध्वनि परिवर्तन (मध्यवर्ती व्यंजन संबंधी) के नियमों का अक्षरश: पालन/अनुसरण किया है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

प्रो. शुब्रिंग महोदय ने 'इसिभासियाइं[6]=ऋषिभाषितानि'' का भी संपादन किया है जो उनके द्वारा भी एक प्राचीन आगम ग्रन्थ माना गया है। परंतु उसमें अर्धमागधी शब्द प्रयोगों को सर्वत्र महाराष्ट्री प्राकृत में नहीं बदला है।[7] इस प्रकार के कितने ही प्रयोग उसमें मिलते हैं जिनमें से कतिपय प्रयोग नीचे दिये जा रहे हैं जो शुब्रिंग महोदय के आचारांग भाग—१ में कहीं पर भी नहीं मिलेंगे, जबकि प्रो. याकोबी के आचारांग में यत्र-तत्र अनेक बार प्राप्त

शतक— भगवती सूत्र में अध्ययन के स्थान पर शतक का प्रयोग किया गया है। अन्य किसी आगम में शतक का प्रयोग नहीं किया।

स्थान— स्थानांग सूत्र में अध्ययन के स्थान पर स्थान शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके पहले स्थान में एक—एक विषय का, दूसरे में दो—दो का यावत् दसवें में दस—दस विषयों का क्रमशः वर्णन किया गया है।

समवाय— समवायांग सूत्र में अध्ययन के स्थान पर समवाय का प्रयोग हुआ है, इसमें स्थानांग की तरह संक्षिप्त शैली है, किन्तु विशेषता इसमें यह है कि एक से लेकर करोड़ तक जितने विषय हैं, उनका वर्णन किया गया है। स्थानांग और समवायांग को यदि आगमों की विषयसूचि कहा जाए तो अनुचित न होगा।

प्राभृत— दृष्टिवाद, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति इनमें प्राभृत का प्रयोग अध्ययन के स्थान में किया है और उद्देशक के स्थान पर प्राभृतप्राभृत।

पद— प्रज्ञापना सूत्र में अध्ययन के स्थान में सूत्रकार ने पद का प्रयोग किया है, इसके ३६ पद हैं। इसमें अधिकतर द्रव्यानुयोग का वर्णन है।

प्रतिपत्ति— जीवाभिगमसूत्र में अध्ययन के स्थान पर प्रतिपत्ति का प्रयोग किया हुआ है। इसका अर्थ होता है— जिनके द्वारा पदार्थों के स्वरूप को जाना जाए, उन्हें प्रतिपत्ति कहते हैं— प्रतिपद्यन्ते यथार्थमवगम्यन्तेऽर्था आभिरिति प्रतिपत्तयः।

वक्षस्कार— जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र में अध्ययन के स्थान पर वक्षस्कार का प्रयोग हुआ है। इसका मुख्य विषय भूगोल और खगोल का है। भगवान ऋषभदेव और भरत चक्रवर्ती का इतिहास भी वर्णित है।

उद्देशक— अध्ययन, शतक, पद और स्थान इनके उपभाग को उद्देशक कहते हैं। आचारांग, सूत्रकृतांग, भगवती, स्थानांग, व्यवहारसूत्र, वृहत्कल्प, निशीथ, दशवैकालिक, प्रज्ञापना सूत्र और जीवाभिगम इन सूत्रों में उद्देशकों का वर्णन मिलता है।

अध्ययन— जैनागमों में अध्याय नहीं,, अपितु अध्ययन का प्रयोग हुआ है और उस अध्ययन का नाम निर्देश भी । अध्ययन के नाम से ही ज्ञात हो जाता है कि इस अध्ययन में अमुक विषय का वर्णन है। यह विशेषता जैनागम के अतिरिक्त अन्य किसी शास्त्र ग्रन्थ में नहीं पाई जाती। आचारांग, सूत्रकृतांग, ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाक, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक और निरियावलिका आदि ५ सूत्रों तथा नन्दी— इनमें आगमकारों ने अध्ययन का प्रयोग किया है।

द्वादशांग गणिपिटक क्या सदैव एक जैसे रहते हैं?

द्वादशांग गणिपिटक सभी तीर्थंकरों के शासन में नियमेन पाया जाता है, तो क्या उनमें विषय वर्णन एक सदृश ही होता है? या विभिन्न पद्धतियों

से होता है? इस प्रकार अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर निम्न प्रकार से दिए जाते हैं।

द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग और गणितानुयोग इनका वर्णन तो प्रायः तुल्य ही होता है, युगानुकूल वर्णन शैली बदलती रहती है, किन्तु धर्मकथानुयोग प्रायः बदलता रहता है।उपदेश, शिक्षा, इतिहास, दृष्टान्त, उदाहरण और उपमाएं इत्यादि विषय बदलते रहते हैं। इनमें समानता नहीं पाई जाती। जैसे कि काकन्द नगरी के धन्ना अनगार ने ११ अंग सूत्रों का अध्ययन नौ महीनों में ही कर लिया था, ऐसा अनुत्तरौपपातिक सूत्र में उल्लिखित है। अतिमुक्त कुमार (एवंताकुमार) जी ने भी ग्यारह अंग सूत्रों का अध्ययन किया, जिनका विस्तृत वर्णन अन्तगड सूत्र के छठे वर्ग में है, स्कन्धक संन्यासी जो कि महावीर स्वामी के सुशिष्य बने,उन्होंने भी एकादशांग गणिपिटक का अध्ययन किया, ऐसा भगवती सूत्र में स्पष्टोल्लेख मिलता है। इसी प्रकार मेघकुमार मुनिवर ने भी ग्यारह अंगसूत्रों का श्रुतज्ञान प्राप्त किया है, ऐसा ज्ञाताधर्मकथासूत्र में वर्णित है। इत्यादि अनेक उद्धरणों से प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या उन्होंने उन आगमों में अपने ही इतिहास का अध्ययन किया है? इसका उत्तर इकरार में नहीं, इन्कार में ही मिल सकता है। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि जो सूत्र वर्तमान काल में उपलब्ध हैं, वे उनके अध्येता नहीं थे, उन्होंने सुधर्मास्वामी के अतिरिक्त अन्य किसी गणधर की वाचना के अनुसार ग्यारह अंगों का अध्ययन किया था। दृष्टिवाद में आजीवक और त्रैराशिक मत का वर्णन मिलता है, तो क्या भगवान ऋषभदेव के युग में भी इन मतों का वर्णन दृष्टिवाद में था? गण्डिकानुयोग में एक भद्रबाहुगण्डिका है तो क्या ऋषभदेव भगवान के युग में भी भद्रबाहुगण्डिका थी? इनके उत्तर में कहना होगा कि इन स्थानों की पूर्ति तत्संबंधी अन्य विषयों से हो सकती है। निष्कर्ष यह निकला कि इतिहास-दृष्टान्त-शिक्षा-उपदेश तत्त्व-निरूपण की शैली सबके युग में एक समान नहीं रहती। हां, द्वादशांग गणिपिटक के नाम सदा अवस्थित एवं शाश्वत हैं, वे नहीं बदलते हैं। जिस अंग सूत्र का जैसा नाम है,उसमें तदनुकूल विषय सदा काल से पाया जाता है। विषय की विपरीतता किसी भी शास्त्र में नहीं होती। ऐसा कभी नहीं होता कि आचारांग में उपासकों का वर्णन पाया जाए और उपासकदशा में आचारांग का विषय वर्णित हो। जिस आगम का जो नाम है, तदनुसार विषय का वर्णन सदा सर्वदा उसमें पाया जाता है।

द्वादशांग गणिपिटक प्रामाणिक आगम हैं, इनमें संशोधन, परिवर्धन तथा परिवर्तन करने का अधिकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देखते हुए श्रुतकेवली को है, अन्य किसी को नहीं। और तो क्या, अक्षर, मात्रा, अनुस्वार आदि को भी न्यून अधिक करने का अधिकार नहीं है। **जं वाइद्धं वच्चामेलियं हीणक्खरं, अच्चक्खरं, पयहीणं, घोसहीणं**, इत्यादि श्रुतज्ञान

के अतिचार हैं। अतिचार के रूप में ये तभी तक हैं, जब तक कि भूल एवं अबोध अवस्था में ऐसा हो जाए। यदि जानबूझ कर अनधिकार चेष्टा की जाए तो अतिचार नहीं, अपितु अनाचार का भागी बनता है। अनाचार मिथ्यात्व एवं अनन्त संसार का पोषक है। वेद, बाईबल, कुरान में जैसे किसी मंत्र, पाठ आयत आदि का कोई भी उसका अनुयायी हेर—फेर नहीं करता, इतना ही नहीं प्रत्येक अक्षर व पद का वे सम्मान करते हैं। इसी प्रकार हमें भी आगम के प्रत्येक पद का सम्मान करना चाहिए। ऐसे ही अर्थ के विषय में समझना चाहिए। आगम-अनुकूल चाहे जितना भी अर्थ निकल सके अधिक से अधिक निकालने का प्रयास करना चाहिए इसमें कोई दोष नहीं, बल्कि प्रवचन प्रभावना ही है। जो सिद्धान्त आदि अपनी समझ में न आए वह गलत है, असंभव है, आगमानुयायी को ऐसा न कभी कहना चाहिए और न लिखना चाहिए, अत: ज्ञानियों के ज्ञान को अपनी तुच्छ बुद्धि रूप तराजू से नहीं तोलना चाहिए।

तमेव सच्चं, नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं जो अरिहन्त भगवन्तों ने कहा है, वह नि:सन्देह सत्य है, इस मंत्र से सम्यक्त्व तथा श्रुत की रक्षा करनी चाहिए।

श्रुतज्ञान का महत्त्व

परोक्ष प्रमाण में श्रुतज्ञान और प्रत्यक्ष प्रमाण में केवलज्ञान दोनों ही महान् हैं। जिस तरह श्रुतज्ञानी सम्पूर्णद्रव्य और उनकी पर्यायों को जानता है वैसे ही केवलज्ञान भी सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों को जानता है। अन्तर दोनों में केवल इतना ही है कि श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है, इसलिए उसकी प्रवृत्ति अमूर्त पदार्थों में उनकी अर्थ पर्याय तथा सूक्ष्म अर्थों में स्पष्टतया नहीं होती। केवलज्ञान निरावरण होने के कारण सकल पदार्थों को विशदरूपेण विषय करता है। अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान ये दोनों प्रत्यक्ष होते हुए भी श्रुतज्ञान की समानता नहीं कर सकते। पांच ज्ञान की अपेक्षा, श्रुतज्ञान, कल्याण की दृष्टि से और परोपकार की दृष्टि से सर्वोच्च स्थान रखता है, श्रुतज्ञान ही मुखरित है, शेष चार ज्ञान मूक हैं। व्याख्या श्रुतज्ञान की ही की जा सकती है। शेष चार ज्ञान, अनुभवगम्य हैं, व्याख्यात्मक नहीं। आत्मा को पूर्णता की ओर ले जाने वाला श्रुतज्ञान ही है। मार्गप्रदर्शक यदि कोई ज्ञान है तो वह श्रुतज्ञान ही है संयम-तप की आराधना में, परीषह उपसर्गों को सहन करने में सहयोगी साधन श्रुतज्ञान है।उपदेश, शिक्षा, स्वाध्याय, पढ़ना—पढ़ाना, मूल, टीका, व्याख्यान ये सब श्रुतज्ञान है। अनुयोगद्वारसूत्र में श्रुतज्ञान को प्रधानता दी गई है। श्रुतज्ञान का कोई पारावार नहीं, अनन्त है।

'आगम' शब्द विमर्श

डॉ. हरिशंकर पाण्डेय

'आगम' शब्द का प्रयोग जैनदर्शन में ही नहीं शैव, योग, सांख्य, न्याय आदि दर्शनों में भी हुआ है। आप्त वचनों को आगम प्रमाण मानने की परम्परा लगभग सभी भारतीय दर्शनों में रही है। किन्तु 'आगम' शब्द की प्रसिद्धि शैव एवं जैन दर्शनों में विशेष हुई है। शैवागम एवं जैनागम शब्द इसके प्रमाण हैं। डॉ. हरिशंकर पाण्डेय ने तंत्रवाङ्मय (शैवदर्शन), योगदर्शन, सांख्यदर्शन एवं न्यायदर्शन में 'आगम' की चर्चा करने के अनन्तर इस आलेख में जैन दर्शन सम्मत 'आगम' शब्द का विवेचन किया है।

—सम्पादक

प्राचीनकाल से ही भारत ज्ञान के क्षेत्र में 'विश्वगुरु' के रूप में प्रसिद्ध है। जब संसार अज्ञान के अंधतमस् से आच्छन्न था, तब भारतीय प्रज्ञाकाश में ज्ञान का भास्वर भास्कर विद्योतित था। ऋषि, मनीषी एवं मेधावी पुरुष ध्यान, साधना और समाधि के द्वारा तत्त्व का, यथार्थ का, परम का साक्षात्कार करते थे। उस परम में समाधिस्थ होकर, एकत्रावस्थित होकर आनन्द सागर में निमज्जित होते रहते थे। आनन्द सागर में निमज्जन ही उनके जीवन का स्वारस्य एवं परम प्रयोजन के रूप में अभिलक्षित था।

परम का साक्षात्कार, तत्त्व की उपलब्धि एवं सत्य का ज्ञान कर जब यथार्थ द्रष्टा ऋषि समाधि से उपरत होते थे, तो अपने ज्ञान को लोकमंगल एवं विश्व कल्याण के लिए प्रशान्तचित्त, जितेन्द्रिय एवं संयमी शिष्यों के हृदय में प्रतिष्ठित करते थे। गुरु से सुनकर शिष्य परमविद्या को प्राप्त करते थे, इसलिए उसे श्रुति कहा जाने लगा। गुरु और शिष्य की परम्परा से आगत होने एवं यथार्थवक्ता के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण उसे ही आगम शब्द से अभिहित किया गया ।

'आगम' शब्द की व्युत्पत्ति— 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक 'गम्लृ गतौ' धातु से घञ् प्रत्यय करने से 'आगम' शब्द निष्पन्न होता है।[1] आङ् उपसर्ग का प्रयोग ईषद्, अभिव्याप्त आदि अर्थों में होता है। 'आङ्' उपसर्ग के साथ **'अत सातत्य गमने'**[2] धातु से बाहुलकात् अङ् प्रत्यय करने पर भी बनता है। अमरकोशकार ने निम्न अर्थों में 'आङ्' का निर्देश किया है—**आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ सीमार्थे धातुयोगजे।**[3] गम् धातु गत्यर्थक है। जो गत्यर्थक हैं वे धातुएं ज्ञानार्थक होती हैं— **'ये गत्यर्थकाः ते ज्ञानार्थका अपि भवन्ति।'** इस न्याय से गम् धातु ज्ञानार्थक भी माना जाएगा। जो सतत ज्ञान में गमन करे, सतत ज्ञान में लीन है या जो ज्ञान का आधार (साधन) है, उसे आगम कहा जाएगा।

'आङ्' का प्रयोग पाणिनि ने मर्यादा और अभिविधि अर्थ में किया है।[4] जिस ज्ञान को सम्यक् रूप से प्राप्त किया जाए या जो ज्ञान मर्यादापूर्वक गुरु—शिष्य परम्परा से आ रहा है, उसे 'आगम' कहते हैं। जिसकी परम्परा

मर्यादापूर्वक चलती आ रही है या जो ज्ञान मर्यादापूर्वक प्राप्त किया जाता है, वह आगम है। आवश्यक निर्युक्तिकार ने लिखा है— 'आङ्अभिविधि मर्यादार्थत्वात् अभिविधिना मर्यादया वा गमः परिच्छेद आगमः।'[५]

'गम' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में देखा जाता है। अमरकोश ने इसे प्रस्थान का पर्याय माना है— यात्रा व्रज्याभिनिर्याणं प्रस्थानं गमनं गमः।[६] जहां मर्यादापूर्वक प्रस्थान है, अनन्त यात्रा का सम्यक् नियम उद्घोषित है या जिसमें अनन्त की ओर प्रस्थान करने के सम्यक् संसाधनों का निर्देश है, उसे आगम कहते हैं।

'आगम' शब्द का प्रयोग जैन एवं जैनेतर परम्पराओं में उपलब्ध है। प्रथम दृष्ट्या जैनेतर परम्परा में आगम शब्द विचारणीय है।

जैनेतर परम्परा में आगम

1.1 तंत्रवाङ्मय में आगम—आगमों की परम्परा अनादिकालीन है। लक्ष्मी तंत्र (उपोद्घात, पृ.१) में निर्दिष्ट है कि अनादिकाल से गुरु-शिष्य परम्परा से जो आगत शास्त्र संदर्भ है, वह आगम है। 'आगम' शब्द के मूल में परम्परा ख्याति की प्रधानता है। आप्त इसलिए आप्त कहा जाता है, क्योंकि वह परम्परा प्राप्त एवं कालवशात् उच्छिन्न वस्तु तथ्य को हृदयंगम कर जनजीवन के लिए प्रकट करता है। प्रसिद्धि अथवा निरूढ़ि की परम्परा ही आगम है, जो विशिष्ट वाक्य रचनाओं के रूप में निबद्ध तथा महापुरुषों के अनुष्ठानों में, कृत्यों में अनिबद्ध रूप से देखी जा सकती है। स्वच्छन्द तंत्र में आगम लक्षण का निर्देश है—

अदृष्टविग्रहात् शान्ताच्छिवात्परमकारणात्।
ध्वनिरूपं विनिष्क्रान्तं शास्त्रं परमदुर्लभम्।।
अमूर्ताद् गगनाद्यद्वन्निर्घातो जायते महान्।
शांतात्संविन्मयात् तद्वच्छब्दाख्यं शास्त्रम्।।[७]

अर्थात् अदृष्ट विग्रह, अमूर्त्त, गगनवत् सर्वव्यापी जगत् के परमकारण ज्ञानमय शिव से समुत्पन्न परमदुर्लभ ध्वनि रूप शब्द शास्त्र आगम है।

इसी तरह का रुद्रयामल तंत्र में भी निर्देश मिलता है—

आगतः शिववक्त्रेभ्यो गतश्च गिरिजानने।
मग्नश्च हृदयाम्भोजे तस्मादागम उच्यते।।[८]

अर्थात् परम शिव के मुख से उत्पन्न एवं गिरिजामुख से आगत ज्ञान को आगम कहते हैं।

स्वच्छन्दोद्योत में कथित है कि 'आ समन्तात् गमयति अभेदेन विमृशति परमेशं स्वरूपं इति कृत्वा परशक्तिरेवागमः तत्प्रतिपादकस्तु शब्दसंदर्भः तदुपायत्वात् शास्त्रस्य।'[९]

अर्थात् परमेश्वर के रूप का अभेद रूप से विमर्शन करने वाली परशक्ति ही आगम है और उस तत्त्व का प्रतिपादक शब्द संदर्भ भी आगम है। जिसके हृदय में जिस सिद्धान्त की निरूढ़ि हो गयी, उसके लिए वही आगम है— **दृढविमर्शरूप-शब्द आगमः, आ समन्तात् अर्थं गमयतीति।**[१०]

वराही तंत्र में आगम का लक्षण निम्न रूप से निर्दिष्ट है—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च।।
षट्कर्म साधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद्विदुर्बुधाः।।[११]

अर्थात् जिसमें सात विषय प्रतिपादित हो, उसे आगम कहते हैं। ये सात विषय हैं:—

१. सृष्टि—जगत्कारण, उपादान और उत्पत्ति का वर्णन,
२. प्रलय निरूपण,
३. देवताओं की अर्चना,
४. सर्वसाधन प्रकार वर्णन— विविध सिद्धियों के साधन का प्रकार निर्देश
५. पुरश्चरण क्रमवर्णन—मोहन, उच्चाटन आदि विधियों का वर्णन,
६. षट्कर्म निरूपण—शांति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन, मारण आदि का साधन विधान।
७. ध्यान योग— आराध्य के ध्यान के निमित्त योग-प्रक्रिया का वर्णन।

1.2 योगदर्शन और आगम— योगदर्शन में स्वीकृत तीन प्रमाणों में आगम तीसरे प्रमाण के रूप में स्वीकृत है—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि (योगसूत्र 1.7) पर व्यास भाष्य में आप्त के द्वारा दृष्ट अर्थ को आगम कहा गया है— **आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वाऽर्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते।**[१२]

अर्थात् आप्त पुरुष के द्वारा दृष्ट या अनुमित (प्रत्यक्षकृत, सात्मीकृत) अर्थ का दूसरे के अवबोध के लिए शाब्दिक उपदेश आगम है।

वाचस्पतिमिश्रकृत तत्त्ववैशारदी के अनुसार—

तत्त्वदर्शनकारुण्यपाटवाभिसंबंध आप्तिः तया वर्तत इत्याप्तस्तेन दृष्टोऽनुमितो वाऽर्थः, आप्तचितवर्त्तिज्ञानसदृशस्य ज्ञानस्य श्रोतृचित्ते समुत्पादः।

अर्थात् तत्त्वदर्शन एव कारुण्यादि से संवलित आप्त द्वारा दृष्ट, अनुमित अर्थ आगम होता है, जिससे श्रोता के चित्त में आप्तसदृश ज्ञान का समुत्पाद होता है।

राघवानन्द सरस्वती 'पातञ्जल रहस्य' के अनुसार 'तत् **साक्षात्परम्परया वा दृष्टानुमिताभ्यां व्याप्तम्।**

अर्थात् साक्षात् अथवा परम्परा से आप्त पुरुष के द्वारा दृष्ट अथवा अनुमित अर्थों से जो व्याप्त होता है वह आगम है।

विज्ञान भिक्षु ने 'योगवार्तिक' में आगम का लक्षण इस प्रकार दिया है—

आप्तेनेति भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणापाटवादिदोषरहितेनेत्यर्थः मूलवक्त्रभिप्रायेण श्रुतो वेति। आप्तादागच्छति वृत्तिरित्यागमः।

अर्थात् भ्रम, प्रमाद, उत्कट लिप्सा, अकुशलतादि दोषों से रहित आप्त पुरुष की वाणी को आगम कहते हैं। आप्त पुरुष से आगत विद्या या प्रमाण आगम है। आगमप्रमाणमूलक ग्रन्थ भी आगम शब्द से व्यवहृत होते हैं।

भोजवृत्ति में कथित है— **आप्तवचनं आगमः।**

1.3 सांख्यदर्शन में आगम—सांख्य दर्शन में तीन प्रमाण स्वीकृत हैं— प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दप्रमाण। शब्द प्रमाण ही आगम है। सांख्यसूत्र में निर्दिष्ट है— **आप्तोपदेशः शब्दः**[१३]

आप्त पुरुषों के द्वारा कथित या प्ररूपित शब्द प्रमाण है। सांख्यकारिका के अनुसार यथार्थ वाक्य जन्य ज्ञान शब्द प्रमाण है—

आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु।[१४]

ब्रह्मादि आचार्यों के वचन एवं वेदवचन को आप्तवचन कहा गया है। क्योंकि इनसे साक्षादर्थ अथवा यथार्थ की उपलब्धि होती है। (द्रष्टव्य माठरवृत्तिः) माठरवृत्तिकार ने आगम के स्वरूप को उद्घाटित करने के लिए भगवान कपिल के वचन को उद्धृत किया है—

आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद् विदुः।
क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात्।
स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः।
पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः।।[१५]

अर्थात् आप्तवचन को आगम कहते हैं। दोषों से जो शून्य हो उसको आप्त कहते हैं, क्योंकि दोषशून्य व्यक्ति झूठ नहीं बोल सकता। जो अपने कर्म में तत्पर हो, राग द्वेष रहित हो, ऐसे ही लोगों से सम्मानित हो उसे आप्त कहते हैं।

सांख्यतत्त्वकौमुदी में वाचस्पतिमिश्र ने लिखा है— **आप्ता प्राप्ता युक्तेति यावत्। आप्ता चासौ श्रुतिश्चेत्याप्तश्रुतिः, श्रुतिवाक्यजनितं वाक्यार्थ ज्ञानम्।**[१६]

अर्थात् साक्षात्कृतधर्मापुरुष, यथार्थ के ग्रहणकर्ता तथा उपदेष्टा को आप्त कहते हैं, उन्हीं का वचन आप्तवचन है। श्रुति वाक्य आप्त वचन है।

सांख्यतत्त्व याथार्थ्यदीपन में शब्द (आगम) प्रमाण की व्याख्या की गई है।

1. आप्तवचनजन्यज्ञानं शब्दः प्रमा तत्करणं शब्दप्रमाणमित्येकं लक्षणम्,
2. आप्तवचनजन्या पदार्थसंसर्गाकारान्तःकरणवृत्तिरिति द्वितीयं शब्दप्रमाणम्,

3. **आप्तस्तु स्वकर्मण्यभियुक्तो रागद्वेषरहितो ज्ञानवान् शीलसम्पन्नः। इदन्तु ज्ञानोपदेष्टुरेवाप्तलक्षणम्। वस्तुतो यथाभूतस्योपदेष्टा पुरुष इत्येव।**

अर्थात् ज्ञानवान्, शील सम्पन्न, रागद्वेष रहित पुरुष आप्त कहलाता है, उसके वचन को आप्त-वचन अथवा आगम (शब्द) प्रमाण कहते हैं।

1.4 न्यायदर्शन में आगम—न्यायदर्शन में चार प्रमाणों को स्वीकृत किया गया है— प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्दप्रमाण। शब्दबोध रूप यथार्थ ज्ञान के साधन को शब्द कहते हैं। इसी को आप्तवचन और आगम भी कहते हैं। न्यायसूत्रकार गौतम ने आप्तोपदिष्ट वचन को शब्द प्रमाण माना है— **आप्तोपदेशः शब्दः।**[17]

परवर्ती आचार्यों ने किंचित् परिवर्तन के साथ इसकी परिभाषा दी है— **आप्तवाक्यं शब्दः** (तर्कभाषा, तर्कसंग्रह), वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में साक्षात्धर्मा या धर्म का साक्षात्कार करने वाले व्यक्ति को आप्त कहा है, चाहे हस्तामलकवत् तत्त्वज्ञान का साक्षात्कार कर लिया है, यथार्थ वक्ता है, रागादि से शून्य है तथा निर्मल अन्तःकरण वाला है वह आप्त है।

जैन परम्परा में आगम का स्वरूप

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर साहित्य में आगम की अनेक परिभाषाएं मिलती हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए प्राप्त परिभाषाओं को निम्नलिखित संवर्ग में रख सकते हैं—

1. आगम तीर्थंकर वाणी है— नियमसार में यह तथ्य निर्दिष्ट है कि जो तीर्थंकर के मुख से समुद्भूत है वह आगम है—

तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वापरदोसविरहियं सुद्धं।
आगमिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवं तच्चत्था।।[१८]

अन्यत्र भी प्रमाण मिलते हैं—

आगमस्तन्मुखारविन्दविनिर्गतसमस्तवस्तुविस्तारसमर्थनदक्षचतुरवचनसंदर्भः[१९]

अर्थात् तीर्थंकर के मुखारविन्द से विनिर्गत सम्पूर्ण वस्तुओं के विस्तार के समर्थन में दक्ष एवं चतुर वचन को आगम कहते हैं।

2. आगम वीतराग वाणी है— रागद्वेष—रहित पुरुषों के द्वारा प्रकथित वचन आगम है— **आगमो वीतरागवचनम्**[20] अर्थात् आगम वीतराग वचन है। पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति में ऐसा ही उल्लेख है—

वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादिसम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानभेदरत्नत्रयस्वरूपं यत्र प्रतिपाद्यते तदागमशास्त्रं भण्यते।[२१]

अर्थात् वीतराग सर्वज्ञदेव के द्वारा कथित षड्द्रव्य एवं सप्ततत्त्वादि का सम्यक् श्रद्धान एवं ज्ञान तथा व्रतादि के अनुष्ठान रूप चारित्र, इस प्रकार जिसमें भेदरत्नत्रय का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, उसको आगमशास्त्र

कहते हैं।

3. आगम सर्वज्ञ प्रणीत है– आगमः सर्वज्ञेन निरस्तरागद्वेषेण प्रणीतः उपेयोपायतत्त्वस्य ख्यापकः[२२] अर्थात् रागद्वेष जिसके निरस्त हो गए हैं, वैसे सर्वज्ञों के द्वारा प्रणीत आगम है, जो प्राप्तव्य एवं प्राप्ति के साधनों का निरूपक होता है।

4. आगम आप्तवचन है–आप्त पुरुषों की वाणी आगम है, इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं–

01. **अत्तस्स वा वयणं आगमो**[२३] अर्थात् आप्त का वचन आगम है।

02. **आगमो हयाप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद् विदुः।**[२४]

03. **आगमः..............आप्तप्रणीतः**[२५] अर्थात् आगम आप्तप्रणीत है।

04. **आप्तव्याहृतिरागमः**[२६] अर्थात् आप्त द्वारा व्याहृत आगम है।

05. **आप्तवचनादिनिबंधनमर्थज्ञानमागमः**[२७] अर्थात् आप्तवचन से जो अर्थ का ज्ञान होता है, वह आगम है।

06. **आप्तोक्तिजार्थविज्ञानमागमः**[२८] अर्थात् आप्त उक्ति से उत्पन्न अर्थ का ज्ञान होता है, वह आगम है।

07. **आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमःउपचारात् आप्तवचनं चेति**[२९] अर्थात् आप्तवचन से जो अर्थ ज्ञान(अर्थसंवेदन) उत्पन्न होता है, वह आगम है। गौण रूप से आप्तवचन ही आगम है।

08. **अबाधितार्थ प्रतिपादकम् आप्तवचनं आगमः**[३०] अर्थात् अबाधित अर्थ का प्रतिपादक आप्तवचन आगम कहलाता है।

09. **आप्तेन हि क्षीणदोषेण प्रत्यक्षज्ञानेन प्रणीत आगमो भवति'** अर्थात् जिसके सभी दोष समाप्त हो गए हैं, ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानियों के द्वारा प्रणीत आगम है।

5. गुरु परम्परा से प्राप्त ज्ञान-विज्ञान आगम है

01. **आचार्यपारम्पर्येणागच्छतीत्यागम्**[३१] अर्थात् जो आचार्य–परम्परा, गुरु–शिष्य परम्परा से प्राप्त होता है वह आगम है।

02. **गुरुपारम्पर्येणागच्छत्यागमः**[३२] अर्थात् जो गुरु परम्परा से आता है वह आगम है।

03. **तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्त-गणधरावधारितं श्रुतम्**[३३] अर्थात् केवली भगवान् के द्वारा कहा गया तथा अतिशय बुद्धि एवं ऋद्धि के धारक गणधर देवों के द्वारा जो धारण किया जाता है वह आगम है(श्रुत है)।

04. **आगच्छतीति आचार्यपरम्परावासनाद्वारेणेत्यागमः**[३४] अर्थात् जो तत्त्व

आचार्य परम्परा से वासित होकर आता है, वह आगम है।

6. पूर्वापर—अविरुद्धवाणी आगम है

01. **पुव्वावरदोसविरहियं**[३५] अर्थात् पूर्वापर दोषों से जो रहित वाणी है वह आगम है।

02. **पूर्वापरविरोधशंकारहितस्तदालोचनातत्त्वरुचिः आगम उच्यते,**[३६] अर्थात् पूर्वापर विरोध एवं शंकादि से रहित आलोचना एवं तत्त्वरुचि को आगम कहते हैं।

03. **पूर्वापरविरुद्धादेर्व्यपेतो दोषसंहतेः।**
द्योतकः सर्वभावानामाप्तव्याहृतिरागमः।।[३७]
अर्थात् पूर्वापरविरुद्ध दोषसमूह से रहित, सभी भावों का द्योतक आप्तवचन आगम है।

04. **पूर्वापराविरुद्धार्थप्रत्यक्षाद्यैरबाधितम्** अर्थात् पूर्वापर अविरुद्ध एवं प्रत्यक्षादि से अबाधित आगम होता है।

7. हेयोपादेय का प्ररूपक है आगम— संयम जीवन के विकास के लिए या जीवन के उत्कर्ष के लिए कौन—कौनसी वस्तुएं त्याज्य हैं और कौनसी ग्राह्य हैं, इसका निरूपण आगम में किया जाता है।

01. **हेयोपादेयरूपेण चतुर्वर्गसमाश्रयात्।**
कालत्रयगतानर्थान् गमयन्नागमः स्मृतः।।
(उपासकाध्ययन, सोमदेवसूरिकृत)

हेय और उपादेय रूप से चार वर्गों का समाश्रयण कर तीनों कालों में विद्यमान पदार्थों का जो निरूपण करता है, वह आगम है।

02. **भव्यजनानां हेयोपादेयतत्त्वप्रतिपत्तिहेतुभूतमागमः** अर्थात् भव्यजनों के लिए हेय और उपादेय तत्त्वों का प्रतिपत्तिकारक आगम है।

8. निर्वाण और संसार का निरूपक आगम है—

यत्र निर्वाण-संसारौ निगद्येते सकारणौ।
सर्वबाधकविनिर्मुक्त आगमोऽसौ।।[३८]

अर्थात् जहां पर निर्वाण और संसार की सकारण व्याख्या की जाए और जो सभी बाधक तत्त्वों से विनिर्मुक्त है, वह आगम है।

9. यथार्थ तत्त्वों का निरूपक आगम है—

01. आगमनमागमः – आङ् अभिविधिमर्यादार्थत्वात् अभिविधिना मर्यादया वा गमः परिच्छेद आगम।

10. यथार्थ तत्त्वों का प्रतिपादक आगम

01. आगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते अतीन्द्रिया पदार्थाः अनेनेत्यागमः[३९] अर्थात् जिससे अतीन्द्रिय पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो वह आगम है।

02. आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुध्यन्तेऽर्था अनेन इति आगमः[४०] अर्थात् जिससे मर्यादापूर्वक अर्थ अवबोध(पदार्थ का यथार्थज्ञान) होता है, उसे

२९. प्रमाणनयतत्त्वालोक ४.१, जैन तर्क भाषा, पृ. १९
३०. रत्नकरण्डक श्रावकाचार टीका—४
३१. अनुयोगद्वार हारिभद्रीयवृत्ति ४.३८, पृ. २२
३२. तत्रैव मलधारीयटीकापत्र २०२
३३. राजवार्तिक ६.१३.२
३४. भाष्यानुसारिणी टीका, पृ. ८७
३५. नियमसार गाथा ८
३६. भाष्यानुसारिणी वृत्ति १.३, पृ. ४०
३७. धवला ३.१२.१२३
३८. धर्मपरीक्षा १८.७४
३९. जीतकल्पसूत्र विषमपदव्याख्या, श्री चन्द्रसूरि, पृ.३३
४०. रत्नाकरावतारिका ४.१, पृ. ३५
४१. आवश्यकनिर्युक्ति, मलयवृत्ति २१, पृ. ३३
४२. नन्दीसूत्र ४३
४३. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ५५२

आगम का अध्ययन क्यों?

■शासनप्रभाविका मैनासुन्दरीजी म.सा.

आगम के अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्त्व विषय पर आचार्यश्री हीराचन्द्र जी म.सा. की आज्ञानुवर्तिनी शासनप्रभाविका महासती श्री मैनासुन्दरीजी म.सा. ने सामायिक-स्वाध्याय भवन में ३ से ५ अक्टूबर २००१ तक प्रवचन फरमाये थे। प्रवचनों को संकलित/व्यवस्थित कर लेख रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। **—सम्पादक**

आगम क्या है?

हमारे समक्ष एक प्रश्न उभर कर आता है कि आगम क्या है? उत्तर स्पष्ट नजर आता है कि तीर्थंकर भगवन्तों के हृदय में जगज्जीवों के प्रति अनन्त करुणा का स्रोत लहलहाता है। वे विश्व के जीवों के हित व कल्याण के लिए जो अमृतमय देशना फरमाते हैं, प्रवचन देते हैं, उसी प्रवचन को आगम कहते हैं। शास्त्रों में कहा है—

"अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथन्ति गणहरा निउणं।"

अर्थात् अर्थ रूप आगम के वचन तीर्थंकर फरमाते हैं और उसको सूत्ररूप में गणधर गूंथते हैं। उन्हीं के वचन आगम कहलाते हैं। अथवा तो रागद्वेष के विजेता महापुरुषों के वचन आगम कहलाते हैं। आप्तवाणी आगम है।

आगमों का अध्ययन क्यों किया जाता है?

आगमों का अध्ययन करने के पीछे हमारा बहुत बड़ा हेतु है। अनादिकाल से जीवन में रहे हुए काम, क्रोध, मोह, वासना एवं विकारों का आगम अध्ययन से जड़मूल से नाश होता है। जीवन में ज्ञान का महाप्रकाश प्रकट होता है। उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने फरमाया—

"नाणस्स सव्वस्स पगासणाए अण्णाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएण, एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्खं।"

अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान और मोह के नाश से, राग और द्वेष के सर्वथा क्षय से जीव एकान्त सुख रूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

वीतराग भगवन्तों की वाणी निर्दूषित होती है। उसमें वचनातिशय होता है। दशाश्रुतस्कंध सूत्र में आचार्यों की आठ संपदाओं का विचार चला है। उनमें एक वाचना संपदा है। उसमें बताया है कि आचार्य महाराज आदेय वचन वाले होते हैं। उनके वचन को कोई भी लांघ नहीं सकता। चतुर्विध संघ उसे शिरोधार्य करता है। जब आचार्य श्री आदेय वचन वाले होते हैं तब फिर तीर्थंकर भगवन्त का तो कहना ही क्या? तीर्थंकर भगवान के एक-एक वचन

रूपी फूल को चतुर्विध संघ मस्तक पर चढ़ाकर भव सागर से किनारा करते हैं। उनके निर्दोष एवं राग-द्वेष विवर्जित वचन जन-जन के लिए महाप्रभावक होते हैं।

आगमों को पढ़ने व पढ़ाने के पीछे बहुत बड़ा उपकार व शासन की प्रभावना निहित है। जैसा कि स्थानांग सूत्र के पांचवें स्थान में शास्त्र पढ़ाने एवं पढ़ने के पाँच-पाँच कारण बताए हैं।

तंजहा–**"संगहट्ठयाए, उवग्गहणट्ठयाए, निज्जरणट्ठयाए, सुत्ते वा मे पज्जवयाए भविस्सइ, सुत्तस्स वा आवोच्छित्तिनयट्ठयाए।"**

1. **संगहट्ठयाए**–आगम ज्ञान सिखाने के पीछे पांच कारणों में प्रथम कारण है– संग्रह के लिए गुरु शिष्य को आगम पढ़ाता है। मेरा शिष्य ज्ञान का भली भांति संग्रह कर सके। पढ़ाते समय गुरु के हृदय में यह पवित्र भावना रहती है कि मेरे शिष्य के पास अधिक से अधिक ज्ञान का खजाना सुरक्षित रहे। वह पढ़-लिखकर जीवादि नवतत्त्वों का जानकार बने, जड़-चेतन का भेद विज्ञाता बने और बहुत बड़े विद्वानों में अव्वल नम्बर आवे। मेरा पूरा-पूरा कर्त्तव्य है कि जब मैंने उसे दीक्षित किया है तो उसे मैं शिक्षित भी करूं और गुरु के मन में शिष्य को शास्त्राभ्यास कराते समय यह ख्याल भी आता है कि उसे आगम ज्ञान पढ़ते देखकर अन्य लोग भी आगमज्ञान के श्रवण के प्रति आकर्षित होकर सुनने के लिए बैठेंगे। उन लोगों को जो शास्त्र-श्रवण से प्रतिबोध होगा, उसका लाभ मुझे भी मिलेगा, क्योंकि मैं निमित्त बनूंगा। इस प्रकार के उद्देश्यों से ज्ञान पढ़ाया जाता है।

2. **उवग्गहणट्ठयाए**–जब शिष्य मेरे से वाचना लेंगे और मैं वाचना दूंगा, तब उन शास्त्र वाक्यों को सुन-सुनकर मेरे शिष्य तप और संयम में मजबूत बन जायेंगे, उनकी आध्यात्मिक साधना दृढ़ हो जायेगी। देवता भी उन्हें सत्पथ से हिला नहीं सकेंगे। मेरा शिष्य दूसरों को उपदेश देकर सत्पथ का राही बनाने में समर्थ हो जायेगा। इस प्रकार धर्मबोध देने से गण, गच्छ और सम्प्रदाय की महती महिमा होगी। संघ की मान-मर्यादा सुरक्षित रखवाने में मैं भी निमित्त बनूँगा। मैं भी यह मानूँगा कि मेरे द्वारा शास्त्र वाचना लेने वाले शिष्य ने जिनशासन की बहुत बड़ी सेवा की है और आगे भी करता रहेगा। ऐसा सोचकर गुरु शिष्य को शास्त्र वाचना देते हैं।

3. **निज्जरणट्ठयाए**– कर्म निर्जरा के उद्देश्य से गुरु शिष्य को वाचना देते हैं। श्रुत साहित्य के पढ़ने से कर्मों की महती निर्जरा होती है। बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय भी एक प्रकार का तप है। वाचना तप को स्वीकार करने वाला भी एक प्रकार का तप करता है। यह बात शास्त्र सम्मत है। सभी धर्मों ने स्वाध्याय को तप माना है। स्वाध्याय आभ्यन्तर तप है। जैसा कि शास्त्रकारों ने कहा–

"भवकोडिसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ।।"

अर्थात् करोड़ों जन्मों के संचित पापकर्म तप के माध्यम से नष्ट किए जाते हैं, ऐसा सोचकर गुरु शिष्य को शास्त्र पढ़ाता है कि मेरा शिष्य भी इस प्रकार कर्मों की महान निर्जरा करेगा।

4. सुत्तेवा मे पज्जवया भविस्सइ– गुरु शिष्य को ज्ञान इस प्रयोजन से भी देता है कि इनको पढ़ाने से मेरा ज्ञान भी बढ़ेगा। प्रत्येक शिक्षाशास्त्री भी इस बात को स्वीकार करता है कि दूसरों को पढ़ाने से अपना ज्ञान मजबूत होता है। क्योंकि यह निश्चित मत है कि "विद्या" बांटने से और अधिक बढ़ती है, अधिक पुष्ट भी होती है।

5. सुत्तस्स वा अवोच्छित्तिणयट्ठयाए– शिष्य को पढ़ाने के पीछे गुरुजनों का यह प्रयोजन भी रहता है कि शास्त्र पढ़ाने की परिपाटी छिन्न-भिन्न न हो जाय। शास्त्र पढ़ने की शृंखला टूट न जाय। लम्बे समय तक शिष्यों में ज्ञान की अजस्र धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहे और शिष्य समुदाय उस ज्ञानगंगा में डुबकियाँ लगाकर स्वयं को पावन करता रहे, इसी उद्देश्य से शिष्य को गुरु ज्ञान सिखाते हैं।

पढ़ाने की जिसमें योग्यता होगी, वही आगम ज्ञान पढ़ा सकता है। आगमज्ञान के ज्ञाता, विद्वान साधु-साध्वी भी होते हैं, तो श्रावक-श्राविका भी कहीं-कहीं एवं कभी-कभी ज्ञान के अच्छे ज्ञाता मिल सकते हैं। दोनों का पूरा पूरा कर्त्तव्य है कि वे संघहित को ध्यान में रखकर अल्पज्ञों को आगम ज्ञान पढ़ाकर शासन की सेवा करें। इससे श्रुत सेवा, स्वयं की सेवा एवं भगवान की सेवा-भक्ति होगी।

अब यह जानना भी बहुत जरूरी है कि शिष्य आगम क्यों पढ़ता है? उसके पढ़ने के पीछे क्या हेतु है? क्योंकि बिना प्रयोजन किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती। जब शास्त्रों के पन्ने उठाकर देखते हैं, तब पांच कारण नजर आते हैं:–

1. **नाणट्ठयाए**– स्वाध्याय करने से ज्ञान तो बढ़ता ही है, किन्तु अपनी उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने के लिए तथा आगमों का रहस्य जानने के लिए शिष्य शास्त्र पढ़ता है।
2. **दंसणट्ठयाए**– स्वाध्याय करने से मुझे ज्ञान के साथ-साथ अपना सम्यग्दर्शन मजबूत करने का सुअवसर मिलेगा। तत्त्वार्थ ज्ञान होने पर समकित शुद्ध रहेगी। वीतराग भगवन्तों की वाणी ही मेरा आत्म कल्याण करेगी। भले ही आगम की बहुत सी बातें मेरी समझ में आए अथवा न आए, फिर भी समझने की पूरी-पूरी कोशिश करूंगा। क्योंकि यह स्वाध्याय मेरे लिए महान कल्याणकर है।
3. **चरित्तट्ठयाए**– आगम के एक-एक पद, चरण एवं गाथा चारित्र धर्म को विशुद्ध करने वाली है। कहा भी है– **"ज्ञानस्य फलं विरतिः"**

अर्थात् ज्ञान का फल त्याग है, विरति है। तत्त्वज्ञान से चारित्र निर्मल होता है। यह सब बातें आगम वाणी से ही जानी जाती हैं। अत: मुझे अवश्य ही स्वाध्याय करना चाहिए।

4. **वुग्गहविमोयणट्ठयाए**– जो व्यक्ति हठाग्रही है। मिथ्यानिवेश से विवाद पर अड़ा हुआ है। उसे परास्त करने के लिए तथा उसे कदाग्रह से हटाने के लिए श्रुत अध्ययन करना जरूरी है। आगम के बल पर ही उसे मिथ्यात्व से हटाकर सम्यग्दर्शन से जोड़ा जा सकता है। इस प्रकार आगम ज्ञान साधक का महान् उपकार करता है।
5. **अहत्थे वा भावे जाणिस्सामि त्ति कट्टु**– पदार्थों के स्वरूप को जानने के लिए और द्रव्यों की गुण-पर्यायों को जानने के लिए आगमज्ञान अति आवश्यक है। ऐसा जान कर शिष्य गुरु से आगम ज्ञान पढ़ता है।

आगमज्ञान को पढ़ने से जीवन में अतिशय ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति होती है। ज्ञानावरणीय कर्म के बंध के कारण हैं, उनसे हमें हमेशा दूर रहना चाहिए तथा उन बन्ध के कारणों को अमल में नहीं लाना चाहिए।

ज्ञान-प्राप्ति के विषय में स्थानांग सूत्र के चौथे स्थान में अच्छे ढंग से समझाया गया है:-

"चउहिं ठाणेहिं निग्गन्थाण वा निग्गन्थीण वा अतिसेसे णाणदसंणे समुपज्जिउकामे समुपज्जेज्जा तंजहा– 1. इत्थीकहं, भत्तकहं, देसकहं, रायकहं नो कहेत्ता भवति 2. विवेगेण विउसग्गेणं सम्ममप्पाणं भावेत्ता भवति 3. पुव्वरत्तावरत्त -कालसमयंसि धम्मजागरियं जागरित्ता भवति 4. फासुस्स एसणिज्जस्स उंछस्स सामुदाणियस्स सम्मं गवेसिया भवति इच्चेतेहिं चउहिं ठाणेहिं निग्गन्थाण वा निग्गन्थीण वा जाव समुपज्जेज्जा (स्थानांग4)

अर्थात् साधु-साध्वी को अतिशय ज्ञानदर्शन प्राप्त करने के लिए चार कार्य करने चाहिए-

१. सर्वप्रथम कारण है चार प्रकार की विकथाएं नहीं करे। क्योंकि विकथाएं इस जीवात्मा को आत्मधर्म से विरुद्ध ले जाने का कार्य करती हैं। अत: स्त्रीकथा, भक्तकथा, देश कथा और राजकथा से बचकर चले।

२. विवेक और व्युत्सर्ग के द्वारा निरन्तर आत्म-चिन्तन करता हुआ साधक अतिशय ज्ञान प्राप्त करता है। वस्त्र, पात्र, कंबल और शरीर से मोह ममत्व छोड़ता हुआ और कायोत्सर्ग करता हुआ अतिशय आगम ज्ञान प्राप्त करता है। विवेक के अभाव में छोटी सी गलती भी भयंकर विकराल रूप ले लेती है। जैसे बाहुबलि के हृदय में रहा हुआ अहं का विकार केवलज्ञान दिलाने में फौलादी दीवार बन गया। जिस दिन छोटे दीक्षित भाइयों को वन्दन का संकल्प जगा, उसी क्षण

। ठीक उसी प्रकार यह जीवात्मा स्वाध्याय रूपी नन्दनवन में पहुंचकर ...क आनन्द की अनुभूति करता है। स्वर्ग नरक के दृश्यों को जानकर ... भयंकर परमाधामी देवजन्य कष्टों से तथा दश प्रकार की क्षेत्र वेदना ...:खों से बचने का और स्वर्ग एवं अपवर्ग (मोक्ष) जन्य सुखों को प्राप्त ... की ओर अपने कदम बढ़ाता है। ये सब सद्शिक्षाएँ साधक को ...ाय से ही मिलती हैं। अत: हमें पराध्याय छोड़कर सदा स्वाध्याय करना ...ए। जीवन में आमूलचूल परिवर्तन स्वाध्याय से आता है। स्वाध्याय के ...म से आगम में बाग लगाया जा सकता है।

अत: वीतरागों की वाणी पढ़नी चाहिए। आत्मा के लिए स्वाध्याय ... शरीर के लिए भोजन अत्यावश्यक है। अपथ्य भोजन जैसे शरीर के ...ए हानिकारक है, उसी प्रकार गन्दा साहित्य आत्मा के लिए महान् ...सानकारक है। जैसा कि कहा है– ''गन्दा साहित्य मत पढ़ो, पतन की ...र मत बढ़ो।''

अर्थात् अश्लील साहित्य पढ़ने से जीवन में विकृतियां बढ़ती हैं। ...हर पीने से भी गन्दा साहित्य पढ़ना भयंकर है। अत: स्वाध्याय के लिए ...ागम-साहित्य, आगम शास्त्र एवं धार्मिक ग्रन्थों को सुनना चाहिए। मुक्ति ...हल में प्रवेश करने के लिए आगम स्वाध्याय एक लिफ्ट है।

जैसे दुकानों पर सजी व खड़ी पुतली, पहरे के लिए नहीं प्रदर्शन के लिए है। मिट्टी के फल खाने के लिए नहीं बल्कि रूम सजाने के लिए हैं। कागज के फूल सूंघने के लिए नहीं, बल्कि देखने के लिए हैं। इसी प्रकार आचार हीन ज्ञान आत्मदर्शन के लिए नहीं, बल्कि अहं प्रदर्शन के लिए है। अत: हमको स्वाध्याय के माध्यम से अपने आचार धर्म को शुद्ध बनाना चाहिए। चारित्र को निर्मल रखने के लिए चारित्रवान पुरुषों का जीवन सामने रखना चाहिए।

ज्ञानी भगवन्तों ने स्वाध्याय को तीसरी आंख कहा है– ''शास्त्रं तृतीयलोचनम्।''

महापुरुषों के जीवन की दिव्य भव्य झांकियां देखने को आगम के पृष्ठ ही प्रेरक होते हैं। महापुरुषों के आदर्श जीवन से हम भी अपने जीवन को पावन, प्रशस्त व निर्मल बना सकते हैं। क्योंकि कवि ने कहा–

''जीवन चरित्र महापुरुषों के हमें नसीहत करते हैं।
हम भी अपना जीवन स्वच्छ रम्य कर सकते हैं।।''

महापुरुषों के आदर्श जीवन से अपना जीवन भी बदला जा सकता है। जैसे महामुनि गजसुकुमाल के प्रशस्त जीवन से हम अपना जीवन प्रशस्त बना सकते हैं। (अन्तगड तीसरा वर्ग)

कामदेव सुश्रावक जैसी दृढ़ता सीखने के लिए हमें उपासकदशांग सूत्र पढ़ना चाहिए। स्कन्धक जी, सुदर्शन जी, अर्जुनमाली एवं राजा प्रदेशी

बनाते थे। क्योंकि वे जानते थे कि दूध में रहा हुआ घी, अरणी की लकड़ी में रही हुई आग, तिलों में रहा हुआ तेल और फूलों में रही हुई वास यानी इत्र, मंथन के बिना नहीं निकलता है। इसी प्रकार आत्मा में रहा हुआ अनन्त ज्ञान स्वाध्याय के बिना नहीं निकलता है। आगम ज्ञान तो परम रामबाण औषधि का काम करता है। जिस प्रकार शरीरगत बीमारी के लिए औषधि काम करती है, ठीक इसी प्रकार हमारी आत्मगत विषय-कषाय की बीमारी को 'स्वाध्याय' जड़-मूल से विनष्ट करता है।

प्रातः काल जगते ही शिष्य गुरु के पास पहुंचकर, दोनों हाथ जोड़कर पूछे, जैसा कि समाचारी अध्ययन में कहा–

"पुच्छिज्ज पंजलिउडो, किं कायव्वं मए इहं।
इच्छं निओउयं भंते, वेयावच्चे व सज्झाए।उत्तरा. 26.9
वेयावच्चे निउत्तेणं, कायव्वं अगिलायओ।
सज्झाए वा निउत्तेणं, सव्वदुक्खविमोक्खणे।।उत्तरा. 26.10

अर्थात् दोनों हाथ जोड़कर गुरु भगवन्त से पूछे– भगवन्! मुझे आज क्या करना चाहिए? आप अपनी इच्छा के अनुकूल हमें सेवा या स्वाध्याय में लगाइये। गुरु जिस कार्य में लगाते हैं, शिष्य का कर्त्तव्य है, वह उसी कार्य में सहर्ष लग जाय अर्थात् गुरु ने सेवा में अगर शिष्य को लगा दिया तो अग्लान भाव से सहर्ष महामुनि नन्दीषेण की तरह वैयावृत्त्य करे। स्वाध्याय के लिए प्रेरणा किए जाने पर सब दुःखों से मुक्त कराने वाले स्वाध्याय में महामुनि थेवरिया अणगार की तरह लगकर प्रसन्नता से आगम पढ़े। क्योंकि जीवन का सच्चा साथी स्वाध्याय ही है। जब सब साथी साथ छोड़कर दूर भाग जाते हैं, तब ऐसे विषम वक्त पर भी स्वाध्याय ही हमें सान्त्वना देकर दुःख से मुक्ति दिलाता है और साथ ही मानव को सत्पथ पर आरूढ कर सुखी बनाता है।

जिस प्रकार शरीर के लिए अन्न, जल और हवा का महत्त्व है उसी प्रकार का महत्त्व जीवन में स्वाध्याय का है। स्वाध्याय के माध्यम से हमारी बुद्धि निर्मल होती है। संशयों का समाधान होता है। अध्यवसाय यानी भावना प्रशस्त बनती है। परवादियों के द्वारा उठाई गई शंकाओं का समाधान करने की शक्ति पैदा होती है। शास्त्रों के पुनः-पुनः पठन-पाठन से आत्म-रक्षा होती है, तप-त्याग के जीवन में वृद्धि होती है। स्वाध्याय ही हमें पूर्व महापुरुषों के निकट लाने का कार्य करता है। अतः हमें निरन्तर स्वाध्याय में ही रत रहना चाहिए।

शास्त्रों में कहा है–**"सज्झायम्मि रओ सया।"**

स्वाध्याय को नन्दनवन कह सकते हैं। नन्दनवन में जैसे यत्र-तत्र-सर्वत्र अनेक किस्म के फूल खिले हुए हैं, जहां पहुंचकर मानव अपनी शरीर गत बीमारी, अशांति, दुःख, दैन्य एवं कष्टों को भुलाकर आनन्द-विभोर हो

जाता है। ठीक उसी प्रकार यह जीवात्मा स्वाध्याय रूपी नन्दनवन में पहुंचकर अलौकिक आनन्द की अनुभूति करता है। स्वर्ग नरक के दृश्यों को जानकर नरक के भयंकर परमाधामी देवजन्य कष्टों से तथा दश प्रकार की क्षेत्र वेदना जन्य दु:खों से बचने का और स्वर्ग एवं अपवर्ग (मोक्ष) जन्य सुखों को प्राप्त करने की ओर अपने कदम बढ़ाता है। ये सब सद्शिक्षाएँ साधक को स्वाध्याय से ही मिलती हैं। अत: हमें पराध्याय छोड़कर सदा स्वाध्याय करना चाहिए। जीवन में आमूलचूल परिवर्तन स्वाध्याय से आता है। स्वाध्याय के माध्यम से आगम में बाग लगाया जा सकता है।

अत: वीतरागों की वाणी पढ़नी चाहिए। आत्मा के लिए स्वाध्याय और शरीर के लिए भोजन अत्यावश्यक है। अपथ्य भोजन जैसे शरीर के लिए हानिकारक है, उसी प्रकार गन्दा साहित्य आत्मा के लिए महान् नुकसानकारक है। जैसा कि कहा है— ''गन्दा साहित्य मत पढ़ो, पतन की ओर मत बढ़ो।''

अर्थात् अश्लील साहित्य पढ़ने से जीवन में विकृतियां बढ़ती हैं। जहर पीने से भी गन्दा साहित्य पढ़ना भयंकर है। अत: स्वाध्याय के लिए आगम-साहित्य, आगम शास्त्र एवं धार्मिक ग्रन्थों को सुनना चाहिए। मुक्ति महल मे प्रवेश करने के लिए आगम स्वाध्याय एक लिफ्ट है।

जैसे दुकानों पर सजी व खड़ी पुतली, पहरे के लिए नहीं प्रदर्शन के लिए है। मिट्टी के फल खाने के लिए नहीं बल्कि रूम सजाने के लिए हैं। कागज के फूल सूंघने के लिए नहीं, बल्कि देखने के लिए हैं। इसी प्रकार आचार हीन ज्ञान आत्मदर्शन के लिए नहीं, बल्कि अहं प्रदर्शन के लिए है। अत: हमको स्वाध्याय के माध्यम से अपने आचार धर्म को शुद्ध बनाना चाहिए। चारित्र को निर्मल रखने के लिए चारित्रवान पुरुषों का जीवन सामने रखना चाहिए।

ज्ञानी भगवन्तों ने स्वाध्याय को तीसरी आंख कहा है— ''शास्त्रं तृतीयलोचनम्।''

महापुरुषों के जीवन की दिव्य भव्य झांकियां देखने को आगम के पृष्ठ ही प्रेरक होते हैं। महापुरुषों के आदर्श जीवन से हम भी अपने जीवन को पावन, प्रशस्त व निर्मल बना सकते हैं। क्योंकि कवि ने कहा—

''जीवन चरित्र महापुरुषों के हमें नसीहत करते हैं।
हम भी अपना जीवन स्वच्छ रम्य कर सकते हैं।।''

महापुरुषों के आदर्श जीवन से अपना जीवन भी बदला जा सकता है। जैसे महामुनि गजसुकुमाल के प्रशस्त जीवन से हम अपना जीवन प्रशस्त बना सकते हैं। (अन्तगड तीसरा वर्ग)

कामदेव सुश्रावक जैसी दृढ़ता सीखने के लिए हमें उपासकदशांग सूत्र पढ़ना चाहिए। स्कन्धक जी, सुदर्शन जी, अर्जुनमाली एवं राजा प्रदेशी

आचारांग सूत्र में मूल्यात्मक चेतना

डॉ. कमलचन्द सोगाणी

आचारांगसूत्र में जीवन-विकास एवं साधना के सूत्र बिखरे पड़े हैं। इसमें पुनर्जन्म, आत्मा, अहिंसा, असंगता, अप्रमत्तता, संवेदनशीलता आदि का सुन्दर विवेचन हुआ है। दार्शनिक एवं भाषाविद् प्रोफेसर कमलचन्द जी सोगाणी ने अपने आलेख में आचारांग सूत्र में प्रतिपादित इन विभिन्न तत्त्वों को मूल्यात्मक चेतना के रूप में प्रस्तुत किया है। सोगाणी जी के इस आलेख से आचारांग सूत्र के महत्त्व की प्रतीति सहज ही हो जाती है। इस आलेख में जो कोष्ठक में संख्या आई है वह उनके द्वारा सम्पादित, अनूदित आचारांग चयनिका की सूत्र संख्या को इंगित करती है।–**सम्पादक**

आचारांग में मुख्य रूप से मूल्यात्मक चेतना की सबल अभिव्यक्ति हुई है। इसका प्रमुख उद्देश्य अहिंसात्मक समाज का निर्माण करने के लिये व्यक्ति को प्रेरित करना है, जिससे समाज में समता के आधार पर सुख, शान्ति और समृद्धि के बीज अंकुरित हो सकें। अज्ञान के कारण मनुष्य हिंसात्मक प्रवृत्तियों के द्वारा श्रेष्ठ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है।वह हिंसा के दूरगामी कुप्रभावों को, जो उसके और समाज के जीवन को विकृत करते हैं, नहीं देख पाता है। किसी भी कारण से की गई हिंसा आचारांग को मान्य नहीं है। हिंसा के साथ ताल-मेल आचारांग की दृष्टि में हेय है। वह व्यावहारिक जीवन की विवशता हो सकती है, पर वह उपादेय नहीं हो सकती। हिंसा का अर्थ केवल किसी को प्राणविहीन करना ही नहीं है, किन्तु किसी भी प्राणी की स्वतन्त्रता का किसी भी रूप में हनन हिंसा के अर्थ में ही सिमट जाता है। इसीलिये आचारांग में कहा है कि किसी भी प्राणी को मत मारो, उस पर शासन मत करो, उसको गुलाम मत बनाओ, उसको मत सताओ और उसे अशान्त मत करो। धर्म तो प्राणियों के प्रति समता भाव में ही होता है। मेरा विश्वास है कि हिंसा का इतना सूक्ष्म विवेचन विश्व-साहित्य में कठिनाई से ही मिलेगा। समता की भूमिका पर हिंसा-अहिंसा के इतने विश्लेषण एवं विवेचन के कारण ही आचारांग को विश्वसाहित्य में सर्वोपरि स्थान दिया जा सकता है। आचारांग की घोषणा है कि प्राणियों के विकास में अन्तर होने के कारण किसी भी प्रकार के प्राणी के अस्तित्व को नकारना अपने ही अस्तित्व को नकारना है। प्राणी विविध प्रकार के होते हैं : एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इन सभी प्राणियों को जीवन प्रिय होता है, इन सभी के लिए दु:ख अप्रिय होता है। आचारांग ने हिंसा–अहिंसा का विवेचन प्राणियों के सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर प्रस्तुत किया है, जो मेरी दृष्टि में एक विलक्षण प्रतिपादन है। ऐसा लगता है कि आचारांग मनुष्यों की संवेदनशीलता को गहरी करना चाहता है, जिससे मनुष्य एक ऐसे समाज का निर्माण कर सके जिसमें शोषण, अराजकता, नियमहीनता, अशान्ति और आपसी संबंधों में तनाव विद्यमान न रहे। मनुष्य

अपने दुःखों को तो अनुभव कर ही लेता है, पर दूसरों के दुःखों के प्रति वह संवेदनशील प्रायः नहीं हो पाता है। यही हिंसा का मूल है। जब दूसरों के दुःख हमें अपने जैसे लगने लगें, जब दूसरों की चीख हमें अपनी चीख के समान मालूम हो, तो ही अहिंसा का प्रारम्भ हो सकता है। मनुष्य को अपने सार्वकालिक सूक्ष्म अस्तित्व में सन्देह न रहे, इस बात को समझाने के लिए पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त से ही ग्रंथ का आरम्भ किया गया है। अपने सूक्ष्म अस्तित्व में संदेह नैतिक आध्यात्मिक मूल्यों को ही सन्देहात्मक बना देगा, जिससे व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन की आधारशिला ही गड़बड़ा जायेगी। इसीलिये आचारांग ने सर्वप्रथम स्व-अस्तित्व एवं प्राणियों के अस्तित्व के साथ क्रियाओं एवं उनसे उत्पन्न प्रभावों में विश्वास उत्पन्न किया है। ये सभी व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन को वास्तविकता प्रदान करते हैं और इनके आधार पर ही मूल्यों की चर्चा संभव बन पाती है।

आचारांग में ३२३ सूत्र हैं, जो नौ अध्ययनों (वर्तमान में ७वाँ अध्ययन अनुपलब्ध) में विभक्त हैं। इन विभिन्न अध्ययनों में जीवन विकास के सूत्र बिखरे पड़े हैं। यहां मानववाद पूर्णरूप से प्रतिष्ठित है। आध्यात्मिक जीवन के लिए प्रेरणाएँ यहाँ उपलब्ध हैं। मूर्च्छा, प्रमाद और ममत्व जीवन को दुःखी करने वाले कहे गए हैं। वस्तु त्याग के स्थान पर ममत्व त्याग को आचारांग में महत्त्व दिया गया है। वस्तु त्याग, ममत्व त्याग से प्रतिफलित होना चाहिये। आध्यात्मिक जागृति मूल्यवान् कही गई है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य मान—अपमान, लाभ—हानि आदि द्वन्द्वों की निरर्थकता को समझ सकता है। अहिंसा, सत्य और समता के ग्रहण को प्रमुख स्थान दिया गया है। बुद्धि और तर्क जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी होते हुए भी, आध्यात्मिक अनुभव इनकी पकड़ से बाहर प्रतिपादित हैं। साधनामय मरण की प्रेरणा आचारांग के सूत्रों में व्याप्त है। आचारांग में भगवान महावीर की साधना का ओजस्वी वर्णन किसी भी साधक के लिए मार्गदर्शक हो सकता है।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म

मनुष्य समय—समय पर मनुष्यों को मरते हुए देखता है। कभी न कभी उसके मन में स्व अस्तित्व की निरन्तरता का प्रश्न उपस्थित हो ही जाता है। जीवन के गम्भीर क्षणों में यह प्रश्न उसके मानस—पटल पर गहराई से अंकित होता है। अतः स्व—अस्तित्व का प्रश्न मनुष्य का मूलभूत प्रश्न है। आचारांग ने सर्वप्रथम इसी प्रश्न से चिन्तन प्रारम्भ किया है। आचारांग का यह विश्वास प्रतीत होता है कि इस प्रश्न के समाधान के पश्चात् ही मनुष्य स्थिर मन से अपने विकास की बातों की ओर ध्यान दे सकता है। यदि स्व अस्तित्व ही त्रिकालिक नहीं है तो मूल्यात्मक विकास का क्या प्रयोजन? स्व-अस्तित्व में आस्था उत्पन्न करने के लिए आचारांग पूर्वजन्म—पुनर्जन्म की चर्चा से शुरु होता है। आचारांग का कहना है कि यहां कुछ मनुष्यों में यह

होश नहीं होता है कि वे अमुक दिशा से इस लोक में आए हैं(१)। वे यह भी नहीं जानते हैं कि वे आगामी जन्म में किस अवस्था को प्राप्त करेंगे (१)? यहां प्रश्न यह है कि क्या स्व—अस्तित्व की निरन्तरता का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है? कुछ लोग तो पूर्वजन्म में स्व-अस्तित्व का ज्ञान अपनी स्मृति के माध्यम से कर लेते हैं। कुछ दूसरे लोग अतीन्द्रिय ज्ञानियों के कथन से इसको जान पाते हैं तथा कुछ और लोग उन लोगों से जान लेते हैं जो अतीन्द्रिय ज्ञानियों के सम्पर्क में आए हैं (२) इस तरह से पूर्वजन्म में स्व-अस्तित्व का ज्ञान स्वयं के देखने से अथवा अतीन्द्रिय ज्ञानियों के देखने से होता है। पूर्व जन्मों के ज्ञान से ही पुनर्जन्म के होने का विश्वास उत्पन्न हो सकता है। आचारांग ने पुनर्जन्म में विश्वास को पूर्वजन्म के ज्ञान पर आश्रित किया है। ऐसा लगता है कि महावीर युग में पूर्वजन्म को स्मृति में उतारने की क्रिया वर्तमान थी और यह आध्यात्मिक उत्थान के प्रति जागृति का सबल माध्यम था। जन्मों—जन्मों में स्व—अस्तित्व के होने में विश्वास करने वाला ही आचारांग की दृष्टि में आत्मा को मानने वाला होता है। जन्मों—जन्मों पर विश्वास से देशकाल में तथा पुद्गलात्मक लोक में विश्वास उत्पन्न होता है। इसी से मन, वचन, काय की क्रियाओं और उनसे उत्पन्न प्रभावों को स्वीकार किया जाता है। आचारांग का कहना है कि जो मनुष्य पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को समझ लेता है वह ही व्यक्ति आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी कहा गया है (३)। इसी आधार पर समाज में नैतिक—आध्यात्मिक मूल्यों का भवन खड़ा किया जा सकता है और सामाजिक उत्थान को वास्तविक बनाया जा सकता है।

क्रियाओं की विपरीतता

आचारांग इस बात पर खेद व्यक्त करता है कि मनुष्य के द्वारा मन, वचन, काया की क्रिया की सही दिशा समझी हुई नहीं है। इसीलिए उनसे उत्पन्न कुप्रभावों के कारण वह थका देने वाले एक जन्म से दूसरे जन्म में चलता जाता है और अनेक प्रकार की योनियों में सुखों—दुःखों का अनुभव करता रहता है(४)। मनुष्य की क्रियाओं के प्रयोजनों का विश्लेषण करते हुए आचारांग का कहना है कि मनुष्य के द्वारा मन, वचन, काया की क्रियाएँ जिन प्रयोजनों से की जाती हैं, वे हैं: १. वर्तमान जीवन की रक्षा के प्रयोजन से २. प्रशंसा, आदर तथा पूजा पाने के प्रयोजन से, ३. भावी जन्म की उधेड़ बुन के कारण, वर्तमान में मरण भय के कारण तथा परम शान्ति प्राप्त करने तथा दुःखों को दूर करने के प्रयोजन से (५,६)। जिसने क्रियाओं के इतने शुरुआत जान लिए हैं उसने ही क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त किया है (७)। किन्तु दुःख की बात यह है कि मनुष्य इन विभिन्न प्रयोजनों की प्राप्ति के लिए विभिन्न जीवों की हिंसा करता है,उनकी हिंसा करवाता है तथा उनकी हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है (८ से १५)। आचारांग का कहना है कि क्रियाओं की यह

विपरीतता जो हिंसा में प्रकट होती है मनुष्य के अहित के लिए होती है, वह उसके अध्यात्महीन बने रहने के कारण होती है (८ से १५) यह हिंसा कार्य निश्चित ही बन्धन में डालने वाला है, मूर्च्छा में पटकने वाला है और अमंगल में धकेलने वाला है (१६)। अत: क्रियाओं की विपरीतता का माप दण्ड है, हिंसा। जो क्रिया हिंसात्मक है वह विपरीत है। यहां हिंसा को व्यापक अर्थ में समझा जाना चाहिए। किसी प्राणी को मारना, उसको गुलाम बनाना, उस पर शासन करना आदि सभी क्रियाएँ हिंसात्मक हैं (७२)। जब मन, वचन, काया की क्रियाओं की विपरीतता समाप्त होती है, तब मनुष्य न तो विभिन्न जीवों की हिंसा करता है, न हिंसा करवाता है और न हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है(१७)। उसके जीवन में अहिंसा प्रकट हो जाती है अर्थात् न वह प्राणियों को मारता है, न उन पर शासन करता है, न उनको गुलाम बनाता है, न उनको सताता है और न ही उन्हें कभी किसी प्रकार से अशान्त करता है (७२)। अत: कहा जा सकता है कि यदि क्रियाओं की विपरीतता का मापदण्ड हिंसा है तो उनकी उचितता का मापदण्ड अहिंसा होगा। जिसने भी हिंसात्मक क्रियाओं को द्रष्टाभाव से जान लिया, उसके हिंसा समझ में आ जाती है और धीरे—धीरे वह उससे छूट जाती है [illegible]

क्रियाओं का प्रभाव

मन, वचन और काया की क्रियाओं की विपरीतता [illegible] उचितता का प्रभाव दूसरों पर पड़ता भी है और नहीं भी [illegible] अपने आप पर तो प्रभाव पड़ ही जाता है। वे क्रियाएँ [illegible] अंग बन जाती हैं। इसे ही कर्म-बन्धन कहते हैं। यह [illegible] सुखात्मक और दु:खात्मक जीवन का आधार [illegible] हिंसा व्यक्तित्व को विकृत कर देती है और [illegible] जीवन का कारण बनती है और अहिंसा [illegible] और अपने तथा दूसरों के सुखात्मक [illegible] विराट् प्रकृति के विपरीत है। अत: [illegible] रोकती है और ऊर्जा को ध्वंस में [illegible] अनुकूल होने से हमारी ऊर्जा को [illegible] मनुष्य की चेतना को सिकोड़ [illegible] अहिंसात्मक क्रियाएँ मनुष्य [illegible] प्रकार इन क्रियाओं का [illegible] कि जो मनुष्य कर्म-बन्धन [illegible] वह शुद्ध बुद्धि होता है।

मूर्च्छित मनुष्य की दशा

वास्तविक [illegible] के कारण मनुष्य [illegible]

उत्पन्न सुख-दु:ख से एकीकरण करके सुखी-दु:खी होता रहता है। मूर्च्छित मनुष्य स्व–अस्तित्व (आत्मा) के प्रति जागरूक नहीं होता है। वह अशांति से पीड़ित होता है, समता भाव से दरिद्र होता है, उसे अहिंसा पर आधारित मूल्यों का ज्ञान देना कठिन होता है तथा वह अध्यात्म को समझने वाला नहीं होता है (९८)। मूर्च्छित मनुष्य इन्द्रिय–विषयों में ही ठहरा रहता है (२२)। वह आसक्ति युक्त होता है और कुटिल आचरण में ही रत रहता है (२२)। वह हिंसा करता हुआ भी दूसरों को अहिंसा का उपदेश देता रहता है (२५)। इस तरह से वह अर्हत् (जीवन मुक्त) की आज्ञा के विपरीत चलने वाला होता है (२२,९६)। स्व–अस्तित्व के प्रति जागरूक होना ही अर्हत् की आज्ञा में रहना है। इस जगत् में यह विचित्रता है कि सुख देने वाली वस्तु दु:ख देने वाली बन जाती है और दु:ख देने वाली वस्तु सुख देने वाली बन जाती है। मूर्च्छित (आसक्ति युक्त) मनुष्य इस बात को देख नहीं पाता है (३९)। इसलिये वह सदैव वस्तुओं के प्रति आसक्त बना रहता है, यही उसका अज्ञान है (४४)। विषयों में लोलुपता के कारण वह संसार में अपने लिए वैर की वृद्धि करता रहता है (४५) और बार–बार जन्म धारण करता रहता है (५३)। अत: कहा जा सकता है कि मूर्च्छित (अज्ञानी) मनुष्य सदा सोया हुआ अर्थात् सन्मार्ग को भूला हुआ होता है (५२)। जो मनुष्य मूर्च्छारूपी अंधकार में रहता है वह एक प्रकार से अंधा ही है। वह इच्छाओं में आसक्त बना रहता है और उन इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह प्राणियों की हिंसा में संलग्न होता है (९८)। वह प्राणियों को मारने वाला, छेदने वाला, उनकी हानि करने वाला तथा उनको हैरान करने वाला होता है (२९) इच्छाओं के तृप्त न होने पर वह शोक करता है, क्रोध करता है, दूसरों को सताता है और उनको नुकसान पहुंचाता है (४३)। यहाँ यह समझना चाहिए कि सतत हिंसा में संलग्न रहने वाला व्यक्ति भयभीत होता है। आचारांग ने ठीक ही कहा है कि प्रमादी (मूर्च्छित) व्यक्ति को सब ओर से भय होता है (६९) वह सदैव मानसिक तनावों से भरा रहता है। चूंकि उसके अनेक चित्त होते हैं, इसलिए उसका अपने लिए शांति (तनाव मुक्ति) का दावा करना ऐसे ही है जैसे कोई चलनी को पानी से भरने का दावा करे (६०) मूर्च्छित मनुष्य संसाररूपी प्रवाह में तैरने के लिए बिल्कुल समर्थ नहीं होता है (३७) वह भोगों का अनुमोदन करने वाला होता है तथा दु:खों के भंवर में ही फिरता रहता है (३८)। वह दिन-रात दु:खी होता हुआ जीता है। वह काल–अकाल में तुच्छ वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता रहता है। वह केवल स्वार्थपूर्ण संबंध का अभिलाषी होता है। वह धन का लालची होता है तथा व्यवहार में ठगने वाला होता है। वह बिना विचार किए कार्यों को करने वाला होता है तथा विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए बार–बार शस्त्रों/हिंसा के प्रयोग को ही महत्त्व देता है(२६)।

आध्यात्मिक प्रेरक तथा उनसे प्राप्त शिक्षा

यह मूर्च्छित मनुष्यों का जगत् है। ऐसा होते हुए भी यह जगत् मनुष्य को ऐसे अनुभव प्रदान करने के लिए सक्षम है, जिनके द्वारा वह अपने आध्यात्मिक उत्थान के लिए प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। मनुष्य कितना ही मूर्च्छित क्यों न हो फिर भी बुढ़ापा, मृत्यु और धन--वैभव की अस्थिरता उसको एक बार जगत् के रहस्य को समझने के लिए बाध्य कर ही देते हैं। यह सच है कि कुछ मनुष्यों के लिए यह जगत् इन्द्रिय तुष्टि का ही माध्यम बना रहता है(७४), किन्तु कुछ मनुष्य ऐसे संवेदनशील होते हैं कि यह जगत् उनकी मूर्च्छा को आखिर तोड़ ही देता है।

मनुष्य देखता है कि प्रतिक्षण उसकी आयु क्षीण हो रही है। अपनी बीती हुई आयु को देखकर वह व्याकुल होता है और बुढ़ापे में उसका मन गड़बड़ा जाता है। जिनके साथ वह रहता है, वे ही आत्मीय जन उसको बुरा भला कहने लगते हैं और वह भी उनको बुरा--भला कहने लग जाता है। बुढ़ापे की अवस्था में वह मनोरंजन के लिए, क्रीड़ा के लिए तथा प्रेम के लिए नीरसता व्यक्त करता है (२७)। अत: आचारांग का शिक्षण है कि ये आत्मीय जन मनुष्य के सहारे के लिए पर्याप्त नहीं होते हैं और वह भी उनके सहारे के लिए पर्याप्त नहीं होता है (२७)। इस प्रकार मनुष्य बुढ़ापे को समझकर आध्यात्मिक प्रेरणा ग्रहण करे तथा संयम के लिए प्रयत्नशील बने और वर्तमान मनुष्य जीवन के संयोग को देखकर आसक्ति रहित बनने का प्रयास करे (२८)। आचारांग का कथन है कि हे मनुष्यों! आयु बीत रही है, यौवन भी बीत रहा है, अत: प्रमाद (आसक्ति) में मत फंसो(२८) और जब तक इन्द्रियों की शक्ति क्षीण न हो तब तक ही स्व.अस्तित्व के प्रति जागरूक होकर आध्यात्मिक विकास में लगो (३०)।

आचारांग सर्व अनुभूत तथ्य को दोहराता है कि मृत्यु के लिए किसी भी क्षण न आना नहीं है (३६)। इसी बात को रखते हुए आचारांग फिर कहता है कि मनुष्य इस देह-संगम को देखे। यह देह--संगम छूटता अवश्य है। इसका तो स्वभाव ही नश्वर है। यह अध्रुव है, अनित्य है और अशाश्वत है (८५)। आचारांग उनके प्रति आश्चर्य प्रकट करता है जो मृत्यु के द्वारा पकड़े हुए होने पर भी संग्रह में आसक्त होते हैं (७४)। मृत्यु की अनिवार्यता हमारी आध्यात्मिक प्रेरणा का कारण बन सकती है। कुछ मनुष्य इससे प्रेरणा ग्रहण कर अनासक्ति की साधना में लग जाते हैं।

धन-वैभव में मनुष्य सबसे अधिक आसक्त होता है। चूंकि जीवन की सभी आवश्यकताएँ इसी से पूरी होती हैं, इसलिए मनुष्य इसका संग्रह करने के लिए सभी प्रकार के उचित--अनुचित कर्म में संलग्न हो जाता है। आचारांग आसक्त मनुष्य का ध्यान धन-वैभव के नाश की ओर आकर्षित

तत्परता सहित होते हैं, कुछ लोग उसकी आज्ञा में भी आलसी होते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए (९६) यहां यह पूछा जा सकता है कि क्या मनुष्य के द्वारा आज्ञा पालन किए जाने को महत्त्व देना उसकी स्वतन्त्रता का हनन नहीं है?उत्तर में कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता का हनन तब होता है जब बुद्धि या तर्क से सुलझाई जाने वाली समस्याओं में भी आज्ञापालन को महत्त्व दिया जाए। किन्तु, जहां बुद्धि की पहुंच न हो ऐसे आध्यात्मिक रहस्यों के क्षेत्र में आत्मानुभवी (समतादर्शी) की आज्ञा का पालन ही साधक के लिए आत्म विकास का माध्यम बन सकता है। संसार को जानने के लिए संशय अनिवार्य है (८३), पर समाधि के लिए श्रद्धा अनिवार्य है (९२) इससे भी आगे चलें तो समाधि में पहुंचने के लिए समतादर्शी की आज्ञा में चलना आवश्यक है। संशय से विज्ञान जन्मता है, पर आत्मानुभवी की आज्ञा में चलने से ही समाधि— अवस्था तक पहुंचा जा सकता है। अत: आचारांग ने अर्हत् की आज्ञा पालन को कर्त्तव्य कहकर आध्यात्मिक रहस्यों को जानने के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। ९. मनुष्य लोक की प्रशंसा प्राप्त करना चाहता है, पर लोक असाधारण कार्यों की बड़ी मुश्किल से प्रशंसा करता है। उसकी पहुंच तो सामान्य कार्यों तक ही होती है। मूल्यों का साधक व्यक्ति असाधारण व्यक्ति होता है, अत: उसको अपने क्रान्तिकारी कार्यों के लिए प्रशंसा मिलना कठिन होता है। प्रशंसा का इच्छुक प्रशंसा न मिलने पर कार्यों को निश्चय ही छोड़ देगा। आचारांग ने मनुष्य की इस वृत्ति को समझकर कहा है कि मूल्यों का साधक लोक के द्वारा प्रशंसित होने के लिए इच्छा ही न करे (७३)। वह तो व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में मूल्यों की साधना से सदैव जुड़ा रहे।

साधना की पूर्णता

साधना की पूर्णता होने पर हमें ऐसे महामानव के दर्शन होते हैं जो व्यक्ति के विकास और सामाजिक प्रगति के लिये प्रेरणा स्तम्भ होता है। आचारांग में ऐसे महामानव की विशेषताओं को बड़ी सूक्ष्मता से दर्शाया गया है। उसे द्रष्टा, अप्रमादी, जाग्रत, अनासक्त, वीर, कुशल आदि शब्दों से इंगित किया गया है। १. द्रष्टा के लिए कोई उपदेश शेष नहीं है (३८)। उसका कोई नाम नहीं है (७१)। २. उसकी आंखें विस्तृत होती हैं अर्थात् वह सम्पूर्ण लोक को देखने वाला होता है (४४)। ३. वह बंधन और मुक्ति के विकल्पों से परे होता है (५०) वह शुभ—अशुभ, आदि दोनों अन्तों से नहीं कहा जा सकता है, इसलिए वह द्वन्द्वातीत होता है (५६, ६४) और उसका अनुभव किसी के द्वारा न छेदा जा सकता है, न भेदा जा सकता है, न जलाया जा सकता है तथा न नष्ट किया जा सकता है (६४)। वह किसी भी विपरीत परिस्थिति में खिन्न नहीं होता है और वह किसी भी अनुकूल परिस्थिति में खुश नहीं होता है। वास्तव में वह तो समता भाव में स्थित रहता

है (४७) ४. वह पूर्ण जागरूकता से चलने वाला होता है, अतः वह वीर हिंसा से संलग्न नहीं किया जाता है (४९)। वह सदैव ही आध्यात्मिकता में जागता है (५१)। ५. वह अनुपम प्रसन्नता में रहता है (४८)। ६. वह कर्मों से रहित होता है। उसके लिए सामान्य लोक प्रचलित आचरण आवश्यक नहीं होता है, (५५)। किन्तु उसका आचरण व्यक्ति व समाज के लिए मार्गदर्शक होता है। वह मूल्यों से अलगाव को तथा पशु प्रवृत्तियों के प्रति लगाव को समाज के जीवन में सहन नहीं करता है (४७)। आचारांग का शिक्षण है कि जिस काम को जाग्रत व्यक्ति करता है, व्यक्ति व समाज उसको करे (५०) ७. वह इन्द्रियों के विषयों को द्रष्टाभाव से जाना हुआ होता है, इसलिए वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवान् और ब्रह्मवान् कहा जा सकता है (५२)। ८. जो लोक में परम तत्त्व को देखने वाला है, वह वहाँ विवेक से जीने वाला होता है, वह तनाव से मुक्त, समतावान्, कल्याण करने वाला, सदा जितेन्द्रिय कार्यों के लिए उचित समय को चाहने वाला होता है तथा वह अनासक्तिपूर्वक लोक में गमन करता है (५८)। ९. उस महामानव के आत्मानुभव का वर्णन करने में सब शब्द लौट आते हैं, उसके विषय में कोई तर्क उपयोगी नहीं होता है, बुद्धि उसके विषय में कुछ भी पकड़ने वाली नहीं होती है (९७) आत्मानुभव की वह अवस्था आभामयी होती है। वह केवल ज्ञाता–द्रष्टा अवस्था होती है (९७)।

महावीर का साधनामय जीवन

आचारांग ने महावीर के साधनामय जीवन पर प्रकाश डाला है। यह जीवन किसी भी साधक के लिए प्रेरणास्रोत बन सकता है। महावीर सांसारिक परतन्त्रता को त्यागकर आत्मस्वातन्त्र्य के मार्ग पर चल पड़े (१०३) उनकी साधना में ध्यान प्रमुख था। वे तीन घंटे तक बिना पलक झपकाए आंखों को भींत पर लगाकर आन्तरिक रूप से ध्यान करते थे (१०४)। यदि महावीर गृहस्थों से युक्त स्थान में ठहरते थे तो भी वे उनसे मेलजोल न बढ़ाकर ध्यान में ही लीन रहते थे। बाधा उपस्थित होने पर वे वहां से चले जाते थे। वे ध्यान की तो कभी भी उपेक्षा नहीं करते थे (१०५) महावीर अपने समय को कथा, नाच, गान में, लाठी युद्ध तथा मूठी युद्ध को देखने में नहीं बिताते थे (१०६)। काम कथा तथा कामातुर इशारों में वे हर्ष शोक रहित होते थे (१०७)। वे प्राणियों की हिंसा से बचकर विहार करते थे (१०८)। वे खाने-पीने की मात्रा को समझने वाले थे और रसों में कभी लालायित नहीं होते थे (१०९)। महावीर कभी शरीर को नहीं खुजलाते थे और आंखों में कुछ गिरने पर आंखों को पोंछते भी नहीं थे (११०)। वे कभी शून्य घरों में, कभी लुहार, कभी कुम्हार आदि के कर्म–स्थानों में, कभी बगीचे में, मसाण में और कभी पेड़ के नीचे ठहरते थे और संयम में सावधानी बरतते हुए वे ध्यान करते थे (११२,११३,११४)। महावीर सोने में

आनन्द नहीं लेते थे। नींद आती तो अपने को खड़ा करके जगा लेते थे। वे थोड़ा सोते अवश्य थे, पर नींद की इच्छा रखकर नहीं (११५)। यदि रात में उनको नींद सताती, तो वे आवास से बाहर निकलकर इधर-उधर घूम कर फिर जागते हुए ध्यान में बैठ जाते थे (११६)।

महावीर ने लौकिक तथा अलौकिक कष्टों को समतापूर्वक सहन किया (११७,११८)। विभिन्न परिस्थितियों में हर्ष और शोक पर विजय प्राप्त करके वे समता युक्त बने रहे (११९)। लाढ देश के लोगों ने उनको बहुत हैरान किया। वहां कुछ लोग ऐसे थे जो महावीर के पीछे कुत्तों को छोड़ देते थे। कुछ लोग उन पर विभिन्न प्रकार से प्रहार करते थे (१२०,१२१,१२२)। किन्तु, जैसे कवच से ढका हुआ योद्धा संग्राम के मोर्चे पर रहता है, वैसे ही वे महावीर वहां दुर्व्यवहार को सहते हुए आत्म-नियन्त्रित रहे (१२३)।

दो मास से अधिक अथवा छः मास तक भी महावीर कुछ नहीं खाते—पीते थे। रात—दिन वे राग-द्वेष रहित रहे (१२४)। कभी वे दो दिन के उपवास के बाद में, कभी तीन दिन के उपवास के बाद में, कभी चार अथवा पांच दिन के उपवास के बाद में भोजन करते थे (१२५)। वे गृहस्थ के लिए बने हुए विशुद्ध आहार की ही भिक्षा ग्रहण करते थे और उसको वे समता युक्त बने रहकर उपयोग में लाते थे (१२७)।

महावीर कषाय रहित थे। वे शब्दों और रूपों में अनासक्त रहते थे। जब वे असर्वज्ञ थे, तब भी उन्होंने साहस के साथ संयम पालन करते हुए एक बार भी प्रमाद नहीं किया (१२८)। महावीर जीवन पर्यन्त समता युक्त रहे (१२९)।

आचारांग के उपर्युक्त विषय विवेचन से स्पष्ट है कि आचारांग में जीवन के मूल्यात्मक पक्ष की सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई है।

—एच 7, चितरंजन मार्ग, सी स्कीम, जयपुर(राज.)

आचारांग सूत्र का मुख्य संदेश : अहिंसा और असंगता

श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

आचारांगसूत्र में साधना के सूत्र बिखरे पड़े हैं। जैन ग्रन्थों के प्रसिद्ध सम्पादक श्री श्रीचन्द जी सुराणा 'सरस' ने अपने आलेख में आचारांग की विषयवस्तु की संक्षेप में चर्चा करते हुए अहिंसा एवं असंगता के संदेश को उजागर किया है।—**सम्पादक**

आचारांग सूत्र एक ऐसा क्षीर समुद्र है जिसमें स्वाध्याय द्वारा जब भी अवगाहन/निमज्जन करता हूँ तो कोई न कोई दिव्य मणि हाथ लग ही जाती है।

अंग सूत्रों में यह पहला अंग है, किन्तु इससे भी बड़ी बात आचार्य भद्रबाहु ने कही है कि यह समूचे अंग सूत्रों का सार है— **अंगाणं किं सारो? आयारो।** इसका प्रतीकात्मक अर्थ इतना ही नहीं है कि 'आचार' अंग सूत्रों का सार है, किन्तु इस सम्पूर्ण आगम को लक्ष्य करके भी यह कहा गया है कि इसमें आचार-विचार, ध्यान-समाधि आदि सभी विषयों का चिन्तन बीज रूप में सन्निहित है। प्राचीन मान्यता है कि इस एक आगम का परिशीलन/अनुशीलन कर लेने पर सम्पूर्ण अंग सूत्रों के रहस्य ज्ञान की चाबी हाथ लग जाती है। अगर इस आगम का स्वाध्याय नहीं किया तो वह मुनि श्रमण धर्म का ज्ञाता नहीं कहलाता, न ही वह आचारधर बनता है, न ही गणिपद का पात्र बन सकता है।

"आयारम्मि अहीए जं नाओ होइ समणधम्मो उ।
तम्हा आयारधरो भण्णइ पढमं गणिट्ठाणं।।" —निर्युक्ति 10

निर्युक्ति एवं टीका आदि के अनुसार आचारांग के १८ हजार पद हैं। संभवत: रचना काल में इतने पद रहे होंगे, किन्तु आज तो बहुत कम पद बचे हैं। इसका अर्थ है आचारांग का बहुत बड़ा भाग विच्छिन्न हो गया है। विक्रम की प्रथम शताब्दी तक इसका महापरिज्ञा अध्ययन विद्यमान था, जो आज उपलब्ध नहीं है। आचार्य वज्रस्वामी ने उससे गगनगामिनी विद्या उद्धृत की थी (आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति) किन्तु टीकाकार अभयदेव सूरि (आठवीं शताब्दी) के पूर्व वह भी विच्छिन्न हो चुका था(अभयदेव वृत्ति)। चूर्णि के अनुसार महापरिज्ञा अध्ययन में अनेक विद्याएँ, मंत्र आदि का वर्णन व साधना विधियाँ थी। काल प्रभाव से उनका अध्ययन अनुपयुक्त समझा गया, इसलिए तात्कालिक आचार्यों ने उसको असमनुज्ञात कहकर पठन—पाठन निषिद्ध कर दिया। इतना सबकुछ लुप्त—विलुप्त हो जाने के पश्चात् भी आचारांग आज जितना बचा है, वह भी बहुत है। महासमुद्र से कितने ही रत्न निकाल लिये जायें वह तो रत्नाकर ही रहता है उसका भण्डार रिक्त नहीं होता। आचारांग के संबंध में भी यही कहा जा सकता है।

आचारांग सूत्र का प्रथम उद्घोष– आत्मबोध से प्रारम्भ होता है। ब्रह्मसूत्र जिस प्रकार **अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा** से प्रारम्भ होता है। आचारांग भी भाव रूप में **अथातो आत्म-जिज्ञासा** से आरम्भ होता है और आचारांग का अन्तिम रूप आत्म साक्षात्कार के शिखर तक पहुँचा देता है।

'आचार' शब्द से ध्वनित होता है कि इस सूत्र का प्रतिपाद्य आचार धर्म है। 'आचार' का अर्थ यदि 'चारित्र' तक सीमित रखें तो यह अर्थबोध अपूर्ण है, अपर्याप्त है। आचार से यदि हम पंचाचार का बोध करते हैं तो अवश्य ही इस आगम में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और विनयाचार रूप आचार धर्म का संकेतात्मक सार उपलब्ध है। आचारांग में तत्त्व दर्शन के मूल आत्मदृष्टि से संबंधित सूत्र उद्यान में फूलों की तरह यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं।

आचार्य सिद्धसेन ने जैन तत्त्व दृष्टि के आधारभूत छह सत्य स्थान बताये हैं–

> **"अत्थि अविणासधम्मी करेइ वेदइ अत्थि निव्वाणं।**
> **अत्थि य मोक्खोवाओ छ सम्मत्तस्स ठाणाइं।।"** –सन्मति प्रकरण 3/55

१. आत्मा है २. आत्मा अविनाशी है ३. आत्मा कर्मों का कर्त्ता है ४. आत्मा ही कर्मों का भोक्ता है ५. कर्मों से मुक्ति रूप निर्वाण है ६. निवार्ण का उपाय भी है।

ये छह चिन्तन सूत्र सम्यक्त्व के मूल आधार माने गये हैं। आत्मवाद का सम्पूर्ण दर्शन इन्ही छह स्तम्भों पर आधारित है। आचारांग सूत्र में ये छह सूत्र यथाप्रसंग अपने विस्तार के साथ उपलब्ध हैं और उन पर सूत्रात्मक चिन्तन भी है।

1. अत्थि मे आया– मेरी आत्मा है, वह पुनर्जन्म लेने वाली है। इसी सूत्र से आचारांग की सम्पूर्ण विषय वस्तु का विस्तार होता है।

2. जो आगओ अणुसंचरइ सोऽहं– जो इन सभी दिशाओं–अनुदिशाओं में, सम्पूर्ण जगत् में अनुसंचरण करता है, जो था, है और रहेगा, वह मैं ही हूँ। इस सूत्र में आत्मा का अविनाशित्व सूचित किया गया है।

3. पुरिसा, तुममेव तुमं मित्तं–जीवेण कडे पमाएणं– "हे पुरुष! तू ही तेरा मित्र है, तू ही तेरा सुख–दु:ख का कर्ता है। यह सब दु:ख जीव ने ही प्रमादवश किये है।" यह आत्म-कर्तृत्व का संदेश है।

4. तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु– "हे पुरुष! तू ही अपने शल्य का उद्धार कर सकता है।" अपने कृत कर्मों को स्वयं ही भोग करके निर्जरा करने का संदेश इस सूत्र में व्यक्त होता है।

5. अणण्ण-परमणाणी णो पमायए कयाइ वि– ज्ञानी पुरुष अनन्यपरम– जो सबसे श्रेष्ठ है और परम है वह निर्वाण, उस निर्वाण की उपलब्धि के लिए क्षण मात्र भी प्रमाद न करे। यह कर्ममुक्ति रूप निर्वाण का संकेत है।

6. इस आगम के प्रत्येक अध्ययन में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र रूप निर्वाण उपाय का प्रतिपादन मिलता है।

इस प्रकार आचारांग सूत्र में अध्यात्म के मूल आधार 'आत्मवाद', आत्म विवेक और आत्म-शुद्धि के विविध उपायों का वर्णन है, जो इस आगम को आत्मवाद का आधारभूत शास्त्र सिद्ध करते हैं।

आचारांग का प्रथम अध्ययन **'शस्त्र परिज्ञा'** है। शस्त्र यानी हिंसा तथा हिंसा के साधन। इस अध्ययन में षड्जीव निकाय में चेतन सत्ता की सिद्धि करते हुए उनकी हिंसा के कारण व विरोधी शस्त्रों का वर्णन करते हुए सर्वत्र जीव हिंसा से उपरत रहने का संदेश है। **अत्थि सत्थं परेण परं**— शस्त्र एक से एक बढ़कर हैं, भयंकर हैं— इस वाक्य ने आधुनिक विज्ञान द्वारा निर्मित अत्यन्त तीक्ष्ण/घातक शस्त्रों के प्रति सावधान किया है और शस्त्र प्रयोग का मूल असंयम मानकर मूल पर ही प्रहार किया गया है। 'असंयम' के कारण ही हिंसा की जाती है, इसलिए इस अध्ययन का मुख्य संदेश संयम है।

द्वितीय **'लोक विजय'** अध्ययन का मुख्य संदेश आसक्ति विजय है। **जे गुणे से मूलट्ठाणे**— जो इन्द्रिय विषय हैं, वही संसार है। इसी संसार रूप लोक को विजय करने का उपाय बताया है— **लोभं अलोभेणं दुगुंछमाणे**— लोभ को संतोष से, कामनाओं को निष्कामता से जीतो। विरक्त वीतराग ही संसार का विजेता बनता है।

इसी प्रकार इसके सभी नौ अध्ययन जीवनस्पर्शी हैं और बाह्याचार की जगह अन्तर आचार, तितिक्षा, विरक्ति, परिग्रह त्याग, असंगता, समाधि, ध्यान आदि विषयों पर केन्द्रित हैं।

आचारांग में अपनी सामयिक विचारधाराओं पर भगवान महावीर का अपना स्वतंत्र व सार्वभौम चिन्तन भी स्पष्ट झलकता है। उस युग में वैदिक विचारधारा के अनुसार 'अरण्य—साधना' का विशेष महत्त्व था। अरण्यवाद को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता था, किन्तु भगवान महावीर ने इसमें संशोधन प्रस्तुत किया और कहा— यह एकान्त सत्य नहीं है कि अरण्य में ही साधना हो सकती है— **गामे वा अदुवा रण्णे**— साधना गांव में भी हो सकती है, नगर में भी। जहां भी चित्त की निर्मलता और स्थिरता सध सके वहीं पर साधना की जा सकती है।

स्मृतियों के अनुसार शूद्र धर्म सुनने का अधिकारी नहीं था। केवल उच्चवर्ण को ही धर्मसभाओं में जाने और शास्त्रचर्चा करने का अधिकार प्राप्त था। इसके विपरीत भगवान महावीर ने उद्घोष किया— **जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ।**

साधक सबको समान भाव से धर्म का उपदेश करे। उच्च या पुण्यवान को भी और दरिद्र को भी धर्म का उपदेश करे। इसी प्रकार वैदिक

साहित्य में जहां जाति को महत्त्व दिया गया है, वहां भगवान महावीर ने इस मान्यता के विरुद्ध सर्वत्र समता का सिद्धान्त निरूपित किया है– **णो हीणे णो अइरित्ते**– न कोई हीन है, न कोई उच्च है।

आचारांग सूत्र में समसामयिक साधना और धर्मधारणा का व्यापक प्रभाव है और उन सब पर भगवान महावीर के स्वतंत्र समत्वमूलक चिन्तन की गहरी छाप है।

अपरिग्रह का महान दर्शन

आचारांग का अध्ययन करने वाले विद्वान इसे अहिंसा और पर्यावरण के सिद्धान्तों का प्रतिपादक आगम मान लेते हैं। पर्यावरण अहिंसा से ही संबंधित है और अहिंसा के लिए आचारांग का प्रथम अध्ययन–**सत्थ परिण्णा,** बहुत ही व्यापक दृष्टि देता है।

अहिंसा की स्पष्ट दृष्टि एक ही सूत्र में व्यक्त कर दी गई है– **आयतुले पयासु–एयं तुलमन्नेसिं**– तू दूसरों को अपने समान ही समझ। सबके सुख दुःख को अपनी आत्मानुभूति की तुला पर तोलकर देख।

भगवान महावीर का चिन्तन है– हिंसा तो एक क्रिया है, एक मनोवृत्ति है। इसका मूल प्रेरक तत्त्व तो आसक्ति, तृष्णा या परिग्रह है।

अर्थशास्त्र तथा समाज मनोविज्ञान की दृष्टि से मानव विकास का प्रेरक तत्त्व है– अर्थ के प्रति राग। वस्तु-प्राप्ति की इच्छा और उसके लिए प्रयत्न। किन्तु भगवान महावीर कहते हैं–वस्तु के प्रति राग और प्राप्ति के लिए प्रयत्न से जीवन में कभी भी शांति और आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। जीवन का लक्ष्य सुख नहीं, आनन्द है और आनन्द का मार्ग है–संतोष, आसक्ति का त्याग, परिग्रह विमुक्ति। इसलिए आचारांग में स्थान–स्थान पर आसक्ति त्याग और कषाय मुक्ति का उपदेश दिया गया है।

परिग्रह की वृत्ति ही हिंसा को प्रोत्साहित करती है। परिग्रह के लिए ही हिंसा का साधन रूप में प्रयोग होता है। इसलिए भगवान महावीर ने हिंसा का वर्जन करते हुए उसकी मूल जड़ परिग्रह तथा विषय-आसक्ति का त्याग करने का उपदेश दिया है।

आसं च छन्दं च विगिंच धीरे– आशा, तृष्णा और विषयेच्छा को छोड़ने वाला ही धीर है।

एयं पास! मुणी महब्भयं

हे मुनि! देख, यह तृष्णा, सुखों की अभिलाषा ही संसार में महाभय का कारण है। यही सबसे बड़ा पाप है।

आचारांग सूत्र का परिशीलन करते हुए ऐसा अनुभव होता है कि इसका एक–एक सूत्र, एक–एक शब्द अपने आपमें एक शास्त्र है, एक पूरा दर्शन है। ध्यान, समाधि अनुप्रेक्षा, भावना, काम विरक्ति, अप्रमाद, कषाय

विजय, परीषह विजय, तितिक्षा, विनय, कर्म लाघव, उपधि त्याग आदि ऐसे सैंकडों विषय हैं जिन पर यदि साधक चिन्तन करे, उनकी भावना करता रहे तो प्रत्येक सूत्र में से जीवन की दिव्यता का, भावों की श्रेष्ठता का निर्मल प्रकाश प्राप्त हो सकता है।

सारांश रूप में दो शब्दों में आचारांग का संदेश व्यक्त किया जा सकता है– १. सर्वत्र सब जीवों के प्रति समत्वभाव की अनुभूति और २. आन्तरिक विकारों पर विजय। अर्थात् अहिंसा और असंगता– आचारांग का मूल संदेश है।

–ए 7, अवागढ हाउस, एम.जी.रोड़, आगरा (उ.प्र.)

सूत्रकृतांग का वर्ण्य विषय एवं वैशिष्ट्य

डॉ. अशोक कुमार जैन

सूत्रकृतांग दो श्रुतस्कन्धों एवं २३ अध्ययनों में विभक्त है। इसमें विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के साथ साधक की साधना को उच्चता प्रदान करने वाले सूत्र एवं प्रेरकतत्त्व उपलब्ध हैं। आचारांग के अनन्तर सूत्रकृतांग को जैनागमों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आगम माना जाता है। जैन विश्वभारती, लाडनूँ के प्राध्यापक डॉ. अशोक जी ने अपने आलेख में सूत्रकृतांग की विषयवस्तु का संक्षेप में प्रतिपादन किया है।—**सम्पादक**

नाम बोध

अंग-साहित्य में सूत्रकृतांग दूसरा अंग है। समवाय, नंदी और अनुयोगद्वार में इस आगम का नाम 'सूयगडो' है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी ने इस आगम के तीन गुणनिष्पन्न नाम बताए हैं— १. सूतगड २. सुत्तकड ३. सूयगड—सूचाकृत। यह मौलिक दृष्टि से भगवान महावीर से सूत (उत्पन्न) है तथा यह ग्रन्थ रूप में गणधर के द्वारा कृत है, इसलिए इसका नाम सूत्रकृत (सूतगड) है। इसमें सूत्र के अनुसार तत्त्व बोध किया जाता है, इसलिए इसका नाम सुत्तकड है। इसमें स्व और पर समय की सूचना है. इसलिए इसका नाम सूचनाकृत (सुयगड) है। वस्तुत: सूत, सुत्त और सूय ये तीनों सूत्र के ही प्राकृत रूप हैं। उसी के तीन गुणात्मक नामों की परिकल्पना की गयी। समवाय और नंदी में यह स्पष्टतया उल्लिखित है कि सूत्रकृतांग में स्वसिद्धान्त एवं परसिद्धान्त की सूचना है—

"सूयगडे णं ससमया सूइज्जंति,परसमया सूइज्जंति,ससमय परसमय सूइज्जंति"

जो सूचक होता है उसे सूत्र कहा जाता है। इस आगम की पृष्ठभूमि में सूचनात्मक तत्त्व की प्रधानता है, इसलिए इसका नाम सूत्रकृत है।

आचार्य वीरसेन के अनुसार सूत्रकृतांग में अन्य दार्शनिकों का वर्णन है। इस आगम की रचना इसी के आधार पर की गई, इसलिए इसका नाम सूत्रकृत रखा गया। सूत्रकृत शब्द के अन्य व्युत्पत्तिपरक अर्थों की अपेक्षा यह अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है। 'सुत्तगड' और बौद्धों के 'सुत्तनिपात' में नाम-साम्य प्रतीत होता है।

सूत्रकृतांग का स्वरूप

यह दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं। जिनके नाम हैं— समए (समय), वेयालिए(वैतालीय), उवसग्ग परिण्णा (उपसर्ग परिज्ञा), इत्थी परिण्णा (स्त्री परिज्ञा), णरयविभत्ति (नरक विभक्ति), महावीरत्थुई (महावीर स्तुति), कुसीलपरिभासितं(कुशील परिभाषित), वीरियं (वीर्य), धम्मो(धर्म), समाही (समाधि), मग्गे(मार्ग), समोसरणं (समवसरण), आहत्तहीयं (याथातथ्य), गंथो (ग्रन्थ), जमईए(यमकीय), गाहा(गाथा)। पहला श्रुतस्कन्ध प्राय: पद्यों में है। उसमें केवल एक अध्ययन में गद्य का प्रयोग हुआ है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सात अध्ययन हैं। जिनके नाम हैं— पौंडरीए (पौण्डरीक), किरिया ठाणे(क्रिया स्थान), आहार परिण्णा (आहार परिज्ञा), पच्चक्खान किरिया(प्रत्याख्यान क्रिया), आयार सूयं (आचार श्रुत), अद्दइज्जं (आर्द्रकीय), णालंदइज्जं(नालंदीय)। इस श्रुत स्कन्ध में गद्य और पद्य दोनों पाये जाते हैं।

इस आगम में गाथा छन्द के अतिरिक्त इन्द्रव्रजा, वैतालिक, अनुष्टुप् आदि अन्य छन्दों का भी प्रयोग मिलता है।

वैशिष्ट्य

पंचभूतवाद, ब्रह्मैकवाद—अद्वैतवाद या एकात्मवाद, देहात्मवाद, अज्ञानवाद, अक्रियावाद, नियतिवाद, आत्मकर्तृत्ववाद, सद्वाद, पंचस्कन्धवाद तथा धातुवाद आदि का सूत्रकृतांग के प्रथम स्कन्ध में प्ररूपण किया गया है। तत्पक्षस्थापन और निरसन का एक सांकेतिक क्रम है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में परमतों का खण्डन किया गया है— विशेषत: वहां जीव एवं शरीर के एकत्व, ईश्वरकर्तृत्व, नियतिवाद आदि की चर्चा है। प्राचीन दार्शनिक मतों, वादों और दृष्टिकोणों के अध्ययन के लिए सूत्रकृतांग का अत्यन्त महत्त्व है। आगे हम अध्ययन क्रमानुसार वर्ण्य विषय पर संक्षिप्त प्रकाश डाल रहे हैं।

वर्ण्य विषय

प्रथम श्रुतस्कन्ध

प्रथम अध्ययन का नाम जैसा ऊपर निर्देश किया गया है **समए (समय)** है। इस अध्ययन का विषय है— स्वसमय अर्थात् जैनमत और परसमय अर्थात् जैनेतर मतों के कतिपय सिद्धान्तों का प्रतिपादन। इस अध्ययन के चार उद्देशक और अठासी श्लोक हैं। इनमें विभिन्न मतों का प्रतिपादन, खण्डन और स्वमत का मण्डन है। यहाँ परिग्रह को बन्ध और हिंसा को वैरवृत्ति का कारण बताते हुए लिखा है—

"सव्वे अकंतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया।।" 1/84

कोई भी जीव दु:ख नहीं चाहता इसलिए सभी जीव अहिंस्य हैं, हिंसा करने योग्य नहीं हैं।

"एयं खु णाणिणो सारं, जं ण हिंसइ कंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एयावंतं वियाणिया।।" 1/85

अर्थात् ज्ञानी होने का यही सार है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता। समता अहिंसा है, इतना ही उसे जानना है।

परिग्रह बंधन है, हिंसा बंधन है। बन्धन का हेतु है ममत्व। कर्मबन्ध के मुख्य दो हेतु हैं— आरंभ और परिग्रह। राग, द्वेष, मोह आदि भी कर्मबन्ध के हेतु हैं, किन्तु वे भी आरम्भ परिग्रह के बिना नहीं होते। अत: मुख्यत: इन दो हेतुओं आरम्भ और परिग्रह का ही ग्रहण किया है। इन दोनों में भी परिग्रह

गुरुतर कारण है।

इसमें प्राचीन दार्शनिक मतों जैसे भूतवाद, आत्माद्वैतवाद, एकात्मवाद, अकारकवाद, क्रियावाद, नियतिवाद आदि का परिचय देकर इन सबका निरसन किया है।

द्वितीय अध्ययन **वैतालीय** है। इसमें आध्यात्मिक तथ्यों का प्रतिपादन है। प्रारम्भ में वर्णन किया गया है—

"संबुज्झह किण्ण बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइओ, णो सुलभं पुणरवि जीवियं।।" 2।1

(भगवान ऋषभ ने अपने पुत्रों से कहा) संबोधि को प्राप्त करो। बोधि को क्यों नहीं प्राप्त होते हो। जो वर्तमान में संबोधि को प्राप्त नहीं होता, उसे अगले जन्म में भी वह सुलभ नहीं होती। बीती हुई रातें लौटकर नहीं आती। जीवन सूत्र के टूट जाने पर उसे पुनः साधना सुलभ नहीं है।

पारिवारिक मोह से निवृत्ति के संबंध में लिखा है—

"दुक्खी मोहे पुणो पुणो, णिव्विंदेज्ज सिलोगपूयणं।
एवं सहिएऽहिपासए, आयतुले पाणेहि संजए।। 2/66

अर्थात् दुःखी मनुष्य पुनः पुनः मोह को प्राप्त होता है। तुम श्लाघा और पूजा से विरक्त रहो। इस प्रकार सहिष्णु और संयमी सब जीवों में आत्मतुला को देखें। अपने समान समझे।

परीषह-जय, कषाय-जय आदि का भी सम्यक् निरूपण इस अध्ययन में किया गया है। काम, मोह से निवृत्त होकर आत्मभाव में रमण करने का उपदेश इस अध्ययन में दिया गया है।

तृतीय अध्ययन **'उपसर्ग परिज्ञा'** है। उपसर्गों को समता पूर्वक सहने की क्षमता वाला मुनि अपने लक्ष्य को पा लेता है। उपसर्ग का अर्थ है— उपद्रव। स्वीकृत मार्ग पर अविचल रहने तथा निर्जरा के लिए कष्ट सहना परीषह है। अनुकूल उपसर्ग मानसिक विकृति पैदा करते हैं और प्रतिकूल उपसर्ग शरीर विकार के कारण बनते हैं। अनुकूल उपसर्ग सूक्ष्म होते हैं और प्रतिकूल उपसर्ग स्थूल होते हैं। धीर पुरुष बंधन से मुक्त होते हैं यथा—

"जेहिं काले परिक्कंतं ण पच्छा परितप्पए।
ते धीरा बंधणुम्मुक्का, णावकखंति जीवियं।।" 3/75

अर्थात् जिन्होंने ठीक समय पर पराक्रम किया है वे बाद में परिताप नहीं करते। वे धीर पुरुष (कामासक्ति) के बंध से मुक्त होकर (काम-भोगमय) जीवन की आकांक्षा नहीं करते।

अध्ययन के अंत में 'ग्लान सेवा' व उपसर्ग सहन करने पर बल दिया है।

चतुर्थ अध्ययन **'इत्थीपरिण्णा'** (स्त्री परिज्ञा) में स्त्री संबंधी परीषहों को सहन करने का उपदेश दिया गया है। मुनि को सभी संसर्ग का वर्जन

करते हुए लिखा—

"एवं खु तासु विण्णप्पं, संथवं संवासं च चएज्जा।
तज्जातिया इमे कामा, वज्जकरा य एवमक्खया।।" 4/50

इस प्रकार स्त्रियों के विषय में जो कहा गया है(उन दोषों को जानकर) उनके साथ परिचय और संवास का परित्याग करे। ये काम.भोग सेवन करने से बढ़ते हैं। तीर्थंकरों ने उन्हें कर्म-बन्धन कारक बतलाया है।

पंचम अध्ययन का नाम **'नरक विभक्ति'** है। नरक में जीव को किस प्रकार के भयंकर कष्ट भोगने पड़ते हैं उसका वर्णन इसमें किया गया है। वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों ही परम्पराओं में नरकों का वर्णन है। योग सूत्र के व्यास—भाष्य में सात महानरकों का वर्णन है। बौद्ध ग्रन्थ 'कोकालिय' नामक सुत्त में नरकों का वर्णन है। यह वर्णन इस अध्याय से बहुत कुछ मिलता जुलता है।

षष्ठ अध्ययन का नाम **'महावीरत्थुई'** (महावीर स्तुति) है। इसमें श्रमण भगवान महावीर की विवधि उपमाएं देकर स्तुति की गयी है। यह महावीर की प्राचीनतम स्तुति है। महावीर को इसमें हाथियों में ऐरावत, मृगों में सिंह, नदियों में गंगा और पक्षियों में गरुड़ की उपमा देते हुए लोक में सर्वोत्तम बताया है। भगवान महावीर की प्रधानता के संदर्भ में लिखा है—

"दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं, सच्चेसु य अणवज्जं वयंति।
तवेसु या उत्तम बंभचेरं, लोगुत्तमे समणे णायपुत्ते।।" 6/23

जैसे दानों में अभयदान, सत्य वचन में अनवद्य वचन, तपस्या में ब्रह्मचर्य प्रधान होता है, वैसे ही श्रमण ज्ञात पुत्र लोक में प्रधान हैं।

इस प्रकार भगवान महावीर के अनेक गुणों का वर्णन इस अध्ययन में है।

सप्तम अध्ययन **'कुसीलपरिभासितं' (कुशील परिभाषित)** है। इसमें शील, अशील और कुशील का वर्णन है। कुशील का अर्थ अनुपयुक्त व अनुचित व्यवहार वाला है। जो साधक असंयमी है, जिनका आचार विशुद्ध नहीं है, उनका परिचय इस अध्ययन में किया गया है। यहां तीन प्रकार के कुशीलों की चर्चा की गई है। वे इस प्रकार हैं—

1. **अनाहार संपज्जण—** आहार में मधुरता पैदा करने वाले, नमक के त्याग से मोक्ष मानने वाले।
2. **सीओदग सेवण—** शीतल जल के सेवन से मोक्ष मानने वाले।
3. हुएण— होम से मोक्ष मानने वाले।

यहाँ स्पष्टतया बताया है कि तपस्या से पूजा पाने की अभिलाषा न करें। तप मुक्ति का हेतु है। पूजा सत्कार या इसी प्रकार की दूसरी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए इसका उपयोग न करें। जो पूजा सत्कार के निमित्त तपस्या करता है, वह तत्त्व का ज्ञाता नहीं है।

अष्टम अध्ययन **'वीरियं' (वीर्य)** है। सूत्रकार ने अकर्मवीर्य-पण्डित वीर्य और कर्मवीर्य बलवीर्य ये दो प्रकार बताये हैं। अकर्मवीर्य में संयम की प्रधानता है। पण्डित वीर्य को मुक्ति का कारण बताया गया है। इन्द्रिय संयम पर बल देते हुए कहा है-

"अतिक्कमंति वायाए, मणसा वि ण पत्थए।
सव्वओ संवुडे दंते, आयाणं सुसमाहरे।।" 8/21

महाव्रतों का वाणी से अतिक्रम न करे। मन से भी उनके अतिक्रम की इच्छा न करे। वह सब ओर से संवृत और दान्त होकर इन्द्रियों का संयम करे।

नवम अध्ययन **'धम्म' (धर्म)** है। इसमें भगवान महावीर द्वारा बताये गये धर्म का निरूपण है। निर्युक्तिकार ने कुल धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म, गण धर्म, संघ धर्म, पाखण्ड धर्म, श्रुत धर्म, चारित्र धर्म, गृहस्थ धर्म आदि अनेक रूपों में 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया है। धर्म के मुख्य रूप से दो भेद हैं- लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म। इस अध्ययन में लोकोत्तर धर्म का निरूपण है।

दशम अध्ययन **'समाही' (समाधि)** है। समाधि का अर्थ है- समाधान, तुष्टि अवरोध। इसमें भाव, श्रुत, दर्शन और आचार इन चार प्रकार की समाधियों का वर्णन किया गया है।

एकादश अध्ययन का नाम **'मग्गे' (मार्ग)** है। भगवान महावीर ने अपनी साधना-पद्धति को 'मार्ग' कहा है। समाधि के लिए साधक को ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तपोमार्ग का आचरण करना चाहिए- यह उपदेश दिया गया है।

बारहवें अध्ययन का नाम **'समवसरण'** है। समवसरण का अर्थ है-वाद-संगम। जहाँ अनेक दृष्टियों/दर्शनों का मिलन होता है, उसे समवसरण कहते हैं। इस अध्ययन में क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद इन चारों वादों की कतिपय मान्यताओं की समालोचना कर यथार्थ का निश्चय किया गया है।

त्रयोदश अध्ययन का नाम **'यथातथ्य'** है। इसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि मद रहित साधना करने वाला साधक ही सच्चा विज्ञ और मोक्षगामी है।

चौदहवें अध्ययन का नाम **'ग्रन्थ'** है। ग्रन्थ का अर्थ है- आत्मा को बांधने वाला। ग्रन्थ दो प्रकार का है- द्रव्य और भाव ग्रन्थ। भाव ग्रन्थ के दो प्रकार हैं- १. प्रशस्त भाव ग्रन्थ जिसके अन्तर्गत ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। २. अप्रशस्त भाव ग्रन्थ में प्राणातिपात आदि हैं।

पन्द्रहवें अध्ययन का नाम **'जमईए' (यमकीय)** है। इसकी सभी गाथाएँ 'यमक' अलंकार से युक्त हैं। इसमें संयम एवं मोक्षमार्ग की साधना का सुपरिणाम बताया है।

सोलहवें अध्ययन का नाम **'गाथा'** है। निर्युक्तिकार ने गाथा का अर्थ किया है—जिसका मधुरता से गान किया जा सके, वह गाथा है। जिसमें अर्थ की बहुलता हो, वह गाथा है या छन्द द्वारा जिसकी योजना की गई हो, वह गाथा है। इसमें साधु के माहण, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ ये चार नाम देकर उनकी व्याख्या की गई है।

इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययन में विषयों का वर्णन किया गया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

इसके प्रथम अध्ययन का नाम **'पुण्डरीक'** है। इसमें बताया गया है कि यह संसार पुष्करिणी है। इसमें कर्मरूप जल एवं काम भोग का कीचड़ भरा है। उसके मध्य में एक पुण्डरीक (कमल) है। उस कमल को अनासक्त, निःस्पृह और अहिंसादि महाव्रतों का पालन करने वाले साधक ही प्राप्त कर सकते हैं।

द्वितीय अध्ययन का नाम **'क्रिया स्थान'** है। यहां धर्म.क्रिया का वर्णन करके धर्म.क्रिया की प्रेरणा दी गई है।

तृतीय अध्ययन का नाम **'आहारपरिज्ञा'** है। इसमें आहार की विस्तृत चर्चा है। श्रमणों को संयम पूर्वक आहार ग्रहण करने की प्रेरणा दी गई है।

चतुर्थ अध्ययन का नाम **'प्रत्याख्यान परिज्ञा'** है। इसमें जीवन को मर्यादित बनाने के लिए प्रत्याख्यान रूप क्रिया की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है।

पांचवे अध्ययन के **'आचार श्रुत'** व **'अणगार श्रुत'** ये दो नाम उपलब्ध होते हैं। इसमें बताया गया है कि आचार के सम्यक् पालन के लिए बहुश्रुत होना आवश्यक है। साथ ही श्रमण को अमुक अमुक प्रकार की भाषा न बोलने का भी निर्देश है।

छठा अध्ययन **'आर्द्रकीय'** है। इसमें अनार्य देश में उत्पन्न राजकुमार आर्द्रक के जैन मुनि बनने का उल्लेख करने के पश्चात् उनके द्वारा गोशालक, हस्ती तापस आदि के मतों का निरसन किया गया है।

सातवें अध्ययन का नाम **'नालन्दीय'** है। इस अध्ययन में गणधर गौतम का पार्श्वापत्यिक पेढ़ाल पुत्र के साथ मधुर संवाद है। पेढ़ाल पुत्र चातुर्याम धर्म को छोड़कर पंचयाम धर्म स्वीकार कर लेते हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि सूत्रकृतांग में महत्त्वपूर्ण दार्शनिक चर्चाएँ हुई हैं। साथ ही आध्यात्मिक सिद्धान्तों को जीवन में ढ़ालने एवं अन्य मतों का परित्याग कर शुद्ध श्रमणाचार का पालन करने की प्रेरणा भी दी गई है।

भगवान महावीर के समय किस—किस कोटि की परम्पराएँ उस समय विद्यमान थी? उनके धार्मिक उपादान क्या थे? इत्यादि बातों पर

प्रकाश डाला गया है। कुछ ऐसी सूचनाएं हैं जो शोधार्थियों को विशेष दृष्टि प्रदान कर सकती हैं। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भी इस आगम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अत: ऐतिहासिक, दार्शनिक एवं धार्मिक सभी दृष्टियों से यह आगम विलक्षण विशेषता रखता है।

–प्राध्यापक, जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म-दर्शन विभाग
जैन विश्व भारती संस्थान
लाडनूँ (राज.)

सूत्रकृतांग में वर्णित दार्शनिक विचार

डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय

द्वितीय अंग आगम सूत्रकृतांग सूत्र में बंधन से मुक्त होने का मार्ग प्रस्तुत करते हुए अपरिग्रह, अहिंसा, प्रत्याख्यान आदि आचार--सिद्धान्तों को अपनाने पर बल प्रदान करने के साथ तत्कालीन विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं का उल्लेख कर उनका निराकरण भी किया गया है। डॉ. पाण्डेय ने अपने लेख में सूत्रकृतांग में चर्चित दार्शनिक मान्यताओं का व्यवस्थित विवेचन किया है। उनका आलेख मुख्यत: इस सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन पर आधृत है। इस अध्ययन में आए धर्म एवं आचार संबंधी विषयों की भी उन्होंने विवेचना की है। **--सम्पादक**

समग्र भारतीय संस्कृति एवं विचारधारा का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक विकास एवं लोक कल्याण रहा है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन, जिसका मूल स्वर अध्यात्मवाद है, की रुचि किसी काल्पनिक एकांत में न होकर मानव समुदाय के कल्याण में रही है। भारतीय दर्शन की दो प्रमुख धाराओं-- वैदिक एवं अवैदिक में से, अवैदिक धारा के प्रतिनिधि जैनदर्शन में आत्मवाद, कर्मवाद, परलोकवाद एवं मोक्षवाद का विशद विवेचन मिलता है। इन चारों सिद्धान्तों में भारतीय दर्शनों की मूल प्रवृत्तियां समाविष्ट हैं। भारतीय परम्परा के अनुरूप जैन दर्शन भी लौकिक जीवन को दु:खमय मानते हुए दु:खों से आत्यंतिक निवृत्ति को ही अपना लक्ष्य मानता है।

आगम ही जैन परम्परा के वेद एवं पिटक हैं। ये अंग, उपांग, मूलसूत्र, छेदसूत्र, चूलिका एवं प्रकीर्णकों में वर्गीकृत हैं। समस्त जैन सिद्धान्त बीजरूप में इनमें निहित हैं। काल की दृष्टि से अंग प्राचीनतम हैं। वर्तमान उपलब्ध ११ अंगों में सूत्रकृतांग द्वितीय है। यह ग्रन्थ स्वसमय (स्वसिद्धान्त) और पर समय (पर सिद्धान्त) का ज्ञान (सत्यासत्य दर्शन) कराने वाला शास्त्र है।[१] श्रुतपारगामी आचार्य भद्रबाहु ने इसे श्रुत्वाकृत= सूतकड अर्थात् तीर्थंकर वाणी सुनकर गणधरों द्वारा शास्त्ररूप प्रदत्त बताया है। इसमें तत्कालीन अन्य दार्शनिक मतों की युक्तिरहित अयथार्थ मान्यताओं का उल्लेख तथा निरसन तो किया गया है, परन्तु किसी मत के प्रवर्त्तक का नामोल्लेख नहीं है। मिथ्या व अयथार्थ धारणाओं को बंधन मानकर साधक को सत्य का यथार्थ परिबोध कराना शास्त्रकार का मुख्य ध्येय है। सूत्रकृतांग की प्रमुख विशेषता दर्शन के साथ जीवन व्यवहार का उच्च आदर्श स्थापित करना है।

सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध में मुख्यत: अन्य मतवादों का खण्डन किया गया है जो दूसरे श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन में भी वर्णित हैं। द्वितीय श्रुतस्कंध जो अधिकांशत: गद्य में है लगभग उन्हीं विषयों की व्याख्या करता है जो प्रथम श्रुतस्कंध में हैं। दूसरे शब्दों में इसे प्रथम श्रुतस्कंध का पूरक कहा जा सकता है। दूसरे श्रुतस्कंध में मुख्यत: नवदीक्षित श्रमणों के आचार का वर्णन है।

प्रस्तुत निबंध में हम सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन के आरंभिक चार उद्देशकों में निहित दार्शनिक एवं आचारगत मान्यताओं और सिद्धान्तों का अनुशीलन करेंगे। वे इस प्रकार हैं– बंधन का स्वरूप, पंचमहाभूतवाद, एकात्मवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, अकारकवाद, आत्मषष्ठवाद, क्षणिकवाद, सांख्यादिमत की निस्सारता, नियतिवाद, अज्ञानवाद, क्रियावाद, जगत्कर्तृत्ववाद, अवतारवाद, स्वस्वप्रवाद–प्रशंसा, मुनिधर्मोपदेश, लोकवाद, अहिंसा महाव्रत एवं चारित्र शुद्धि-उपाय।

सूत्रकृतांग[2] की आदि गाथा के चार पदों में ग्रन्थ के सम्पूर्ण तत्त्व-चिंतन का सार समाविष्ट है–

बंधणं परिजाणिया– बंधन को जानकर
बुज्झेज्ज तिउट्टेज्जा– समझो और तोड़ो
किमाह बंधणं वीरे– भगवान ने बंधन किसे बताया है?
किं वा जाणं तिउट्टइ– और उसे कैसे तोड़ा जा सकता है?

वस्तुत: इन पदों में दर्शन और धर्म, विचार और आचार बीजरूप में सन्निहित हैं। शास्त्रकार ने आदिपद में बोध-प्राप्ति का, जिसका तात्पर्य आत्मबोध से है, उपदेश किया है। बोध-प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, यह तथ्य सूत्रकृतांग, आचारांग, उत्तराध्ययन[3] आदि आगमों में भी परिलक्षित होता है। बोध-प्राप्ति एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों को दुर्लभ है। आर्यक्षेत्र, उत्तमकुलोत्पन्न, परिपूर्ण-अंगोपांग एवं स्वस्थ सशक्त शरीर से युक्त दीर्घायुष्य को प्राप्त मनुष्य ही केवल बोधिप्राप्ति का अधिकारी है। आत्मबोध का अर्थ है– 'मैं कौन हूं'? मनुष्य लोक में कैसे आया? आत्मा तत्त्वत: बंधन रहित होते हुए भी इस प्रकार के बंधन में क्यों पड़ी? बंधनों को कौन और कैसे तोड़ सकता है?

बंधन का स्वरूप– संसारी आत्मा कर्मों से जकड़ी होने के कारण परतन्त्र है, इसी परतन्त्रता का नाम बंध है।[4] उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र[5] में 'कषाययुक्त जीव द्वारा कर्मयोग्य पुद्गलों का ग्रहण करना बंध है' ऐसा कहा है। तत्त्वार्थवृत्तिकार अकलंकदेव के अनुसार आत्मप्रदेशों के साथ जो कर्म क्षीर नीरवत् एक होकर स्थित हो जाते हैं, रहते हैं या बंध जाते हैं, वे बंधन या बंध कहलाते हैं।[6] अकलंक देव के अनुसार सामान्य की अपेक्षा से बंध के भेद नहीं किये जा सकते अर्थात् इस दृष्टि से बंध एक ही प्रकार का है। किन्तु विशेष की अपेक्षा से बंध दो प्रकार है– १. द्रव्यबंध और २. भावबंध।[7]

द्रव्यबंध– ज्ञानावरणीयादि कर्म-पुद्गल प्रदेशों का जीव के साथ संयोग द्रव्यबंध है।[8]

भावबंध– आत्मा के अशुद्ध चेतन परिणाम (भाव) मोह राग–द्वेष और

क्रोधादि जिनसे ज्ञानावरणीय कर्म के योग्य पुद्गल परमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं, भावबंध कहलाता है।[९] आचार्य नेमिचन्द्र कर्मबंध के कारणभूत चेतन-परिणाम को भावबंध मानते हैं।[१०]

कर्मबंध के कारण– जैन दर्शन में बंध के कारणों की संख्या के विषय में मतैक्य नहीं है, एक ओर आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार[११] में वैदिक दर्शनों की तरह अज्ञान को ही बंध का प्रमुख कारण बतलाया है तो दूसरी ओर स्थानांग, समवायांग एवं तत्त्वार्थसूत्र में कर्मबन्ध के पाँच कारण माने गये हैं, जो अधिक प्रचलित हैं–

१. मिथ्यादर्शन २. अविरति ३. प्रमाद ४. कषाय ५. योग।

1. मिथ्यादर्शन– जो वस्तु जैसी है, उसे उस रूप में न मानकर विपरीत रूप में मानना या ग्रहण करना मिथ्यात्व है। दूसरे शब्दों में सम्यग्दर्शन का उल्टा मिथ्यादर्शन है। भगवतीआराधना[१२] एवं सर्वार्थसिद्धि में भी जीवादि पदार्थों का श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन बताया गया है।

2. अविरति– विरति का अभाव ही अविरति है। सर्वार्थसिद्धिकार ने विरति का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह ये पाँच त्याज्य हैं, अत: हिंसा आदि पाँच पापों को नहीं छोड़ना या अहिंसादि पाँच व्रतों का पालन न करना अविरति है।[१३] सूत्रकृतांग की चौथी व पाँचवी गाथा में जीव को परिग्रह के दो रूप—सचेतन एवं अचेतन से सचेत किया गया है। मनुष्य, पशु—पक्षी आदि प्राणियों में आसक्ति रखना सचेतन परिग्रह व सोना—चांदी, रूपया—पैसा में आसक्ति रखना अचेतन परिग्रह है। परिग्रह चूंकि कर्मबंध का मूल है, इसलिए वह दु:ख रूप है।

3. प्रमाद– प्रमाद का अर्थ है क्रोधादि कषायों के कारण अहिंसा आदि के आचरण में जीव की रुचि नहीं होना। वीरसेन ने क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषायों और हास्य आदि नौ उप कषायों के तीव्र उदय होने को प्रमाद कहा है।[१४]

4. कषाय– आत्मा के कलुष परिणाम जो कर्मों के बंधन के कारण होते हैं, कषाय कहलाते हैं।[१५]

5. योग– मन, वचन और काय से होने वाला आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन योग है।[१६] इन्हीं के कारण कर्मों का आत्मा के साथ संयोग होता है।

बंध–उच्छेद– 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष:' अर्थात् जैन दर्शन मुक्ति हेतु ज्ञान एवं क्रिया दोनों को आवश्यक मानता है। कर्मबन्ध-उच्छेद हेतु दो विधियों का प्रतिपादन किया गया है– १. नवीन कर्मबंध को रोकना संवर[१७] एवं २. आत्मा से पूर्वबद्ध कर्मों को, उनके विपाक के पूर्व ही तपादि द्वारा अलग करना निर्जरा है।[18] संवर व निर्जरा से कर्मबंध का उच्छेद हो जाना ही मोक्ष है।

पंचमहाभूतवाद या भूतचैतन्यवाद

गाथा संख्या सात व आठ में वर्णित इस मत का नामोल्लेख नहीं है। निर्युक्तिकार इसे चार्वाक मत कहते हैं। अवधेय है कि ४ तत्त्व- १. पृथ्वी २. जल ३. तेज और ४. वायु को मानना प्राचीन लोकायतों का मत है, जबकि अर्वाचीन चार्वाक मतानुयायी पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच तत्त्वों को मानते हैं। ये पाँच महाभूत सर्वलोकव्यापी एवं सर्वजन प्रत्यक्ष होने से महान् हैं। इनका अस्तित्व व्यपदेश खण्डन से परे है। इस प्रकार सूत्रकृतांग में अपेक्षाकृत अर्वाचीन चार्वाकों का मतोल्लेख है। यद्यपि सांख्य व वैशेषिक दार्शनिक भी पंचमहाभूतों को मानते हैं, परन्तु ये चार्वाकों के समान इन पंचमहाभूतों को ही सब कुछ नहीं मानते। सांख्य-मत पुरुष, प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय एवं पंचतन्मात्राओं की सत्ता को स्वीकारता है। वैशेषिक दिशा, काल, आत्मा, मन आदि अन्य पदार्थों की भी सत्ता मानता है। चार्वाक दार्शनिक पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों के शरीर-रूप में परिणत होने के कारण चैतन्य की उत्पत्ति भी इन्हीं पंचमहाभूतों से मानते हैं। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार गुड़, महुआ आदि के संयोग से मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है[१९] उसी प्रकार इन भूतों के संयोग से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। चूंकि ये भौतिकवादी प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं मानते, इसलिये दूसरे मतवादियों द्वारा मान्य इन पंचमहाभूतों से भिन्न परलोकगामी और सुख-दुःख के भोक्ता किसी आत्मा संज्ञक पदार्थ को नहीं मानते। इस अनात्मवाद से ही शरीरात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मनसात्मवाद, प्राणात्मवाद एवं विषयचैतन्यवाद फलित हैं, जिसे कतिपय चार्वाक दार्शनिक मानते हैं।

निर्युक्तिकार[२०] ने इस वाद का खण्डन किया है। अपने मत के समर्थन में निर्युक्तिकार का तर्क है कि पृथ्वी आदि पंचभूतों के संयोग से चैतन्यादि उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि शरीर के घटक रूप इन पंचमहाभूतों में से किसी में भी चैतन्य नहीं है। अन्य गुण वाले पदार्थों के संयोग से अन्य गुण वाले पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती। बालू में स्निग्धता न होने से उसमें से तेल नहीं निकल सकता। उसी प्रकार स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र रूप पाँच इन्द्रियों के जो उपादानकारण हैं, उनका गुण भी चैतन्य न होने से भूतसमुदाय का गुण चैतन्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त एक इन्द्रिय के द्वारा जानी हुई बात दूसरी इन्द्रिय नहीं जान पाती तो फिर मैंने सुना, देखा, चखा, सूंघा इस प्रकार का संकलन रूप ज्ञान किसको होगा? परंतु यह संकलन ज्ञान अनुभव सिद्ध है। इससे प्रमाणित होता है कि भौतिक इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञाता है जो पाँचों इन्द्रियों द्वारा जानता है और वही तत्त्व आत्मा है। यह आत्मा द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य

है।

सूत्रकृतांग के दूसरे श्रुतस्कन्ध के प्रथम ''पुण्डरीक'' नामक अध्ययन के दसवें सूत्र में भी शास्त्रकार ने द्वितीय पुरुष के रूप में पंचमहाभूतिकों की चर्चा की है एवं सांख्य दर्शन को भी परिगणित किया है। यद्यपि सांख्यवादी पूर्वोक्त पाँचमहाभूत तथा छठे आत्मा को भी मानता है तथापि वह पंचमहाभूतिकों से भिन्न नहीं है, क्योंकि सांख्य दर्शन आत्मा को निष्क्रिय मानकर पंचमहाभूतों को उत्पन्न करने वाली प्रकृति को ही समस्त कार्यों का कर्ता मानता है। आत्मा को सांख्य अकर्ता मानता है। सांख्यदर्शन पुरुष या आत्मा को प्रकृति द्वारा किये हुए कर्मों का फल- भोक्ता और बुद्धि द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों को प्रकाशित करने वाला मानता है। इसलिए ''से किणं किणाविमाणे, हणं घायमाणे.........णत्थित्थ दोसो''[२१] अर्थात् सांख्य के आत्मा को भारी से भारी पाप करने पर भी उसका दोष नहीं लगता, क्योंकि वह निष्क्रिय है। शास्त्रकार कहता है कि यह मत नि:सार एवं युक्तिरहित है, क्योंकि अचेतन प्रकृति विश्व को कैसे उत्पन्न कर सकती है। जो स्वयं ज्ञान रहित एवं जड़ है तथा सांख्य की दृष्टि में जो वस्तु है ही नहीं वह कभी नहीं होती और जो है उसका अभाव नहीं होता तो जिस समय प्रकृति और पुरुष दो ही थे उस समय यह सृष्टि तो थी ही नहीं फिर यह कैसे उत्पन्न हो गयी। इसका कोई उत्तर सांख्य के पास नहीं है। इस प्रकार लोकायतों का पंचमहाभूतवाद एवं सांख्यों का आंशिक पंचमहाभूतवाद दोनों ही मिथ्या हैं।

तज्जीवतच्छरीरवाद– तज्जीवतच्छरीरवाद[२२] चार्वाकों के अनात्मवाद का फलित रूप है। वे मानते हैं कि वही जीव है, वही शरीर है।[२३] पंचमहाभूतवादीमत में पंचमहाभूत ही शरीर के रूप में परिणत होकर दौड़ने , बोलने आदि सभी क्रियाएँ करते हैं जबकि तज्जीवतच्छरीरवादी पंचभूतों से परिणत शरीर से ही चैतन्यशक्ति की उत्पत्ति मानता है। शरीर से आत्मा को वह अभिन्न मानता है। इस मत में शरीर के रहने तक ही अस्तित्व है। शरीर के विनष्ट होते ही पंचमहाभूतों के बिखर जाने से आत्मा का भी नाश हो जाता है। शरीर के विनष्ट होने पर उससे बाहर निकलकर कहीं अन्यत्र जाता हुआ चैतन्य प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, इसलिए कहा गया है कि– ण ते संति[२४] अर्थात् मरने के बाद आत्माएँ परलोक में नहीं जाती।

निर्युक्तिकार दोनों मतों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि पंचमहाभूतों से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इनमें से किसी का भी गुण चैतन्य नहीं है। अन्य गुण वाले पदार्थों के संयोग से अन्य गुण वाले पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[२५] शास्त्रवार्तासमुच्चय[२६] में हरिभद्र एवं तत्त्वार्थवार्तिक में अकलंकदेव ने कहा है कि यदि सुखादि चैतन्य शरीर के

धर्म हैं तो मृत शरीर में भी रूपादि गुणों की भांति चेतना विद्यमान होनी चाहिए, पर ऐसा नहीं है। शरीरात्मवादियों के 'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्' के दृष्टान्त की विषमता सिद्ध करते हुए कहा गया है कि मदिरा के घटक में ही मदिरा रहती है, परन्तु किसी भी भूत में चैतन्य नहीं रहता। अत: यह मत असंगत है। निर्युक्तिकार का कथन है कि यदि देह के विनाश के साथ आत्मा का विनाश माना जाय तो मोक्षप्राप्ति के लिये किये जाने वाले ज्ञान, दर्शन, चारित्र, संयम, व्रत, नियम, साधना आदि निष्फल हो जायेंगे। अत: पंचमहाभूतवाद का सिद्धान्त मिथ्यात्वग्रस्त एवं अज्ञानमूलक है।

एकात्मवाद[२७] –वेदान्ती ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त पदार्थों को असत्य मानते हैं, दूसरे शब्दों में चेतन-अचेतन सब ब्रह्म (आत्मा) रूप है।[२८] शास्त्रकार कहते हैं कि नाना रूप में भासित पदार्थों को भी एकात्मवादी दृष्टान्त द्वारा आत्मरूप सिद्ध करते हैं। जैसे पृथ्वी समुदाय रूप पिण्ड एक होते हुय भी नदी, समुद्र,पर्वत, नगर, घट आदि के रूप में नाना प्रकार का दिखाई देता है, किन्तु इन सब भेदों के बावजूद इनमें व्याप्त पृथ्वी तत्त्व का भेद नहीं होता। उसी प्रकार एक ज्ञान पिण्ड आत्मा ही चेतन—अचेतन रूप समग्रलोक में पृथ्वी, जल आदि भूतों के आकार में नानाविध दिखाई देता है, परन्तु आत्मा के स्वरूप में कोई भेद नहीं होता। वह प्राणातिपात हिंसा में आसक्त स्वयं पाप करके दु:ख को आमंत्रित करता है, क्योंकि एकात्मवाद की कल्पना युक्ति रहित है। अनुभव से यह सिद्ध है कि सावद्य अनुष्ठान करने में जो आसक्त रहते हैं, वे ही पापकर्म के फलस्वरूप नरकादि को भोगते हैं, दूसरे नहीं।

सूत्रकृतांग एकात्मवाद को युक्तिहीन बताते हुए उसका खण्डन करता है—

१. उसके अनुसार एकात्मवाद में एक के द्वारा किये गये शुभ या अशुभ कर्म का फल दूसरे सभी को भोगना पड़ेगा जो कि अनुचित एवं अयुक्तियुक्त है।
२. एकात्मवाद में एक के कर्मबन्धन होने पर सभी कर्म बंधन से बद्ध और एक के मुक्त होने पर सभी मुक्त हो जायेंगे और इस प्रकार बंधन एवं मोक्ष की अव्यवस्था हो जायेगी।
३. एकात्मवाद में देवदत्त को प्राप्त ज्ञान यज्ञदत्त को होना चाहिए एवं उसी प्रकार एक के जन्म लेने या मरने पर सभी का जन्म लेना या मरना सिद्ध होगा जो कथमपि संभव नहीं है।
४. इसके अतिरिक्त जड़ और चेतन सभी में एक ही आत्मा मानने पर जड़ व चैतन्य में भेद ही नहीं रह जायेगा तथा जिसे शास्त्र का उपदेश दिया जाता है एवं जो शास्त्र का उपदेष्टा है दोनों में भेद न हो सकने के कारण शास्त्र

की रचना कैसे होगी।

अत: एकात्मवाद अयुक्तियुक्त है, क्योंकि "एगे किच्चा सयं पावं तिव्वं दुक्खं णियच्छइ"[२९] अर्थात् जो पाप कर्म करता है उसे अकेले ही उसके फल में तीव्र दु:ख को भोगना पड़ता है।

अकारकवाद या अकर्तृत्ववाद[३०] – सांख्य-योगमतवादी आत्मा को अकर्ता मानते हैं। उनके मत में आत्मा या पुरुष अपरिणामी एवं नित्य होने से कर्ता नहीं हो सकता। शुभ–अशुभ कर्म प्रकृति-कृत होने से वही कर्ता है। आत्मा अमूर्त, कूटस्थ,नित्य एवं स्वयं क्रियाशून्य होने से कर्त्ता नहीं हो सकता।[३१] शास्त्रकार की इसके विरुद्ध आपत्ति इस प्रकार है–

आत्मा को एकान्त, कूटस्थ, नित्य, अमूर्त, सर्वव्यापी एवं निष्क्रिय मानने पर प्रत्यक्ष दृश्यमान, जन्मरणरूप या नरकादि गमनरूप यह लोक सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि कूटस्थ नित्य आत्मा एक शरीर व योनि को छोड़कर दूसरे शरीर व योनि में संक्रमण नहीं कर सकेगा। साथ ही एक शरीर में बालक, वृद्ध, युवक आदि पर्यायों को धारण करना भी असंभव होगा। वह आत्मा सर्वदा कूटस्थ नित्य होने पर विकार रहित होगा और बालक तथा मूर्ख सदैव बालक व मूर्ख ही बना रहेगा, उसमें किसी नये स्वभाव की उत्पत्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में जन्म-मरणादि दु:खों का विनाश, उसके लिए पुरुषार्थ, एवं कर्मक्षयार्थ, जप–तप, संयम–नियम आदि की साधना संभव नहीं होगी। सांख्य के प्रकृति कर्तृत्व एवं पुरुष के भोक्ता होते हुए भी कर्ता न मानने को लेकर अनेक जैनाचार्यों ने इस सिद्धान्त को अयुक्तियुक्त बताया है।[३२]

आत्मषष्ठवाद[३३] – आत्मषष्ठवाद वेदवादी सांख्य व वैशेषिकों का मत है। प्रो. हर्मन जैकोबी इसे चरक का मत मानते हैं। इनके अनुसार अचेतन पंचमहाभूत एवं सचेतन आत्मा ये छ: पदार्थ हैं। आत्मा और लोक दोनों नित्य हैं। इन छ: पदार्थों का सहेतुक या अहेतुक किसी प्रकार से विनाश नहीं होता। इनके मत में असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती और सत् का कभी विनाश नहीं होता एवं सभी पदार्थ सर्वथा नित्य हैं। बौद्ध ग्रन्थ 'उदान' में आत्मा और लोक को शाश्वत मानने वाले कुछ श्रमण-ब्राह्मणों का उल्लेख है। बौद्धदर्शन में पदार्थ की उत्पत्ति के पश्चात् तत्काल ही निष्कारण विनाश होना माना जाता है। अत: उत्पत्ति के अतिरिक्त विनाश का कोई अन्य कारण नहीं है। आत्मषष्ठवादी इस अकारण विनाश को नहीं मानते और न ही वैशेषिक दर्शन के अनुसार बाह्य कारणों से माने जाने वाले सहेतुक विनाश को ही मानते हैं। तात्पर्यत: आत्मा या पंचभौतिक लोक अकारण या सकारण दोनों प्रकार से विनष्ट नहीं होते। ये चेतनाचेतनात्मक दोनों कोटि के पदार्थ

धर्म हैं तो मृत शरीर में भी रूपादि गुणों की भांति चेतना विद्यमान होनी चाहिए, पर ऐसा नहीं है। शरीरात्मवादियों के 'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्' के दृष्टान्त की विषमता सिद्ध करते हुए कहा गया है कि मदिरा के घटक में ही मदिरा रहती है, परन्तु किसी भी भूत में चैतन्य नहीं रहता। अत: यह मत असंगत है। निर्युक्तिकार का कथन है कि यदि देह के विनाश के साथ आत्मा का विनाश माना जाय तो मोक्षप्राप्ति के लिये किये जाने वाले ज्ञान, दर्शन, चारित्र, संयम, व्रत, नियम, साधना आदि निष्फल हो जायेंगे। अत: पंचमहाभूतवाद का सिद्धान्त मिथ्यात्वग्रस्त एवं अज्ञानमूलक है।

एकात्मवाद[२७]—वेदान्ती ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त पदार्थों को असत्य मानते हैं, दूसरे शब्दों में चेतन-अचेतन सब ब्रह्म (आत्मा) रूप है।[२८] शास्त्रकार कहते हैं कि नाना रूप में भासित पदार्थों को भी एकात्मवादी दृष्टान्त द्वारा आत्मरूप सिद्ध करते हैं। जैसे पृथ्वी समुदाय रूप पिण्ड एक होते हुय भी नदी, समुद्र,पर्वत, नगर, घट आदि के रूप में नाना प्रकार का दिखाई देता है, किन्तु इन सब भेदों के बावजूद इनमें व्याप्त पृथ्वी तत्त्व का भेद नहीं होता। उसी प्रकार एक ज्ञान पिण्ड आत्मा ही चेतन—अचेतन रूप समग्रलोक में पृथ्वी, जल आदि भूतों के आकार में नानाविध दिखाई देता है, परन्तु आत्मा के स्वरूप में कोई भेद नहीं होता। वह प्राणातिपात हिंसा में आसक्त स्वयं पाप करके दु:ख को आमंत्रित करता है, क्योंकि एकात्मवाद की कल्पना युक्ति रहित है। अनुभव से यह सिद्ध है कि सावद्य अनुष्ठान करने में जो आसक्त रहते हैं, वे ही पापकर्म के फलस्वरूप नरकादि को भोगते हैं, दूसरे नहीं।

सूत्रकृतांग एकात्मवाद को युक्तिहीन बताते हुए उसका खण्डन करता है—

१. उसके अनुसार एकात्मवाद में एक के द्वारा किये गये शुभ या अशुभ कर्म का फल दूसरे सभी को भोगना पड़ेगा जो कि अनुचित एवं अयुक्तियुक्त है।
२. एकात्मवाद में एक के कर्मबन्धन होने पर सभी कर्म बंधन से बद्ध और एक के मुक्त होने पर सभी मुक्त हो जायेंगे और इस प्रकार बंधन एवं मोक्ष की अव्यवस्था हो जायेगी।
३. एकात्मवाद में देवदत्त को प्राप्त ज्ञान यज्ञदत्त को होना चाहिए एवं उसी प्रकार एक के जन्म लेने या मरने पर सभी का जन्म लेना या मरना सिद्ध होगा जो कथमपि संभव नहीं है।
४. इसके अतिरिक्त जड़ और चेतन सभी में एक ही आत्मा मानने पर जड़ व चैतन्य में भेद ही नहीं रह जायेगा तथा जिसे शास्त्र का उपदेश दिया जाता है एवं जो शास्त्र का उपदेष्टा है दोनों में भेद न हो सकने के कारण शास्त्र

की रचना कैसे होगी।

अत: एकात्मवाद अयुक्तियुक्त है, क्योंकि "एगे किच्चा सयं पावं तिव्वं दुक्खं णियच्छइ"[२९] अर्थात् जो पाप कर्म करता है उसे अकेले ही उसके फल में तीव्र दु:ख को भोगना पड़ता है।

अकारकवाद या अकर्तृत्ववाद[३०]— सांख्य-योगमतवादी आत्मा को अकर्ता मानते हैं। उनके मत में आत्मा या पुरुष अपरिणामी एवं नित्य होने से कर्ता नहीं हो सकता। शुभ—अशुभ कर्म प्रकृति-कृत होने से वही कर्ता है। आत्मा अमूर्त, कूटस्थ,नित्य एवं स्वयं क्रियाशून्य होने से कर्त्ता नहीं हो सकता।[३१] शास्त्रकार की इसके विरुद्ध आपत्ति इस प्रकार है—

आत्मा को एकान्त, कूटस्थ, नित्य, अमूर्त, सर्वव्यापी एवं निष्क्रिय मानने पर प्रत्यक्ष दृश्यमान, जन्मरणरूप या नरकादि गमनरूप यह लोक सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि कूटस्थ नित्य आत्मा एक शरीर व योनि को छोड़कर दूसरे शरीर व योनि में संक्रमण नहीं कर सकेगा। साथ ही एक शरीर में बालक, वृद्ध, युवक आदि पर्यायों को धारण करना भी असंभव होगा। वह आत्मा सर्वदा कूटस्थ नित्य होने पर विकार रहित होगा और बालक तथा मूर्ख सदैव बालक व मूर्ख ही बना रहेगा, उसमें किसी नये स्वभाव की उत्पत्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में जन्म-मरणादि दु:खों का विनाश, उसके लिए पुरुषार्थ, एवं कर्मक्षयार्थ, जप—तप, संयम—नियम आदि की साधना संभव नहीं होगी। सांख्य के प्रकृति कर्तृत्व एवं पुरुष के भोक्ता होते हुए भी कर्ता न मानने को लेकर अनेक जैनाचार्यों ने इस सिद्धान्त को अयुक्तियुक्त बताया है।[३२]

आत्मषष्ठवाद[३३]— आत्मषष्ठवाद वेदवादी सांख्य व वैशेषिकों का मत है। प्रो. हर्मन जैकोबी इसे चरक का मत मानते हैं। इनके अनुसार अचेतन पंचमहाभूत एवं सचेतन आत्मा ये छ: पदार्थ हैं। आत्मा और लोक दोनों नित्य हैं। इन छ: पदार्थों का सहेतुक या अहेतुक किसी प्रकार से विनाश नहीं होता। इनके मत में असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती और सत् का कभी विनाश नहीं होता एवं सभी पदार्थ सर्वथा नित्य हैं। बौद्ध ग्रन्थ 'उदान' में आत्मा और लोक को शाश्वत मानने वाले कुछ श्रमण-ब्राह्मणों का उल्लेख है। बौद्धदर्शन में पदार्थ की उत्पत्ति के पश्चात् तत्काल ही निष्कारण विनाश होना माना जाता है। अत: उत्पत्ति के अतिरिक्त विनाश का कोई अन्य कारण नहीं है। आत्मषष्ठवादी इस अकारण विनाश को नहीं मानते और न ही वैशेषिक दर्शन के अनुसार बाह्य कारणों से माने जाने वाले सहेतुक विनाश को ही मानते हैं। तात्पर्यत: आत्मा या पंचभौतिक लोक अकारण या सकारण दोनों प्रकार से विनष्ट नहीं होते। ये चेतनाचेतनात्मक दोनों कोटि के पदार्थ

अपने–अपने स्वभाव से अच्युत रहकर सर्वदा नित्य रहते हैं।

भगवद्गीता[34] में आत्मा की त्रिकालाबाधित नित्यता को बताते हुये कहा गया है कि 'जो असत् है वह हो ही नहीं सकता और जो है (सत्) उसका अभाव नहीं हो सकता।' इसी प्रकार सांख्य सत्कार्यवाद[35] के आधार पर आत्मा और लोक की नित्यता सिद्ध करता है।

जैनदर्शन की मान्यता है कि सभी पदार्थों को सर्वथा या एकान्त नित्य मानना यथार्थ नहीं है। इसलिये आत्मा को एकान्त नित्य सत् या असत् मानना असंगत है, क्योंकि ऐसा मानने से आत्मा में कर्तृत्व परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकता। कर्तृत्व के अभाव में कर्मबन्धन न होने से सुख–दुःख रूप कर्मफल भोग भी नहीं हो सकता। अतः आत्मा, पंचभूत आदि सभी पदार्थों को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य तथा किसी अपेक्षा से सत् एवं किसी अपेक्षा से असत् अर्थात् सदसत्कार्य रूप न मानकर, एकान्त मिथ्या ग्रहण करना ही आत्मषष्ठवादियों का मिथ्यात्व है। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य रूप से सत् और पर्याय रूप से असत् या अनित्य है[36], ऐसा सत्यग्राही व्यक्ति (जैन) मानते है। यहां शास्त्रकार ने अनेकान्तवाद की कसौटी पर आत्मषष्ठवादी सिद्धान्त को कसने का सफल प्रयास किया है।

क्षणिकवाद[37] – बौद्धदर्शन का 'अनात्मवाद' क्षणिकवाद एवं प्रतीत्यसमुत्पाद पर निर्भर है। यह अनात्मवाद सर्वथा तुच्छाभावरूप नहीं है, क्योंकि आत्मवादियों की तरह पुण्य-पाप, कर्म-कर्मफल, लोक-परलोक, पुनर्जन्म एवं मोक्ष की यहां मान्यता और महत्ता है। दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त[38] और मज्झिमनिकाय के सव्वासव्वसुत्त[39] के अनुसार महात्मा बुद्ध के समय में आत्मवाद की दो विचारधाराएं प्रचलित थीं– प्रथम शाश्वत आत्मवादी विचारधारा– जो आत्मा को नित्य मानती थी एवं दूसरी उच्छेदवादी विचारधारा जो आत्मा का उच्छेद अर्थात् उसे अनित्य मानती थी। बुद्ध ने इन दोनों का खण्डन कर अनात्मवाद का उपदेश किया, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उन्हें आत्मा में विश्वास नहीं था। वे आत्मा को नित्य और व्यापक न मानकर क्षणिक चित्तसंतति रूप में स्वीकार करते थे।

विसुद्धिमग्ग, सुत्तपिटकगत अंगुत्तरनिकाय आदि बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार क्षणिकवाद के दो रूप हैं– एक मत रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पंचस्कन्धों से भिन्न या अभिन्न सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष व ज्ञानादि के आधारभूत आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं मानता है। इन पंचस्कन्धों से भिन्न आत्मा का न तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है, न ही आत्मा के साथ अविनाभाव संबंध रखने वाला कोई लिंग ही गृहीत होता है, जिससे आत्मा अनुमान द्वारा जानी जा सके। ये पंचस्कंध क्षणभोगी हैं, न तो ये कूटस्थ नित्य

हैं और न ही कालान्तर स्थायी, बल्कि क्षणमात्र स्थायी हैं। ये सत् हैं इसीलिए क्षणिक हैं। सत् का लक्षण अर्थक्रिया-कारित्व है एवं जो सत् है वह क्षणिक ही है।

क्षणिकवाद का दूसरा रूप इन चार धातुओं—पृथ्वी, जल, तेज और वायु को स्वीकार करता है। ये चारों जगत् का धारण-पोषण करते हैं, इसलिये धातु कहलाते हैं।[40] वे चारों एकाकार होकर भूतसंज्ञक रूप स्कंध बन जाते हैं एवं शरीर रूप में जब परिणत हो जाते हैं तब इनकी जीव संज्ञा होती है। जैसा कि वे कहते हैं— 'यह शरीर चार धातुओं से बना है, इनसे भिन्न आत्मा नहीं हैं। यह भूतसंज्ञक रूपस्कंधमय होने के कारण पंचस्कन्धों की तरह क्षणिक है।' यह चातुर्धातुकवाद भी क्षणिकवाद का ही एक रूप है जो सुत्तपिटक के मज्झिमनिकाय में वर्णित हैं।

वृत्तिकार शीलांक के अनुसार ये सभी बौद्ध मतवादी अफलवादी हैं। बौद्धों के क्षणिकवाद के अनुसार पदार्थ, आत्मा और सभी क्रियाएँ क्षणिक हैं। इसलिए क्रिया करने के क्षण में ही कर्त्ता आत्मा का समूल विनाश हो जाता है, अत: आत्मा का क्रियाफल के साथ कोई संबंध नहीं रहता। जब फल के समय तक आत्मा भी नहीं रहती और क्रिया भी उसी क्षण नष्ट हो गयी तो ऐहिक पारलौकिक क्रियाफल का भोक्ता कौन होगा? पंचस्कन्धों या पंचभूतों से भिन्न आत्मा न होने पर आत्मा रूप फलोपभोक्ता नहीं होगा। ऐसी स्थिति में सुख—दु:खादि फलों का उपभोग कौन करेगा? साथ ही आत्मा के अभाव में बंध-मोक्ष, जन्म-मरण, लोक-परलोकगमन की व्यवस्था गड़बड़ हो जायेगी और शास्त्रविहित समस्त प्रवृत्तियाँ निरर्थक हो जायेंगी।

शास्त्रकार जैनदर्शनसम्मत आत्मा की युक्ति—युक्तता के विषय में कहते हैं कि यह परिणामी नित्य, ज्ञान का आधार, दूसरे जीवों में आने—जाने वाला, पंचभूतों से कथंचित् भिन्न तथा शरीर के साथ रहने से कथंचित् अभिन्न है। वह स्वकर्मबंन्धों के कारण विभिन्न नरकादि गतियों में संक्रमण करता रहता है इसलिये अनित्य एवं सहेतुक भी है। आत्मा के निज स्वरूप का कथमपि नाश न होने कारण वह नित्य और अहेतुक भी है। ऐसा मानने में कर्त्ता को क्रिया का सुख व दु:खादिरूप फल भी प्राप्त होगा एवं बन्ध-मोक्षादि व्यवस्था की उपपत्ति भी हो जायेगी।

सांख्यादिमतनिस्सारता एवं फलश्रुति[41]— सांख्यादि दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित मुक्ति-उपाय की आलोचना करते हुये शास्त्रकार का मत है कि पंचभूतात्मवादी से लेकर चातुर्धातुकवादी पर्यन्त सभी दर्शन सबको सर्वदु:खों से मुक्ति का आश्वासन देते हैं। प्रश्न यह है कि क्या उनके दार्शनिक मन्तव्यों को स्वीकार कर लेना ही दु:खमुक्ति का यथार्थ मार्ग है? कदाचित् नहीं। बल्कि महावीर द्वारा प्ररूपित सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं

तप द्वारा कर्म क्षय कर कर्मबन्ध के कारणों– मिथ्यात्त्व, अविरति, कषाय, प्रमाद एवं योग से दूर रहना ही सर्वदुःख-मुक्ति का मार्ग है। उपर्युक्त मतवादी स्वयं दुःखों से आवृत्त हैं क्योंकि वे संधि[४२] को जाने बिना क्रिया में प्रवृत्त हो जाते हैं, परिणामस्वरूप धर्म तत्त्व से अनभिज्ञ रहते हैं। जब तक जीवन में कर्मबन्ध का कारण रहेगा तब तक मनुष्य चाहे पर्वत पर चला जाये या कहीं रहे– वह जन्म–मृत्यु, जरा–व्याधि, गर्भवासरूप संसारचक्र परिभ्रमण के महादुःखों का सर्वथा उच्छेद नहीं कर सकता।[४३] ऐसे जीव ऊँच–नीच गतियों में भटकते रहते हैं, क्योंकि एक तो वे स्वयं उक्त मिथ्यावादों के कदाग्रहरूप मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं, दूसरे हजारों जनसमुदाय के समक्ष मुक्ति का प्रलोभन देकर उन्हें मिथ्यात्व विष का पान कराते हैं।

नियतिवाद[४४] – नियतिवाद आजीविकों का सिद्धान्त है। मंखलिपुत्तगोशालक नियतिवाद एवं आजीवक सम्प्रदाय का प्रवर्तक था। सूत्रकृतांग के प्रथमश्रुतस्कन्ध में गोशालक या आजीवक का नामोल्लेख नहीं है, परन्तु उपासकदशांग के सातवें अध्ययन के सद्दालपुत्र एवं कुण्डकोलिय प्रकरण में गोशालक और उसके मत का स्पष्ट उल्लेख है। इस मतानुसार उत्थान, कर्मबल, वीर्य, पुरुषार्थ आदि कुछ भी नहीं हैं। सब भाव सदा से नियत हैं। बौद्धग्रंथ दीघनिकाय, संयुक्तनिकाय आदि में तथा जैनागम स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञति, औपपातिक आदि में भी आजीवक मतप्रवर्त्तक नियतिवादी गोशालक का वर्णन उपलब्ध है।[४५]

नियतिवादी जगत् में सभी जीवों का पृथक व स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हैं। परन्तु आत्मा को पृथक्–पृथक् मानने पर भी नियतिवाद के रहते जीव स्वकृत कर्मबंध से प्राप्त सुख-दुःखादि का भोग नहीं कर सकेगा और न ही सुख–दुःख भोगने के लिये अन्य शरीर, गति तथा योनि में संक्रमण कर सकेगा। शास्त्रवार्तासमुच्चय में नियतिवाद के संबंध में कहा गया है कि चूंकि संसार के सभी पदार्थ स्व–स्व नियत स्वरूप से उत्पन्न होते हैं अतः ये सभी पदार्थ नियति से नियमित होते हैं। यह समस्त चराचर जगत् नियति से बंधा हुआ है। जिसे, जिससे, जिस रूप में होना होता है, वह उससे, उसी समय, उसी रूप में उत्पन्न होता है। इस प्रकार अबाधित प्रमाण से सिद्ध इस नियति की गति को कौन रोक सकता है? कौन इसका खंडन कर सकता है? नियतिवाद काल, स्वभाव, कर्म और पुरुषार्थ आदि के विरोध का भी युक्तिपूर्वक निराकरण करता है। नियतिवादी एक ही काल में दो पुरुषों द्वारा सम्पन्न एक ही कार्य में सफलता–असफलता, सुख–दुःख का मूल नियति को ही मानते हैं। इस प्रकार उनके मत में नियति ही समस्त जागतिक पदार्थों का कारण है।[४६]

सूत्रकृतांगकार उक्त मत का खण्डन करते हुये कहते हैं कि नियतिवादी यह नहीं जानते हैं कि सुख–दु:खादि सभी नियतिकृत नहीं होते। कुछ सुख–दु:ख नियतिकृत होते हैं, क्योंकि उन–उन सुख–दु:खों के कारणरूप कर्म का अबाधा काल समाप्त होने पर अवश्य उदय होता ही है, जैसे– निकाचित कर्म[47] का, परन्तु अनेक सुख–दु:ख पुरुष के उद्योग, काल, स्वभाव और कर्म द्वारा किये हुये होते हैं और नियत नहीं होते। अत: केवल नियति ही समस्त वस्तुओं का कारण है, ऐसा मानना कथमपि युक्तिसंगत नहीं है। काल, स्वभाव, अदृष्ट, नियति और पुरुषार्थ ये पाँचों कारण प्रत्येक कार्य या सुखादि में परस्पर सापेक्ष सिद्ध होते हैं, अत: एकान्त रूप में केवल नियति को मानना सर्वथा दोषयुक्त है।

अज्ञानवाद स्वरूप[48]– शास्त्रकार एकान्तवादी, संशयवादी तथा अज्ञानमिथ्यात्वग्रस्त अन्य दार्शनिकों को वन्यमृग की संज्ञा देते हुये एवं अनेकान्तवाद के परिप्रेक्ष्य में उनके सिद्धान्तों की समीक्षा करते हुये कहते हैं कि एकान्तवादी, अज्ञानमिथ्यात्वयुक्त अनार्य श्रमण सम्यग्ज्ञान, दर्शन व चारित्र से पूर्णत: रहित हैं। वे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, अहिंसा, सत्य, अनेकान्त, अपरिग्रह आदि संदर्भों से शंकाकुल होकर उनसे दूर भागते हैं।[49] सद्धर्मप्ररूपक वीतराग के सान्निध्य से कतराते हैं। सद्धर्मप्ररूपक शास्त्रों पर शंका करते हुये हिंसा, असत्य, मिथ्यात्व, एकान्तवाद या विषय कषायादि से युक्त अधर्म प्ररूपणा को नि:शंक होकर ग्रहण करते हैं तथा अधर्म प्ररूपकों की स्थापना करते हैं। यज्ञ और पशुबलिजनित घोर हिंसा की देशना वाले शास्त्रों को जिनमें कामनायुक्त कर्मकाण्डों का विधान और हिंसा जनक कार्यों की प्रेरणा है, नि:शंक भाव से स्वीकार करते है। घोर पापकर्म में आबद्ध ऐसे लोग इस जन्म-मरण रूप संसार में बार–बार आवागमन करते रहते हैं। अज्ञानग्रस्त एवं सन्मार्ग-अभिज्ञ ऐसे अज्ञानवादियों के संसर्ग में आने वाले दिशामूढ़ हैं एवं दु:ख को प्राप्त होंगे। संजय वेलट्ठिपुत्त[50] के अनुसार तत्त्व विषयक अज्ञेयता या अनिश्चितता ही अज्ञानवाद की आधारशिला है।

अज्ञानवादियों के संदर्भ में दो प्रकार के मत मिलते हैं– एक तो वे अज्ञानवादी हैं जो स्वयं के अल्पमिथ्याज्ञान से गर्वोन्मत्त होकर समस्त ज्ञान को अपनी विरासत मानते हैं, जबकि यथार्थत: उनका ज्ञान केवल पल्लवग्राही होता है। ये तथाकथित शास्त्रज्ञानी वीतराग सर्वज्ञ की अनेकान्तरूप तत्त्वज्ञान से युक्त, सापेक्षवाद से ओतप्रोत वाणी को गलत समझकर एवं उसे संशयवाद की संज्ञा देकर ठुकरा देते हैं।[51]

दूसरे अज्ञानवादी अज्ञान को ही श्रेयस्कर मानते हैं। उनके मत में ज्ञानाभाव में वाद–विवाद, वितण्डा, संघर्ष, कलह, अहंकार, कषाय आदि के

प्रपंच से वे मन में राग—द्वेषादि उत्पन्न न होने देने का सबसे सरल उपाय ज्ञान—प्रवृत्ति को छोड़कर अज्ञान में ही लीन रहना मानते हैं। अज्ञान को श्रेयस्कर मानने वाले अज्ञानवादी सभी यथार्थ ज्ञानों से दूर रहना चाहते हैं— सबसे भले मूढ़, जिन्हें न व्यापै जगत गति।

क्रियावाद या कर्मोपचय निषेधवाद[५२]– बौद्ध दर्शन को सामान्यतया अक्रियावादी दर्शन कहा गया है। बौद्धग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय के तृतीय भाग अट्ठक निपात के सिंहसुत्त में तथा विनयपिटक के महावग्ग की सिंहसेनापतिवत्थु में बुद्ध के अक्रियावादी होने के उल्लेख है।[५३] सूत्रकृतांग के बारहवें समवसरण अध्ययन में सूत्र ५३५ की चूर्णि एवं वृत्ति में बौद्धों को कहीं अक्रियावादी एवं कहीं क्रियावादी— दोनों कहा गया है, किन्तु इस विरोध का परिहार करते हुये कहा गया है कि यह अपेक्षाभेद से है। क्रियावादी केवल चैत्यकर्म किये जाने वाले (चित्तविशुद्धिपूर्वक) किसी भी कर्म आदि क्रिया को प्रधान रूप से मोक्ष का अंग मानते हैं। बौद्ध चित्तशुद्धिपूर्वक सम्पन्न प्रभूत हिंसायुक्त क्रिया को एवं अज्ञानादि से किये गये निम्न चार प्रकार के कर्मोपचय को बन्ध का कारण नहीं मानते और कर्मचिन्ता से परे रहते हैं।

1. **परिज्ञोपचित कर्म**– जानते हुए भी कोपादि या क्रोधवश शरीर से अकृत, केवल मन से चिंतित हिंसादि कर्म।
2. **अविज्ञोपचित कर्म**—अज्ञानवश शरीर से सम्पन्न हिंसादि कर्म।
3. **ईर्यापथ कर्म**– मार्ग में जाते समय अनभिसंधि से होने वाला हिंसादि कर्म।
4. **स्वप्नान्तिक कर्म**– स्वप्न में होने वाले हिंसादि कर्म।

बौद्धों के अनुसार ऐसे कर्मों से पुरुष स्पृष्ट होता है, बद्ध नहीं, क्योंकि ये चारों कर्म स्पर्श के बाद ही नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये बौद्ध इन कर्मग्रन्थियों से निश्चिन्त होकर क्रियाएँ करते है।[५४] बौद्ध राग—द्वेष रहित बुद्धिपूर्वक या विशुद्ध मन से हुये शारीरिक प्राणातिपात को भावविशुद्धि होने के कारण कर्मोपचय नहीं मानते।[५५] बौद्धग्रन्थ सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय वालोवाद जातक में बुद्ध कहते भी हैं कि– विपत्ति के समय पिता द्वारा पुत्र का वध कर स्वयं उसका भक्षण तथा मेधावी भिक्षु द्वारा उक्त मांशासन पापकर्म का कारण नहीं है।

सूत्रकार बौद्धों के तर्क को असंगत मानते हैं क्योंकि राग—द्वेषादि ये युक्त चित्त के बिना मारने की क्रिया हो ही नहीं सकती। मैं पुत्र को मारता हूँ ऐसे चित्तपरिणाम को कथमपि असंक्लिष्ट नहीं माना जा सकता।[५६]

अतः कर्मोपचय निषेधवादी बौद्ध कर्मचिन्ता से रहित हैं तथा संयम एवं संवर के विचार से किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते, ऐसा शास्त्रकार का बौद्धों पर आक्षेप है।

जगत्कर्तृत्ववाद[५७] —सूत्रकृतांग में जगत् की रचना के संदर्भ में अज्ञानवादियों के प्रमुख सात मतों का निरूपण किया गया है[५८] —

१. किसी देव द्वारा कृत, संरक्षित एवं बोया हुआ।
२. ब्रह्मा द्वारा रचित, रक्षित या उत्पन्न।
३. ईश्वर द्वारा रचित।
४. यह लोक प्रकृति-कृत है।
५. स्वयंभूकृत लोक।
६. यमराज (मार—मृत्यु) रचित जगत् माया है, अतः अनित्य है।
७. लोक अण्डे से उत्पन्न है।

शास्त्रकार की दृष्टि में ये समस्त जगत्कर्तृत्ववादी परामर्श से अनभिज्ञ, मृषावादी एवं स्वयुक्तियों के आधार पर अविनाशी जगत् को विनाशी, एकान्त व अनित्य बताने वाले हैं। वास्तव में लोक या जगत का कभी नाश नहीं होता क्योंकि द्रव्य रूप से यह सदैव स्थिर रहता है। यह लोक अतीत में था, वर्तमान में है। वास्तव में लोक या जगत का कभी नाश नहीं होता, क्योंकि द्रव्य रूप से यह सदैव स्थिर रहता है। यह लोक अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। यह सर्वथा अयुक्तियुक्त मान्यता है कि किसी देव, ब्रह्मा, ईश्वर, प्रकृति, विष्णु या शिव ने सृष्टि की रचना की, क्योंकि यदि कृत होता तो सदैव नाशवान होता, परन्तु लोक एकान्ततः ऐसा नहीं है। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे अपने—अपने मान्य आराध्य द्वारा लोक का कर्तृत्व सिद्ध किया जा सके। ईश्वर कर्तृत्ववादियों ने घटरूप कार्य के कर्ता कुम्हार की तरह ईश्वर को जगत् का कर्ता सिद्ध करने का प्रयास किया है, परन्तु लोक द्रव्यरूप से नित्य होने के कारण कार्य है ही नहीं। पर्याय रूप से अनित्य है, परन्तु कार्य का कर्ता के साथ कोई अविनाभाव नहीं है। जीव व अजीव अनादिकाल से स्वभाव में स्थित हैं। वे न कभी नष्ट होते हैं न ही विनाश को प्राप्त होते हैं— उनमें मात्र अवस्थाओं का परिवर्तन होता है। स्वकृत अशुभ अनुष्ठान या कर्म से दुःख एवं शुद्ध धर्मानुष्ठान से सुख की उत्पत्ति होती है। दूसरा कोई देव, ब्रह्मा, विष्णु आदि किसी को सुख—दुःख से युक्त नहीं कर सकता।[५९]

अवतारवाद[६०] — नियतिवाद की भांति अवतारवाद मत भी आजीवकों का है। समवायांग वृत्ति और सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंध के छठे अध्ययन में त्रैराशिकों को आजीवक या गोशालक मतानुसारी बताया गया है, ये आत्मा की तीन अवस्थाएँ मानते हैं—

१. रागद्वेष रहित कर्मबन्धन से युक्त पाप सहित अशुद्ध आत्मा की अवस्था।
२. अशुद्ध अवस्था से मुक्ति हेतु शुद्ध आचरण द्वारा शुद्ध निष्पाप अवस्था प्राप्त करना तदनुसार मुक्ति में पहुंच जाना।

३. शुद्ध निष्पाप आत्मा क्रीड़ा, राग—द्वेष के कारण उसी प्रकार पुनः कर्म रज से लिप्त हो जाता है जैसे—मटमैले जल को फिटकरी आदि से स्वच्छ कर लिया जाता है, परन्तु आंधी तूफान से उड़ाई गयी रेत व मिट्टी के कारण वह पुनः मलिन हो जाता है।[६१]

इस तरह आत्मा मुक्ति प्राप्त कर भी क्रीड़ा और प्रदोष के कारण संसार में अवतरित होता है। वह अपने धर्मशासन की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए रजोगुण युक्त होकर अवतार लेता है।[६२] यही तथ्य गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है— हे भारत! जब—जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब—तब मैं ही अपने रूप को रचता हूँ, साधु—पुरुषों की रक्षा तथा पापकर्म करने वालों का विनाश एवं धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिये युग—युग में प्रकट हुआ करता हूँ।[६३]

सूत्रकार अवतारवाद का खंडन करते हुए कहते हैं कि जो आत्मा एक बार कर्ममल से सर्वथा रहित हो चुका है, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं निष्पाप हो चुका है, वह पुनः अशुद्ध कर्मफल युक्त और पापयुक्त कैसे हो सकता है? जैसे बीज के जल जाने पर उससे अंकुर उत्पन्न होना असम्भव है, वैसे ही कर्मबीज के जल जाने पर फिर जन्ममरण रूप अंकुर का फूटना असंभव है और फिर इस बात को तो गीता भी मानती है—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मनः संसिद्धिं परमां गताः।।
मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते।।[६४]

'कीडापदोसेण' कहकर अवतारवादी जो अवतार का कारण बतलाते हैं उसकी संगति गीता से बैठती है, क्योंकि अवतरित होने वाला भगवान दुष्टों का नाश करता है तब अपने भक्त की रक्षा के लिए हर संभव प्रयत्न करता है और ऐसा करने में उनमें द्वेष एवं राग का होना स्वाभाविक है।

स्व—स्व प्रवाद प्रशंसा एवं सिद्धि का दावा[६५]— सूत्रकार के अनुसार जगत्कर्तृत्ववादी आजीवक कार्य-कारणविहीन एवं युक्तिरहित अपने ही मतवाद की प्रशंसा करते हैं। वे सिद्धिवादी स्वकल्पित सिद्धि को ही केन्द्र मानकर उसी से इहलौकिक एवं पारलौकिक सिद्धि को सिद्ध करने के लिये युक्तियों की खींचतान करते हैं। परन्तु जो दार्शनिक मात्र ज्ञान या क्रिया से अष्टभौतिक ऐश्वर्य, अन्य लौकिक एवं यौगिक उपलब्धियों से मुक्ति मानते हैं वे सच्चे अर्थ में संवृत नहीं हैं। वस्तुतः वे स्वयं को सिद्धि से भी उत्कृष्ट ज्ञानी, मुक्तिदाता व तपस्वी कहकर अनेक भोले लोगों को भ्रमित करते हैं। फलतः वे मतवादी इन तीन दुष्फलों को प्राप्त करते हैं— १. अनादि संसार में बार-बार परिभ्रमण २. दीर्घकाल पर्यन्त भवनपति देव (असुर) योनि में एवं ३. अल्प ऋद्धि, आयु तथा शक्ति से युक्त अधम किल्विषिक देव के रूप में

उत्पत्ति।

परवादी निरसन[६६]– इन्द्रियसुखोपभोग एवं स्वसिद्धान्त को सर्वोपरि मानने वाले दार्शनिक मतवादों की ग्रन्थकार भर्त्सना करते हुए कहते हैं कि ये एकान्त दर्शनों, दृष्टियों, वादों को सत्य मानकर उनकी शरण लेकर एवं कर्मबंधों से निश्चिन्त होकर एवं पाप कर्मों में आसक्त होकर आचरण करते हैं। इनकी गति संसार—सागर पार होने की आशा में मिथ्यात्व, अविरति आदि छिद्रों के कारण कर्मजल प्रविष्ट हो जाने वाली मिथ्यादृष्टियुक्त मत-नौका में आरूढ़ मतमोहान्ध व्यक्ति की होती है जो बीच में ही डूब जाते हैं[६७] अर्थात् मिथ्यात्वयुक्त-मत सछिद्र नौका के समान है और इसका आचरण करने वाला व्यक्ति जन्मान्ध के समान है।

लोकवाद समीक्षा– लोकवादियों का तात्पर्य पौराणिक मतवादियों से है। महावीर के युग में पौराणिकों का बहुत जोर था। लोग पौराणिकों को सर्वज्ञ मानते थे, उनसे आगम—निगम, लोक—परलोक के रहस्य, प्राणी के मरणोत्तर दशा की अथवा प्रत्यक्ष दृश्यमान लोक की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय की बहुत चर्चाएं करते थे।[६८] भगवान महावीर के युग में पूरणकाश्यप, मंक्खलिगोशाल, अजितकेशकम्बल, पकुद्धकात्यायन, गौतमबुद्ध, संजयवेलट्ठिपुत्त एवं कई तीर्थंकर थे जो सर्वज्ञ कहे जाते थे।[६९] शास्त्रकार ने इन मतवादियों के सिद्धान्त पर निम्न दृष्टियों से विचार किया है– १. लोकवाद कितना हेय व उपादेय है, २. यह लोक अनन्त, नित्य एवं शाश्वत है या अविनाशी है या अन्तवान किन्तु नित्य है। ३. क्या पौराणिकों आदि का अवतार लोकवादी है एवं ४. त्रस, त्रस योनि में ही और स्थावर, स्थावर योनि में ही संक्रमण करते हैं।

लोकवादी मान्यता का खण्डन

लोकवादियों की मान्यता कि लोक अनन्त, नित्य, शाश्वत एवं अविनाशी है, का खण्डन करते हुए जैनदार्शनिक कहते हैं कि यदि लोकगत पदार्थों को कूटस्थ नित्य (विनाश रहित स्थिर) मानते हैं तो यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है, क्योंकि इस जगत् में जड़—चेतन कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो प्रतिक्षण परिवर्तनशील न हो, पर्याय रूप से वह सदैव उत्पन्न व विनष्ट होते दीखता है। अतः लोकगत पदार्थ सर्वथा कूटस्थ नित्य नहीं हो सकते। दूसरे लोकवादियों की यह मान्यता सर्वथा अयुक्त है कि त्रस सदैव त्रस पदार्थ में ही उत्पन्न होता है, पुरुष, मरणोपरान्त पुरुष एवं स्त्री मरणोपरान्त स्त्री ही होती है। आचारांग सूत्र[७०] में कहा गया है कि स्थावर जीव त्रस के रूप में और त्रस जीव स्थावर के रूप में अथवा संसारी जीव सभी योनियों में उत्पन्न हो सकते हैं। अज्ञानी जीव अपने—अपने कर्मों से पृथक्—पृथक् रूप रचते हैं। यदि लोकवाद को सत्य माना जाय कि जो इस जगत् में जैसा है, वह उस

जन्म में वैसा ही होगा, तो दान अध्ययन, जप—तप, अनुष्ठान व्यर्थ हो जायेंगे, फिर भला क्यों कोई दान करेगा या यम-नियमादि की साधना करेगा।

आधाकर्मदोष[७१]—सूत्रकृतांग की ६० से ६३ तक की गाथाएं निर्ग्रन्थ आहार से संवद्ध हैं। श्रमणाहार के प्रसंग में इसमें आधाकर्मदोष से दूषित आहार-सेवन से हानि एवं आहारसेवी की दुर्दशा का निरूपण किया है। यदि साधु का आहार आधाकर्मदोष से दूषित होगा तो वह हिंसा का भागी तो होगा ही, साथ ही उसके विचार, संस्कार एवं उसका अन्त:करण निर्बल हो जायेगा। दूषित आहार से साधु के सुखशील, कषाययुक्त एवं प्रमादी बन जाने का खतरा है। आधाकर्मी आहार ग्राही साधु गाढ़ कर्मबन्धन के फलस्वरूप नरक, तिर्यंच आदि योनियों में जाकर दु:ख भोगते हैं। उनकी दुर्दशा वैसी ही होती है जैसे बाढ़ के जल के प्रभाव से प्रक्षिप्त सूखे व गीले स्थान पर पहुंची हुई वैशालिक मत्स्य को मांसार्थी डंक व कंक (क्रमश: चील व गिद्ध) पक्षी सता—सताकर दु:ख पहुंचाते हैं।[७२] वर्तमान सुख के अभिलाषी कई श्रमण वैशालिक मत्स्य के समान अनन्तबार दु:ख व विनाश को प्राप्त होते हैं।

मुनिधर्मोपदेश[७३]— सूत्रकृतांग की ७६ से ७९ तक की गाथाओं में शास्त्रकार ने निर्ग्रन्थ हेतु संयम, धर्म एवं स्वकर्त्तव्य बोध का इस प्रकार निरूपण किया है—

१. पूर्वसंबंध त्यागी, अन्ययूथिक साधु, गृहस्थ को समारम्भयुक्त कृत्यों का उपदेश देने के कारण शरण ग्रहण करने योग्य नहीं है।
२. विद्वान मुनि उन्हें जानकर उनसे आसक्तिजनक संसर्ग न रखे।
३. परिग्रह एवं हिंसा से मोक्ष-प्राप्ति मानने वाले प्रव्रज्याधारियों का संसर्ग छोड़कर निष्परिग्रही, निरारम्भ महात्माओं की शरण में जाये।
४.आहारसंबंधी ग्रासैषणा, ग्रहणैषणा, परिभोगैषणा, आसक्तिरहित एवं रागद्वेषमुक्त होकर करे।

अहिंसाधर्म निरूपण[७४] — अहिंसा को यदि जैन धर्म-दर्शन का मेरुदण्ड कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसलिए जैनागमों में अहिंसा की विस्तृत चर्चा की गई है। सूत्रकार ने भी कुछ सूत्रों में अहिंसा का निरूपण किया है। संसार के समस्त प्राणी अहिंस्य हैं, क्योंकि—

१. इस दृश्यमान त्रस स्थावर रूप जगत् की मन, वचन, काय की प्रवृत्तियां अथवा बाल, यौवन, वृद्धत्व आदि अवस्थाएँ स्थूल हैं, प्रत्यक्ष हैं।
२. स्थावर जंगम सभी प्राणियों की पर्याय अवस्थाएं सदा एक सी नहीं रहती।
३. सभी प्राणी शारीरिक, मानसिक दु:खों से पीड़ित हैं अर्थात् सभी प्राणियों को दु:ख अप्रिय है।

उपर्युक्त मत पर शंका व्यक्त करते हुए कुछ मतवादी आत्मा में

कोई परिवर्तन नहीं मानते, आत्मा की बाल्यादि अवस्थाएँ नहीं होती, न ही सुख–दु:ख होते हैं इसलिए किसी जीव का वध करने से या पीड़ा देने से कोई हिंसा नहीं होती।

शास्त्रकार उक्त मत को असंगत बताते हैं क्योंकि समस्त प्राणियों की विविध चेष्टाएँ तथा बाल्यादि अवस्थाएँ प्रत्यक्ष हैं, प्राणिमात्र मरणधर्मा है। एक शरीर नष्ट होने पर स्वकर्मानुसार मनुष्य तिर्यंच, नरकादि योनियों में परिभ्रमित होता है एवं एक पर्याय से दूसरे पर्याय में बदलने पर जरा, मृत्यु, शारीरिक–मानसिक चिंता, संताप आदि नाना दु:ख भोगता है जो प्राणियों को सर्वथा अप्रिय हैं। इसलिए स्वाभाविक है कि जब कोई किसी प्राणी को सतायेगा, पीड़ा पहुँचायेगा, प्राणों से रहित कर देगा तो उसे दु:खानुभव अवश्य होगा। इसीलिए शास्त्रकार ने इन्हीं तीन स्थूल कारणों को प्रस्तुत कर किसी भी प्राणी की हिंसा न करने को कहा है।

चारित्र शुद्धि के लिए उपदेश[७५]

प्रथम अध्ययन के अंतिम तीन सूत्रों में कर्मबन्धनों को तोड़ने के लिये चारित्र-शुद्धि का उपदेश दिया गया है। वास्तव में ज्ञान, दर्शन, चारित्र अथवा त्रिरत्न समन्वित रूप में मोक्षमार्ग के अवरोधक कर्मबंधनों से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है। हिंसादि पाँच आस्रवों से अविरति, प्रमाद, कषाय और मन, वचन, काय रूपी योग का दुरुपयोग– ये चारित्र दोष के कारण हैं और कर्मबन्धन के भी कारण हैं। चारित्रशुद्धि से आत्मशुद्धि होती है। उमास्वाति[७६] एवं उनके तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकारों ने १. गुप्ति २. समिति ३. धर्म ४. अनुप्रेक्षा ५. परीषहजय ६. चारित्र व ७. तप को संवर का कारण माना है। इसी प्रकार चारित्र शुद्धि के परिप्रेक्ष्य में दस विवेक सूत्रों का निर्देश किया है जो तीन गाथाओं में इस प्रकार अन्तर्निहित हैं–

१. साधक दस प्रकार की समाचारी में स्थित रहे।

२. उसकी आहार आदि में गृद्धता-आसक्ति न रहे।

३. अप्रमत्त होकर अपनी आत्मा का या रत्नत्रय का संरक्षण करे।

४. गमनागमन, आसन, शयन, खानपान में विवेक रखे।

५. पूर्वोक्त तीनों स्थानों, समितियों अथवा इनके मन, वचन, काय गुप्ति रूपी तीन स्थानों में मुनि सतत संयत रहे।

६. क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों का परित्याग करे।

७. सदा पंचसमिति (ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेप समिति और उत्सर्ग समिति) से युक्त अथवा सदा समभाव में प्रवृत्त होकर रहे।

८. प्राणातिपातादि-विरमण रूप पंचमहाव्रत रूप संवरों से युक्त रहे।

९. भिक्षाशील साधु गार्हस्थ्य बंधनों से बंधे हुए गृहस्थों से आसक्तिपूर्वक

वंधा हुआ न रहे।

१०. मोक्ष प्राप्त होने तक संयमानुष्ठान में प्रगति करे एवं अडिग रहे। चूंकि चारित्र कर्मास्रव के निरोध का, परम संवर का एवं मोक्षमार्ग का साक्षात् और प्रधान कारण है इसलिए सूत्रकार ने चारित्र शुद्धि के लिये उपदेश दिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकृतांग (प्रथम अध्ययन के प्रथम से लेकर चौथे उद्देशक तक) में भारतीय दर्शन में वर्णित प्रायः सभी मतवादों का कुशल समावेश कर उनकी मीमांसा की गई है। ऐसा कोई मतवाद नहीं है जिसे सूत्रकार की पैनी दृष्टि ने स्पर्श न किया हो। यद्यपि सूत्रकार ने किसी भी सम्प्रदाय विशेष का नामोल्लेख नहीं किया है, केवल उनके दार्शनिक मन्तव्यों को ही आधार मानकर स्वपक्षमण्डन व परपक्ष निरसन किया है, फिर भी वह अपने उद्देश्य में सर्वथा सफल रहा है। सम्प्रदायों का स्पष्ट नामोल्लेख न मिलने का कारण वहुत कुछ सीमा तक उन–उन मतवादों का उस समय तक पूर्णरूपेण विकसित न होना माना जा सकता है। बाद के टीकाकारों व निर्युक्तिकारों ने दार्शनिक मन्तव्यों का सम्प्रदाय विशेष सहित उल्लेख किया है।

जहाँ तक इसमें अन्तर्निहित दार्शनिक विवेचना का प्रश्न है, सूत्रकार ने जिन मतवादों का उल्लेख किया है, उन्हें अपने अनेकान्तवाद व कर्मवादप्रवण अहिंसा की कसौटी पर कसते हुए यही वताने का प्रयास किया है, कि चाहे वह वैदिक दर्शन का कूटस्थ आत्मवाद हो, बौद्धों का क्षणिकवाद हो, लोकायतों का भौतिकवाद हो, सांख्यों का अकर्तावाद हो या नियतिवादियों का नियतिवाद हो– कोई भी दर्शन हमारे सतत अनुभव, व्यक्तित्व की एकता एवं हमारे चेतनामय जीवन की, जो सतत परिवर्तनशील है, सम्पूर्ण दृष्टि से समुचित व्याख्या नहीं कर पाता। यह जैनदर्शन की अनेकान्तवादी दृष्टि ही है जो एकान्त शाश्वतवाद एवं एकान्त उच्छेदवाद के मध्य आनुभाविक स्तर पर एक यथार्थ समन्वय प्रस्तुत कर सकती है तथा नैतिक एवं धार्मिक जीवन की तर्कसंगत व्याख्या कर सकती है।

संदर्भ

१. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा—१८—२० तथा उनकी शीलांक वृत्ति
२. सूत्रकृतांग गाथा १ (सं. व अनु. मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, १९८२)
३. उत्तराध्ययनसूत्र ८.१५
४. वध्यतेऽनेन वंधनमात्रं वा वंधः—तत्त्वार्थवार्तिक भाग१, पृ. २६, भट्ट अकलंकदेव, सम्पा. महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी वि.नि. सं. २४७९
५. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स वंधः। —तत्त्वार्थ सूत्र ८.२
६. पं. सुखलाल संघवी, भारत जैन महामण्डल, वर्धा १९५२

७. तत्वार्थवार्तिक—२.१०.२ पृ.१२४
८. आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः। —सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपादाचार्य सं. व अनु. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथमावृत्ति सन् १९५५) १.४ पृ.१४
९. क्रोधादिपरिणामवशीकृतो भावबन्धः—तत्त्वार्थवार्तिक—२.१०.२, पृ.१२४
१०. द्रव्यसंग्रह नेमिचन्द्राचार्य, प्रका. श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल वि. नि. सं. २४३३
११. समयसार (आत्मख्याति—तात्पर्यवृत्ति भाषावचनिका टीका सहित) कुन्दकुन्दाचार्य, सम्पा. पन्नालाल जैन, प्रकाशक परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बोरिया, द्वितीयावृत्ति, सन् १९७४ गाथा १५३, आत्मख्याति टीका—गाथा १५३
१२. तं—मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं। —भगवतीआराधना, गाथा ५६, आचार्य शिवकोटि (सम्पा. सखाराम दोषी, जीवराज जैन, ग्रन्थमाला शोलापुर प्र.सं. सन् १९३५)
१३. सर्वार्थसिद्धि—७/९
१४. धवला, वीरसेन, खं.२ भाग १ सूत्र ७ पृ.७ (हिन्दी अनुवाद सहित अमरावती प्र.सं. १९३९—५९)
१५. सर्वार्थसिद्धि ६/४, पृ.३२०
१६. सर्वार्थसिद्धि—२/२६, पृ.१८३
१७. तत्त्वार्थ सूत्र ९/१
१८. पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा—भगवतीआराधना, गाथा १८४७
१९. सर्वदर्शनसंग्रह—माधवाचार्य, पृ.१० (चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी)
२०. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ३३
२१. सूत्रकृतांग २.१.६५७
२२. सूत्रकृतांग—१.१.११—१२, पृ.२५
२३. वही, पृ. २६
२४. वही, पृ. २६
२५. प्रमेयरत्नमाला ४.८, पृ. २९६ (लघुअनन्तवीर्य, व्याख्याकार, सम्पा. हीरालाल जैन, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी—वि.सं.२०२०)
२६. शास्त्रवार्तासमुच्चय—१.६५—६६, हरभिद्रसूरि, भारतीयसंस्कृतिविद्या मन्दिर (अहमदाबाद—१९६९) तत्त्वार्थवार्तिक २.७.२७, पृ.११७।
२७. सूत्रकृतांग १.१.९—१०
२८. सर्वमेतदिदं ब्रह्म—छा.उ. ३.१४.१
ब्रह्मखल्विदं सर्वम्—मैत्रेय्युपनिषद् ४,६,३
२९. सूत्रकृतांग, १.१.१०
३०. सूत्रकृतांग १.१.१३—१४
३१. अमूर्त्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कपिलदर्शने। षड्दर्शन समुच्चय। (गुणरत्नसूरिकृत रहस्यदीपिका सहित)) हरभिद्रसूरि, सं. महेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी १९७०
३२. तत्त्वार्थवार्तिक २!१०१
३३. सन्ति पंचमहब्भूता इहमेगेसिं आहिता।
आयछट्ठा पुणेगाऽहु आया लोगे य सासते।—सूत्रकृतांग सूत्र १.१.१५
३४. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः। भगवद्गीता २.१६

३५. असदकरणादुपानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।। सां.का. ९
(गौड़पाद भाष्य) :ईश्वर–कृष्ण, ह.कृ.चौ.काशी, वि.सं. १९७९
३६. सूत्रकृतांग की शीलांकवृत्ति पत्रांक २४–२५
३७. सूत्रकृतांग सूत्र १.१.१७–१८
३८. दीघनिकाय १.१ (अनुवाद–भिक्षु राहुल सांकृत्यायन एवं जगदीश कश्यप, प्रका. भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद्, बुद्धविहार, लखनऊ)
३९. मज्झिमनिकाय–१.१.२
४०. ...पुन च परं भिक्खवे, भिक्खु, इममेवं कायं यथाठितं यथापणिहितं धातुसोपच्चवेक्खति–अत्थि इमस्मिकाये पथवी धातु, आपोधातु, तेजोधातु, वायुधातु ति सुत्तपिटक मज्जि. पालि भाग ३, पृ. १५३
४१. सूत्रकृतांग–१.१.१९–२७
४२. तेणाविमं संधिं णंच्चा णं ण ते धम्मविउजणा।
जे तु वाइगो एवं ण ते आहंतराऽऽहिया।।वही १.१.२०
४३. सूत्रकृतांग, शीलांक वृत्ति २८
४४. सूत्रकृतांगसूत्र १.२.२८–३१, गोम्मटसार कर्मकाण्ड–८९२ (प्रकाशक परश्रुमत प्रभावकं जैन मण्डल, बम्बई, वी.नि.सं.२४५३)
४५. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग २, पृ: १३८
४६. नियतेनैव भावेन सर्वे भावा भवन्ति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुवेधतः।।–शास्त्रवार्तासमुच्चय २.६१
४७. कर्म का जिस रूप में बंध हुआ उसको उसी रूप में भोगना अर्थात् उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण और उदीरणा अवस्थाओं का न होना निकाचित कर्मावस्था कहलाती है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ४४०
४८. सूत्रकृतांगसूत्र १.२.३३–५०
४९. जाविणो मिगा जहासंत्ता परिताणेणतज्जिया,
असंकियाइं संकंति संकियाइं असंकिणो। वही १.२.३३
५०. वही, पृ. ५१
५१. सूत्रकृतांग सूत्र पृ. ३३
५२. वही १.२.५१–५६
५३. अहं हि सीह। अकिरियं वंदामि कापदुच्चरितस्स वचीदुच्चरतिस्य, मनोदुच्चरितस्य अनेक विहितानां पापकानं अकुसलानं अकिरियं वंदामि। सुत्तपिटके अंगुत्तर निकाय, पालि भाग ३, अट्ठकनिपात पृ. २९३–९६
५४. सूत्रकृतांगचूर्णि मू.पा. टि. पृ.९
५५. पुत्तं पिता समारंभ आहारट्ठ असंजये।
भुजमाणो वि मेहावी कम्मुणा णो व लिप्पते।।– सूत्रकृतांग १.२/५५
५६. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३७–४०
५७. सूत्रकृतांगसूत्र–१.३.६४–६९
५८. वही पृ. ६७
५९. (१.) न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते।।–गीता ५.१४
(२) गीता शां.भा. ५.१४
६०. सूत्रकृतांगसूत्र–१.३.७०–७१

६१. इह संवुडे मुणी जाये पच्छा होति अपावये।
 वियडं व जहा भुज्जो नीरयं सरयं तहा।।—सूत्रकृतांगसूत्र १.३.७१
६२. स मोक्ष प्राप्तोऽपि भूत्वा कीलावणप्पदोसेण रजसा अवतारते।
 सूयगडं चूर्णि मू.पा. टिप्पण पृ. १२
६३. (१) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत्।
 अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।—गीता ४.१७
 (२) वही ४.८
६४. भगवद्गीता ८.१५—१६
६५. सूत्रकृतांगसूत्र १.३.७२—७५
६६. सूत्रकृतांग १.२.५७—५९
६७. सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ. १९२—९६
६८. सूत्रकृतांग १.४.८०—८३
६९. वही पृ. ९२
७०. आचारांग १ श्रु.९ अ.१ गाथा ५४ (मूलअनुवाद विवेचन टिप्पण युक्त) सं. मधुकर मुनि, अनु. श्रीचन्द सुराणा 'सरस', आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
७१. सूत्रकृतांग—१.३.६०—६३
७२. उदगस्सऽप्पभावेणं सुक्कंमि घातमिंति उ।
 ढंकेहि व कंकेहि य आमिसत्थेहि ते दुही।।— वही, १.३.६२
७३. वही—१.४.७६—७९
७४. सूत्रकृतांग सूत्र—१.४.८४—८५
 उरालं जगओ जोयं विपरीयासं पलेति य।
 सव्वे अक्कंतदुक्खा य अतो सव्वे अहिंसिया।।
 एतं खु णाणिणो सारं जं न हिंसति किंचण।
 अहिंसा समयं चेव एतावंतं वियाणिया।।
७५. सूत्रकृतांग १२०.८६—८८
७६. तत्त्वार्थसूत्र ९.३

—पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई.टी.आई. रोड़
करौंदी, वाराणसी— 221005 (उ.प्र.)

स्थानांग सूत्र का महत्त्व एवं विषय वस्तु

❁ डॉ. पारसमणि खींचा

स्थानांग में एक से लकर दश तक की संख्याओं/ स्थानों में धर्म, इतिहास, खगोल, भूगोल, दर्शन, आचार आदि से सम्बद्ध तथ्यों का कोश की तरह संकलन है। तथ्यों को समझने एवं स्मरण रखने की दृष्टि से यह एक विशिष्ट शैली है। स्थानांगसूत्र में निरूपित विभिन्न जानकारियाँ ज्ञान को तो समृद्ध बनाती ही हैं, किन्तु जीवन को सम्यक् उत्कर्ष की दिशा भी प्रदान करती हैं। डॉ० पारसमणि जी ने संक्षेप में स्थानांग सूत्र के महत्त्व एवं विषयवस्तु से परिचित कराया है। —सम्पादक

आगमों में स्थानांग सूत्र का तीसरा स्थान है। इसे जैन संस्कृति का विश्वकोष भी कहा जाता है। यह शब्द 'स्थान' और 'अंग' इन दो शब्दों के मेल से निर्मित हुआ है। 'स्थान' शब्द के अनेक अर्थ हैं। आचार्य देववाचक[1] और गुणधर[2] ने लिखा है कि प्रस्तुत आगम में एक स्थान से लेकर दश स्थान तक जीव, पुद्गल आदि के विविध भाव वर्णित हैं। जिनदासगणि महत्तर का अभिमत है— जिसका स्वरूप स्थापित किया जाए व ज्ञापित किया जाए, वह स्थान है।[3] इस आगम में एक से लेकर दश तक संख्या वाले पदार्थों का उल्लेख है, अत: इसे स्थान कहा गया है। इसमें संख्या क्रम से जीव, पुद्गल आदि की स्थापना की गयी है। अत: इसका नाम 'स्थान' या 'स्थानांग' है। आचार्य गुणधर[4] स्थानांग का परिचय देते हुए कहते हैं कि स्थानांग में संग्रहनय और व्यवहारनय की दृष्टि से समझाया गया है। संग्रहनय की दृष्टि से एकता का और व्यवहारनय की दृष्टि से भिन्नता का प्रतिपादन किया गया है।

संग्रहनय की अपेक्षा जीव चैतन्य गुण है। व्यवहारनय की दृष्टि से प्रत्येक जीव अलग—अलग हैं। इसमें ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से भी जीव तत्त्व का विभाजन किया गया है। पर्याय की दृष्टि से एक तत्त्व अनन्त भागों में विभक्त होता है और द्रव्य की दृष्टि से अनन्त भाग एक तत्त्व में परिणत हो जाते हैं।

इस प्रकार स्थानांग में संख्या की दृष्टि से जीव, अजीव प्रभृति द्रव्यों की स्थापना की गयी है। इसमें भेद और अभेद की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु—तत्त्व का विवेचन किया गया है।

स्थानांग का महत्त्व

स्थानांग में एक विषय का दूसरे विषय के साथ किसी तरह का संबंध नहीं है। इसमें इतिहास, गणित, भूगोल, खगोल, दर्शन, आचार, मनोविज्ञान आदि शताधिक विषय संकलित हैं। प्रत्येक विषय का विस्तार से चिन्तन करने की अपेक्षा संख्या के आधार पर विषय का आकलन किया गया है। प्रस्तुत आगम में अनेक ऐतिहासिक सत्य घटनाएँ भी हैं। इसमें कोश की

शैली अपनायी गयी है। यह शैली स्मरण करने की दृष्टि से उपयोगी है। यह एक ऐसी शैली है जो जैन आगमों के अलावा वैदिक और बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में भी प्राप्त है।[५] यह भेद—प्रभेद की दृष्टि को भी लिए हुए है।

अंग-आगमों के क्रम में स्थानांग को तीसरे स्थान पर रखने का तात्पर्य यह रहा होगा कि नवदीक्षित साधु प्रथम आचारांग और द्वितीय सूत्रकृतांग में परिपक्व बने, फिर वह नियमों से परिचित होकर हेय—उपादेय को समझे, उस पर विचार करे। उसमें परिनिष्ठ एवं परिपक्व होकर ज्ञातव्य विषयों की नामावली को जाने और उनके सामान्य रूप से परिचित हो।

स्थानांग और समवायांग को बुद्धिगम्य कर लेने के अनन्तर एक प्रकार से श्रुत साधक समस्त आगमों का वेत्ता हो जाता है। आगमकार उसे श्रुत स्थविर कहते हैं[६]। जैन आगम-साहित्य में श्रुत स्थविर के लिए ''ठाणं समवायधरे'' यह विशेषण आया है। इस विशेषण से स्पष्ट होता है कि इस आगम का आगमों में कितना अधिक महत्त्व है। व्यवहारसूत्र के दसवें उद्देशक के पन्द्रहवें सूत्र में श्रुत स्थविर को श्रेष्ठ बताते हुए कहा गया है कि श्रुत स्थविर का आदर सत्कार करना चाहिए। उनके आने पर खड़े होना चाहिए तथा वन्दन आदि के साथ उनका विनय करना चाहिए। वहाँ यह भी कहा गया है कि जो स्थानांग और समवायांग का अध्ययन करने वाला दीक्षार्थी है, वह आचार्य, उपाध्याय, गणी, गणावच्छेदक, प्रवर्तक आदि पदवियों के योग्य होता है। शास्त्रकार की यह व्यवस्था स्थानांग सूत्र की महत्ता का निर्देश देती है।

व्यवहार सूत्र के अनुसार स्थानांग और समवायांग के ज्ञाता को आचार्य, उपाध्याय और गणावच्छेदक पद देने का विधान है।[७] इस विधान से इस अंग आगम की एक नवीन विशेषता हमारे सामने आती है।

स्थानांग सूत्र में चारों अनुयोगों का समावेश है। इसमें द्रव्यानुयोग की दृष्टि से ४२६ सूत्र हैं। इसी क्रम में श्रमण भगवान महावीर संबंधी घटनाएँ भी हैं उन्हें सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी कहा गया है। इसमें आगामी उत्सर्पिणी काल के भावी तीर्थंकर महापद्म का चरित्र भी दिया गया है तथा भविष्य में होने वाली अनेकानेक घटनाओं का उल्लेख है। इसके प्रथम अध्ययन में संग्रहनय की दृष्टि से विवेचन है। संग्रहनय में सम्पूर्ण पदार्थों का सामान्य रूप से ज्ञान कराया जाता है, इस दृष्टि को ध्यान में रखकर संख्याओं का स्थान के नाम से कथन किया गया है। आचार्य अभयदेव ने ''स्थान'' को अध्ययन भी कहा है।[८]

स्थानांग में विभिन्न कथाओं के संकेत एवं संक्षिप्त उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। जिनमें भरत चक्रवर्ती, गजसुकुमाल, सम्राट् सनत्कुमार और मरुदेवी की कथाओं का उल्लेख प्रमुख है। इसमें इसी तरह के विविध विषयों का

संकलन है। प्रतिमा साधना की विशिष्ट पद्धति है। इसमें भद्रा, सुभद्रा, महाभद्रा, सर्वतोभद्रा और भद्रोतरा प्रतिमाओं का उल्लेख है। जाति, कुल, कर्म, शिल्प और लिंग के भेद से पांच प्रकार की आजीविका का वर्णन है। गंगा, यमुना, सरयु, एरावती और माही नामक महानदियों आदि का उल्लेख है। चौबीस तीर्थंकरों में से वासुपूज्य, मल्ली, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर की कुमारावस्था की प्रव्रज्या का भी उल्लेख है। इसमें रोगोत्पत्ति के नौ कारणों का उल्लेख है, जिनमें शारीरिक और मानसिक रोग प्रमुख हैं। राज्य व्यवस्था के संबंध में जानकारी उपलब्ध होती है। पुरुषादानीय पार्श्व, भगवान महावीर, श्रेणिक आदि के संबंध में भी ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

अत: यह आगम कई विशिष्ट अध्ययनों को प्रस्तुत करता है। इसमें अनेक आश्चर्यजनक घटनाएँ भी हैं, जिनका ज्ञानवाद की चर्चा में उल्लेख किया गया है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान और परोक्ष ज्ञान की व्याख्या को प्रस्तुत करने वाला आगम है, जिससे दार्शनिक चिन्तन के लिए नई दिशा भी मिलती है।

स्थानांग की प्राचीनता

इसमें भगवान महावीर के निर्वाण की प्रथम से छठी शताब्दी तक की अनेक घटनाएँ उल्लिखित हैं, जो ऐतिहासिक और पौराणिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

१. नवम स्थान में गोदासगण, उत्तरबलिस्सहगण, उद्देहगण, चारण गण, उडुवातितगण, विस्सवातितगण, कामड्ढिगण, माणवगण और कोडितगण इन गणों की उत्पत्ति का उल्लेख है जो कल्पसूत्र में भी है। इन गणों की चार–चार शाखाएँ है। इन गणों के अनेक कुल थे। ये सभी गण श्रमण भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् दो सौ से पांच सौ वर्ष की अवधि तक उत्पन्न हुए थे।

२. इसी तरह सातवें स्थान में जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ़, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त, गोष्ठामाहिल, इन सात निह्नवों का वर्णन है। इन सात निह्नवों में से दो निह्नव भगवान महावीर को केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद हुए। इनका अस्तित्वकाल भगवान महावीर के केवलज्ञान-प्राप्ति के चौदह वर्ष बाद से निर्वाण के पांच सौ चौरासी वर्ष पश्चात् तक का है। अर्थात् वे निर्वाण की प्रथम शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी के मध्य में हुए।

स्थानांग की यह ऐतिहासिक एवं पौराणिक सामग्री प्राचीनता की द्योतक है। इसके विवेच्य विषय जीव, अजीवादि तत्त्वों का विवेचन तथा दार्शनिक विश्लेषण भी इस बात के प्रमाण हैं कि स्थानांग सभी प्रकार की सामग्री को समाविष्ट किए हुए है। समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति आदि आगमों में प्रश्नोत्तर शैली से भेद–प्रभेद आदि का कथन किया गया है। परन्तु

स्थानांग में भेद–प्रभेद मूलक प्रस्तुतीकरण में ऐसा नहीं है।

स्थानांग सूत्र में प्रतिपादित विषय एक से दस तक की संख्या में निबद्ध हैं। इसके दश अध्ययनों का एक ही श्रुत स्कन्ध है। प्रथम अध्ययन उद्देशक रहित है। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्ययनों के एक–एक उद्देशक हैं। इस प्रकार स्थानांग सूत्र दश अध्ययनों और इक्कीस उद्देशकों में विभक्त है। संक्षेप में स्थानांग की विषय सूची इस प्रकार हैं–

स्थानांग में वर्णित विषय–

०१. स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त और स्व–पर सिद्धान्त का वर्णन।
०२. जीव, अजीव और जीवाजीव का कथन।
०३. लोक, अलोक और लोकालोक का कथन।
०४. द्रव्य के गुण और विभिन्न क्षेत्रकालवर्ती पर्यायों पर चिन्तन।
०५. पर्वत, पानी, समुद्र, देव, देवों के प्रकार, पुरुषों के विभिन्न प्रकार, स्वरूप, गोत्र, नदियों, निधियों और ज्योतिष्क देवों की विविध गतियों का वर्णन।
०६. एक प्रकार, दो प्रकार, यावत् दस प्रकार के लोक में रहने वाले जीवों और पुद्गलों का निरूपण।
०७. ऐतिहासिक एवं पौराणिक विवेचन।
०८. विविध नामावलियाँ।
०९. कर्म सिद्धान्त की सार्थकता।
१०. नय, स्याद्वाद, निक्षेप दृष्टि।
११. एक ही विषय का दृष्टान्त रूप में प्रस्तुतीकरण।

(1) प्रथम स्थान

इसमें प्रत्येक वस्तु का कथन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार दार्शनिक आधारों पर किया गया है। इसमें मूलत: नय दृष्टि और निक्षेप दृष्टि का समावेश है। नय में भी इस स्थान में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय है। इसमें अनेक विषयों के चार–चार पद गिनाये गए हैं। इसके प्रथम स्थान में अस्तित्त्व सूत्र, प्रकीर्णक सूत्र, पुद्गल सूत्र आदि के माध्यम से अठारह तथ्यों का उल्लेख है। 'एगे आया'[९]–एगे मणे, एगा वाई आदि वाक्यों के माध्यम से एक संख्या से विविध तथ्यों का विवेचन किया गया है। इसके सिद्धपद में तीर्थसिद्ध, अतीर्थसिद्ध, तीर्थंकर सिद्ध, स्वयंसिद्ध, प्रत्येकबुद्धसिद्ध[१०] इत्यादि की एक–एक वर्गणाएँ कही गई हैं।

(2) द्वितीय स्थान

द्वितीय स्थान में चार उद्देशक हैं। इसमें व्यवहारनय की अपेक्षा द्रव्य, वस्तु या पदार्थ आदि के दो–दो भेद प्रतिपादित किए गए हैं।

प्रथम उद्देशक– द्वितीय स्थान के प्रथम उद्देशक में द्विपदावतारपद, क्रियापद,

गर्हापद, प्रत्याख्यान पद आदि २३ विषयों का उल्लेख है। जीव और अजीव, त्रस और स्थावर, सयोनिक और अयोनिक, आयु सहित और आयु रहित, इन्द्रिय सहित और इन्द्रिय रहित, वेद सहित और वेद रहित, आस्रव और संवर, वेदना और निर्जरा आदि का वर्णन है और ये द्विपदावतार पद कहलाते हैं।[११] इसी तरह इसमें दो क्रिया, दो विद्या चरण आदि पदों के आधार पर जीवों के विविध स्थानों की व्याख्या की गई है। द्रव्य दो प्रकार के कहे गए हैं– १. परिणत और २. अपरिणत।[१२]

द्वितीय उद्देशक–इसमें वेदना, गति, आगति, दण्डक–मार्गणा, अवधिज्ञान–दर्शन, देशतः–सर्वतः श्रवणादि, शरीर आदि का उल्लेख है। गति–आगति पद में कहा है– नारक जीव दो गति और दो आगति वाले कहे गए हैं।[१३] नैरयिक (बद्ध नरकायुष्क) जीव मनुष्य से अथवा पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिकों में से (जाकर) उत्पन्न होता है। इसी प्रकार नारकी जीव नारक अवस्था को छोड़कर मनुष्य अथवा पंचेन्द्रियतिर्यग्योनि में उत्पन्न होता है।[१४]

तृतीय उद्देशक–इसमें शरीर–पद, पुद्गल–पद, इन्द्रिय–विषय–पद, आचार–पद, प्रतिमा–पद आदि ३४ पदों का उल्लेख है। प्रस्तुत उद्देशक के आचार पद में आचार दो प्रकार का कहा गया है –१. ज्ञानाचार और २. नो ज्ञानाचार। १. दर्शनाचार और २. नो दर्शनाचार। १. चारित्राचार और २. नो चारित्राचार। १. तप आचार और २. वीर्याचार।[१५]

चतुर्थ उद्देशक– इसमें जीवाजीव पद, कर्म पद, आत्मनिर्माण पद आदि २१ पदों का वर्णन है। बन्ध के प्रेयोबन्ध और द्वेषबन्ध ये दो भेद किए हैं। जीव दो स्थानों से पापकर्म का बन्ध करते हैं राग से और द्वेष से। जीव दो स्थानों से पापकर्म की उदीरणा करते हैं– आभ्युपगमिकी वेदना से और औपक्रमिकी वेदना से। जीव दो स्थानों से पाप कर्म की निर्जरा करते हैं– आभ्युपगमिकीवेदना से और औपक्रमिकी वेदना से।[१६]

(3) तृतीय स्थान

प्रस्तुत स्थान के चार उद्देशक हैं, जिनमें तीन-तीन की संख्या से संबद्ध विषयों का निरूपण किया गया है।

प्रथम उद्देशक– इसमें इन्द्र पद, विक्रिया पद, संचित पद आदि के ४८ सूत्र हैं। इन्द्र पद में इन्द्र तीन प्रकार के कहे गए हैं– १. नाम इन्द्र २. स्थापना इन्द्र ३. द्रव्य इन्द्र। इसी प्रकार १. ज्ञान इन्द्र २. दर्शन इन्द्र और ३. चारित्र इन्द्र ये तीन भी इन्द्र के भेद हैं। इस तरह इन्द्र के भेद–प्रभेद आदि का विस्तार से वर्णन है।[१७] इसमें परिचारणा, योग, करण आदि के भेदों का भी उल्लेख है।

द्वितीय उद्देशक– इसमें लोक सूत्र, परिषद् सूत्र, याम सूत्र, वयः सूत्र आदि २० सूत्रों का वर्णन किया गया है। इसके बोधि सूत्र में बोधि के तीन भेद किए

गए हैं— १. ज्ञान बोधि २. दर्शन बोधि और ३. चारित्र बोधि। इसी में तीन प्रकार के बुद्ध १. ज्ञान बुद्ध २. दर्शन बुद्ध और ३ चारित्र बुद्ध[18] का प्रतिपादन किया गया है।

तृतीय उद्देशक— इसमें आलोचना सूत्र, श्रुतधर सूत्र, उपधि सूत्र, आत्मरक्षसूत्र आदि ३५ सूत्रों का उल्लेख है। प्रस्तुत उद्देशक के श्रुतधर सूत्र में सूत्रकार बताते हैं कि— श्रुतधर १. सूत्रधर २. अर्थधर और ३ तदुभयधर[19] नाम वाले हैं।

चतुर्थ उद्देशक—इसमें प्रतिमा सूत्र, काल सूत्र, वचनसूत्र, विशोधि सूत्र आदि ४७ सूत्रों का वर्णन हैं। प्रस्तुत सूत्र में वचन तीन प्रकार के कहे गए हैं— १. एकवचन २. द्विवचन और ३. बहुवचन। १. स्त्रीवचन २. पुरुष वचन और नपुंसक वचन। १. अतीत वचन २. प्रत्युत्पन्न वचन और ३ अनागत वचन।[20] इस तरह लिंग (व्यक्ति), काल और रचना की अपेक्षा से विषय का विभाजन किया गया है।

(4) चतुर्थ स्थान

प्रस्तुत स्थान में चार की संख्या से संबंध रखने वाले अनेक विषय संकलित हैं। प्रस्तुत स्थान में सैद्धान्तिक, भौगोलिक, प्राकृतिक आदि अनेक विषयों के स्थानों का वर्णन है। चतुर्थ स्थान में चार उद्देशक हैं।

प्रथम उद्देशक—इसमें अन्तक्रिया सूत्र, उन्नत प्रणत सूत्र, भाषा सूत्र, सुत सूत्र आदि ४८ सूत्रों का वर्णन है। सुत सूत्र में सुत के भेदों का उल्लेख है, जिसे निक्षेप दृष्टि से इस प्रकार प्रतिपादित किया हैं— १. कोई सुत अतिजात—पिता से अधिक समृद्ध और श्रेष्ठ होता है। २. कोई सुत अनुजात— पिता के समान समृद्धि वाला होता है। ३.कोई सुत अपजात— पिता से हीन समृद्धि वाला होता है। ४. कोई सुत कुलाङ्गार— कुल में अंगार के समान कुल को दूषित करने वाला होता है।[21]

द्वितीय उद्देशक—इसमें प्रतिसंलीन—अप्रतिसंलीन सूत्र, दीण—अदीण सूत्र आदि ४८ सूत्रों का वर्णन है। प्रस्तुत सूत्र के लोकस्थिति सूत्र में सूत्रकार ने लोकस्थिति इस प्रकार की कही है— १. वायु आकाश पर प्रतिष्ठित है। २. घनोदधि वायु पर प्रतिष्ठित है। २. पृथ्वी घनोदधि पर प्रतिष्ठित है। ४. त्रस और स्थावर जीव पृथ्वी पर प्रतिष्ठित हैं।[22]

तृतीय उद्देशक—इसमें क्रोध सूत्र, भाव सूत्र, उपकार सूत्र, आश्वास सूत्र आदि ६३ सूत्रों का वर्णन है। लेश्या सूत्र का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने असुरकुमारों की चार लेश्याओं का कथन इस प्रकार किया है— १. कृष्ण लेश्या २. नील लेश्या ३. कापोत लेश्या और ४. तेजो लेश्या। इसी प्रकार पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, वनस्पतिकायिक जीवों, वाणव्यन्तर देवों और असुरकुमारों की लेश्याओं का विवेचन किया गया है।[23]

चतुर्थ उद्देशक–इसमें प्रसर्पक सूत्र, आहार सूत्र, वणकर सूत्र, काम सूत्र आदि ५६ सूत्रों का वर्णन है। प्रस्तुत उद्देशक के वृक्ष विक्रिया सूत्र में वृक्षों की विकरण रूप विक्रिया चार प्रकार की कही गयी हैं। जैसे– १. प्रवाल (कोंपल) के रूप में २. पत्र के रूप में ३. पुष्प के रूप में और ४. फल के रूप में।[२४]

(5) पंचम स्थान

इसमें पाँच की संख्या से संबंधित विषयों का समावेश है, जिनमें सैद्धान्तिक, तात्त्विक, दार्शनिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक, ज्योतिष्क, योग आदि अनेक विषयों का वर्णन है।[२५] पंचम स्थान के तीन उद्देशक हैं।

प्रथम उद्देशक– इसमें महाव्रत, अणुव्रत, इन्द्रिय विषय, प्रतिमा, देव आदि ३० विषयों का वर्णन है। प्रस्तुत सूत्र में राजचिह्न सूत्र पाँच प्रकार के कहे गये हैं जैसे– १. खड्ग २. छत्र ३. उष्णीष ४. उपानह और ५. बाल व्यजन।[२६]

द्वितीय उद्देशक–इसमें महानदी, उत्तरण सूत्र, वर्षावास सूत्र, व्यवहार सूत्र, परिज्ञा सूत्र आदि ३४ सूत्रों का वर्णन है। प्रस्तुत उद्देशक के परिज्ञा सूत्र में परिज्ञा पांच प्रकार की कही गयी है जैसे– १. उपधि परिज्ञा २. उपाश्रय परिज्ञा ३. कषाय परिज्ञा ४. योग परिज्ञा और ५. भक्त पान परिज्ञा।[२७]

तृतीय उद्देशक–इसमें अस्तिकाय सूत्र, गीत सूत्र, इन्द्रियार्थ सूत्र, मुंड आदि ४० स्थानों का वर्णन है। प्रस्तुत उद्देशक के गति सूत्र में गतियों के प्रकारों का उल्लेख है– १. नरक गति २. तिर्यंच गति ३. मनुष्य गति ४. देव गति और ५. सिद्ध गति।[२८]

(6) षष्ठ स्थान

इसमें छह–छह संख्या से निबद्ध अनेक विषय संकलित हैं। प्रस्तुत स्थान में एक उद्देशक है। साधु-साध्वियों की समाचारी के लिये यह स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसमें उनकी चर्याओं का विस्तार से वर्णन है। साथ ही इसमें सैद्धान्तिक, ऐतिहासिक, ज्योतिष्क, भौगोलिक, आयुर्वेद, विवाद पद आदि अनेक स्थानों की जानकारी भी दी गई है। प्रस्तुत स्थान में ६६ स्थानों/विषयों का उल्लेख है। जिनमें गण–धारण–सूत्र, निर्ग्रन्थी अवलम्बन सूत्र, गति-आगति सूत्र भी है। इसी के असंभव सूत्र में बताया गया है कि सभी जीवों में छह कार्य करने की न ऋद्धि, न द्युति, न यश, न बल, न वीर्य, न पुरस्कार और न ही पराक्रम है, जैसे– १. जीव को अजीव करना २. अजीव को जीव करना ३. एक समय में दो भाषा बोलना ४. स्वयंकृत कर्म को वेदन करना या वेदन नहीं करना, ५. पुद्गल परमाणु का छेदन या भेदन करना या अग्निकाय में जलाना और ६. लोकान्त से बाहर जाना।[२९]

(7) सप्तम स्थान

प्रस्तुत सप्तम स्थान में सात की संख्या से संबद्ध विषयों का संकलन

किया गया है। सात संख्या वाले अनेक दार्शनिक, भौगोलिक, ज्योतिष्क, ऐतिहासिक, पौराणिक आदि विषयों का वर्णन है। एक उद्देशक है। प्रस्तुत स्थान में ही जीव विज्ञान, लोक स्थिति संस्थान, गोत्र, नय, आसन, पर्वत, धान्य स्थिति, सात प्रवचन निह्नव, सात समुद्घात आदि विविध विषयों का संकलन है। इसके सप्त स्वरों के वर्णन से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में संगीत विज्ञान का कितना महत्त्व था। इसमें श्रेष्ठता के आधार पर व्यक्ति का मूल्यांकन किया है। राजाओं में चक्रवर्ती राजा श्रेष्ठ होता है। रत्नों में हीरक, संघ में आचार्य और उपाध्याय का प्रमुख स्थान होता है। प्रस्तुत स्थान में गणापक्रमण सूत्र, विभंग ज्ञान सूत्र, संग्रह स्थान सूत्र, असंग्रह स्थान सूत्र आदि ४७ स्थानों का वर्णन है। इसी में बादरवायुकायिक सूत्र में बादर वायुकायिक जीवों का वर्णन है— १. पूर्व दिशा संबंधी वायु २. पश्चिम दिशा सम्बन्धी वायु, ३. दक्षिण दिशा सम्बन्धी वायु ४. उत्तर दिशा संबंधी वायु ५. ऊर्ध्व दिशा सम्बन्धी वायु ६. अधोदिशा सम्बन्धी वायु और ७. विदिशा सम्बन्धी वायु जीव।[३०]

(8) अष्टम स्थान

आठवें स्थान में आठ की संख्या से संबंधित विषयों का संकलन किया गया है। प्रस्तुत स्थान में भी एक उद्देशक है। इसमें एकलविहार प्रतिमा सूत्र, योनि संग्रह सूत्र, गति-अगति सूत्र, कर्म बन्ध सूत्र, दर्शनसूत्र आदि ६१ स्थानों का वर्णन है। प्रस्तुत उद्देशक के महानिधि सूत्र में बताया गया है कि चक्रवर्ती की प्रत्येक महानिधि आठ—आठ पहियों पर आधारित है। आठ—आठ योजन ऊंची कही गयी है।[३१]

(9) नवम स्थान

इसमें नौ—नौ की संख्याओं से संबंधित विषयों का संकलन है। प्रस्तुत स्थान में एक उद्देशक है। विसंभोग सूत्र,.जीव सूत्र, गण सूत्र, कूट सूत्र आदि ४१ स्थानों का वर्णन है। प्रस्तुत स्थान के संसार सूत्र में बताया गया है कि जीव नौ स्थानों से (नौ पर्यायों में) संसार परिभ्रमण करते हैं, कर रहे हैं, और आगे करेंगे। जैसे १.पृथ्वीकायिक रूप से २. अप्कायिक रूप से ३. तैजसकायिक रूप से ४. वायुकायिक रूप से ५. वनस्पतिकायिक रूप से ६. द्वीन्द्रिय रूप से ७. त्रीन्द्रिय रूप से ८. चतुरिन्द्रिय रूप से ९. पंचेन्द्रिय रूप से।[३२]

(10) दशम स्थान

इसमें दस की संख्या से संबंधित विविध विषयों का वर्णन है। लोकस्थिति, इन्द्रियों के विषय, पुद्गल और क्रोध की उत्पत्ति का विस्तार से विवेचन है। स्वाध्याय काल, धर्म पद, स्थविरों के भेद, भगवान महावीर के स्वप्न आदि का विवेचन भी है। दशम स्थान उद्देशक रहित है। इसमें लोक

स्थिति सूत्र, इन्द्रियार्थ सूत्र, क्रोधोत्पत्ति स्थान सूत्र आदि ९३ सूत्रों का उल्लेख है। प्रस्तुत स्थान में श्रमण धर्म सूत्र में श्रमण धर्म दस प्रकार का कहा गया है जैसे– १. क्षान्ति (क्षमा धारण करना) २. मुक्ति (लोभ नहीं करना) ३. आर्जव (मायाचार नहीं करना) ४. मार्दव (अहंकार नहीं करना) ६. सत्य (सत्य वचन बोलना) ७. संयम धारण ८. तपश्चरण ९. त्याग(सांभोगिक साधुओं को भोजनादि देना) १०.ब्रह्मचर्यवास (ब्रह्मचर्य पूर्वक गुरुजनों के पास रहना)।[33]

इस तरह स्थानांग सूत्र में चारों अनुयोगों का समावेश है। मुनि कन्हैयालाल 'कमल' ने अपनी आगमिक दृष्टि से कहा है– स्थानांग में द्रव्यानुयोग के ४२६ सूत्र, चरणानुयोग के २१४, गणितानुयोग के १०९ और धर्मकथानुयोग के ५९ सूत्र हैं। इसकी विषय वस्तु के उक्त विवरण में संस्कृति के सभी तथ्यों का समावेश हो गया है। यह ऐसा आगम है जिसमें सिद्धान्त, दर्शन, नीति, न्याय आदि के स्थानों पर संख्या की दृष्टि से विवेचन किया गया है। यह कोई कथाग्रन्थ नहीं है और न ही सैद्धान्तिक, दार्शनिक आदि विषयों की विस्तृत विवेचना करने वाला आगम है। फिर भी विषय वर्गीकरण की दृष्टि से यह अंग आगम एक विश्वकोष है। इसमें दस स्थान अध्यायों के प्रतीक हैं।

संदर्भ

०१. नन्दीसूत्र, सूत्र ८२ "ठाणेणं एगाइयाए एगुत्तरियाए वुड्ढीए दसट्ठाणगविवड्ढियाणं भावाणं परूवणा आघविज्जति।"

०२. कसायपाहुड : 1/123 "ठाणं णाम जीवपुग्गलादीणामेगादि एगुत्तरकमेगठाणाणि वण्णेदि।"

०३. नन्दीसूत्रचूर्णि : पृ.६४ "ठाविज्जंति त्ति स्वरूपतः स्थाप्यंते प्रज्ञाप्यंत इत्यर्थः।"

०४. कसायपाहुड: १/११३/६४–६५
"एक्को चेव महप्पा सो दुवियप्पो तिलक्खणो भणिओ।
चतुसंकमणाजुतो पंचग्गुणप्पहाणो य।।
छक्कायक्कमजुतो उवजुत्तो सत्तभंगिसब्भावो।
अट्ठासवो णवट्ठो जीवो दसट्ठाणिओ भणिओ"।।

०५. आगम साहित्य : मनन और मीमांसा : पृ. ९६

०६. व्यवहार सूत्र : पृ. ४४९, "तओ थेरभूमिओ पण्णत्ताओ, तं जहा–जाइथेरे सुयथेरे, परियायथेरे। सट्ठिवासजाए समणे णिग्गंथे जाइथेरे। ठाणांग– समवायांगधरे समणे णिग्गंथे सुयथेरे। वीसवासपरियाए समणे णिग्गंथे परियायथेरे।"

०७. व्यवहार सूत्र: ३/३/६८, "ठाणसमवायधरे कप्पई आयरित्ताए उवज्झायत्ताए गणवच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए"

०८. (क) स्थानांगवृत्ति : पत्र ३ (ख) "तत्र च दशाध्ययनानि"

०९. स्थानांग : १/२

१०. वही: १/२१४, "एगा तित्थसिद्धाणं वग्गणा एवं जाव।"

११. वही: २/१ "जीवच्चेव, अजीवच्चेव, तसच्चेव, थावरच्चेव।"

१२. वही: २/१४३ "परिणया चेव, अपरिणया चेव।"

१३. वही: २/२/४८ "णेरइया दुगतिया दुयागतिया पण्णत्ता।"
१४. स्थानांग : २/२/१७३
१५. स्थानांग: २/३/२३९
१६. वही : २/३/३९७
१७. स्थानांग: ३/१/२
१८. वही : ३/२/१७६ "णाणबोधी, दंसणबोधी, चरित्तबोधी।"
१९. वही: ३/३/३४४
२०. वही: ३/४/४२६
२१. स्थानांग: ४/१/३४
२२. वही: ४/२/२५९
२३. स्थानांग: ४/३/३६९, "कण्हलेसा, णील लेसा, काउलेसा, तेउलेसा"
२४. वही: ४/४/५२९, "पवालताए, पत्तताए, पुप्फताए, फलताए"
२५. वही: ५/पृ.४४७
२६. वही: ५/१/७२, "खग्गं, छत्तं, उप्फोसं, पाणहाओ, बालवीअणे"
२७. वही: ५/२/१२३
२८. स्थानांग: ५/३/१७५
२९. वही: ६/५.५
३०. स्थानांग: ७/२५
३१. वही: ८/१/१६
३२. स्थानांग ९/१२
३३. वही: १०/१६

—4/1, ओ. टी. एस. क्वार्टर,
जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर (राज.)

स्थानांग सूत्र का प्रतिपाद्य

● श्री तिलकधर शास्त्री

तृतीय अंग-आगम 'स्थानांग' सूत्र में एक से लेकर दश संख्याओं में आगम, दर्शन, इतिहास, खगोल आदि की विविध जानकारियों को वर्गीकृत किया गया है। इससे संबद्ध विषयवस्तु का सुगमता से स्मरण हो सकता है। प्रतिपादन में नयदृष्टि रही है। आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना से प्रकाशित स्थानांगसूत्र की प्रस्तावना श्री तिलकधर जी शास्त्री ने लिखी थी। उसी का अंश यहाँ पर संकलित कर प्रस्तुत किया गया है।

—सम्पादक

'स्थानांग' सूत्र ११ अंगों में तीसरा अंग है जिसे हम जैन संस्कृति का 'विश्वकोष' कह सकते हैं। संख्या के क्रम से तत्त्वों के नामों का संकलन करने की सुन्दर शैली में लिखा गया यह एक अद्भुत ग्रन्थ है जो संभवत: स्मरण-शक्ति की वृद्धि के लिये निर्मित हुआ होगा। सबसे पहले 'स्थानांग' नाम पर ही विचार करना उपयुक्त होगा।

'स्थानांग' यह शब्द 'स्थान' और 'अंग' इन दो शब्दों के मेल से बना है। स्थान शब्द अनेकार्थक है, परन्तु सूत्रकार को इसके दो अर्थ अभीष्ट प्रतीत होते हैं। 'देशी नाममाला' में स्थान का अर्थ 'मान' अर्थात् परिमाण किया गया है। प्रस्तुत आगम में तत्त्वों के एक से लेकर दस तक के परिमाण अर्थात् संख्या का उल्लेख है, अत: इसे 'स्थान' कहा गया है। 'स्थान' शब्द का अर्थ 'उपयुक्त' भी होता है।[1] प्रस्तुत आगम में तत्त्वों का एक, दो आदि के क्रम से उपयुक्त चुनाव किया गया है, अत: इसे 'स्थान' कहा गया है। अभिप्राय यह है कि यह आगम ऐसा 'स्थान' है जिसमें तत्त्वों की संख्या का उपयुक्त निर्देश किया गया है।

दूसरा शब्द 'अंग' है। वैदिक साहित्य में प्रमुख ग्रन्थों को 'संहिता' अथवा 'वेद' कहा गया है और उनके अध्ययन के लिये सहायक विविध विषयों के शिक्षा, छन्द, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त और कल्प आदि के प्रतिपादक गौण ग्रन्थों को अंग कहा गया है, परन्तु जैन साहित्य में इस शब्द का प्रयोग प्रधान ग्रन्थों के लिये किया गया है। जैन संस्कृति में द्वादशांगी के लिये जिस 'गणिपिटक' शब्द का प्रयोग किया जाता है उस गणिपिटक का प्रत्येक ग्रन्थ एक अंग है, इसीलिये जैनाचार्यों ने श्रुत पुरुष की कल्पना करते हुए 'गणिपिटक' को ही श्रुतपुरुष कहा है और प्रत्येक आगम को उसका एक अंग माना है। अंग समूह भी 'अंग' कहलाता है, इसीलिये शरीर को अंग कहा गया है 'अंग' शब्द 'स्थान' के साथ मिलकर यह ध्वनित करता है कि यह आगम एक ऐसा आगम है जिसमें प्रत्येक तत्त्व की संख्याक्रम से स्थापना की गई है।

'ज्ञान' आत्मा का अंग है, यह आगम एक ऐसा आगम है जिसमें

आत्मा की अंगभूत ज्ञानराशि को एक-दो आदि के क्रम से स्थान दिया गया है। इस अर्थ की भी सूचना दे रहा है 'स्थानांग' यह नाम।

गणिपिटक में 'स्थानांग सूत्र' को तीसरा स्थान दिया गया है जो इसके महत्त्व का प्रतिपादन कर रहा है। विद्वानों का विचार है कि अन्य नौ आगमों के निर्माण के अनन्तर स्मृति एवं धारणा की दृष्टि से अथवा विषय अन्वेषण की सरलता की दृष्टि से स्थानांग सूत्र और समवायांग सूत्र का निर्माण किया गया होगा और इन्हें विशेष प्रतिष्ठा देने के लिये अंगों में स्थान दे दिया होगा।[2] परन्तु यह तथ्य बुद्धि को अपील नहीं करता है।

बात यह है कि यदि नौ आगमों के निर्माण के अनन्तर स्थानांग सूत्र और समवायांग सूत्र का निर्माण हुआ होता तो इनको तीसरा, चौथा अंग न मानकर दसवां ग्यारहवां अंग ही माना जा सकता था, इन्हें चौथा स्थान देने की क्या आवश्यकता थी? दसवां, ग्याहरवां स्थान देने पर इनकी महत्ता में कोई अन्तर भी नहीं आ सकता था, क्या दसवें प्रश्नव्याकरण सूत्र और ग्यारहवें विपाक सूत्र की महत्ता कम हो गई है?

मालूम होता है कि आचारांग और सूत्रकृतांग को पहले इसलिये रखा गया है कि नवदीक्षित साधु आचार में परिपक्व हो जाए, वह साधु--वृत्ति के नियमों से परिचित हो जाए, हेय--उपादेय को जान जाय। इस प्रकार निरन्तर आठ वर्ष तक साधुचर्या में परिनिष्ठित होकर वह ज्ञातव्य विषयों की नामावली को जाने, उनके सामान्य रूप से परिचित हो जाय और फिर वह क्रमशः प्रत्येक विषय की व्याख्या अन्य आगमों से प्राप्त करे, इसलिये स्थानांग सूत्र को तीसरा स्थान दिया गया होगा।

स्थानांग और समवायांग को बुद्धिगम्य कर लेने के अनन्तर एक प्रकार से श्रुत साधक समस्त आगमों का वेत्ता हो जाता है, इसलिये आगमकार उसे श्रुतस्थविर कहते हैं और व्यवहार सूत्र के दसवें उद्देशक के पन्दहवें सूत्र में श्रुतस्थविर को श्रेष्ठ बताते हुए कहा गया है कि वन्दना, छन्दोऽनुवृत्ति तथा पूजा सत्कार से श्रुत--स्थविर का विशेष सम्मान करना चाहिये।[3] वहाँ यह भी कहा गया है कि जो 'स्थानांग और समवायांग का अध्येता है और आठ वर्ष की दीक्षावाला है वह आचार्य, उपाध्याय, गणी, गणावच्छेदक, प्रवर्तक आदि पदवियों के योग्य होता है। शास्त्रकार की यह व्यवस्था स्थानांग सूत्र की महत्ता और उसके तृतीय स्थानस्थ होने के कारण का निर्देश करती है।

व्यवहार सूत्र का यह कथन है कि "अट्ठवासपरियागस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ ठाणसमवाए उद्दिसित्तए"— अर्थात् आठ वर्ष का दीक्षित साधु स्थानांग और समवायांग के अध्ययन के योग्य होता है, उसका कारण भी यही बताया गया है कि चार वर्ष तक दीक्षापर्याय का आचारनिष्ठ होकर

पालन करने वाला स्थिर-बुद्धि हो जाता है, अत: वह अन्य मतावलम्बियों से प्रभावित नहीं हो पाता। पाँचवें वर्ष में दस कल्प व्यवहारों को जान कर वह और भी दृढ़ आस्था वाला हो जाता है, अत: इसके अनन्तर वह स्थानांग और समवायांग का भलीभाँति अध्ययन कर सकता है।[४]

यहाँ एक बात अवश्य विचारणीय है कि क्या स्थानांग सूत्र का अध्ययन केवल आठ वर्ष की दीक्षा पर्यायवाला साधु ही कर सकता है? अन्य नहीं? किन्तु आगमों में अनेक श्रावकों द्वारा सूत्रों के अध्ययन का उल्लेख प्राप्त होता है, अत: इसका यही आशय है कि पूर्ण आचारवान बनकर श्रद्धापूर्वक ज्ञान के चौदह अतिचारों को ध्यान में रखकर श्रावक–श्राविका वर्ग भी इसका अध्ययन कर सकता है।

अध्ययन संख्या

स्थानांग सूत्र में १० अध्ययन हैं और १० अध्ययनों का एक ही श्रुतस्कन्ध है। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्ययन के चार–चार उद्देशक हैं, पंचम अध्ययन के तीन उद्देशक हैं और शेष छ: अध्ययनों के एक–एक उद्देशक हैं। इस प्रकार स्थानांग सूत्र १० अध्ययनों और २१ उद्देशकों में विभक्त है।

श्रुतस्कन्ध

स्थानांग सूत्र में केवल एक श्रुतस्कन्ध है। अनेक अध्ययनों के समूह को स्कन्ध कहा जाता है। स्कन्ध वृक्ष के उस भाग को अर्थात् तने को कहते हैं जहाँ से अनेक शाखाएँ फूटती हैं। जब किसी श्रुत अर्थात् शास्त्र में वर्ण्य विषय एवं शैली आदि की दृष्टि से अनेक विभाग किये जाते हैं, उन्हें श्रुतस्कन्ध कहते हैं। जैसे आचारांग को बाह्य आचार और आन्तरिक आचार की दृष्टि से दो भागों में बांट दिया गया है। सूत्रकृतांग को पद्य और गद्य की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया गया है। ज्ञाताधर्म कथा को आराधक और विराधक की दृष्टि से और प्रश्नव्याकरण सूत्र को आस्रव और संवर की दृष्टि से दो–दो भागों में बांटा गया है। इस प्रकार इन शास्त्रों के दो–दो श्रुतस्कन्ध हैं, परन्तु प्रस्तुत स्थानांग में एक ही श्रुतस्कन्ध हैं, क्योंकि यहाँ आदि से लेकर अन्त तक एक आदि संख्या के क्रम से तत्त्व निरूपण रूप विषय का प्रतिपादन किया गया है।

अध्ययन

जैनागमों का विषय-विभाग की दृष्टि से जब वर्गीकरण किया जाता है तब बड़े प्रकरण को अध्ययन और छोटे प्रकरण को उद्देशक कहा जाता है। बड़े प्रकरण के लिये अध्ययन शब्द का प्रयोग केवल जैनागमों में ही प्रयुक्त हुआ है। कभी–कभी विषय-सूचक शब्द को इसके साथ संयुक्त करके समग्र अध्ययन के वर्ण्य विषय का निर्देश कर दिया जाता है। जैसे

'अकाममरणिज्जमज्झयणं' 'अकाम—मरणीयमध्ययनम्'। इस अध्ययन-नाम से ही पूरे अध्ययन के वर्ण्य-विषय का बोध हो गया है।

अध्ययन शब्द विषय-ग्रहण पूर्वक स्वाध्याय का निर्देश करता है, क्योंकि अधि=अपने आप में, अयन=गमन। शास्त्र का इस प्रकार से अध्ययन जिससे कि अध्येता वर्ण्य-विषय के साथ तादात्म्य स्थापित करके आत्मनिष्ठ हो जाय।

निक्षेप के अनुसार नाम-अध्ययन, स्थापना-अध्ययन, द्रव्य-अध्ययन और भाव-अध्ययन के रूप में चार प्रकार के अध्ययन बताए गए हैं, परन्तु शास्त्रकारों को चारों में से भाव अध्ययन ही विशेष रूप से इष्ट है। शास्त्रकार उसे भाव अध्ययन कहते हैं जिसके अध्ययन से शुभ कर्म में प्रवृत्ति हो, आत्म-तत्त्व का स्मरण हो और उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि हो।

अध्ययन को 'अक्षीण' भी कहा जाता है, क्योंकि स्वाध्याय से ज्ञान कभी क्षीण नहीं होने पाता। अध्ययन को 'आय' भी कहा जाता है, क्योंकि इससे ज्ञान, दर्शन और चारित्र का लाभ होता है। अध्ययन को 'क्षपणा' भी कहते हैं, क्योंकि स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षय होता है। स्थानांग सूत्र के स्वाध्याय की भी यही विशेषता है, अतः इसका अध्ययनों में विभागीकरण किया गया है।

पद संख्या

जैनागमों में पद संख्या का निर्णय एक जटिल समस्या है जैसे कि समवायांग सूत्र में स्थानांग की पद संख्या ७२ हजार बताई गई है। नन्दीसूत्र में भी 'बावतरि—पय—सहस्सा' कह कर ७२ हजार पद संख्या का ही निर्देश किया गया है। दिगम्बर सम्प्रदाय स्थानांग की पद संख्या ४२००० बताता है, परन्तु वर्तमान में उपलब्ध किसी भी प्रति में यह पदसंख्या प्राप्त नहीं होती।

पद क्या है?

व्याकरण शास्त्र में विभक्ति युक्त सार्थक शब्द को एवं प्रत्ययान्त धातु रूप को पद कहा गया है। इस दृष्टि से ''रामः वनं गच्छति'' इस वाक्य में तीन पद हैं। 'यत्रार्थोपलब्धिस्तत्पदम्'' की उक्ति के अनुसार पूर्ण अर्थ के परिचायक वाक्य को भी पद कहा जाता है। इस दृष्टि से ''रामः वनं गच्छति' यह एक वाक्य ही पद है। श्रीहरिभद्र और आचार्य मलयगिरि को पद की यही परिभाषा इष्ट है।

छन्द शास्त्र में पद्य की एक पंक्ति को पद कहा जाता है। जैसे कि 'एसो पंच णमोक्कारो' यह अनुष्टुप छन्द का एक पद है।

दिगम्बर सम्प्रदाय अर्थ—पद, प्रमाण-पद और मध्यमपद भेदों के रूप में तीन प्रकार के पद मानता है। ऊपर प्रदर्शित प्रथम और द्वितीय पद अर्थ पद है और छन्द शास्त्रोक्त पद को प्रमाण पद कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें

अक्षरों या मात्राओं का एक निश्चित प्रमाण होता है।

१६ अरब, ३४ करोड़, ८३ लाख, ७ हजार ८ सौ ८८ अक्षरों का एक मध्यम-पद होता है। इतने अक्षरों से ५१०८८४६२१ अनुष्टुप् छन्द बनते हैं। मध्यम पद की गणना से यदि स्थानांग की पद संख्या ४२००० मान ली जाय तो सम्भवतः पूरे जीवन में कोई मुनीश्वर स्थानांग का भी अध्ययन न कर पाएगा। परन्तु शास्त्रकारों ने लिखा है कि धन्ना अनगार ने नौ मास में और अर्जुन मुनि ने छः महीने में ११ अंगों का अध्ययन कर लिया था। मध्यम पद-परिमाण मान लेने पर यह उल्लेख सर्वथा असम्भव सा लगता है, अतः सुबन्त तिङन्त को पद मानकर की जाने वाली गणना कुछ बुद्धि गम्य हो सकती है। इस दृष्टि से स्थानांग की पद संख्या ७२००० स्वीकार की जा सकती है।

श्री अभयदेव सूरि कृत व्याख्या-सहित आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित स्थानांग सूत्र में जो संख्या दी गई है वह सूत्र संख्या ७८३ ही है।

बत्तीस अक्षरों से निर्दिष्ट श्लोक परिमाण को प्राचीन लिपिकार 'ग्रन्थाग्र' कहा करते थे और वे इसी ग्रन्थाग्र परिमाण से लेखन का पारिश्रमिक लिया करते थे। ग्रन्थाग्र की दृष्टि से आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित स्थानांग की श्लोक संख्या ३७०० दी गई है (पृष्ठ ५२६) परन्तु भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट के वॉल्यूम १७ के १—३ भागों में निर्दिष्ट स्थानांग की प्रतियों में ग्रन्थाग्र संख्या ३७७० तथा ३७५० दी गई है। इस प्रकार यहाँ श्लोक संख्या में ऐक्य प्रतीत नहीं होता है।

शैली

समवायांग के समान स्थानांग सूत्र का गुम्फन संग्रह-प्रधान कोष शैली में हुआ है। कण्ठस्थ करने की सुविधा की दृष्टि से बहुत प्राचीन काल से भारतीय साहित्यकार इस शैली का प्रयोग करते आए हैं। महाभारत में वन पर्व अध्याय १३४ में तथा अंगुत्तर निकाय आदि बौद्ध ग्रन्थों में इसी शैली का प्रयोग किया गया है।

प्रथम स्थान में एक संख्यक वस्तुओं एवं क्रियाओं आदि का परिचय होने से उसे 'एक स्थान' या प्रथम स्थान कहा गया है। द्वितीय स्थान में दो संख्यक और तृतीय स्थान में तीन संख्यक। इसी प्रकार क्रमशः बढ़ते हुए अन्त के दसवें स्थान में दस संख्यक तत्त्वों का परिचयात्मक निरूपण किया गया है। द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ स्थान को विषय—विभाग की दृष्टि से ४—४ उद्देशकों में और पंचम स्थान को तीन उद्देशकों में विभक्त कर दिया गया है।

जैनागमों की यह एक अपनी विशिष्ट शैली रही है कि यदि किसी एक शास्त्र में किसी विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है तब

उसके अनन्तर उसी प्रकार का वर्णन अन्यत्र आने पर 'जहा भगवईए', 'जहा जीवाभिगमे' 'जहा पन्नवणाए' लिखकर पाठ को संक्षिप्त कर दिया जाता है, परन्तु स्थानांग में केवल नौवें स्थान में— 'जहा समवाए' यह एक ही स्थान पर आया है। इससे ज्ञात होता है कि स्थानांग का संकलन और समवायांग का संकलन साथ—साथ हुआ होगा। अलग—अलग मुनि मण्डलों द्वारा एक साथ संकलन कार्य हुआ होगा। नौवें स्थान तक लेखन कार्य होने पर पारस्परिक परामर्श चल पड़ा होगा, तभी नौवें स्थान में 'जहा समवाए' पाठ दिया गया है। स्थानांग का गणिपिटक में तीसरा स्थान इसकी प्राथमिकता का द्योतक है और साथ ही इसकी पूर्णता का भी।

स्थानांग सूत्र में सूत्रकार ने कहीं—कहीं अपनी संग्रह-प्रधान कोश शैली का परित्याग भी कर दिया है, जैसे कि चतुर्थ स्थान के द्वितीय उद्देशक में नन्दीश्वर द्वीप का वर्णन, भगवान विमलवाहन का वर्णन, इसी प्रकार तृतीय स्थान के द्वितीय उद्देशक के अन्त में (३/२/४७) दिए गए प्रश्नोत्तरों में चारित्रों और पर्वतों आदि के परिचय में भी संग्रह शैली को छोड़कर वर्णन शैली को अपना लिया गया है। ऐसा क्यों हुआ? यह निश्चित तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह माना जा सकता है कि इस वर्णन परम्परा में किसी की जिज्ञासा के समाधान का अवसर आने पर उसे भी तत्कालीन वाचनी में उल्लिखित कर लिया गया होगा, प्रश्न उत्पन्न हुआ होगा कि क्या अन्य किसी तीर्थंकर के भी नौ गण हुए हैं? सूत्रकार ने इसका समाधान कर दिया है, कि भविष्य में तीर्थंकर श्री विमल वाहन जी के भी नौ गण होंगे।

संख्या द्योतक शैली

जैनागमों में संख्यावाचक शब्दों की स्थापना अपनी ही शैली में की गई है, जैसे कि 'एक सौ के स्थान पर **'दसदसाईं'** (अर्थात् दस गुणा दस संख्या) कहा जाता है।

एक हजार के लिये **'दस सयाइं'** अर्थात् (दस सौ) लिखा जाता है। इसी प्रकार 'एक लाख' के लिये **'दस—सय—सहस्साइं'** पाठ प्राप्त होता है।

इसी प्रकार तीन की संख्या के लिये **'छच्च अद्धं'**[६] (स्था. ६/१९) का प्रयोग किया गया है। इस सूत्र में भरत और ऐरवत क्षेत्रों में भूतकालीन सुषम—सुषमा काल में मनुष्य शरीर की ऊँचाई छः हजार धनुष बताई गई है, वहीं पर उनकी आयु का निर्देश क्रम प्राप्त था, परन्तु आयु तीन पल्योपम की है, अतः सूत्रकार ने छः की संख्या का क्रम बनाए रखने के लिए **'छच्चअद्धं'** अर्थात् छः का आधा तीन— ''तीनपल्योपम की आयुवाले' कहा है। यदि इस आयु का निर्देश तृतीय स्थान में किया जाता तो इस प्रकरण के साथ उस प्रकरण का कोई संबंध न रह जाता, अतः **'छच्च—अद्धं'** की शैली को क्लिष्ट कल्पना नहीं कहा जा सकता।

एक तुलनात्मक अध्ययन

भगवान महावीर और भगवान बुद्ध समकालीन महापुरुष थे और दोनों एक ही क्षेत्र में प्रचार कर रहे थे। यह ठीक है कि भगवान महावीर का त्याग मार्ग बहुत कठिन था, अत: भगवान महावीर के मार्ग पर चलना प्रत्येक व्यक्ति के लिये शक्य न था, यही कारण है कि जैन संस्कृति को एक सीमित क्षेत्र में ही रहना पड़ गया।

जिस समय भगवान महावीर अपने प्रवचनों द्वारा 'तत्त्वज्ञान' प्रदर्शित कर रहे थे, उसी समय भगवान बुद्ध भी तत्त्वज्ञान के प्रकाशन में लीन थे, दोनों महापुरुष बहुत अंशों में समान तत्त्वज्ञान की बात कह रहे थे और शैली भी दोनों की कहीं–कहीं समान ही हो गई है। स्थानांग सूत्र और अंगुत्तर–निकाय में यह साम्य स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है जैसा कि नीचे लिखे उद्धरणों से स्पष्ट हो रहा है–

स्थानांग सूत्र (चतुर्थ स्थान)	**अंगुत्तर निकाय (चतुर्थ निकाय)**
चत्तारि उदका पण्णत्ता, तंजहा–	चत्तारो मे भिक्खवे उदकरहदाक तमो–
उत्ताणे णामेगे उत्ताणोभासी,	चत्तारो?–उत्तानो गम्भीरो भासो,
उत्ताणे णामेगे गंभीरो भासी,	गम्भीरो उत्तानोभासो
गम्भीरे णामेगे उत्ताणो भासी,	उत्तानो उत्तानो भासो,
गम्भीरे णामेगे गम्भीरो भासी।	गम्भीरो गम्भीरो भासो,
एवमेव चत्तारि पुरिस जाया	एवमेव खो भिक्खवे चत्तारो
	उदक रहयमा पुग्गला। नि. ४–१०४
चत्तारि मेहा पण्णत्ता, तंजहा–	चत्तारो मे....बलाहका, कतमे चत्तारो?
गज्जित्ता णाममेगे णो वासित्ता,	गज्जित्ता नो वास्सित्ता,
वासित्ता णाममेगे णो गज्जित्ता,	वास्सित्ता नो गज्जित्ता,
एगे गज्जित्ता वि, वासित्ता वि,	नो गज्जित्ता, नो वासित्ता,
एगे णो गज्जित्ता, णो वासित्ता।	गज्जित्ता च वास्सित्ता च।
एवमेव चत्तारि पुरिसजाया।	एवमेव चत्तारो मे बलाहकूपमा पुग्गला।
	निपा. ४–१०१
चत्तारि फला पण्णत्ता, तंजहा–	चत्तारिमानि अम्वानि, कतमानि चत्तारि?
आमे णामेगे आम महुरे,	आमं पक्कवण्णि,
पक्के णामेगे आम महुरे,	पक्कं आमवण्णि,
आमे णामेगे पक्कमहुरे,	आमं आमवण्णि
पक्के णामेगे पक्क महुरे,	पक्कं पक्कवण्णि
एवमेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता	एवमेव चत्तारि मे अम्बूपमा पुग्गला।
	नि. ४–१०६

यह पाठ-साम्य और विषय-साम्य का एक निदर्शन मात्र उपस्थित किया है। अंगुत्तर निकाय के अन्य अनेकों पाठों में इसी प्रकार के साम्य को देखा जा सकता है? यद्यपि स्थानांग सूत्र में पुरुषभेद और अंगुत्तर निकाय में पुद्गल भेद प्रदर्शित करता जा रहा है, परन्तु पुद्गल का अर्थ पुरुष भी होता

है जैसा कि भगवती सूत्र शतक २०, उद्देशक २, सूत्र ६६४ से ज्ञात होता है।

स्थानांग सूत्र में प्रक्षिप्त अंश

अन्य आगमों के समान स्थानांग सूत्र को देखने से ज्ञात होता है कि सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न गीतार्थ मुनीश्वरों ने भगवान् महावीर के समय से प्राप्त श्रुतधारा में यत्र—तत्र कुछ हानि एवं वृद्धि अवश्य की है। उदाहरण के रूप में स्थानांग सूत्र के नौवें स्थान में भगवान महावीर के नौ गणों का उल्लेख किया गया है। जिनके नाम है— गोदासगण, उत्तरबलिस्सहगण, उद्देहगण, चारणगण, ऊर्ध्ववातिकगण, विश्ववातिगण, कामड्ढितगण, माणवगण और कोडिनगण। कल्पसूत्र में कामड्ढितगण का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। यदि कल्पसूत्र वर्णित कामड्ढित कुल से इसकी उत्पत्ति मान भी ली जाय तो भी इन सब गणों का निर्माण भगवान महावीर के काल से लगभग दो सौ वर्ष से लेकर पाँच सौ वर्ष बाद तक माना जाता है, अत: स्थानांग सूत्र में इनका उल्लेख गणों के निर्माण के बाद ही हुआ होगा और इसे किसी गीतार्थ मुनि की संयोजना ही कहा जा सकता है।

इसी प्रकार स्थानांग में सात निन्हवों का उल्लेख मिलता है जिनके नाम हैं— जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ़, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल। इनमें से जमालि और तिष्यगुप्त तो भगवान महावीर के समकालीन थे, परन्तु शेष निह्नवों का काल भगवान महावीर के निर्वाण वर्ष के तीन सौ साल से लेकर छ: सौ साल बाद तक का माना जाता है। ऐसी दशा में स्थानांग के भीतर इनका उल्लेख इसमें होनेवाली वृद्धि का प्रमाण ही उपस्थित करता है। अत: क्षमाश्रमण देवर्द्धिगणी तक अन्य शास्त्रों के समान स्थानांग में भी हानि-वृद्धि स्वीकार की जा सकती है। इसके अनन्तर शास्त्रों का रूप स्थिर हो गया होगा,ऐसा प्रतीत होता है।

प्रतिपाद्य विषय की विविधता

यह कहना अत्युक्ति न होगी कि स्थानांग प्रतिपाद्य विषय के वैविध्य की दृष्टि से विश्वकोष है। जो इस महाग्रन्थ में है उसका विस्तार अन्य सभी आगमों में विद्यमान है और जो सभी आगमों में है वह अकेले स्थानांग में है।

तीर्थंकर— स्थानांग में बीस तीर्थंकरों के नाम प्राप्त होते हैं, जैसे— श्री ऋषभदेव, श्री संभवजी, श्री अभिनन्दन जी, श्री पद्मप्रभ जी, श्री चन्द्रप्रभ जी, श्री पुष्पदन्त जी, श्री शीतलनाथ जी, श्री वासुपूज्य जी, श्री विमल जी, श्री अनन्तप्रभु जी, श्री धर्मनाथ जी, श्री शान्तिनाथ जी, श्री कुंथुनाथ जी, श्री अरनाथ जी, श्री मल्लिनाथ जी, श्री मुनिसुव्रत जी, श्री नमिनाथ जी, श्री अरिष्टनेमि जी, श्री पार्श्वनाथ जी, श्री महावीर स्वामी। इन बीस तीर्थंकरों का आयु, देहमान, अन्तर आदि की दृष्टि से जिसका जिस स्थान में वर्णन हो सका है वह किया गया है। परन्तु वर्ण्य विषय के रूप में श्री अजित नाथ जी,

श्री सुमतिनाथ जी, श्री सुपार्श्वनाथ जी और श्री श्रेयांस नाथ जी का वर्णन नहीं हो सका।

चक्रवर्ती– इस सूत्र में बारह चक्रवर्तियों के नामों का उल्लेख करते हुए शास्त्रकार ने उनका दो रूपों में वर्णन किया है। भरत, सगर, मघव, सनत् कुमार, शान्ति, कुंथु, अर, महापद्म, हरिषेण और जय। ये दस चक्रवर्ती ऐसे हैं जिन्होंने संयम पथ को अपना कर परम-पद प्राप्त किया। सुभूम और ब्रह्मदत्त ये दो ऐसे चक्रवर्ती हुए हैं जिन्होंने संयम से विमुख होकर महारम्भी और महापरिग्रही बनकर विषय सरोवर में किलोलें कीं और अन्त में नरक निवास कर दु:ख भोग रहे हैं।

कर्मों की दृष्टि में किसी का पक्षपात नहीं है, चाहे चक्रवर्ती हो और चाहे साधारण जन, जो जैसा करता है वैसा भरता है, यह अटल सिद्धान्त है।

जीव विज्ञान– स्थानांग सूत्र के द्वितीय स्थान में बताया गया है कि द्वीन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवों तक के शरीर में हड्डियाँ, मांस और रक्त नामक तीन पदार्थ होते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों एवं सभी तिर्यंच प्राणियों का शरीर मांस, रक्त, हड्डियों, स्नायुओं और शिराओं से बना हुआ होता है।

भूगोल– यह ठीक है कि प्राचीन शास्त्रों में वर्णित भूगोल आधुनिक भूगोल से पूर्णतया मेल नहीं खाता, क्योंकि समय–सयम पर भूगोलीय वातावरण, पृथ्वी की स्थिति और उस स्थिति के बदलने से नदियों आदि के प्रवाह की भिन्नता हो जाती है, फिर भी शास्त्रीय वर्णन के कुछ भाग भूगोल पर प्रकाश डालते ही हैं, जैसे कि– स्थानांग सूत्र में गंगा और सिन्धु का महानदियों के रूप में वर्णन किया गया है, क्योंकि ये नदियाँ अनेक नदियों को साथ में लेकर सागर में प्रविष्ट होती हैं। इनके अतिरिक्त गंगा, यमुना, सरयू, ऐरावती और मही नामक विशाल नदियों का भी वर्णन यथास्थान प्राप्त होता है।

वर्षधर पर्वत जिन्हें सीमा निर्माण करने वाले कहा गया है सम्भवत: वे हो सकते हैं जिनसे मानसून हवाएँ टकरा कर वर्षा करती हैं। इनके अतिरिक्त हिमालय से उत्तर की ओर बहने वाली सुवर्णकूला, रक्ता, रक्तवती आदि नदियाँ अब परिवर्तित नामों के साथ हैं या नहीं यह भूगोल वेत्ताओं के लिये अन्वेषण का विषय है।

तप्तजला, मत्तजला, उन्मत्तजला आदि नदियाँ भी खोज का विषय हैं, क्योंकि हिमालय के हिमाच्छादित प्रदेशों में अब भी ऐसे तप्त जल के स्रोत विद्यमान हैं जिनका जल तप्तजला नदियों के रूप में प्रवाहित होता है। गंगोत्री के पास एक ऐसा स्रोत है जिसमें डाले हुए आलू एवं चावल आदि उबल जाते हैं। आधुनिक शेषधारा जैसी चट्टानों से टकराकर उछलने वाले जल से पूरित नदियों में से तब कोई मत्तजला और उन्मत्तजला भी रही होगी।

कुछ महाहृदों का भी वर्णन किया गया है, हिमालय की हिमाच्छादित

एवं हिमाच्छादन से रहित झीलें महाह्रदों के रूप में पहचानी जा सकती हैं।

क्षीरोदा (जिसका जल दूध जैसा दिखाई दे), शीतस्रोता और अन्तर्वाहिनी (बर्फ के या चट्टानों के नीचे ही नीचे बहने वाली अनेकशः नदियाँ), मेरु (संभवत: गौरीशंकर पर्वत) के आस–पास देखी जा सकती हैं।

इसी प्रकार इस विषय के अन्तर्गत भूकम्प के कारणों आदि की विवेचना एवं घनवात, घनोदधि आदि पर अवलम्बित पृथ्वी का वर्णन भूगोलीय अन्वेषणों की मूलाभित्ति प्रस्तुत करते हैं।

खगोलीय वर्णन– इस विषय के मूल तत्त्वों पर भी स्थानांग सूत्र के द्वारा थोड़ा बहुत प्रकाश अवश्य पड़ता है। ज्योतिष-शास्त्र में अट्ठाईस नक्षत्र बताए गए हैं, उनके अधिष्ठाता देवों के नामों का यहाँ उल्लेख है। इनके अतिरिक्त ८८ ग्रहों का उल्लेख भी द्वितीय स्थान के तृतीय उद्देशक में प्राप्त होता है। आधुनिक खगोलशास्त्रियों ने नौ ग्रहों के अतिरिक्त कुछ अन्य हर्षल आदि ग्रहों का भी पता लगाया है, हो सकता है कि वे स्थानांग में वर्णित ८८ ग्रहों के अन्तर्गत ही हों, परन्तु उनके नाम स्थानांग ही बताएगा, चाहे नए नाम रख लिये जाएँ।

स्थान–स्थान पर नक्षत्र और चन्द्र योग पर भी प्रकाश डाला गया है। साथ ही किस–किस प्रधान नक्षत्र के साथ कितने अन्य तारों का संबंध है इस विषय की भी विवेचना की गई है।

खगोल-शास्त्र के अन्तर्गत स्थानांग के तीसरे स्थान में अल्पवृष्टि और अतिवृष्टि के भी तीन–तीन कारण बताए गए हैं। उनमें से जलीय पुद्गलों (परमाणुओं) के अभाव या अधिकता वाला कारण तो विज्ञान सम्मत ही है। देव, भूत, नाग यक्ष आदि की सम्यक् पूजा का होना या न होना रूप जो कारण सुवृष्टि या अनावृष्टि के लिये प्रदर्शित किया गया है, वह तत्कालीन समाज की देव–पूजा परायणता पर प्रकाश डालता है और हो सकता है उस पर वैदिक देववाद का भी प्रभाव हो, क्योंकि यज्ञों द्वारा संतुष्ट देव ही वहाँ सुवृष्टि के कारण माने गए हैं। वायु द्वारा जलीय पुद्गलों को अन्यत्र खींच ले जाना अथवा खींचकर उस स्थान पर लाना रूप कारण अल्पवृष्टि एवं सुवृष्टि के लिये उचित ही हैं।

नवम स्थान में शुक्रग्रह की हय-वीथी, गजवीथी, नागवीथी, वृषभ वीथी, गो-वीथी, उरगवीथी, अजवीथी, मित्रवीथी और वैश्वानर-वीथी ये नौ वीथियाँ बताई गई हैं। ये नौ वीथियां क्या हैं और इनका क्या प्रभाव है यह सब अध्ययन का विषय है।

दशम स्थान में कहा गया है कि कृत्तिका और अनुराधा ये दो नक्षत्र चन्द्र के सभी बाह्य मण्डलों में से दसवें मण्डल में परिभ्रमण करते हैं। यह चन्द्र से कृत्तिका एवं अनुराधा नक्षत्र की माण्डलिक दूरी का वर्णन ज्योतिष

शास्त्रियों के अन्वेषण का विषय है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार कृत्तिका और अनुराधा एक दूसरे के सामने रहनेवाले नक्षत्र हैं, क्योंकि मण्डलाकृति में २८ नक्षत्रों में कृत्तिका के सामने १४वें नक्षत्र के रूप में अनुराधा ही आता है।

इसी प्रकरण में ज्ञानवृद्धि करने वाले दस नक्षत्र बताए गए हैं- मृगशिरा, आर्द्रा, पुष्य, तीनों पूर्वा, मूल, आश्लेषा, हस्त और चित्रा। मुहूर्त चिन्तामणि मे भी विद्यारम्भ के लिये इन्हीं नक्षत्रों को श्रेष्ठ माना गया है।

आयुर्वेद- अष्टम स्थान में कुमार-भृत्य (बाल चिकित्सा) काय-चिकित्सा (शारीरिक शास्त्र) शालाक्य (आँख, नाक, कान, मस्तिष्क और गले की विशेष चिकित्सा, आज भी एलोपैथी में इन अंगों का विशेष अध्ययन भिन्न रूप से करवाया जाता है), शल्य-चिकित्सा (ऑप्रेशन) जंगोली (सांप, बिच्छू आदि के विष की चिकित्सा एवं इनके विषों के नानाविध प्रयोग), भूत विद्या (भूत-प्रेत आदि के शमन का शास्त्र। अब पश्चिम में भी इसका विकास 'पराविद्या' के अन्तर्गत हो रहा है), क्षारतन्त्र (यवक्षार, चणकक्षार, आदि द्वारा की जाने वाली चिकित्सा, आज की बायोकैमिक प्रणाली १२ क्षारों पर ही निर्भर है), रसायन (धातुओं, रत्नों एवं पारद गन्धक आदि द्रव्यों द्वारा तैयार की गई औषधियों द्वारा चिकित्सा जिसे विशेषत: बल-वीर्य की वृद्धि के लिये प्रयुक्त किया जाता है) इन आठ रूपों में उस समय प्रचलित आयुर्वेद की चिकित्सा-पद्धतियों का यहाँ उल्लेख किया गया है।

साथ ही नवम स्थान में रोगोत्पत्ति के नौ कारण बताते हुए लिखा है- अति आहार, अरुचिकर भोजन, अतिनिद्रा, अति जागरण, मलवेग का रोकना, मूत्र वेग का रोकना, अति चलना, प्रतिकूल आहार और कामवेग का रोकना या अति विषय-सेवन आदि रोगोत्पत्ति के कारण हैं। ये कारण लोकप्रसिद्ध एवं सर्वमान्य हैं।

इसी प्रकार नौ प्रकार का आयु-परिमाण, दस प्रकार का बल, दस प्रकार की तृणवनस्पतियाँ, तीन प्रकार की परिचारणा, तीन प्रकार के मैथुन सेवियों के भेद, माता से मिलने वाले तीन अंग, पिता से मिलने वाले तीन अंग, मनुष्य और तिर्यचों की शुक्र और शोणित से उत्पत्ति, तीन-तीन के चार समूहों में स्त्रीयोनि के भेद, बिना पुरुष संसर्ग के गर्भ धारण के पाँच कारण, संसर्ग होने पर भी गर्भाधान न होने के पाँच कारण आदि विषय आयुर्वेद से ही सम्बन्धित हैं।

मनोविज्ञान- दसवें स्थान में वर्णित क्रोधोत्पत्ति के दस कारण, अभिमान होने के दस स्थान, दस प्रकार की सुखानुभूति, दस प्रकार के संक्लेश, दु:खानुभूति के कारण आदि विषयों का विवेचन मनोविज्ञान का ही विषय है।

भौतिक विज्ञान- शब्द भी पुद्गलात्मक है अर्थात् शब्द के भी परमाणु होते हैं, आज तक यह सिद्धान्त शब्द शास्त्रियों को स्वीकार्य नहीं था, परन्तु अब

भौतिक विज्ञान ने शब्द परमाणु का होना सिद्ध कर दिया है। शब्द की परिभाषा करते हुए जैन सिद्धान्त दीपिका में कहा गया है कि "संहन्यमानानां भिद्यमानानां ध्वनिरूप: परिणाम: शब्द:" अर्थात् टूटते हुए स्कन्धों का ध्वनि रूप परिणाम शब्द है। इसके प्रायोगिक और वैस्रसिक दो भेद माने गए हैं। प्रायोगिक शब्द, जिसका उच्चारण प्रयत्नपूर्वक होता है, वह भाषात्मक (अर्थ—प्रतिपादक) और अभाषात्मक (तत, वितत, धन, सुषिर आदि नानाविध वाद्यों के शब्द) रूपों में दो प्रकार का होता है। वैस्रसिक शब्द मेघादि से उत्पन्न स्वाभाविक ध्वनि को कहा जाता है।

स्थानांग में द्वितीय स्थान के तृतीय उद्देशक में शब्द के भाषा (भाषात्मक) नो भाषा (अभाषात्मक) दो भेद बताए गए हैं। पुन: शब्द के दो भेद बताए गए हैं— अक्षर संबद्ध और नोअक्षर संबद्ध (ध्वन्यात्मक)। नो अक्षर संबद्ध के ही यहाँ तत, वितत, घन और सुषिर आदि भेद किए गए हैं।

शब्दोत्पत्ति के दो कारण बताए गए हैं— पुद्गलों के परस्पर मिलने से और पुद्गलों के परस्पर भेद से। पुद्गल-भेद शब्द ही परमाणु विस्फोट की ओर संकेत कर रहा है।

परमाणु विज्ञान पर जैन संस्कृति ने जो कुछ कहा है वह आधुनिक भौतिक विज्ञान की कसौटी पर शत प्रतिशत खरा उतर रहा है।

काव्य नाट्य आदि

स्थानांग के चौथे स्थान में चार प्रकार के वाद्यों तत (वीणा आदि), वितत (ढोल, तबला आदि), घन (घुंघरू, कांस ताल आदि), सुषिर (बांसुरी आदि) का वर्णन है। चार प्रकार के नाट्य (नृत्य) ठहर—ठहर कर नाचना, संगीत के साथ नाचना, संकेतों द्वारा भाव प्रकट करते हुए नाचना और झुक कर या लेटकर नाचना—का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार चार प्रकार के गायन बताए गए हैं— नृत्य-गायन, छन्द-गायन, अवरोहपूर्वक गायन, आरोह पूर्वक गायन। इसी प्रकरण में चार प्रकार की पुष्प रचना, चार प्रकार के शारीरिक अलंकार, चार प्रकार के अभिनय आदि का वर्णन स्थानांग की विषय विविधता का स्पष्ट प्रमाण है।

गद्य, पद्य, कथ्य (कथा—कहानी) और गेय रूप में चार प्रकार के काव्य भेदों का तथा दशम स्थान में दस प्रकार के शुद्ध वाक्यों के प्रयोग आदि के रूप में वर्ण्य-विषय ने काव्य जगत को ही स्पर्श किया है, स्थानांग यह प्रमाणित कर रहा है।

मानवीय वृत्तियों का अध्ययन— स्थानांग सूत्र में मानवीय स्वभाव का परिचय देने वाले सूत्र सब से अधिक हैं। कहीं वृक्षों से, कहीं वस्त्रों से, कहीं कोरमंजरी से, कहीं कूटागार—शाला से, कहीं वृषभ से, कहीं हस्ती से, कहीं शंख, धूम, अग्नि शिखा, वनखण्ड, सेना, पक्षी, यान, युग्म, सारथी, फल,

बादल, कुम्भ आदि से समता करते हुए सैकड़ों रूपों में मानवीय वृत्तियों का इस सूत्र में वर्णन किया गया है। उदाहरण के रूप में–

वृक्ष चार प्रकार के होते हैं–पत्रयुक्त, पुष्पयुक्त, फलयुक्त, छायायुक्त। इसी प्रकार मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं– पत्रयुक्त वृक्ष के समान केवल छाया में आश्रय देने वाले। पुष्पवाले वृक्ष के समान(केवल सद्विचार देने वाले)। फलयुक्त वृक्ष के समान(अन्न–वस्त्रादि देने वाले) और छाया युक्त वृक्ष के समान (शान्ति सुरक्षा और सुख देने वाले)।

एक अन्य उदाहरण में कहागया है– मेघ चार प्रकार के होते हैं–

१. एक मेघ गर्जता है, बरसता नहीं।
२. एक मेघ बरसता है, गर्जता नहीं।
३. एक मेघ गर्जता भी है और बरसता भी है।
४. एक मेघ न गर्जता है, न बरसता है।

इसी प्रकार पुरुष भी चार प्रकार के हाते हैं–

१. कुछ व्यक्ति बोलते हैं, पर देते कुछ नहीं।
२. कुछ व्यक्ति बोलते हैं और देते भी हैं।
३. कुछ व्यक्ति देते हैं, पर बोलते नहीं।
४. कुछ व्यक्ति न बोलते हैं और न देते हैं।

इस सूत्र में केवल मेघ, बिजली, गर्जन, वर्षण आदि से संबंध जोड़ते हुए सात रूपों में मेघ के अध्ययन के माध्यम से मनुष्य स्वभाव का विश्लेषण किया गया है।

इस प्रकार लगभग १०० उपमेय-उपमानों के रूप में उपमेयों के विश्लेषण के साथ–साथ उपमानों के रूप में मनुष्य-स्वभाव का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार ने मानवता को हर पहलू से पहचानने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकार स्थानांग सूत्र के माध्यम से शास्त्रकार ने जीवन का सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत किया है।

संदर्भ

१. स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या–गीता

२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास पृ. १७२

३. तओ थेरभूमीओ पण्णत्ताओ, तंजहा–जाइथेरे, सुत्तथेरे, परियायथेरे। सट्ठिवासज ए समणे णिग्गंथे जातिथेरे, ठाणांग–समवाय–धरेण समणे णिग्गंथे सुयथेरे, वीसवास–परियाए णं समणे णिग्गंथे परियायथेरे। –स्थानांग ३/३/१६५

४. सूत्रकृतांगे त्रयाणां त्रिषष्ट्याधिकानां पाषण्डिकशतानां दृष्टय: प्ररूप्यन्ते, ततो हीन-पर्यायो मतिभेदेन मिथ्यात्वं यायात्। चतुर्वर्ष–पर्यायस्य धर्मेऽवगाढमतिर्भवति, ततः कुसमयैर्नापह्रियते, तेन चतुर्वर्ष–पर्यायस्य तदुद्देष्टुमनुज्ञातम्–तथा पंचवर्षोऽपवादस्य योग्य इति कृत्वा पंचवर्षस्य दशकल्पव्यवहारान् ददाति। तथा पंचानां वर्षाणामुपरिपर्यायो निकृष्ट उच्यते, तेन कारणेन स्थाने समवाये नवाधीतेन श्रुतस्थविरा भवन्ति, तेन कारणेन तदुद्देशनं प्रतिविकृष्टपर्यायो गृहीतस्तथा स्थानं समवायश्च

महर्धिकं प्रायेण द्वादशानामप्यंगानां तेन सूचनादिति तेन तत्परिकर्मितमतौ दशवर्षपर्याये व्याख्याप्रज्ञप्तिरुद्दिश्यते।—भाष्यकार

५. सुप्तिङन्तं पदम्।

६. छच्चअद्ध-पलिओवमाइं परमाउं पालइत्ता।

७. द्वीन्द्रिय जीव—त्वचा और रसनेन्द्रिय वाले, त्रीन्द्रिय जीव त्वचा, रसना और नाक वाले। चतुरिन्द्रिय जीव त्वचा, रसना, नाक और आँख वाले। पंचेन्द्रिय जीव त्वचा, रसना, नाक, आँख और कान वाले।

समवायांग सूत्र–एक परिचय

✪श्री धर्मचन्द जैन

समवायांग सूत्र में एक से लेकर कोटि संख्या तक के तथ्यों का समवाय रूप में संकलन है। इसे स्थानांग सूत्र का पूरक आगम कहा जा सकता है। स्थानांग और समवायांग का ज्ञाता ही आचार्य, उपाध्याय जैसे पदों को ग्रहण कर सकता है। समवायांग सूत्र में संख्याओं के माध्यम से विविध प्रकार के तथ्यों की जानकारी होती है, यथा–

१. तीर्थंकर महावीर, पार्श्वनाथ, अरिष्टनेमी, नमिनाथ, मुनिसुव्रत, मल्लिनाथ, अरनाथ, कुन्थुनाथ, शान्तिनाथ, वासुपूज्य, श्रेयांसनाथ, शीतलनाथ, सुविधिनाथ, सुपार्श्वनाथ, ऋषभदेव आदि के संबंध में विविध जानकारियाँ, यथा– उनकी अवगाहना, गण, गणधर, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी आदि।
२. चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, विमान, पर्वत आदि की जानकारी।
३. द्वादशाङ्ग की जानकारी।
४. देवों और नारकों तथा उनके आवासों की जानकारी।
५. कर्मसिद्धान्त संबंधी जानकारी, यथा–विभिन्न कर्म-प्रकृतियों की संख्या एवं उनके नाम, बन्ध हेतु।
६. धर्म एवं चारित्र संबंधी जानकारी, यथा– दशविध धर्म, संयम, परीषहजय, ब्रह्मचर्य आदि।
७. जीव, अजीव, आहार, श्वासोच्छ्वास, कालचक्र, ज्योतिष, ज्ञान, लोक, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा-मोक्ष, कषाय, समुद्घात, मदस्थान आदि के संबंध में जानकारी।

लेखक ने समवायानुसार विषयवस्तु से परिचित कराया है। –सम्पादक

श्रमण भगवान महावीर की अनुपम आदेय वाणी का संकलन सर्वप्रथम उनके प्रधान शिष्य गणधरों ने बारह अंगों के रूप में किया। उनमें चतुर्थ अंग समवायांग सूत्र के नाम से जाना जाता है।

समवायांग सूत्र जैन सिद्धान्त का कोष ग्रन्थ है। सामान्य जनों को जैन धर्म से संबंधित विषयों का इससे बोध प्राप्त होता है। इस सूत्र की प्रतिपादन शैली अनूठी है। इसमें प्रतिनियत संख्या वाले पदार्थों का एक से लेकर सौ स्थान तक का विवेचन किया गया है। साथ ही द्वादशांग गणिपिटक एवं विविध विषयों का परिचय भी प्राप्त होता है। आचार्य अभयदेव के अनुसार–प्रस्तुत आगम में जीव, अजीव आदि पदार्थों का परिच्छेद या समावेश है। अतः इस आगम का नाम 'समवाय' या 'समवाओ' है।

आचार्य देववाचक ने समवायांग की विषय वस्तु इस प्रकार से कही है–
१. जीव, अजीव, लोक, अलोक एवं स्व समय, पर समय का समावेश।
२. एक से लेकर सौ तक की संख्या का विकास।
३. द्वादशांग गणिपिटक का परिचय।

नन्दीसूत्र में समवायांग सूत्र के परिचय में १,४४,००० पद और संख्यात अक्षर बतलाये हैं। वर्तमान में यह सूत्र १६६७ श्लोक परिमाण है। इसमें क्रम से पृथ्वी, आकाश, पाताल, तीनों लोकों के जीव आदि समस्त तत्त्वों का द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की दृष्टि से एक से लेकर कोटानुकोटि संख्या तक परिचय दिया गया है। इसमें आध्यात्मिक तत्त्वों, तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती और वासुदेव से

संबंधित वर्णन के साथ भूगोल, खगोल आदि की सामग्री का संकलन भी किया गया है। आचार्य देववाचक जी ने कहा कि समवायांग में कोष शैली अत्यन्त प्राचीन है। स्मरण करने की दृष्टि से यह शैली अत्यधिक उपयोगी रही है।

समवायांग सूत्र में द्रव्य की दृष्टिसे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश आदि का निरूपण किया गया है। क्षेत्र की दृष्टि से लोक, अलोक, सिद्धशिला आदि का वर्णन किया गया है। काल की दृष्टि से समय, आवलिका, मुहूर्त आदि से लेकर पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी और पुद्गल परावर्तन एवं चार गति के जीवों की स्थिति आदि पर विचार किया गया है। भाव की दृष्टि से ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य आदि जीव के भावों तथा वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान आदि अजीव के भावों का भी वर्णन किया गया है।

प्रथम समवाय

समवायांग सूत्र के प्रथम समवाय में जीव, अजीव आदि तत्त्वों का विवेचन करते हुए आत्मा, अनात्मा, दण्ड, अदण्ड, क्रिया, अक्रिया, लोक—अलोक, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष, आस्रव, संवर, वेदना, निर्जरा आदि को संग्रह नय की अपेक्षा से एक—एक बतलाया गया है। तत्पश्चात् एक लाख योजन की लम्बाई, चौड़ाई वाले जम्बूद्वीप, सर्वार्थ सिद्ध विमान आदि का उल्लेख है। एक सागर की स्थिति वाले नारक, देव आदि का वर्णन भी इसमें उपलब्ध है।

द्वितीय समवाय

दूसरे समवाय में दो प्रकार के दण्ड, दो प्रकार के बंध, दो राशि, पूर्वा फाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के दो तारे, नारकीय और देवों की दो पल्योपम और दो सागरोपम की स्थिति, दो भव करके मोक्ष जाने वाले भवसिद्धिक जीवों का वर्णन किया गया है। अर्थ दण्ड, अनर्थ दण्ड का विवेचन करने के पश्चात् जीव राशि अजीव राशि का विवेचन किया गया है तथा बन्ध के दो प्रकारों में रागबन्ध और द्वेष बन्ध ये दो भेद बतलाये हैं। राग में माया और लोभ का तथा द्वेष में क्रोध और मान का समावेश किया गया है। दूसरे समवाय के अनेक सूत्र स्थानांग सूत्र में भी देखे जा सकते हैं।

तृतीय समवाय

तीसरे समवाय में तीन दण्ड, तीन गुप्ति, तीन शल्य, तीन गौरव, तीन विराधना, तीन तारे, नरक और देवों की तीन पल्योपम व तीन सागरोपम की स्थिति वालों का विवेचन करने के साथ ही तीन भव करके मुक्त होने वाले भवसिद्धिक जीवों का भी वर्णन किया गया है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रय का उल्लेख भी इस समवाय में उपलब्ध है।

चतुर्थ समवाय

चतुर्थ समवाय में चार कषाय, चार ध्यान, चार विकथाएँ, चार संज्ञाएँ, चार प्रकार के बंध, अनुराधा पूर्वाषाढा के तारों, नारकी व देवों की चार पल्योपम व चार सागरोपम की स्थिति का उल्लेख करने के साथ ही चार भव करके मोक्ष में जाने वाले भवसिद्धिक जीवों का भी कथन किया गया है।

पाँचवाँ समवाय

पाँचवें समवाय में पांच क्रिया, पांच महाव्रत, पांच कामगुण, पांच आस्रवद्वार, पांच तारे, नारक देवों की पांच पल्योपम व पांच सागरोपम की स्थिति का वर्णन करने के साथ ही पांच भव करके मोक्ष में जाने वाले भवसिद्धिक जीवों का भी उल्लेख किया गया है।

छठा समवाय

छठे समवाय में छह लेश्या, छः जीवनिकाय, छह बाह्य तप, छह आभ्यन्तर तप, छह छद्मस्थों के समुद्घात, छह अर्थावग्रह, छह तारे, नारक देवों की छह पल्योपम तथा छह सागरोपम की स्थिति वालों का वर्णन करके छह भव ग्रहण कर मुक्त होने वाले भवसिद्धिक जीवों का कथन किया गया है।

सातवाँ समवाय

सातवें समवाय में सात प्रकार के भय, सात प्रकार के समुद्घात, भगवान महावीर का सात हाथ ऊँचा शरीर, जम्बूद्वीप में सात वर्षधर पर्वत, सात द्वीप, बारहवें गुणस्थान में सात कर्मों का वेदन, सात तारे व सात नक्षत्र बताये गये हैं। नारक और देवों की सात पल्योपम की तथा सात सागरोपम की स्थिति का भी उल्लेख किया गया है तथा सात भव ग्रहण करके मुक्ति में जाने वाले जीवों का भी वर्णन है।

आठवाँ समवाय

आठवें समवाय में आठ मदस्थान, आठ प्रवचन माता, वाणव्यन्तर देवों के आठ योजन ऊँचे चैत्य वृक्ष आदि, केवली समुद्घात के आठ समय, भगवान पार्श्वनाथ के आठ गणधर, चन्द्रमा के आठ नक्षत्र, नारक देवों की आठ पल्योपम व आठ सागरोपम की स्थिति का कथन करने के साथ ही आठ भव करके मोक्ष जाने वाले भवसिद्धिक जीवों का वर्णन भी किया गया है।

नौवाँ समवाय

नवम समवाय में नव ब्रह्मचर्य की गुप्ति रूप वाड़, नव ब्रह्मचर्य के अध्ययन, भगवान पार्श्वनाथ के शरीर की नौ हाथ की ऊँचाई, वाणव्यन्तर देवों की सभा नौ योजन की ऊँची, दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियां, नारक देवों की नौ पल्योपम और नौ सागरोपम की स्थिति तथा नौ भव करके मोक्ष जाने वाले भवसिद्धिक जीवों का वर्णन है।

दसवाँ समवाय

दसवें समवाय में श्रमण के दस धर्म, चित्त-समाधि के दस स्थान, सुमेरु पर्वत की मूल में दस हजार योजन चौड़ाई, भगवान अरिष्टनेमी, कृष्ण—वासुदेव, बलदेव की दस धनुष की ऊँचाई, ज्ञानवृद्धिकारक दस नक्षत्र, दस कल्पवृक्ष, नारक देवों की दस हजार वर्ष, दस पल्योपम व दस सागरोपम की स्थिति का वर्णन करने के साथ ही दस भव ग्रहण करके मोक्ष में जाने वाले भवसिद्धिक जीवों का भी कथन किया गया है।

ग्यारहवाँ समवाय

ग्यारहवें समवाय में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ, भगवान महावीर के

ग्यारह गणधर, मूल नक्षत्र के ग्यारह तारे, ग्रैवेयक तथा नारकों व देवों की ग्यारह पल्योपम और ग्यारह सागरोपम की स्थिति का वर्णन है तथा ग्यारह भव करके मोक्ष प्राप्त करने वाले भवसिद्धिक जीवों का उल्लेख भी इसमें है।

बारहवाँ समवाय

बारहवें समवाय में भिक्षु की बारह प्रतिमाएँ, बारह प्रकार के संभोग (समान समाचारी वाले श्रमणों के साथ मिलकर खान–पान, वस्त्र–पात्र, आदान–प्रदान, दीक्षा-पर्याय के अनुसार विनय–वैयावृत्य करना 'संभोग' कहलाता है।) कृतिकर्म (खमासमणो) के बारह आवर्तन, विजया राजधानी की बारह लाख योजन की लम्बाई–चौड़ाई बतलायी गयी है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी की उम्र बारह सौ वर्ष, जघन्य दिन रात्रि का कालमान बारह मुहूर्त, सर्वार्थ सिद्ध महाविमान की चूलिका से बारह योजन ऊपर सिद्धशिला, सिद्धशिला के बारह नाम, नारकी देवों की बारह पल्योपम, बारह सागरोपम, की स्थिति का कथन करके बारह भव ग्रहण करके मुक्ति प्राप्त करने वाले भवसिद्धिक जीवों का उल्लेख किया गया है।

तेरहवाँ समवाय

तेरहवें समवाय में क्रिया-स्थान के तेरह भेद, ईशान कल्प के तेरह विमान-पाथड़े, बारहवें पूर्व में तेरह नामक वस्तु का अधिकार, गर्भज, तिर्यंच पंचेन्द्रिय में तेरह योग, सूर्यमण्डल एक योजन के इकसठ भागों में से तेरह भाग कम विस्तार वाला, नारकी व देवों में तेरह पल्योपम, तेरह सागरोपम की स्थिति का निरूपण होने के साथ ही तेरह भव ग्रहण करके मोक्ष पाने वालों का भी कथन किया गया है।

चौदहवाँ समवाय

चौदहवें समवाय में चौदह भूतग्राम (जीवों के भेद), चौदह पूर्व, भगवान महावीर के चौदह हजार साधु, चौदह जीव स्थान (गुणस्थान), चक्रवर्ती के चौदह रत्न, चौदह महानदियाँ, नारक देवों की चौदह पल्योपम तथा चौदह सागरोपम की स्थिति के साथ चौदह भव ग्रहण करके मोक्ष पाने वाले जीवों का कथन किया गया है।

पन्द्रहवाँ समवाय

पन्द्रहवें समवाय में पन्द्रह परम अधार्मिक वृत्ति वाले देव, नमिनाथ जी की पन्द्रह धनुष की ऊँचाई, राहु के दो प्रकार (पर्व राहु और ध्रुवराहु), चन्द्र के साथ पन्द्रह मुहूर्त तक छह नक्षत्रों का रहना, चैत्र और आसोज माह में पन्द्रह–पन्द्रह मुहूर्त के दिन व रात होना, विद्यानुवाद पूर्व के पन्द्रह अर्थाधिकार, मानव में पन्द्रह प्रकार के योग, (प्रयोग) तथा नारक देवों की पन्द्रह पल्योपम व पन्द्रह सागरोपम की स्थिति का वर्णन है। इसमें पन्द्रह भव करके मोक्ष पाने वाले भवसिद्धिक जीवों का कथन भी किया गया है।

सोलहवाँ समवाय

'सोलहवें समवाय में सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन, अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषाय, मेरु पर्वत के सोलह नाम, भगवान पार्श्वनाथ के सोलह हजार श्रमण, आत्मप्रवाद पूर्व के सोलह अधिकार, चमरचंचा

और बलिचंचा राजधानी का सोलह हजार योजन का विस्तार, नारकी व देवों की सोलह पल्योपम तथा सोलह सागरोपम की स्थिति का वर्णन होने के साथ ही सोलह भव करके मोक्ष जाने वाले भवसिद्धिक जीवों का कथन भी उपलब्ध है।

सतरहवाँ समवाय

सतरहवें समवाय में सतरह प्रकार का संयम और असंयम, मानुषोत्तर पर्वत की ऊँचाई सतरह सौ इक्कीस योजन, सतरह प्रकार का मरण, दसवें सूक्ष्म संपराय गुणस्थान में सतरह प्रकृतियों का बंध, नारकी देवों की सतरह पल्योपम और सतरह सागरोपम की स्थिति का वर्णन करते हुए सतरह भव ग्रहण कर मोक्ष जाने वाले जीवों का भी उल्लेख किया गया है।

अठारहवाँ समवाय

अठारहवें समवाय में ब्रह्मचर्य के अठारह प्रकार, अरिष्टनेमि जी के अठारह हजार श्रमण, क्षुल्लक साधुओं के अठारह संयम-स्थान, आचारांग सूत्र के अठारह हजार पद, ब्राह्मीलिपि के अठारह प्रकार, अस्तिनास्ति प्रवाद पूर्व के अठारह अधिकार, पौष व आसाढ़ मास में अठारह मुहूर्त के दिन व अठारह मुहूर्त की रात, नारकों व देवों की अठारह पल्योपम व अठारह सागरोपम की स्थिति का वर्णन करने के उपरान्त अठारह भव करके मोक्ष में जाने वाले जीवों का भी कथन किया गया है।

उन्नीसवाँ समवाय

उन्नीसवें समवाय में ज्ञाताधर्मकथांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के उन्नीस अध्ययन कहे गये हैं तथा फिर कहा गया है कि जम्बूद्वीप का सूर्य उन्नीस सौ योजन के क्षेत्र को संतप्त करता है, शुक्र उन्नीस नक्षत्रों के साथ अस्त होता है, उन्नीस तीर्थंकर गृहवास में रहकर (राज्य करने के पश्चात्) दीक्षित हुए। नारकों व देवों की उन्नीस पल्योपम व उन्नीस सागरोपम की स्थिति का उल्लेख किया गया है।

बीसवाँ समवाय

बीसवें समवाय में बीस असमाधि स्थान, मुनिसुव्रत स्वामी की बीस धनुष की ऊँचाई, घनोदधि वातवलय की मोटाई बीस हजार योजन, प्राणत देवलोक के इन्द्र के बीस हजार सामानिक देव, प्रत्याख्यान पूर्व के बीस अर्थाधिकार एवं बीस कोटाकोटि सागरोपम का कालचक्र निरूपित किया गया है। किन्हीं नारकों व देवों की स्थिति बीस पल्योपम व बीस सागरोपम की बताई गई है।

इक्कीसवाँ समवाय

इक्कीसवें समवाय में इक्कीस सबल दोष (चारित्र को दूषित करने वाले कार्य), सात प्रकृतियों का क्षय करने वाले साधक के निवृत्ति बादर गुणस्थान में इक्कीस प्रकृतियों की सत्ता, अवसर्पिणी काल के पांचवें, छठे आरे तथा उत्सर्पिणी के प्रथम व द्वितीय आरे इक्कीस–इक्कीस हजार वर्ष के होने का उल्लेख है। कुछ नारकों और देवों की इक्कीस पल्योपम व इक्कीस सागरोपम की स्थिति बतलायी है।

बाईसवाँ समवाय

इसमें बाईस परीषह, दृष्टिवाद के बाईस सूत्र, पुद्गल के बाईस प्रकार तथा कुछ नारकों–देवों की बाईस पल्योपम व बाईस सागरोपम की स्थिति का वर्णन किया गया है।

तेईसवाँ समवाय

इसमें सूत्रकृतांग सूत्र के २३ अध्ययन कहे गये हैं। इस समवाय के अनुसार जम्बूद्वीप के तेईस तीर्थंकरों को सूर्योदय के समय केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, भगवान् ऋषभदेव को छोड़कर तेईस तीर्थंकर पूर्वभव में ग्यारह अंगों के ज्ञाता थे, (ऋषभ का जीव चौदह पूर्वों का ज्ञाता था) तेईस तीर्थंकर पूर्वभव में माण्डलिक राजा थे (ऋषभ चक्रवर्ती थे), कुछ नारकों और देवों की तेईस पल्योपम व सागरोपम की स्थिति का उल्लेख किया गया है।

चौबीसवाँ समवाय

इसमें चौबीस तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख हुआ है। चुल्लहिमवन्त और शिखरी वर्षधर पर्वतों की जीवाएँ चौबीस हजार नौ सौ बत्तीस योजन की कही गई हैं।, चौबीस अहमिन्द्र, चौबीस अंगुल वाली उत्तरायणगत सूर्य की पौरुषी छाया, गंगा–सिन्धु महानदियों के उद्गम स्थल पर चौबीस कोस का विस्तार तथा कतिपय नारक देवों की चौबीस पल्योपम व चौबीस सागरोपम की स्थिति का उल्लेख किया गया है।

पच्चीसवाँ समवाय

इसमें पाँच महाव्रतों को निर्मल एवं स्थिर रखने वाली पच्चीस भावनाएँ, मल्ली भगवती की ऊँचाई पच्चीस धनुष, वैताढ्य पर्वत की ऊँचाई पच्चीस योजन और भूमि में गहराई पच्चीस कोस, दूसरे नरक के पच्चीस लाख नरकावास, आचारांग सूत्र के पच्चीस अध्ययन, अपर्याप्त मिथ्यादृष्टि विकलेन्द्रियों के बन्धने वाली नामकर्म की २५ उत्तर प्रकृतियाँ तथा पच्चीस सागरोपम की स्थिति वर्णित है।

छब्बीसवाँ समवाय

इसमें दशाश्रुतस्कन्ध, कल्पसूत्र और व्यवहार सूत्र के छब्बीस उद्देशन काल, अभवी जीवों के मोहनीय कर्म की छब्बीस प्रकृतियाँ(मिश्र मोह व सम्यक्त्व मोह को छोड़कर) नारकी व देवों की छब्बीस पल्योपम और छब्बीस सागरोपम की स्थिति का वर्णन उपलब्ध है।

सत्ताईसवाँ समवाय

इस समवाय में साधु के सत्ताईस गुण, नक्षत्र मास के सत्ताईस दिन, वेदक सम्यक्त्व के बन्ध-रहित जीव के मोहनीय कर्म की सत्ताईस प्रकृतियों की सत्ता, श्रावक शुक्ला सप्तमी के दिन सत्ताईस अंगुल की पौरुषी छाया तथा किन्हीं नारक देवों की सत्ताईस पल्योपम और सत्ताईस सागरोपम की स्थिति का कथन किया गया है।

अट्ठाईसवाँ समवाय

इस समवाय में आचार प्रकल्प के अट्ठाईस प्रकार, भवसिद्धिक जीवों में मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियाँ, आभिनिबोधक ज्ञान (मतिज्ञान) के अट्ठाईस प्रकार, ईशान कल्प में अट्ठाईस लाख विमान, देव गति बांधने वाला जीव

नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों का बन्धक, नारकी जीव भी अट्ठाईस प्रकृतियों का बन्धक (देवों के शुभ प्रकृतियाँ तथा नारकी में अशुभ प्रकृतियां बंधती हैं) नारकी व देवों की अट्ठाईस पल्योपम और अट्ठाईस सागरोपम की स्थिति का उल्लेख किया गया है।

उनतीसवाँ समवाय

इसमें उनतीस पाप श्रुत, आसाढ़ मास आदि के उनतीस रात–दिन, सम्यग्दृष्टि, सम्यग्दृष्टि भव्यजीव द्वारा तीर्थकर नाम सहित उनतीस प्रकृतियों का बन्ध, नारक देवों के उनतीस पल्योपम और उनतीस सागरोपम की स्थिति का वर्णन है।

तीसवाँ समवाय

इसमें महामोहनीय कर्म बन्धने के तीस स्थान, मण्डित पुत्र स्थविर की तीस वर्ष की दीक्षा पर्याय, दिन—रात के तीस मुहूर्त, अठारहवें तीर्थकर अरनाथ जी की तीस धनुष की ऊँचाई, सहस्रार देवेन्द्र के तीस हजार सामानिक देव, भगवान पार्श्वनाथ व महावीर स्वामी का तीस वर्ष तक गृहवास में रहना, रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावास, नारक देवों की तीस पल्योपम और तीस सागरोपम की स्थिति का उल्लेख मिलता है।

इकतीसवाँ समवाय

इसमें सिद्ध पर्याय प्राप्त करने के प्रथम समय में होने वाले इकतीस गुण (आठ कर्मों की इकतीस प्रकृतियों के क्षय से प्राप्त होने वाले गुण), मन्दर पर्वत धरती तल पर परिधि की अपेक्षा कुछ कम इकतीस हजार छ सौ तेईस योजन वाला, सूर्यमास, अभिवर्धित मास में इकतीस रात—दिन, नारकी देवों की इकतीस पल्योपम तथा इकतीस सागरोपम की स्थिति बतलाने के साथ ही भवसिद्धिक कितने ही जीवों के इकतीस भव ग्रहण करके मोक्ष प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है।

बत्तीसवें से चौतीसवाँ समवाय

बत्तीसवें समवाय में बत्तीस योग संग्रह, बत्तीस देवेन्द्र, कुन्थुनाथ जी के बत्तीस सौ बत्तीस (३२३२) केवली, सौधर्म कल्प में बत्तीस लाख विमान, रेवती नक्षत्र के बत्तीस तारे, बत्तीस प्रकार की नाट्य विधि तथा नारक देवों की बत्तीस पल्योपम व बत्तीस सागरोपम की स्थिति का वर्णन किया गया है।

तैंतीसवें समवाय में तैंतीस आशातनाएँ, असुरेन्द्र की राजधानी में तैंतीस मंजिल के विशिष्ट भवन तथा नारक देवों की तैंतीस पल्योपम तथा सागरोपम की स्थिति बतलाई गई है।

चौंतीसवें समवाय में तीर्थकरों के चौंतीस अतिशय, चक्रवर्ती के चौंतीस विजयक्षेत्र, जम्बूद्वीप में उत्कृष्ट चौंतीस तीर्थकर उत्पन्न होना, असुरेन्द्र के चौंतीस लाख भवनावास तथा पहली, पांचवी, छठी और सातवीं नरक में चौंतीस लाख नरकावास बतलाये हैं।

पैंतीसवें से साठवाँ समवाय

पैंतीसवें समवाय मे वाणी के पैंतीस अतिशय आदि, छत्तीसवें में

उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीस अध्ययन आदि, सैंतीसवें में सैंतीस गणधर, सैंतीस गण, अड़तीसवें में भ. पार्श्वनाथ की अड़तीस हजार श्रमणियाँ, उनतालीसवें में भ. नेमिनाथ के उनतालीस सौ अवधिज्ञानी, चालीसवें में भ. अरिष्टनेमि की चालीस हजार श्रमणियाँ, इकतालीसवें में भगवान नमिनाथ की इकतालीस हजार श्रमणियाँ, बयालीसवें में नाम कर्म की ४२ प्रकृतियाँ, भ. महावीर की ४२ वर्ष से कुछ अधिक दीक्षा पर्याय, तेतालीसवें में कर्म विपाक के ४३ अध्ययन, चौवालीसवें में ऋषिभाषित के ४४ अध्ययन, पैंतालीसवें में मानव क्षेत्र, सीमान्त नरकावास, उडु विमान (पहले—दूसरे देवलोक के मध्यभाग में रहा गोल विमान) और सिद्ध शिला, इन चारों में प्रत्येक का विस्तार ४५ लाख योजन का बतलाया गया है।

छियालीसवें में दृष्टिवाद के ४६ मातृकापद और ब्राह्मीलिपि के ४६ मातृकाक्षर, सैंतालीसवें में स्थविर अग्निभूति के ४७ वर्ष गृहवास में रहना, अड़तालीसवें में भ. धर्मनाथ के ४८ गणों, गणधरों का, उनपचासवें में त्रीन्द्रिय जीवों की ४९ अहोरात्रि की स्थिति, पचासवें में भ. मुनिसुव्रत की ५० हजार श्रमणियाँ, इक्यानवें में नव ब्रह्मचर्यों के ५१ उद्देशन काल, बावनवें में मोहनीय कर्म के ५२ नाम, तिरेपनवें में भ. महावीर के ५३ साधुओं का एक वर्ष की दीक्षा के बाद अनुत्तर विमान में जाना, चौपनवें में भरत ऐरवत क्षेत्र के ५४—५४ उत्तम पुरुष, भ. अरिष्टनेमि ५४ रात्रि तक छद्मस्थ रहे, पचपनवें में मल्ली भगवती की ५५ हजार वर्ष की कुल आयु, छप्पनवें में भ. विमलनाथ के ५६ गण व गणधर, सत्तानवें में मल्ली भगवती के ५७०० मन:पर्यवज्ञानी श्रमण, अट्ठानवें में ज्ञानावरणीय, वेदनीय, आयु, नाम और अन्तराय इन पांच कर्मों की ५८ उत्तर प्रकृतियां, उनसठवें में चन्द्र संवत्सर की एक ऋतु में ५९ अहोरात्रि तथा साठवें समवाय में सूर्य का ६० मुहूर्त तक एक मण्डल में रहने का उल्लेख है।

इकसठवें से सौवाँ समवाय

इकसठवें समवाय में एक युग में ६१ ऋतु मास, बासठवें में भगवान वासुपूज्य के ६२ गण व गणधर, तिरेसठवें में भ. ऋषभदेव के ६३ लाख पूर्व तक राज्य सिंहासन पर रहने के पश्चात् दीक्षा लेना, चौसठवें में चक्रवर्ती के बहुमूल्य ६४ हारों का, पैसठवें में मौर्यपुत्र गणधर के द्वारा ६५ वर्ष तक गृहवास रहकर दीक्षा लेना, छियासठवें में भ. श्रेयांसनाथ के ६६ गण और ६६ गणधर, मतिज्ञान की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर, सड़सठवें में एक युग में नक्षत्र मास की गणना से ६७ मास, अड़सठवें में धातकीखण्ड में चक्रवर्ती की ६८ विजय, राजधानियाँ और उत्कृष्ट ६८ अरिहन्त होना, उनहतरवें में मानवलोक में मेरु के अलावा ६९ वर्ष और वर्षधर पर्वत, सत्तरवें में एक मास और बीस रात्रि व्यतीत होने पर तथा ७० रात्रि शेष रहने पर पर्युषण करने का उल्लेख है।

इकहतरवें समवाय में भ. अजितनाथ व सागर चक्रवर्ती का ७१ लाख पूर्व तक गृहवास में रहकर दीक्षित होना, बहत्तरहवें में भ. महावीर की आयु ७२ वर्ष होना, पुरुषों की ७२ कलाएँ, तिहतरवें में विजय नामक बलदेव द्वारा ७३ लाख की आयु पूर्ण कर सिद्ध होना, चौहतरवें में अग्निभूति द्वारा ७४ वर्ष की आयु पूर्ण कर सिद्ध होना, पचहतरवें में भ. सुविधि नाथ जी के ७५०० केवली होना वर्णित

है। छियतरवें में विद्युत कुमार आदि भवनपति देवों के ७६-७६ लाख भवनों, सत्तहत्तरवें में सम्राट् भरत द्वारा ७७ लाख पूर्व तक कुमारावस्था में रहने और ७७ राजाओं के साथ दीक्षित होने, अठहत्तरवें में गणधर अकम्पित जी का ७८ वर्ष की आयु में सिद्ध होने का कथन है। उन्नासीवें समवाय में छठे नरक के मध्यभाग से घनोदधि के नीचे चरमान्त तक ७९ हजार योजन का अन्तर तथा अस्सीवें समवाय में त्रिपृष्ट वासुदेव के ८० लाख वर्ष तक सम्राट् पद पर रहने का उल्लेख किया गया है।

इक्यासीवें समवाय में ८१०० मन:पर्यवज्ञानी होने, बयासीवें में ८२ रात्रियाँ बीतने पर भगवान महावीर का जीव गर्भ में संहरण किये जाने, तियासीवें में भ. शीतलनाथ के ८३ गण और ८३ गणधर होने, चौरासीवें में भ. ऋषभदेव की ८४ लाख पूर्व की और, भ. श्रेयांस की ८४ लाख वर्ष की आयु होने, पिच्यासीवें में आचारांग के ८५ उद्देशन काल, छियासीवें में भगवान सुविधिनाथ के ८६ गण व ८६ गणधर होने का कथन है। सत्यासीवें में ज्ञानावरणीय और अन्तराय को छोड़कर शेष ६ कर्मों की ८७ उत्तर प्रकृतियाँ बतायी गई हैं। अट्ठयासीवें में प्रत्येक सूर्य और चन्द्र के ८८-८८ महाग्रह, नवासीवें में तीसरे आरे के ८९ हजार श्रमणियों तथा नब्बवें समवाय में भ. अजितनाथ व शान्तिनाथ के ९० गण व ९० गणधर होने का उल्लेख किया गया है।

इकरानवें समवाय में भगवान कुन्थुनाथ के ९१००० अवधिज्ञानी श्रमण, बरानवें में गणधर इन्द्रभूति का ९२ वर्ष की आयु पूर्ण कर मुक्त होना, तिरानवें में भ. चन्द्रप्रभ के ९३ गण और ९३ गणधर, भ. शान्तिनाथ के ९३०० चौदह पूर्वधारी श्रमण, चौरानवें में भ. अजितनाथ के ९४०० अवधिज्ञानी, पिच्यानवें में भ. पार्श्वनाथ के ९५ गण और ९५ गणधर, छियानवें में प्रत्येक चक्रवर्ती के ९६ करोड़ गांव, सत्तानवें मे आठ कर्मों की ९७ उत्तर प्रकृतियाँ, अट्ठानवें मे रेवती व ज्येष्ठा पर्यन्त उन्नीस नक्षत्रों के ९८ तारे, निन्नाणवें में मेरु पर्वत भूमि से ९९००० योजन ऊँचा तथा सौवें समवाय में भ. पार्श्वनाथ की और सुधर्मा स्वामी की आयु एक सौ वर्ष की बतलायी गयी है।

अन्य समवाय

सौवें समवाय के बाद क्रमश: १५०-२००-२५०-३००-३५०-४००-४५०-५०० यावत् १००० से २०००, दो हजार से दस हजार, दस हजार से एक लाख, उससे ८ लाख और करोड़ की संख्या वाले विभिन्न विषयों का इन समवायों में संकलन किया गया है। कोटि समवाय के पश्चात् १२ सूत्रों में द्वादशांगी का गणिपिटक के नाम से सारभूत परिचय भी दिया गया है।

उपसंहार

समवायांग सूत्र में विभिन्न विषयों का जितना संकलन हुआ है, उतना विषयों की दृष्टि से संकलन अन्य आगमों में कम हुआ है। जैसे विष्णु मुनि ने तीन पैर से विराट् विश्व को नाप लिया था, वैसी ही स्थिति समवायांग सूत्र की है। व्यवहार सूत्र में सही ही कहा गया है कि स्थानांग और समवायांग का ज्ञाता ही आचार्य-उपाध्याय जैसे गौरवपूर्ण पद को धारण कर सकता है, क्योंकि इन सूत्रों में

आचार्य–उपाध्याय के लिये अत्यधिक उपयोगी एवं जानने योग्य आवश्यक सभी बातों का संकलन है।

इस आगम में जहां आत्मा संबंधी स्वरूप का, कर्म-बन्ध के हेतुओं का, संसार वृद्धि के कारणों का विवेचन मिलता है, वहीं कर्म-बन्धनों से मुक्ति पाने के उपाय महाव्रत, समिति, गुप्ति, दशविध धर्म तप, संयम, परीषह जय आदि का भी सांगोपांग विवेचन मिलता है। खगोल–भूगोल संबंधी, नारकी-देवता संबंधी जानकारी के साथ तीर्थंकरों के गण, गणधर, साधु, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, पंचकल्याणक तिथियां आदि की ऐतिहासिक जानकारी भी प्रदान की गयी है।

मुख्य रूप से यह आगम गद्य रूप है, पर कहीं–कहीं बीच–बीच में नामावली व अन्य विवरण संबंधी गाथाएँ भी आयी हैं। भाषा की दृष्टि से भी यह आगम महत्त्वपूर्ण है। कहीं–कहीं अलंकारों का प्रयोग हुआ है। संख्याओं के सहारे भ. ऋषभदेव, पार्श्वनाथ, महावीर स्वामी और उनके पूर्ववर्ती–पश्चात्वर्ती चौदहपूर्वी, अवधिज्ञानी और विशिष्ट ज्ञानी मुनियों का भी उल्लेख है।

समवायांग सूत्र के अनेक सूत्र आचारांग में, अनेक सूत्रकृतांग में, अनेक भगवती सूत्र में, अनेक प्रश्नव्याकरण सूत्र में, औपपातिक सूत्र में, जीवाभिगम सूत्र में, पन्नवणा सूत्र में, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में, सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र में, उत्तराध्ययन सूत्र में तथा अनुयोग द्वार सूत्र में कहीं संक्षेप में तो कहीं विस्तार से उल्लिखित हैं।

यों तो समवायांग सूत्र का प्रत्येक समवाय, प्रत्येक सूत्र प्रत्येक विषय के जिज्ञासुओं एवं शोधार्थियों के लिये ज्ञातव्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों का महान भण्डार है, पर समवायांग के अन्तिम भाग को एक प्रकार से ''संक्षिप्त जैन पुराण'' की संज्ञा दी जा सकती है। वस्तुतः वस्तुविज्ञान, जैन सिद्धान्त और जैन इतिहास की दृष्टि से समवायांग एक अत्यधिक महत्त्व का अंग श्रुत है।

–रजिस्ट्रार, अखिल भारतीय श्री जैन रत्न आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड,
घोडों का चौक, जोधपुर

व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र

डॉ० धर्मचन्द जैन

व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र में प्रश्नोत्तर शैली में जीव, अजीव, स्वमत, परमत, लोक, अलोक आदि से संबद्ध सूक्ष्म जानकारियाँ विद्यमान हैं। इसमें प्राणिशास्त्र, भूगोल, खगोल, भौतिकशास्त्र, स्वप्न, गणित, मनोविज्ञान, वनस्पतिशास्त्र आदि विविध विषयों से संबंधित तात्त्विक चर्चा मिलती है। यह सूत्र वैज्ञानिकों के लिए भी अध्येतव्य है। लेखक ने व्याख्याप्रज्ञप्ति की विषयवस्तु से परिचित कराने के साथ इसमें हुए अंगबाह्य आगमों के अतिदेश की भी चर्चा की है। —सम्पादक

पंचम अंग व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र का अपर नाम 'भगवतीसूत्र' है। 'भगवती' शब्द व्याख्याप्रज्ञप्ति की पूज्यता हेतु विशेषणरूप में प्रयुक्त हुआ था, किन्तु इस शब्द को इतनी प्रियता मिली कि अब व्याख्याप्रज्ञप्ति की अपेक्षा 'भगवती' नाम ही अधिक प्रचलित हो गया है। उपलब्ध अंग आगमों में भगवतीसूत्र सर्वाधिक विशाल है। प्रश्नोत्तर शैली में विरचित इस आगम में विषयवस्तु का वैविध्य है। इसमें अनेक दार्शनिक गुत्थियों का समाधान है। प्राणिशास्त्र, गर्भशास्त्र, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, भूगर्भ शास्त्र, स्वप्न शास्त्र, गणित, ज्योतिष, इतिहास, खगोल, भूगोल, मनोविज्ञान, अध्यात्म, पुद्गल, वनस्पति आदि अनेक विषयों पर भगवती में रोचक एवं उपयोगी जानकारी उपलब्ध है। समवायांग एवं नन्दीसूत्र के अनुसार व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में ३६००० प्रश्नों का समाधान है।[१] सभी प्रश्नों का उत्तर भगवान महावीर द्वारा किया गया है। प्रश्नकर्त्ता मुख्यतः गौतम गणधर हैं। प्रसंगानुसार रोह अनगार, जयन्ती श्राविका, मृद्दुक श्रमणोपासक, सोमिल ब्राह्मण, तीर्थंकर पार्श्व के शिष्य कालास्यवेशीपुत्र, तुंगिका नगरी के श्रावक आदि के भी प्रश्नों का समाधान हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसमें मंखलिगोशालक, जमालि, शिवराजर्षि, स्कन्द परिव्राजक, तामली तापस आदि से संबद्ध जानकारी भी मिलती हैं। गणित की दृष्टि से पार्श्वापत्यीय गांगेय अणगार के प्रश्नोत्तर महत्त्वपूर्ण हैं।

भगवतीसूत्र के अध्ययनों को 'शतक' या 'शत' नाम दिया गया है।[२] इसमें ४१ शतक तथा १०५ अवान्तर शतक हैं। अवान्तर शतकों एवं अन्य शतकों की संख्या मिलाकर १३८ होती है। पहले से ३२वें शतक तक किसी भी शतक में अवान्तर शतक नहीं हैं। ३३वें से ३५वें शतक तक ७ शतकों में प्रत्येक में १२—१२ अवान्तर शतक हैं। चालीसवें शतक में २१ अवान्तर शतक हैं। ४१वें शतक में अवान्तर शतक नहीं हैं। इन सभी शतकों को मिलाने से १३८ शतक होते हैं {३२ + ८४(१२X ७) + २१ +१}। उद्देशकों की संख्या १८८३ या १९२३ है।[३] वर्तमान में इसका परिमाण १५७५१

श्लोकप्रमाण है। व्याख्याप्रज्ञप्ति का प्राकृत नाम 'वियाहपण्णत्ति' है। कहीं कहीं इसका नाम 'विवाहपण्णत्ति' या 'विबाहपण्णत्ति' भी प्राप्त होता है। वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने 'वियाहपण्णत्ति नाम को सर्वाधिक महत्त्व देकर इसकी व्याख्या चार प्रकार से की है। इनमें एक है— "वि—विविधा जीवाजीवादिप्रचुरतरपदार्थविषया:, आ—अभिविधिना कथंचिन्निखिलज्ञेय-व्याप्त्या मर्यादया वा, ख्या—ख्यानानि भगवतो महावीरस्य गौतमादीन् विनेयान् प्रति प्रश्नितपदार्थप्रतिपादनानि व्याख्या: ता: प्रज्ञाप्यन्ते, भगवता सुधर्मस्वामिना जम्बूनामानमभि यस्याम्। अर्थात् गौतमादि शिष्यों को उनके द्वारा पूछे गए प्रश्नों का भगवान महावीर के द्वारा जीव, अजीव आदि विषयों पर उत्तम विधि से जिस शास्त्र में विशद उत्तर दिए गए और जिन्हें सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी को बताया—वह व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र है।[4]

भगवान ने इस सूत्र में क्लिष्ट से क्लिष्ट प्रश्नों का सरलरीति से ग्राह्य समाधान प्रस्तुत किया है। समवायांग सूत्र[5] के अनुसार इसमें "द्रव्य, गुण, क्षेत्र, काल, पर्याय, प्रदेश, परिणाम, यथा— अस्तिभाव, अनुगम, निक्षेप, नय, प्रमाण, सुनिपुण उपक्रमों के विविध प्रकार, लोकालोक के प्रकाशक, विस्तृत संसार-समुद्र से पार उतारने में समर्थ, इन्द्रों द्वारा संपूजित भव्य जनों के हृदयों को अभिनन्दित करने वाले, तमोरज का विध्वंसन करने वाले, सुदृष्ट दीपकस्वरूप, ईहा, मति और बुद्धि को बढ़ाने वाले— ३६ हजार व्याकरणों (उत्तरों) को प्रतिपादित करने से यह व्याख्याप्रज्ञप्ति शिष्यों के लिए हितकारक और गुणों के महान् अर्थ से परिपूर्ण है। इसकी वाचनाएँ परिमित हैं एवं संग्रहणियाँ संख्यात हैं। सौ से अधिक अध्ययन हैं, १० हजार उद्देशन काल हैं, १० हजार समुदेशनकाल हैं, पद—गणना की अपेक्षा ८४ हजार पद हैं।" नन्दीसूत्र में २ लाख ८८ हजार पदाग्र कहे हैं।

भगवती सूत्र के प्रारम्भ में नमस्कार मन्त्र का मंगल उल्लेख करते हुए अर्थात् अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं को नमस्कार करने के पश्चात् ब्राह्मीलिपि एवं 'श्रुत' को भी नमन किया गया है। मंगलाचरण का यह रूप भगवतीसूत्र में ही दृष्टिगोचर होता है। इससे इस सूत्र की विशिष्टता प्रकट होती है।

भण्डारी पदमचन्द जी महाराज के शिष्य श्री अमरमुनि जी ने भगवतीसूत्र की विषयवस्तु को १० खण्डों में विभक्त किया है[6]— १. आचारखण्ड २. द्रव्यखण्ड ३. सिद्धान्तखण्ड ४. परलोकखण्ड ५. भूगोल ६. खगोल ७. गणितशास्त्र ८. गर्भशास्त्र ९. चरित्रखण्ड १०. विविध। आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी ने आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर से प्रकाशित व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के चतुर्थ खण्ड में ९४ पृष्ठों की प्रस्तावना लिखते हुए भगवतीसूत्र में चर्चित निम्नांकित विषयों पर विशेष प्रकाश डाला है[7], जिससे

इस सूत्र के वर्ण्य विषय का अनुमान हो जाता है— १. नमस्कार महामंत्र २. ब्राह्मीलिपि ३. गणधर गौतम ४. ज्ञान और क्रिया ५. कर्मबंध और क्रिया ६. निर्जरा ७. संतजीवन की महिमा और प्रकार ८. पाप और उसका फल ९. आध्यात्मिक शक्ति १०. प्रत्याख्यान ११. प्रायश्चित्त १२. तप एवं ध्यान १३. परीषह १४. मृत्यु की कला १५. ईशानेन्द्र एवं चमरेन्द्र १६. शिवराजर्षि १७. कालद्रव्य १८. पौषध १९. विभज्यवाद और अनेकान्तवाद २०. उदायन राजा २१. धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय २२. सोमिल ब्राह्मण के प्रश्न २३. अतिमुक्तकुमार २४. मोह २५. देवानन्दा ब्राह्मणी २६. जमालि एवं गोशालक २७. द्रव्यविषयक चिन्तन २८. आत्मा के आठ प्रकार २९. जीव के १४ भेद ३०. शरीर ३१. इन्द्रियाँ ३२. भाषा ३३. मन और उसके प्रकार ३४. भाव और उसके प्रकार ३५. योग और उसके प्रकार ३६. कषाय ३७. उपयोग और उसके प्रकार ३८. लेश्या ३९. कर्म ४०. पुद्गल ४१. समवसरण ४२.कालास्यवेशी। इन बिन्दुओं से विदित होता है कि भगवतीसूत्र की विषयवस्तु वैविध्यपूर्ण है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में जीव, अजीव, जीवाजीव, स्वसमय, परसमय, स्वपरसमय, लोक, अलोक, लोकालोक विषयक विस्तृत व्याख्या की गई है। इसमें कई रोचक विषय प्रश्नोत्तर शैली में स्पष्ट किए गए हैं, यथा— रोह अनगार के प्रश्न और भगवान् महावीर के उत्तर (शतक १, उद्देशक ६)—

प्रश्न— भगवन् पहले अण्डा है और फिर मुर्गी? अथवा पहले मुर्गी है या अण्डा?

भगवान्—रोह! वह अण्डा कहाँ से आया?

रोह— भगवन्! वह मुर्गी से आया।

भगवान्—वह मुर्गी कहाँ से आई?

रोह— भगवन्! वह अण्डे से आई।

भगवान्—इसी प्रकार हे रोह! मुर्गी और अण्डा पहले भी हैं और पीछे भी हैं। ये दोनों शाश्वत हैं । हे रोह! इनमें पहले पीछे का क्रम नहीं है।

इसी प्रकार लोक एवं अलोक को तथा जीव और अजीव को भगवान् ने शाश्वत बताया है।

पिंगल निर्ग्रन्थ द्वारा पूछे गए पाँच प्रश्नों का जब स्कन्दक परिव्राजक उत्तर न दे सका तो वह भगवान महावीर की सेवा में उपस्थित हुआ। भगवान ने उसकी शंकाओं को अपने ज्ञान से जान लिया एवं उनका संतोषप्रद समाधान पाकर स्कन्दक परिव्राजक भगवान महावीर का शिष्य बन गया। वे पाँच प्रश्न थे— १. लोक सान्त है या अनन्त? २. जीव सान्त है या अनन्त ३. सिद्धि सान्त है या अनन्त? ४. सिद्ध सान्त है या अनन्त ५. किस मरण से मरता हुआ जीव संसार बढ़ाता है और किस मरण से मरता हुआ जीव संसार घटाता है? भगवान् द्वारा दिए गए इन प्रश्नों के समाधानों में से प्रथम

प्रश्न का समाधान इस प्रकार है—

हे स्कन्दक! मैंने चार प्रकार का लोक बताया है—द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भावलोक। उन चारों में से द्रव्य से लोक एक है और अन्त वाला है, क्षेत्र से लोक असंख्यात कोटाकोटि योजन तक लम्बा—चौड़ा और असंख्य कोटाकोटि योजन की परिधि वाला है तथा वह अन्तसहित है। काल से ऐसा कोई काल नहीं था, जिसमें लोक नहीं था, ऐसा कोई काल नहीं है, जिसमें लोक नहीं है, ऐसा कोई काल नहीं होगा, जिसमें लोक न होगा। लोक सदा था, सदा है और सदा रहेगा। लोक ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है, उसका अन्त नहीं है। भाव से लोक अनन्त वर्णपर्याय रूप, गन्धपर्यायरूप, रसपर्यायरूप और स्पर्शपर्यायरूप है। इसी प्रकार अनन्त संस्थानपर्यायरूप, अनन्त गुरुलघु-पर्यायरूप एवं अनन्त अगुरुलघुपर्यायरूप है; उसका अन्त नहीं है। इस प्रकार हे स्कन्दक! द्रव्यलोक अन्तसहित है, क्षेत्र लोक अन्त सहित है, काल लोक अन्तरहित है और भावलोक भी अन्तरहित है। (शतक २ उद्देशक १)

इसी प्रकार तीर्थंकर महावीर ने जीव, सिद्धि एवं सिद्ध को द्रव्य एवं क्षेत्र से सान्त तथा काल एवं भाव से अन्तरहित बताया है। मरण के दो प्रकार बताये हैं— बालमरण एवं पण्डितमरण। बालमरण से मरने वाला जीव संसार बढ़ाता है तथा पण्डितमरण से मरने वाला जीव संसार घटाता है।

गौतमस्वामी एवं भगवान महावीर के प्रश्नोत्तर द्रष्टव्य हैं (शतक २, उद्देशक ५)—

गौतम— भगवन्! तथारूप श्रमण या माहन की पर्युपासना करने वाले को पर्युपासना का क्या फल मिलता है?

भगवान— गौतम! श्रवण रूप (धर्म श्रवण रूप) फल मिलता है।

गौतम— भगवन्! उस श्रवण का क्या फल होता है?

भगवान— गौतम! श्रवण का फल ज्ञान है।

गौतम— भगवन्! ज्ञान का फल क्या है?

भगवान— गौतम! ज्ञान का फल विज्ञान(हेय,ज्ञेय एवं उपादेय का विवेचन) है।

गौतम— भगवन्! विज्ञान का फल क्या है?

भगवान— गौतम! विज्ञान का फल प्रत्याख्यान (हेय का त्याग) है।

गौतम— भगवन्! प्रत्याख्यान का फल क्या है?

भगवान— गौतम! प्रत्याख्यान का फल संयम (संवर) है।

गौतम— भगवन्! संयम का फल क्या है?

भगवान— गौतम! संयम का फल अनास्रव है।

इसी प्रकार अनास्रव का फल तप एवं तप का फल कर्म-निर्जरा बताया गया है। यह प्रतिपादन ज्ञान एवं क्रिया के एक रूप को प्रस्तुत करता है।

शतक १२ उद्देशक २ में जयन्ती श्राविका ने भगवान से जो जिज्ञासा की,उसके समाधान भी पठनीय हैं, उदाहरणार्थ–

जयन्ती– भगवन्! जीवों का सुप्त रहना अच्छा है या जागृत रहना अच्छा?

भगवान्– जयन्ती! कुछ जीवों का सुप्त रहना अच्छा है तथा कुछ का जागृत रहना अच्छा है।

जयन्ती– भगवन्! ऐसा किस कारण से कहते हैं कि कुछ जीवों का सुप्त रहना अच्छा है तथा कुछ का जागृत रहना अच्छा?

भगवान्– जयन्ती! जो अधार्मिक, अधर्मानुसर्ता, अधर्मिष्ठ, अधर्म का कथन करने वाले, अधर्मावलोकनकर्ता, अधर्म में आसक्त, अधर्माचरणकर्ता और अधर्म से ही आजीविका करने वाले जीव हैं, उन जीवों का सुप्त रहना अच्छा है, क्योंकि वे जीव सुप्त रहते हैं तो अनेक प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को दु:ख, शोक और परिताप देने में प्रवृत्त नहीं होते। वे जीव सोये रहते हैं तो अपने को दूसरे को और स्व–पर को अनेक अधार्मिक प्रपंचों में नहीं फंसाते। इसलिए उन जीवों का सुप्त रहना अच्छा है।

जयन्ती! जो धार्मिक हैं, धर्मानुसारी, धर्मप्रिय, धर्म का कथन करने वाले, धर्म के अवलोकनकर्ता, धर्मानुरक्त, धर्माचरण और धर्म से ही अपनी आजीविका करने वाले जीव हैं, उन जीवों का जाग्रत रहना अच्छा है, क्योंकि ये जीव जाग्रत हों तो बहुत से प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को दु:ख, शोक और परिताप देने में प्रवृत्त नहीं होते। ऐसे धर्मिष्ठ जीव जागृत रहते हुए स्वयं को, दूसरे को और स्व–पर को धार्मिक कार्यों में लगाते हैं। ये जीव जागृत रहते हुए धर्मजागरणा में अपने को जागृत रखते हैं।

इसलिए इन जीवों का जागृत रहना अच्छा है।

इसी कारण से, हे जयन्ती! ऐसा कहा जाता है कि कई जीवों का सुप्त रहना अच्छा है और कई जीवों का जागृत रहना अच्छा है।

प्रथम शतक के नवम उद्देशक में प्राणातिपात, मृषावाद आदि १८ पापों को संसार बढ़ाने वाला तथा इनसे विरमण को संसार घटाने वाला बताया गया है, यथा–

गौतम– भन्ते! जीव संसार को परिमित कैसे करते हैं?

भगवान्– गौतम! प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शन शल्य के विरमण से जीव संसार को परिमित करते हैं।

आज का विज्ञान त्रसकायिक एवं वनस्पतिकायिक जीवों में तो श्वसन क्रिया स्वीकार करता है, किन्तु पृथ्वीकायिक आदि अन्य एकेन्द्रिय जीवों के संबंध में मौन है। भगवती सूत्र शतक २ उद्देशक १ के श्वासोच्छ्वास पद में पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय जीवों में श्वसनक्रिया

प्रतिपादित की गई है, यथा—

गौतम— ये जो पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक एवं वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव हैं, इनके आन, अपान तथा उच्छ्वास और नि:श्वास को हम न जानते हैं और न देखते हैं।

भन्ते! क्या ये जीव आन, अपान तथा उच्छ्वास और नि:श्वास करते हैं?

भगवान्—हाँ गौतम! ये जीव भी आन, अपान तथा उच्छ्वास और नि:श्वास करते हैं।

श्रमण—निर्ग्रन्थों के सम्मुख जाने पर पांच प्रकार के अभिगमों का श्रावक को पालन करना चाहिए। इन पांच अभिगमों का उल्लेख भगवती सूत्र के नवम शतक के ३३वें उद्देशक में देवानन्दा ब्राह्मणी द्वारा भगवान महावीर के सम्मुख जाते समय हुआ है—

तए णं सा देवाणंदा माहणी.....समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छइ, तंजहा— सचित्ताणं दव्वाणं विओसरणयाए अचित्ताणं दव्वाणं अविमोयणयाए, विणयोणयए गायलट्ठीए चक्खुफासे अंजलिपग्गेहणं, मणस्स एकतीभावकरणेणं।

पाँच अभिगम हैं— १. सचित्त द्रव्यों का त्याग २. अचित्त द्रव्यों का त्याग न करना (किन्तु विवेक रखना) ३. विनय से शरीर को झुकाना ४. भगवान के दृष्टिगोचर होते ही दोनों हाथ जोड़ना ५. मन को एकाग्र करना।

यह लोक कितना विशाल है, इसके संबंध में शतक ११ उद्देशक १० में देवों की गति का उदाहरण देकर समझाया गया है, जिसका सारांश यह है कि दिव्य तीव्र गति वाले देव हजारों वर्षों तक गमन करके भी लोकान्त तक नहीं पहुंच सकते, लोक इतना विशाल है।

आत्मा ज्ञान एवं दर्शनस्वरूप है या भिन्न, इस संबंध में भगवती सूत्र का स्पष्ट प्रतिपादन है—

आया भंते! नाणे अन्नाणे?
गोयमा! आया सिय नाणे, सिय अन्नाणे, नाणे पुण नियमं आया।

(शतक 12,उद्देशक 10, सूत्र 10)

आया भंते दंसणे, अन्ने दंसणे?
गोयमा! आया नियमं दंसणे, दंसणे वि नियमं आया।

(शतक 12, उद्देशक 10, सूत्र 16)

गौतम— भगवन्! आत्मा ज्ञान स्वरूप है या अज्ञान स्वरूप?

भगवान्— गौतम! आत्मा कदाचित् ज्ञानरूप है, कदाचित् अज्ञान रूप है, किन्तु ज्ञान तो नियम से आत्मस्वरूप है।

गौतम— भगवन्! आत्मा दर्शनरूप है या दर्शन उससे भिन्न है?

भगवान्— गौतम! आत्मा नियमत: दर्शनरूप है और दर्शन भी नियमत: आत्मरूप है।

आत्मा का स्वरूप ज्ञान एवं दर्शनरूप है। जब ज्ञान के सम्यक् रूप पर आवरण आ जाता है तब उसे अज्ञानरूप कहा गया है। वास्तव में तो आत्मा ज्ञानदर्शन स्वरूप ही है। इसे ही उपयोगमयत्व भी कहा गया है।

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में जीव संबंधी विस्तृत चर्चा मिलती है। जीवों की चार गतियाँ एवं २४ दण्डक हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति में बहुत सी चर्चा २४ दण्डकों में हुई है। २४ दण्डक हैं– सप्तविध नारकियों का १ दण्डक, देवों के १३ दण्डक (भवनपति के १० दण्डक, वाणव्यन्तर ज्योतिषी एवं वैमानिक के ३ दण्डक) पृथ्वीकायिक आदि पांच स्थावरों के ५ दण्डक, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय) के ३ उदण्डक, तिर्यंच पचेन्द्रिय का १ दण्डक, मनुष्य का १ दण्डक। २४वें शतक में इन २४ दण्डकों का २० द्वारों से निरूपण किया गया है। २० द्वार हैं– १. उपपात २. परिमाण ३. संहनन ४. ऊँचाई ५. संस्थान ६. लेश्या ७. दृष्टि ८. ज्ञान, अज्ञान ९. योग १०. उपयोग ११. संज्ञा १२. कषाय १३. इन्द्रिय १४. समुद्घात १५. वेदना १६. वेद १७. आयुष्य १८. अध्यवसाय १९. अनुबन्ध २०. काय संवेध।

सप्तम शतक के षष्ठ उद्देशक में प्रतिपादित किया गया कि अगले भव के आयुष्य का बन्ध इसी भव में हो जाता है, किन्तु उसका वेदन अगले भव में उत्पन्न होने के पश्चात् होता है।

जीव के द्वारा गर्भ में सर्वप्रथम माता के ओज (आर्तव) एवं पिता के शुक्र का आहार किया जाता है, तदनन्तर वह माता द्वारा गृहीत आहार के एक देश के ओज को ग्रहण करता है। एक प्रश्न किया जाता है कि क्या गर्भ में रहे हुए जीव के मलमूत्रादि यावत् पित्त नहीं होते हैं? इसका उत्तर देते हुए कहा गया–

गौतम! गर्भ में जाने पर जीव जो आहार करता है, जिस आहार का चय करता है, उस आहार को श्रोत्रेन्द्रिय के रूप में यावत् स्पर्शेन्द्रिय के रूप में तथा हड्डी, मज्जा, केश, दाढी, मूंछ, रोम और नखों के रूप में परिणत करता है। इस कारण से गौतम! ऐसा कहा जाता है कि गर्भ में रहे हुए जीव के मल–मूत्रादि यातव् पित्त नहीं होते हैं। (शतक १ उद्देशक ७)

गर्भगत जीव मुख से कवलाहार नहीं करता है। वह सब ओर से आहार करता है, सारे शरीर से परिणमाता है, बार–बार उच्छ्वास लेता है, बार–बार निःश्वास लेता है, कभी आहार करता है, कभी परिणमाता है, कभी उच्छ्वास लेता है, कभी निःश्वास लेता है तथा संतति के जीव को रस पहुँचाने में कारणभूत और माता के रस लेने में कारणभूत जो मातृजीवसहरणी नाम की नाड़ी है उसका माता के जीव के साथ संबंध है और सन्तति के जीव के साथ स्पृष्ट है, उस नाड़ी द्वारा वह गर्भगत जीव आहार लेता है और आहार को परिणमाता है। (शतक १ उद्देशक ७)

भगवती सूत्र की विषयवस्तु को संक्षेप में समेटना कठिन है। इसके

प्रत्येक शतक एवं उसके प्रत्येक उद्देशक में भी कई बार नये–नये विषयों पर प्रश्न एवं उनके समाधान है। इसमें जो जानकारी है वह अद्‌भुत है। जीव के गर्भ में आगमन से लेकर, जीवन स्थिति, मरण आदि विविध विषय वर्णित हैं जो आधुनिक विज्ञान के लिए भी शोध हेतु उपयोगी एवं मार्गदर्शक हो सकते हैं। नारक, देव, तिर्यंच और मनुष्य इन चारों गतियों के जीवों के विभिन्न पक्षों का इस आगम में वर्णन उपलब्ध है।

लोक के एक आकाशप्रदेश में एकेन्द्रियादि जीव प्रदेश परस्पर बद्ध यावत् सम्बद्ध हैं, फिर भी वे एक–दूसरे को बाधा या व्याबाध नहीं पहुंचाते, अवयवों का छेदन नहीं करते। इस तथ्य को समझाने हेतु नर्तकी का उदाहरण दिया गया। जिस प्रकार नाट्य करती हुई नर्तकी पर प्रेक्षकों की दृष्टि पड़ती है, किन्तु वह नर्तकी दर्शकों की उन दृष्टियों को कुछं भी बाधा-पीड़ा उत्पन्न नहीं करती है, इसी प्रकार जीवों के आत्मप्रदेश परस्पर बद्ध, स्पृष्ट यावत् संबद्ध होने पर आबाधा या व्याबाधा उत्पन्न नहीं करते। (श. ११उद्दे. १०)

पुद्‌गल के संबंध में व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में विविध जानकारियाँ हैं। परिणति की दृष्टि से पुद्‌गल तीन प्रकार के बताये गए–१. प्रयोग–परिणत, २. मिश्र परिणत और विस्रसा परिणत।(शतक ८ उद्देशक १) जीव के व्यापार से शरीर आदि के रूप में परिणत पुद्‌गलों को प्रयोग–परिणत, प्रयोग और स्वभाव (विस्रसा) इन दोनों विधियों के द्वारा परिणत पुद्‌गल को मिश्र परिणत एवं स्वभाव से परिणत पुद्‌गल को विस्रसा–परिणत कहा गया है। सबसे अल्प पुद्‌गल प्रयोग परिणत हैं, मिश्र परिणत उससे अनन्तगुण हैं तथा विस्रसा परिणत उससे भी अनन्तगुण हैं। शतक १२ उद्देशक ४ में परमाणु पुद्‌गलों के संयोग एवं विभाग का निरूपण है।

परमाणु के संबंध में शतक १८ उद्देशक १० में कहा है कि परमाणु पुद्‌गल एक समय में सारे लोक को लांघ सकता है। परमाणु की यह गति विज्ञान के लिए भी अन्वेषणीय है। एक परमाणु में भी वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श को स्वीकार किया गया है। शतक १६ उद्देशक १८ में पुद्‌गल की स्वाभाविक गतिशीलता बतायी है। धर्मास्तिकाय उसका प्रेरक नहीं सहायक है। परमाणु में जीवनिमित्तक गति नहीं होती, क्योंकि परमाणु जीव के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता और पुद्‌गल को ग्रहण किये बिना पुद्‌गल में परिणमन कराने की जीव में सामर्थ्य नहीं है।

यह एक ज्ञातव्य तथ्य है कि भगवती सूत्र अंग आगम होते हुए भी इसमें पश्चात् रचित राजप्रश्नीय, औपपातिक, प्रज्ञापना, जीवाभिगम तथा नन्दीसूत्र का अतिदेश करके अनेक स्थलों पर भगवती सूत्र के विवरणों को तथा कहीं सम्पूर्ण उद्देशकों को संक्षिप्त कर दिया गया है। इसके संभावित कारणों की चर्चा करते हुए आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज ने इस प्रकार समाधान किया है[८]– "वीरनिर्वाण संवत् ९८० में सूत्र अन्तिम रूप में

लिपिबद्ध किए गए। ऐसा प्रतीत होता है कि आगमों को लिपिबद्ध करते समय इस नियम का पालन करना आवश्यक नहीं समझा गया कि जिस अनुक्रम से आगमों की रचना हुई है, उसी क्रम से उनको लिपिबद्ध किया जाय। इसके परिणामस्वरूप पश्चाद्वर्ती काल में रचित कतिपय आगमों का लेखन सुविधा की दृष्टि से पहले सम्पन्न कर लिया गया।.....पश्चाद्वर्ती आगम होते हुए भी जो पहले लिपिबद्ध कर लिए गए थे और उनमें पूर्ववर्ती जिन आगमों के जो-जो पाठ अंकित हो चुके थे उन पाठों की पुनरावृत्ति न हो, इस दृष्टि से बाद में लिपिबद्ध किए जाने वाले पूर्ववर्ती आगमों में 'जहा नन्दी' आदि पाठ देकर पश्चाद्वर्ती आगमों और आगमपाठों का उल्लेख कर दिया गया। यह केवल पुनरावृत्ति को बचाने की दृष्टि से किया गया। इससे मूल रचना की प्राचीनता में किसी प्रकार की किंचित् मात्र भी न्यूनता नहीं आती। हो सकता है उस समय आगमों को लिपिबद्ध करते समय पुनरावृत्ति के दोष से बचने के साथ-साथ इस विशाल पंचम अंग व्याख्याप्रज्ञप्ति के अतिविशाल स्वरूप एवं कलेवर को थोड़ा लघुस्वरूप प्रदान करने की भी उन देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण आदि आचार्यों की दृष्टि रही हो।''

पं. दलसुख मालवणिया ने यह समाधान इस प्रकार किया है[९]- ''यह भी कह देना आवश्यक है कि ऐसा क्यों नहीं किया गया। जैन परम्परा में यह एक धारणा पक्की हो गयी है कि भगवान् महावीर ने जो कुछ उपदेश दिया वह गणधरों ने अंग में ग्रथित किया। अर्थात् अंगग्रन्थ गणधरकृत हैं और तदितर स्थविरकृत हैं। अतएव प्रामाण्य की दृष्टि से प्रथम स्थान अंग को मिला है। अतएव नयी बात को भी यदि प्रामाण्य अर्पित करना हो तो उसे भी गणधरकृत बताना आवश्यक था। इसी कारण से उपांग की चर्चा को भी अंगान्तर्गत कर लिया गया। यह तो प्रथम भूमिका की बात हुई; किन्तु इतने से संतोष नहीं हुआ तो बाद में दूसरी भूमिका में यह परम्परा भी चलाई गई कि अंगबाह्य भी गणधरकृत हैं और उसे पुराण तक बढ़ाया गया। अर्थात् जो कुछ जैन नाम से चर्चा हो, उस सबको भगवान् महावीर और उनके गणधर के साथ जोड़ने की यह प्रवृत्ति इसलिए आवश्यक थी कि यदि उसका संबंध भगवान् और उनके गणधरों के साथ जोड़ा जाता है तो फिर उसके प्रामाण्य के विषय में किसी को सन्देह करने का अवकाश मिलता नहीं है। इस प्रकार चारों अनुयोगों का मूल भगवान् महावीर के उपदेश में ही है, यह एक मान्यता दृढ हुई।''

आचार्य महाप्रज्ञ ने भगवतीसूत्र में उपांगों के अतिदेश के संबंध में भिन्न रीति से विचार करते हुए उसे भगवती में परिवर्धित विषय माना है[१०]- ''जहां जहां प्रज्ञापना, जीवाजीवाभिगम आदि का निर्देश है वे सब प्रस्तुत आगम में परिवर्धित विषय हैं। यह कल्पना उन प्रकरणों के अध्ययन से स्पष्ट

हो जाती है। इसकी संभावना नहीं की जा सकती कि प्रस्तुत आगम में निर्देशित विषय पहले विस्तृत रूप में थे और संकलन काल में उन्हें संक्षिप्त किया गया और उनका विस्तार जानने के लिए अंगबाह्य सूत्रों का निर्देश किया गया। अंगबाह्य सूत्रों में अंगों का निर्देश किया जा सकता था, किन्तु अंगसूत्रों में अंगबाह्य सूत्रों का निर्देश कैसे किया जा सकता था? वह किया गया है। इससे स्पष्ट है कि उन निर्देशों से संबंधित विषय प्रस्तुत आगम में जोड़कर उसे व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।'' आचार्य महाप्रज्ञ आगे लिखते है– ''भगवती के मूलपाठ और संकलन काल में परिवर्धित पाठ का निर्णय करना यद्यपि सरल कार्य नहीं है, फिर भी सूक्ष्म अध्यवसाय के साथ यह कार्य किया जाए तो असम्भव भी नहीं।''

इस संदर्भ में उपर्युक्त तीनों मनीषियों के विचार महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु हमें इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि अंग आगमों एवं उपांग आगमों को अन्तिम रूप देवर्द्धिगणी ने अपनी वाचना में दिया है। उन्हें समस्त आगमों एवं उनकी विषयवस्तु की पूर्ण जानकारी थी। अत: उन्होंने या तो भगवतीसूत्र के अतिविशाल आकार को संक्षिप्त करने की दृष्टि से अंगबाह्य आगमों में आगत विषय का अतिदेश भगवतीसूत्र में कर दिया हो या फिर अंगबाह्य आगमों में चर्चित संबद्ध विषय को भगवती में सम्मिलित करने की दृष्टि से यथावश्यक अतिदेश कर उन्हें जोड़ दिया हो। ऐसा करने में उनका अपना विवेक ही प्रमुख कारण प्रतीत होता है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र की कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

१. यह अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य आगमों में आकार में सबसे बड़ा है।
२. इसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, लोक, अलोक, स्वसमय, परसमय आदि के संबंध में सूक्ष्म जानकारियाँ विद्यमान हैं।
३. प्रश्नोत्तर शैली में यह आगम स्थूल से सूक्ष्मता की ओर ले जाता है। जीव, उसके श्वासोच्छ्वास, आहार, गर्भ, आदि के संबंध में तथा परमाणु के संबंध में इस आगम में आश्चर्यजनक सूचनाएँ उपलब्ध हैं।
४. अधिकांश प्रश्न गणधर गौतम के द्वारा पूछे गए हैं तथा उनके उत्तर भगवान महावीर द्वारा दिये गए हैं। रोह, जयन्ती आदि के द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर भी भगवान महावीर ने दिए हैं।
५. प्रश्नों का उत्तर देते समय विभज्यवाद एवं स्याद्वाद की शैली अपनायी गई है। प्रश्नों को कतिपय खण्डों में विभक्त कर उत्तर देना विभज्यवाद है तथा 'सिया' (स्यात्) पद के प्रयोगपूर्वक उत्तर देना स्याद्वाद है। उत्तर देते समय भगवान महावीर की दृष्टि में अनेकान्तवाद निहित रहता है। इसलिए वे किसी दृष्टिकोण विशेष से भिन्न–भिन्न प्रकार के उत्तर देते हैं, यथा द्रव्य एवं क्षेत्र की अपेक्षा लोक सान्त है तथा काल एवं भाव की अपेक्षा लोक अनन्त है।

६. इसमें नारक की रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों, नारक जीवों एवं देवों का विशिष्ट वर्णन उपलब्ध है।
७. वनस्पति के वर्णन हेतु इसमें कई शतक हैं। शतक ११, शतक २१, शतक २२ एवं शतक २३ में वनस्पतिकायिक जीवों यथा– उत्पल, शलूक, पलाश, कुम्भिक, पद्म, कणिका, नलिन, शालि, अलसी, वंश, इक्षु, दर्भ, अभ्र, तुलसी आदि का रोचक वर्णन है।
८. इसमें १८ पापों एवं उनमें वर्ण आदि का भी प्ररूपण है।
९. गोशालक का शतक १५ में विस्तृत वर्णन है। इसके अतिरिक्त शिवराजर्षि(शतक ११ उद्देशक९), जमालि (शतक ९.३३,२२.११२, ११.९, ११.११,१३.६), स्कन्द परिव्राजक, तामली तापस (शतक ३.१, ३.२, ११.९) आदि का भी वर्णन है।
१०. लेश्या, विकुर्वणा, समुद्घात, इन्द्रिय, अश्रुत्वा केवली, स्वप्न, क्रिया, उपपात, काल, भाषा, केवली, ज्ञान आदि के संबंध में भी इस सूत्र में विशष्ट जानकारियाँ हैं, जो ज्ञानवर्धन में सहायक हैं।
११. इसमें कई नये पारिभाषिक शब्द हैं, यथा– कल्योज, द्वापरयुग्म, त्र्योज, अनन्तरोपपन्नक, परम्परोपपन्नक, अनन्तरावगाढ, परम्परावगाढ, क्षुद्रयुग्म आदि।
१२. कर्म-सिद्धान्त, बन्ध, आस्रव, आयु आदि के संबंध में भी यह आगम नवीन सूचनाएं देता है।
१३. इस आगम में ज्ञान के विविध क्षेत्र जिस सूक्ष्मता से स्पृष्ट हैं वे अपने आपमें अद्भुत हैं।

व्याख्या-साहित्य

भगवतीसूत्र पर न निर्युक्ति उपलब्ध है, न ही कोई भाष्य। एक अतिलघु चूर्णि है, जिसके प्रकाशन का प्रारम्भ लाडनूँ से प्रकाशित भगवई में हुआ है। इस चूर्णि के रचयिता जिनदास महत्तर को स्वीकार किया गया है। यह चूर्णि प्राकृत प्रधान है। नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि की वृत्ति इस आगम पर उपलब्ध है। इसका ग्रन्थमान अनुष्टुप् श्लोक के परिमाण से १८६१६ है। इस वृत्ति से भगवती सूत्र के रहस्यों को समझने में सरलता होती है। इसे विक्रम संवत् ११२८ में अणहिल पाटण नगर में पूर्ण किया गया था। व्याख्याप्रज्ञप्ति पर दूसरी वृत्ति मलयगिरि की है जो द्वितीय शतक वृत्ति के रूप में जानी जाती है। विक्रम संवत् १५८३ में हर्षकुल ने टीका लिखी। दानशेखर ने लघुवृत्ति लिखी। भावसागर एवं पद्मसुन्दरगणि ने भी व्याख्याएँ लिखी हैं। धर्मसिंह जी द्वारा व्याख्याप्रज्ञप्ति पर टब्बा लिखे जाने की भी सूचना मिलती है। पूज्य घासीलाल जी महाराज ने भी इस पर संस्कृत में व्याख्या का लेखन किया है। आचार्य महाप्रज्ञ ने हिन्दी में भाष्य-लेखन किया

है, जिसका प्रथम खण्ड द्वितीय शतक तक प्रकाशित है। हिन्दी एवं गुजराती अनुवाद अनेक स्थानों से प्रकाशित हैं।

संदर्भ

१. (अ) समवायांग सूत्र ९३, नन्दीसूत्र ८५
   (ब) तत्त्वार्थराजवार्तिक १.२०, षट्खण्डागम, भाग १, पृष्ठ १०१ एवं कसायपाहुड, प्रथम अधिकारपृष्ठ १२५ के अनुसार इसमें ६० हजार प्रश्नों का व्याकरण है।
२. इह सतं चेव अज्झयणसण्णं—नन्दीचूर्णि सूत्र ८९ पृ. ६५
३. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग—२ के अनुसार इसमें १८८३ शतक हैं, जबकि आगम प्रकाश समिति, ब्यावर एवं भगवई (लाडनूँ) के अनुसार १९२३ शतक हैं। १९२५ शतकों का उल्लेख भगवतीसूत्र के उपसंहार में पाया जाता है। बीसवें शतक के छठे उद्देशक में पृथ्वी, अप् और वायु इन तीनों की उत्पत्ति का निरूपण है। एक परम्परा के अनुसार यह एक उद्देशक है, दूसरी परम्परा के अनुसार ये तीन उद्देशक हैं। तीन उद्देशक मानने पर उद्देशकों की संख्या १९२५ हो जाती है।
४. अन्य तीन प्रकार है—
   (अ) अथवा विविधतया विशेषेण वा आख्यायन्त इति व्याख्या— अभिलाप्यपदार्थवृत्तय:, ता: प्रज्ञाप्यन्ते यस्याम्।
   (ब) अथवा व्याख्यानाम्— अर्थप्रतिपादनानां प्रकृष्टा: ज्ञप्तयो— ज्ञानानि यस्यां सा व्याख्याप्रज्ञप्ति:।
   (स) अथवा व्याख्याया: अर्थकथनस्य प्रज्ञायाश्च—तद्धेतुभूतबोधस्य व्याख्यासु बा प्रज्ञाया: आप्ति:—प्राप्ति: आत्तिर्वा—आदानं यस्या: सकाशादसौ व्याख्याप्रज्ञप्तिर्व्याख्याप्रज्ञात्तिर्वा व्याख्याप्रज्ञाद्वा भगवत: सकाशादाप्तिरात्तिर्वा गणधरस्य यस्या: सा तथा।
   अभयदेवसूरि ने 'विवाहपण्णत्ति एवं 'विबाहपण्णत्ति' नामों की भी संगति बतायी है।
५. समवायांगसूत्र, सूत्र १४०
६. सम्पादकीय, पृ. १६—१७, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ग्रंथाक १४, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
७. उनकी यह प्रस्तावना 'भगवती सूत्र : एक परिशीलन' नाम से तारक गुरु ग्रन्थालय, उदयपुर से विक्रम संवत् २०४९ में प्रकाशित हो गई है।
८. जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग—२, पृ. १४०, जैन इतिहास समिति, जयपुर, सन् १९९५
९. जैन दर्शन का आदिकाल, पृ. १३
१०. भगवई, खण्ड—१, भूमिका पृ. ३३, लाडनूँ

— 3 K 24–25, कुड़ी भगतासनी हाउसिंग बोर्ड, जोधपुर (राज.)342005

ज्ञाताधर्मकथा की सांस्कृतिक विरासत

प्रोफेसर प्रेमसुमन जैन

ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में ऐतिहासिक कथानकों एवं काल्पनिक दृष्टान्तों के माध्यम से साधना में दृढ़ता की प्रभावी प्रेरणा मिलती है। इसमें सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा, लिपि, कला, व्यापार, रीति–रिवाज आदि के संबंध में भी प्रभूत सामग्री प्राप्त होती है। प्राकृत एवं जैन धर्म-दर्शन के प्रतिष्ठित विद्वान् डॉ. प्रेमसुमन जी, उदयपुर ने अपने आलेख में ज्ञाताधर्मकथा सूत्र के सांस्कृतिक महत्त्व को उजागर किया है। —सम्पादक

प्राकृत भाषा के प्राचीन ग्रन्थों में अर्धमागधी में लिखित अंगग्रन्थ प्राचीन भारतीय संस्कृति और चिंतन के क्रमिक विकास को जानने के लिए महत्त्वपूर्ण साधन हैं। अंग ग्रन्थों में ज्ञाताधर्मकथा का विशिष्ट महत्त्व है। कथा और दर्शन का यह संगम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के नाम में भी इसका विषय और महत्त्व छिपा हुआ है। उदाहरण प्रधान धर्मकथाओं का यह प्रतिनिधि ग्रन्थ है। ज्ञातपुत्र भगवान महावीर की धर्म कथाओं को प्रस्तुत करने वाला इस ग्रन्थ का नाम ज्ञाताधर्मकथा सार्थक है। विद्वानों ने अन्य दृष्टियों से भी इस ग्रन्थ के नामकरण की समीक्षा की है।[1]

दृष्टान्त एवं धर्म कथाएँ

आगम ग्रन्थों में कथा-तत्त्व के अध्ययन की दृष्टि से ज्ञाताधर्मकथा में पर्याप्त सामग्री है। इसमें विभिन्न दृष्टान्त एवं धर्म कथाएं हैं, जिनके माध्यम से जैन तत्त्व–दर्शन को सहज रूप में जनमानस तक पहुँचाया गया है ज्ञाताधर्मकथा आगमिक कथाओं का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसमें कथाओं की विविधता है और प्रौढ़ता भी। मेघकुमार, थावच्चापुत्र, मल्ली तथा द्रौपदी की कथाएँ ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत करती हैं। प्रतिबुद्धराजा, अर्हन्नक व्यापारी, राजा रूक्मी, स्वर्णकार की कथा, चित्रकार कथा, चोखा परिव्राजिका आदि कथाएँ मल्ली की कथा की अवान्तर कथाएँ हैं। मूलकथा के साथ अवान्तर कथा की परम्परा की जानकारी के लिए ज्ञाताधर्मकथा आधारभूत स्रोत है। ये कथाएँ कल्पना–प्रधान एवं सोद्देश्य हैं। इसी तरह जिनपाल एवं जिनरक्षित की कथा, तेतलीपुत्र कथा, सुषमा की कथा एवं पुण्डरीक कथा कल्पना प्रधान कथाएँ हैं।

ज्ञाताधर्मकथा में दृष्टान्त और रूपक कथाएं भी हैं। मयूरों के अण्डों के दृष्टान्त से श्रद्धा और धैर्य के फल को प्रकट किया गया हैं। दो कछुओं के उदाहरण से संयमी और असयंमी साधक के परिणामों को उपस्थित किया गया है। तुम्बे के दृष्टान्त से कर्मवाद को स्पष्ट किया गया है। दावद्रव नामक वृक्ष के उदाहरण द्वारा आराधक और विराधक के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। ये दृष्टान्त कथाएँ परवर्ती साहित्य के लिए प्रेरणा प्रदान करती हैं।

इस ग्रन्थ में कुछ रूपक कथाएँ भी हैं। दूसरे अध्ययन की कथा धन्ना सार्थवाह एवं विजय चोर की कथा है। यह आत्मा और शरीर के संबंध का

रूपक है। सातवें अध्ययन की रोहिणी कथा पांच व्रतों की रक्षा और वृद्धि को रूपक द्वारा प्रस्तुत करती है। उदकजात नामक कथा संक्षिप्त है। किन्तु इसमें जल-शुद्धि की प्रक्रिया द्वारा एक ही पदार्थ के शुभ एवं अशुभ दोनों रूपों को प्रकट किया गया है। अनेकान्त के सिद्धान्त को समझाने के लिए यह बहुत उपयोगी है। नन्दीफल की कथा यद्यपि अर्ध कथा है, किन्तु इसमें रूपक की प्रधानता है। समुद्री अश्वों के रूपक द्वारा लुभावने विषयों के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

छठे अध्ययन में कर्मवाद जैसे गुरु गंभीर विषय को रूपक के द्वारा स्पष्ट किया गया है। गणधर गौतम की जिज्ञासा के समाधान में भगवान ने तूंबे के उदाहरण से इस बात पर प्रकाश डाला कि मिट्टी के लेप से भारी बना हुआ तूंबा जल में मग्न हो जाता है और लेप हटने से वह पुनः तैरने लगता है। वैसे ही कर्मों के लेप से आत्मा भारी बनकर संसार सागर में डूबता है और उस लेप से मुक्त होकर ऊर्ध्वगति करता है। दसवें अध्ययन में चन्द्र के उदाहरण से प्रतिपादित किया है कि जैसे कृष्णपक्ष में चन्द्र की चारु चन्द्रिका मंद और मंदतर होती जाती है और शुक्ल पक्ष में वही चन्द्रिका अभिवृद्धि को प्राप्त होती है वैसे ही चन्द्र के सदृश कर्मों की अधिकता से आत्मा की ज्योति मंद होती है और कर्म की ज्यों–ज्यों न्यूनता होती है त्यों–त्यों उसकी ज्योति अधिकाधिक जगमगाने लगती है।

ज्ञाताधर्मकथा पशुकथाओं के लिए भी उद्गम ग्रन्थ माना जा सकता है। इस एक ही ग्रन्थ में हाथी, अश्व, खरगोश, कछुए, मयूर, मेंढक, सियार आदि को कथाओं के पात्रों के रूप में चित्रित किया गया है। मेरुप्रभ हाथी ने अहिंसा का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह भारतीय कथा साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। ज्ञाताधर्मकथा के द्वितीय श्रुतस्कंध में यद्यपि २०६ साध्वियों की कथाएँ हैं, किन्तु उनके ढांचे, नाम, उपदेश आदि एक से हैं। केवल काली की कथा पूर्ण कथा है। नारी-कथा की दृष्टि से यह कथा महत्त्वपूर्ण है।[2]

ज्ञाताधर्मकथा में भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्ष अंकित हुए हैं। प्राचीन भारतीय भाषाओं, काव्यात्मक प्रयोगों, विभिन्न कलाओं और विद्याओं, सामाजिक जीवन और वाणिज्य व्यापार आदि के संबंध में इस ग्रन्थ में ऐसे विवरण उपलब्ध हैं जो प्राचीन भारतीय संस्कृति के इतिहास में अभिनव प्रकाश डालते हैं। इस ग्रन्थ के सूक्ष्म सांस्कृतिक अध्ययन की नितान्त आवश्यकता है। कुछ विद्वानों ने इस दिशा में कार्य भी किया है,[3] जो आगे के अध्ययन के लिए सहायक हो सकता है। यहाँ संक्षेप में ग्रन्थ में अंकित कतिपय सांस्कृतिक बिन्दुओं को उजागर करने का प्रयत्न है।

भाषा और लिपि

इस ग्रन्थ में प्रमुख रूप से अर्धमागधी प्राकृत का प्रयोग हुआ है। किन्तु साथ ही अन्य प्राकृतों के तत्त्व भी इसमें उपलब्ध हैं। देशी शब्दों का

प्रयोग इस ग्रन्थ की भाषा को समृद्ध बनाता है। इस ग्रन्थ में प्रस्तुत कथाओं के माध्यम से यह तथ्य भी सामने आता है कि प्राचीन समय में सम्पन्न और संस्कारित व्यक्ति के लिए बहुभाषाविद् होना गौरव की बात होती थी। मेघकुमार को विविध प्रकार की अठारह देशी भाषाओं का विशारद कहा गया है।[४] ये अठारह देशी भाषाएं कौनसी थीं, इस बात का ज्ञान आठवीं शताब्दी के प्राकृत ग्रन्थ कुवलयमाला के विवरण से पता चलता है।[५] यद्यपि अठारह लिपियों के नाम विभिन्न प्राकृत ग्रन्थों में प्राप्त हो जाते हैं।[६] इन लिपियों के संबंध में आगमप्रभाकर पुण्यविजयजी म.सा. का यह अभिमत था कि इनमें अनेकों नाम कल्पित हैं। इन लिपियों के संबंध में अभी तक कोई प्राचीन शिलालेख भी उपलब्ध नहीं हुआ है, इससे भी यह प्रतीत होता है कि ये सभी लिपियां प्राचीन समय में ही लुप्त हो गई, या इन लिपियों का स्थान ब्राह्मीलिपि ने ले लिया होगा। कुवलयमाला में उद्योतनसूरि ने गोल्ल, मध्यप्रदेश, मगध, अन्तर्वेदि, कीर, ढक्क, सिन्धु, मरू, गुर्जर, लाट, मालवा, कर्नाटक, ताइय (ताजिक), कोशल, मरहट्ट और आन्ध्र इन सोलह भाषाओं का उल्लेख किया है। साथ ही सोलह गाथाओं में उन भाषाओं के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। डॉ. ए.मास्टर का सुझाव है कि इन सोलह भाषाओं में औड्र और द्राविडी भाषाएँ मिला देने से अठारह भाषाएँ हो जाती हैं, जो देशी हैं।

कला और धर्म

ज्ञाताधर्मकथा में विभिन्न कलाओं के नामों का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। ७२ कलाओं का यहाँ उल्लेख है, जिसकी परम्परा परवर्ती प्राकृत ग्रन्थों में भी प्राप्त है।[७] इन कलाओं में से अनेक कलाओं का व्यावहारिक प्रयोग भी इस ग्रन्थ के विभिन्न वर्णनों में प्राप्त होता है। मल्लि की कथा में उत्कृष्ट चित्रकला का विवरण प्राप्त है। चित्रशालाओं के उपयोग भी समाज में प्रचलित थे।[८] ज्ञाताधर्मकथा धर्म और दर्शन-प्रधान ग्रन्थ है। इसमें विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तों और दार्शनिक मतों का विवेचन भी है। समाज में अनेक मतों को मानने वाले धार्मिक प्रचारक होते थे, जो व्यापारियों के साथ विभिन्न स्थानों की यात्रा कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। धन्य सार्थवाह की समुद्रयात्रा के समय अनेक परिव्राजक उनके साथ गए थे। यद्यपि इन परिव्राजिकों के नाम एवं पहचान आदि अन्य ग्रन्थों से प्राप्त होती है। ब्राह्मण और श्रमण जैसे धार्मिक सन्त उनमें प्रमुख थे। आगे चलकर ऐसे धार्मिक प्रचारकों की एक स्थान पर राजा के समक्ष अपने-अपने मतों की परीक्षा भी प्रचलित हो गई थी।[९] धार्मिक दृष्टि से ज्ञाताधर्मकथा में वैदिक परम्परा में प्रचलित श्रीकृष्ण कथा का भी विस्तार से वर्णन हुआ है। श्रीकृष्ण, पांडव, द्रौपदी आदि पात्रों के संस्कारित जीवन के अनेक प्रसंग वर्णित हैं। इस

ग्रन्थ में पहली बार श्रीकृष्ण के नरसिंहरूप का वर्णन है,[10] जबकि वैदिक ग्रन्थों में विष्णु का नरसिंहावतार प्रचलित है।

समाज सेवा और पर्यावरण संरक्षण

इस ग्रन्थ के धार्मिक वातावरण में भी समाज-सेवा और पर्यावरण-सरंक्षण के प्रति सम्पन्न परिवारों का रुझान देखने को मिलता है। राजगृह के निवासी नन्द मणिकार द्वारा एक ऐसी वापी का निर्माण कराया गया था जो समाज के सामान्य वर्ग के लिए सभी प्रकार की सुख—सुविधाएं उपलब्ध कराती थी। वर्तमान युग में जैसे सम्पन्न लोग शहर से दूर वाडी का निर्माण कराते हैं उसी की यह पुष्करणी वापिका थी। उसके चारों ओर मनोरंजन पार्क थे। उनमें विभिन्न कलादीर्घाएं और मनोरंजन शालाएं थी। राहगीरों और रोगियों के लिए चिकित्सा केन्द्र भी थे।[11] इस प्रकार का विवरण भले ही धार्मिक दृष्टि से आसक्ति का कारण रहा हो, किन्तु समाज-सेवा और पर्यावरण-संरक्षण के लिए प्रेरणा था।

ज्ञाताधर्मकथा में प्राप्त इस प्रकार के सांस्कृतिक विवरण तत्कालीन उन्नत समाज के परिचायक हैं। इनसे विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक प्रयोगों का भी पता चलता है। चिकित्सा के क्षेत्र में सोलह प्रमुख महारोगों और उनकी चिकित्सा के विवरण आयुर्वेद के क्षेत्र में नई जानकारी देते हैं। कुछ ऐसे प्रसंग भी हैं जहाँ इस प्रकार के तेलों के निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन है जो सैंकड़ों जड़ी बूटियों के प्रयोग से निर्मित होते थे। उनमें हजारों स्वर्णमुद्राएँ खर्च होती थीं। ऐसे शतपाक एवं सहस्रपाक तेलों का उल्लेख इस ग्रन्थ में है। इसी ग्रन्थ के बारहवें अध्ययन में जलशुद्धि की प्रक्रिया का भी वर्णन उपलब्ध है जिससे गटर के अशुद्ध जल को साफ कर शुद्ध जल में परिवर्तित किया जा सकता है।[12] यह प्रयोग इस बात का भी प्रतीक है कि संसार में कोई वस्तु या व्यक्ति सर्वथा अशुभ नहीं है, घृणा का पात्र नहीं है।

व्यापार एवं भूगोल

प्राचीन भारत में व्यापार एवं वाणिज्य उन्नत अवस्था में थे। देशी एवं विदेशी दोनों प्रकार के व्यापारों में साहसी वणिक् पुत्र उत्साहपूर्वक अपना योगदान करते थे। ज्ञाताधर्मकथा में इस प्रकार के अनेक प्रसंग वर्णित हैं। समुद्रयात्रा द्वारा व्यापार करना उस समय प्रतिष्ठा समझी जाती थी। सम्पन्न व्यापारी अपने साथ पूंजी देकर उन निर्धन व्यापारियों को भी साथ में ले जाते थे, जो व्यापार में कुशल होते थे। समुद्रयात्रा के प्रसंग में पोतपट्टन और जलपत्तन जैसे बन्दरगाहों का प्रयोग होता था। व्यापार के लिए विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ जहाज में भरकर व्यापारी ले जाते थे और विदेश से रत्न कमाकर लाते थे। अश्वों का व्यापार होता था।[13] इस प्रसंग में अश्व विद्या की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है।

ज्ञाताधर्मकथा की विभिन्न कथाओं में जो भौगोलिक विवरण प्राप्त होता है वह प्राचीन भारतीय भूगोल के लिए विशेष उपयोग का है। राजगृही[16], चम्पा[17], वाराणसी, द्वारिका, मिथिला, हस्तिनापुर[18], साकेत, मथुरा, श्रावस्ती आदि प्रमुख प्राचीन नगरों के वर्णन काव्यात्मक दृष्टि से जितने महत्त्व के हैं, उतने ही भौगोलिक दृष्टि से भी। राजगृह के प्राचीन नाम गिरिव्रज, वसुमति, बार्हद्रतपुरी, मगधपुर, बराय, वृषभ, ऋषिगिरी, चैत्यक बिम्बसारपुरी और कुशाग्रपुर थे। बिम्बसार के शासनकाल में राजगृह नगरी में आग लग जाने से वह जल गई इसलिए राजधानी हेतु नवीन राजगृह का निर्माण करवाया। इन नगरों में परस्पर आवागमन के मार्ग क्या थे और इनकी स्थिति क्या थी, इसकी जानकारी भी एक शोधपूर्ण अध्ययन का विषय बनती है। विभिन्न पर्वतों, नदियों, वनों के विवरण भी इस ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। कुछ ऐसे नगर भी हैं, जिनकी पहचान अभी करना शेष है।[19]

सामाजिक धारणाएँ

इस ग्रन्थ में सामाजिक रीतिरिवाजों, खान–पान, वेशभूषा एवं धार्मिक तथा सामाजिक धारणाओं से संबंधित सामग्री भी एकत्र की जा सकती है। महारानी धारिणी की कथा में स्वप्नदर्शन और उसके फल पर विपुल सामग्री प्राप्त है।[20] जैनदर्शन के अनुसार स्वप्न का मूल कारण दर्शनमोहनीय कर्म का उदय है। दर्शनमोह के कारण मन में राग और द्वेष का स्पन्दन होता है, चित्त चंचल बनता है। शब्द आदि विषयों से संबंधित स्थूल और सूक्ष्म विचार–तरंगों से मन प्रकंपित होता है। संकल्प–विकल्प या विषयोन्मुखी वृत्तियां इतनी प्रबल हो जाती हैं कि नींद आने पर भी शांति नहीं होती। इन्द्रियाँ सो जाती हैं, किन्तु मन की वृत्तियां भटकती रहती हैं। वे अनेक विषयों का चिन्तन करती रहती हैं। वृत्तियों की इस प्रकार की चंचलता ही स्वप्न है। आचार्य जिनसेन ने स्वस्थ अवस्था वाले और अस्वस्थ अवस्था वाले ये दो स्वप्न के प्रकार माने हैं। जब शरीर पूर्ण स्वस्थ होता है तो मन पूर्ण शांत रहता है, उस समय जो स्वप्न दीखते हैं वे स्वस्थ अवस्था वाले स्वप्न हैं। ऐसे स्वप्न बहुत ही कम आते हैं और प्रायः सत्य होते हैं। मन विक्षिप्त हो और शरीर अस्वस्थ हो उस समय देखे गये स्वप्न असत्य होते हैं–

> "ते च स्वप्ना द्विधा म्नाता स्वस्थास्वस्थात्मगोचराः,
> समैस्तु धातुभिः स्वस्थविषमैरितरैर्मता।
> तथ्या स्युः स्वस्थसंदृष्टा मिथ्या स्वप्ना विपर्ययात्,
> जगत्प्रतीतमेतद्धि विद्धि स्वप्नविमर्शनम्।।" –महापुराण 41–59/60

इसी प्रकार धारिणी के दोहद की भी विस्तृत व्याख्या की जा सकती है। उपवन भ्रमण का दोहद बड़ा सार्थक है। दोहद की इस प्रकार की घटनाएं आगम–साहित्य में अन्य स्थानों पर भी आई हैं। जैन कथा साहित्य में, बौद्ध जातकों में और वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में दोहद का अनेक स्थानों पर वर्णन

है। यह ज्ञातव्य है कि जब महिला गर्भवती होती है तब गर्भ के प्रभाव से उसके अन्तर्मानस में विविध प्रकार की इच्छाएं उद्बुद्ध होती हैं। ये विचित्र और असामान्य इच्छाएं दोहद, दोहला कही जाती हैं। दोहद के लिए संस्कृत साहित्य में 'द्विहृद' शब्द भी आया है। द्विहृद का अर्थ है दो हृदय को धारण करने वाली। अंगविज्जा जैन साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उस ग्रन्थ में विविध दृष्टियों से दोहदों के संबंध में गहराई से चिन्तन किया है। जितने भी दोहद उत्पन्न होते हैं उन्हें पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है– शब्दगत, गंधगत, रूपगत, रसगत और स्पर्शगत। क्योंकि ये ही इन्द्रियों के मुख्य विषय हैं और इन्हीं की दोहदों में पूर्ति की जाती है।[10]

नौवें अध्ययन में विभिन्न प्रकार के शकुनों का उल्लेख है।[11] शकुन दर्शन ज्योतिषशास्त्र का एक प्रमुख अंग है। शकुनदर्शन की परम्परा प्रागैतिहासिक काल से चलती आ रही है। कथा साहित्य का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि जन्म, विवाह, बहिर्गमन, गृहप्रवेश और अन्यान्य मांगलिक प्रसंगों के अवसर पर शकुन देखने का प्रचलन था। गृहस्थ तो शकुन देखते ही थे, श्रमण भी शकुन देखते थे। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार एक वस्तु शुभ मानी जाती है और वही वस्तु दूसरी परिस्थितियों में अशुभ भी मानी जाती है। एतदर्थ शकुन विवेचन करने वाले ग्रन्थों में मान्यता-भेद भी प्राप्त होता है। प्रकीर्णक 'गणिविद्या' में लिखा है कि शकुन मुहूर्त से भी प्रबल होता है। जंबूक, चास (नीलकंठ), मयूर, भारद्वाज, नकुल यदि दक्षिण दिशा में दिखलाई दें तो सर्वसंपत्ति प्राप्त होती है। इस ग्रन्थ में भी पारिवारिक संबंधों, शिक्षा तथा शासन-व्यवस्था आदि के संबंध में भी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। धारिणी के शयनकक्ष का वर्णन स्थापत्य कला और वस्त्रकला की अमूल्य निधि है।

संदर्भ

1. (क) ज्ञाताधर्मकथा (सम्पा.–पं. शोभाचन्द भारिल्ल), ब्यावर, 1989
   (ख) भगवान महावीरनी धर्मकथाओ (पं. दोशी), पृ. 180
   (ग) स्टोरीज फ्राम द धर्म आफ नाया (बेवर), इडियन एंटीक्योरी, 19
2. धम्मकहाणुओगो (मुनि कमल), भाग 2
3. जैन आगमों में वर्णित भारतीय समाज (जे.सी. जैन), वाराणसी
4. अट्ठारसविहिप्पगारदेसी भासाविसारए, ज्ञाता, अ.1
5. कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन (पी.एस. जैन), वैशाली, 1975
6. ज्ञाताधर्मकथा (ब्यावर), भूमिका (देवेन्द्रमुनि) पृ. 38–40
7. समवायांग, समवाय 72
8. ज्ञाताधर्मकथा, अ.16
9. कुवलयमालाकहा, धर्मपरीक्षा अभिप्राय,
10. ज्ञाताधर्मकथा, अ.16
11. वही, अ.13
12. वही अ. 12

13. वही अ. 17
14. भगवान महावीर–एक अनुशीलन(देवेन्द्रमुनि) पृ. 241–243
15. औपपातिक सूत्र
16. ज्ञाताधर्मकथा, अ. 16
17. वही, द्वितीय श्रुतस्कन्ध में उल्लिखित नगर।
18. ज्ञाताधर्मकथा (ब्यावर), पृ.16
19. वही, पृ. 29–30
20. ज्ञाताधर्मकथा, अ. 9

–अधिष्ठाता, कला संकाय
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)

उपासकदशांग : एक अनुशीलन

○ श्रीमती सुशीला बोहरा

उपासकदशांगसूत्र में भगवान महावीर के आनन्द, कामदेव आदि प्रमुख १० श्रमणोपासकों के जीवन-चरित्र का निरूपण है। सभी श्रावकों ने भगवान महावीर से उपदेश–श्रवण कर १२ व्रत अंगीकार करते हुए अपने जीवन को धर्म–साधना में समर्पित कर दिया। भगवद् वचनों में उनकी दृढ़ श्रद्धा थी तथा करोड़ों की धन सम्पदा होते हुए भी उन्होंने त्यागमय जीवन की ओर ऐसे कदम बढ़ाए कि वे देवों द्वारा दिए गए उपसर्गों से भी विचलित नहीं हुए। श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ की संयोजिका श्रीमती सुशीला जी बोहरा ने उपासकदशांग सूत्र की विशेषताओं को अपने आलेख में उभारने का प्रयत्न किया है। **–सम्पादक**

तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट एवं गणधरों द्वारा सूत्र रूप में प्रस्तुत द्वादशांगी वाणी हमको आगम प्रसादी के रूप में प्राप्त हुई है। इसके माध्यम से भव्य जीवों को संसार सागर से पार होने के लिए द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, गणितानुयोग एवं धर्मकथानुयोग विविध रूप में समझाया गया है। जिस प्रकार माता–पिता अपने बच्चों को उत्थान हेतु विविध प्रकार से समझाते हैं उसी प्रकार प्रभु महावीर ने भव्य जीवों को जन्म-मरण के चक्र से बचाने हेतु कई प्रकार से समझाया है।

उपासकदशांग सूत्र धर्मकथानुयोग के रूप में प्रस्तुत हुआ। यह अंगसूत्रों में एकमात्र ऐसा सूत्र है जिसमें सम्पूर्णतया श्रमणोपासक या श्रावक जीवन की चर्या है।

जैन दर्शन में साधना की दृष्टि से धर्म को अनगार और आगार धर्म दो रूपों में प्रस्तुत किया गया है। अनगार धर्म में सभी पाप प्रवृत्तियों का तीन करण और तीन योग से त्याग तथा अहिंसादि पांच महाव्रत का पालन आवश्यक बताया है। इसमें किसी प्रकार की छूट (आगार) नहीं होती। महाव्रतों की साधना तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलने के समकक्ष है, जिसे सामान्य व्यक्ति अंगीकार नहीं कर पाता। आगार सहित व्रतों का पालन करने वाला अणुव्रती या श्रमणोपासक कहलाता है। उपासक का शाब्दिक अर्थ है : उप–समीप बैठने वाला। जो श्रमण के समीप बैठकर उनसे सद्ज्ञान ग्रहण कर साधना की ओर अग्रसर होता है वह श्रमणोपासक कहलाता है। उपासकदशा में ऐसे ही आनन्द, कामदेव आदि १० उपासकों का वर्णन है जिन्होंने प्रभु महावीर के उपदेशों से प्रेरित हो अपना जीवन सार्थक कर लिया।

उपासकदशांग में वर्णित सभी श्रावक प्रतिष्ठित, समृद्धिशाली एवं बुद्धिमान थे। उनका जीवन अनुशासित, व्यवस्थित एवं धर्मनिष्ठ था। गृहस्थ जीवन में रहते हुए पानी में कमलवत् कैसे रहा जा सकता है, उसका

सांगोपांग वर्णन इस अंग में उपलब्ध है। काम-भोग में आसक्त रेवती की भोगलिप्सा के वर्णन से बताया गया है कि जन साधारण को विषय-वासना का फल कितना दु:खदायी होता है। इसके चित्रण द्वारा नियमित संयमित जीवन जीने की प्रेरणा दी गई है। श्री आनन्द जी की स्पष्टवादिता, कामदेव की दृढ़ता, अडिगता और सहनशीलता, कुण्डकौलिक की सैद्धान्तिक पटुता, सकड़ालपुत्र की मिथ्यात्वी देव-गुरु-धर्म के प्रति निस्पृहता आदि गुण अनुमोदनीय ही नहीं अनुकरणीय भी हैं।

सभी श्रमणोपासक धन-वैभव, मान-प्रतिष्ठा और अन्य सभी प्रकार की पौद्गलिक सम्पदा से सम्पन्न एवं सुखी थे, लेकिन भगवान महावीर के उपदेशों का श्रवण करने से उनकी दिशा एवं दशा दोनों बदल गई। वे सभी पुद्गलानन्दी से आत्मानंदी बन गये।

सभी श्रमणोपासकों के पास गोधन का भी प्राचुर्य था। इससे यह प्रकट होता है कि गो-पालन का उस समय बहुत प्रचलन था तथा जैन भी खेती तथा गो-पालन के काम किया करते थे। अभ्यंगन विधि के परिमाण में शतपाक तथा सहस्रपाक तेलों का उल्लेख है। इसका तात्पर्य है कि आयुर्वेद काफी विकसित था। आनन्द ने श्रावकव्रत धारण करते समय खाद्य, पेय, भोग, उपभोग आदि का जो परिमाण किया था, उसमें उस समय के समृद्ध रहन-सहन पर भी प्रकाश पड़ता है। पितगृह से कन्याओं के विवाह के समय सम्पन्न घरानों से उपहार के रूप में चल–अचल सम्पत्ति देने का भी रिवाज था, जिस पर पुत्रियों का अधिकार रहता था जिसे आज स्त्रीधन कहा जाता है। यह महाशतक के जीवन से पता चलता है। वस्तुओं का लेन–देन स्वर्णमुद्राओं से होता था, दास–दासी रखने का भी रिवाज था। इस तरह भगवान महावीर के समय में भारतीय समाज के समृद्ध व्यवस्थित जीवन का चित्रण देखने को मिलता है। हालांकि प्रत्यक्ष रूप से साधनामय जीवन से इनका कोई संबंध नहीं है, लेकिन सुखी एवं समृद्ध गृहस्थ भी जीवन के उत्तरार्द्ध में इन सब सुखों को त्यागकर किस प्रकार पौषधशालाओं में एकान्त में बैठकर कठिन श्रावक प्रतिमाओं को अंगीकार कर जीवन सार्थक करते थे, यह हम लोगों के लिये दीपशिखा का काम करता है। ऐसे श्रमणोपासकों का संक्षिप्त जीवन यहाँ प्रस्तुत है–

(1) आनन्द श्रावक

भगवान महावीर का अनन्य उपासक आनन्द श्रावक वाणिज्यग्राम नगर में अपनी रूपगुण सम्पन्न पत्नी शिवानन्दा के साथ सुखपूर्वक रह रहे थे। आनन्द श्रावक के पास १२ करोड़ सोनैया की धनराशि थी जिसके तीन भाग किये हुए थे। ४ करोड़ व्यापार में, ४ करोड़ धन भंडारों में, ४ करोड़ घर-बिखरी में लगा हुआ था तथा चालीस हजार गायों का पशुधन था। इतनी

ऋद्धि के धारक होने पर भी भगवान महावीर के उपदेशों को सुनकर उन्होंने अपना जीवन पूर्णत: संयमित करते हुए स्वयं तथा पत्नी शिवानन्दा ने पांच अणुव्रत तथा चार शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का धर्म स्वीकार कर लिया। सच्चे देव, गुरु, धर्म और अन्य तीर्थिको की आराधना स्वीकार कर ली। चौदह वर्ष निर्दोष रीति से पालन करने के बाद समाज के आमंत्रित मित्रों के बीच उन्होंने अपने सबसे बड़े पुत्र को अपने स्थान पर नियुक्त किया और स्वयं ज्ञातकुल की पौषधशाला में चले गये तथा वहां ग्यारह प्रतिमाओं को ग्रहण किया। प्रतिमाओं को धारण करने से उनके शरीर में केवल अस्थिभाग रह गया। अतएव उन्होंने सविधि संथारा कर लिया। शुभ परिणाम की धारा में उन्हें अवधिज्ञान हो गया। इस अवधिज्ञान में वे पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा में ५००—५०० योजन तक का लवण समुद्र का क्षेत्र, उत्तरदिशा में चुल्ल हिमवान्-वर्षधर पर्वत तक का क्षेत्र, ऊर्ध्व दिशा में सौधर्म कल्प तक तथा अधोदिशा में रत्नप्रभा नरक में लोलुपाच्युत तक जानने, देखने लगे। उन्हीं दिनों भगवान महावीर अपने गौतमादि शिष्यों सहित वाणिज्यग्राम में पधारे। गौतम स्वामी बेले के पारणा के दिन आनन्द श्रावक को दर्शन लाभ देने हेतु पौषधशाला पधारे। आनन्द श्रावक ने अपने अवधि ज्ञान की चर्चा की। गौतम ने कहा कि गृहस्थ को अवधिज्ञान तो होता है, परन्तु इतना विशाल नहीं हो सकता। अत: तुम आलोचना कर प्रायश्चित्त करो। आनन्द ने प्रत्युत्तर में कहा कि सत्य कथन की आलोचना नहीं होती। आपको मृषा बोलने की आलोचना करनी चाहिए। गौतम को अपने वचन पर शंका हुई। वे प्रभु महावीर के पास पहुंचे, पूरी घटना का जिक्र किया। प्रभु ने कहा— गौतम! तुमने अपने ज्ञान का उपयोग लगाकर नहीं देखा, तुम आनन्द श्रावक के पास जाकर क्षमायाचना करो। गौतमस्वामी ने पारणा बाद में किया, पहले आनन्द के पास जाकर क्षमायाचना की। विनय धर्म की ऐसी मिशाल दुर्लभ है। आनन्द एक मास की संलेखना के पश्चात् आत्म-समाधि अवस्था में देह त्यागकर प्रथम देवलोक के सौधर्मकल्प में अरुण नामक विमान में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्यवन कर, चार पल्योपम की आयु पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध यावत् सभी कर्मों का क्षय करेंगे।

(2) कामदेव

चम्पा नामक नगरी में कामदेव नामक सुप्रतिष्ठित एवं धनाढ्य गाथापति अपनी आर्या भद्रा के साथ रहता था। उसके पास ६ करोड़ सोनैया सुरक्षित, ६ करोड़ घर-बिखरी में, ६ करोड़ व्यापार में तथा साठ हजार गायें थी। उन्होंने भगवान महावीर के उपदेश सुनकर श्रावक धर्म अंगीकार कर लिया। चौदह वर्ष के बाद अपना सारा कार्यभार ज्येष्ठ पुत्र को सौंपकर पौषधशाला में रहकर धर्म की आराधना करने लगे। उनकी चर्चा स्वर्ग लोक

में इन्द्र ने की, तब एक देव उनकी परीक्षा लेने के लिए एक रात्रि को उनके पास आया तथा उसने नंगी तलवार लेकर धर्म से विचलित करने का प्रयास किया। फिर विशालाकार हाथी और विषैले सर्प का रूप धारण कर मारणान्तिक कष्ट देने लगा। लेकिन कामदेव जी जरा भी विचलित नहीं हुए। अंत में देव हार मान गया और अपना दिव्य स्वरूप प्रकट करते हुए उनसे क्षमायाचना की। कामदेवजी ने श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का अनुक्रम से पालन किया। इस प्रकार २० वर्षों तक श्रावक धर्म की मर्यादा कर यथावत् पालन करते हुए अंत में एक माह का संलेखना संथारा कर आयुष्य पूर्ण कर सौधर्म कल्प के अरुणाभ विमान में देव रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ चार पल्योपम की स्थिति पूर्णकर वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे।

(3) चुलनीपिता श्रमणोपासक

वाराणसी नगरी में चुलनीपिता नामक धनाढ्य गाथापति अपनी पत्नी श्यामा के साथ रहता था। उसके पास ८ करोड़ धन निधान के रूप में, ८ करोड़ घर-बिखरी में तथा ८ करोड़ व्यापार में लगा हुआ था और ८० हजार गायें थी। भगवान महावीर की वाणी सुनकर उन्होंने श्रावक व्रत अंगीकार किया तथा कालान्तर में पौषधशाला में ब्रह्मचर्ययुक्त पौषध करते हुए भगवान द्वारा फरमाई गई धर्मप्रज्ञप्ति को स्वीकार कर आत्मा को भावित करने लगे।

एक दिन अर्द्धरात्रि के समय कामदेव की भांति उनकी परीक्षा लेने हेतु एक देव आया एवं बोला– 'यदि तू व्रत भंग नहीं करेगा तो तेरे पुत्र को मारकर उसके मांस को उबलते हुए तेल के कडाह में तल कर उस मांस एवं रक्त को तेरे शरीर पर सिंचन करूंगा, जिससे तू आर्त्तध्यान करता हुआ मृत्यु को प्राप्त करेगा।' चुलनीपिता नहीं डरे। उसने वैसा ही किया, लेकिन वे व्रत में स्थिर रहे। इसी तरह दूसरे एवं तीसरे पुत्र का भी किया, फिर भी वे विचलित नहीं हुए। अंत में देव ने माँ को इसी प्रकार मार डालने का डर दिखाया। प्रथम बार कहने पर निर्भय रहे, दूसरी, तीसरी बार कहने पर वे विचलित हो गये और ललकारते हुए पकड़ने के लिए उद्यत हुए तो वह देव आकाश में उड़ गया और खम्भा हाथ में आया। कोलाहल सुनकर माता भद्रा उनके समीप आयी। उन्होंने कहा कि मिथ्यात्वी देव के कारण तुमने यह दृश्य देखा है जिससे तेरा व्रत खंडित हो गया है, अतएव आलोयणा करके तप–प्रायश्चित्त कर। उन्होंने ऐसा ही किया। अंत में आनन्द श्रावक की तरह २० वर्ष श्रावक धर्म का पालन कर, ११ प्रतिमाओं का आराधन कर प्रथम देवलोक के सौधर्म कल्प के अरुणप्रभ नामक विमान में उत्पन्न हुए। वहां चार पल्योपम की आयु पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे।

(4) सुरादेव

सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी से सुरादेव श्रावक की यशोगाथा बताते हुए कहा कि वाराणसी नगरी में समृद्धिशाली सुरादेव गाथापति अपनी पत्नी धन्ना के साथ सुखपूर्वक रह रहे थे। उनके पास १८ करोड़ का धन था, १/३ भाग घर बिखरी, १/३ भाग व्यापार एवं १/३ भाग सुरुक्षित राशि तथा ६ व्रज गायों के यानी १० हजार गायों के एक व्रज के हिसाब से ६० हजार गायें थी। उन्होंने भी भगवान महावीर की देशना सुनकर श्रावक धर्म स्वीकार किया और कामदेव की भांति पौषधशाला में धर्मप्रज्ञप्ति का पालन करने लगे। देवलोक में इन्द्र से उनकी प्रशंसा सुनकर एक देव उनकी परीक्षा लेने आया और बोला— यदि तू श्रावक व्रत का त्याग नहीं करता तो तेरे तीनों पुत्रों को मार कर उबलते तेल में तल कर तेरे शरीर पर डालूंगा एवं वैसा ही किया। फिर भी सुरादेव ने समभावपूर्वक वेदना सहन की और धर्म में स्थिर रहे। तब देव ने कहा कि तेरे अन्दर १६ महारोगों—श्वास, खांसी, ज्वर, दाद, शूल, भगंदर, बवासीर, अजीर्ण, दृष्टिशूल, मस्तकशूल, अरोचक, आंख की वेदना, कान की वेदना, खाज, उदर रोग और कोढ़ का प्रक्षेप करता हूँ। दो तीन बार कहने पर वे उसे अनार्य पुरुष समझकर पकड़ने के लिये झपटे तो देव आकाश में उड़ गया तथा खंभा हाथ में आया। शोरगुल सुन पत्नी धन्ना आई। उसने देवकृत परीषह बताकर उसका समाधान करते हुए आलोचना, प्रायश्चित्त करने की सलाह दी। चुलनीपिता की तरह उन्होंने भी प्रायश्चित्त करते हुए २० वर्ष की श्रावक पर्याय का पालन कर एक मास की संलेखना कर प्रथम देवलोक के अरुणकान्त विमान में उत्पन्न हुए। वहाँ चार पल्योपम की आयु पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे।

(5) श्रमणोपासक चुल्लशतक

भगवान महावीर के विचरण काल में आलभिका नामक नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करते थे। वहां चुल्लशतक नामक ऋद्धिसम्पन्न गाथापति रहता था। उसके पास सुरादेव की भांति १८ करोड़ का धन था, जिसका तीसरा भाग घर-बिखरी, तीसरा भाग व्यापार, तीसरा भाग भंडार में लगा हुआ था तथा दस—दस हजार गायों के ६ व्रज थे। वे भी कामदेव की भांति पौषधशाला में भगवान द्वारा बताई गई विधि के अनुसार धर्मध्यान करने लगे। मध्यरात्रि में देव का आगमन हुआ तथा सुरादेव की तरह तीनों पुत्रों को मारने का भय दिखाया एवं वैसा ही किया तथा सम्पूर्ण सम्पत्ति को सारी नगरी में बिखेरने का भय दिखाया। चुल्लशतक उसके तीन बार वचन सुनकर उस देव को अनार्य पुरुष समझकर पकड़ने उठे। शेष सुरादेव की तरह— पत्नी कोलाहल सुनकर आयी, प्रायश्चित्त किया। यावत् अरुणसिद्ध विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए। चार पल्योपम की स्थिति पूर्ण कर वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होंगे।

(6) श्रमणोपासक कुण्डकोलिक

कम्पिलपुर नगर में कुण्डकोलिक नामक गाथापति अपनी पत्नी पूषा के साथ रहता था। चुल्लशतक की भांति १८ करोड़ की धनराशि थी एवं उसी तरह धन के तीन भाग करके उपयोग किया। ६० हजार गायें थी। भगवान की वाणी सुन बारह व्रत धारण कर साधु-साध्वियों को प्रासुक एषणीय आहार पानी बहराता हुआ रहने लगा। एक दिन वे दोपहर को अशोक वाटिका में गये। अपनी मुद्रिका एवं अन्तरीय वस्त्र उतारकर धर्मविधि से चिन्तन करने लगे। उसी समय एक देव आया तथा मुद्रिका एवं वस्त्र उठाकर कहने लगा— मंखलिपुत्र गोशालक की धर्मविधि अच्छी है। उसमें उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम आदि कुछ भी नहीं हैं। सभी भावों को नियम से माना गया है, इस तरह नियतिवाद का पक्ष प्रस्तुत किया। यह बात अच्छी है न तो कोई परलोक है, न पुर्नजन्म। जब वीर्य नहीं तो बल नहीं, कर्म नहीं, बिना कर्म के कैसा सुख और दु:ख? जो भी होता है भवितव्यता से होता है।

तब कुण्डकोलिक ने कहा— तुम्हें यह देव ऋद्धि आदि नियति से प्राप्त हुए हैं या पुरुषाकार पराक्रम से? यदि देवभव के योग्य पुरुषार्थ के बिना ही कोई देव बन सकता है तो सभी जीव देव क्यों नहीं हो गये? ऐसा कथन सुनकर देव निरुत्तर हो गया तथा वस्त्र एवं नामांकित अंगूठी रखकर वापिस चला गया। भगवान महावीर उस समय कम्पिलपुर पधारे तथा कुण्डकोलिक की प्रशंसा करते हुए कहा कि— सभी साधु-साध्वियों को अन्य तीर्थियों के समक्ष अर्थ, हेतु, प्रश्न, कारण, आख्यान से अपने मत को पुष्ट करना चाहिये।। श्रावक पर्याय के १४ वर्ष बीतने पर पन्द्रहवें वर्ष में कामदेव की भांति ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का मुखिया बनाकर कुण्डकोलिक धर्मविधि से आराधना करते हुए ग्यारह प्रतिमाओं को धारण कर एक मास की संलेखना एवं संथारा कर प्रथम सौधर्म देवलोक के अरुणध्वज विमान में ४ पल्योपम की स्थिति वाले देव हुए। वहां से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे।

(7) श्रमणोपासक सकडालपुत्र

पोलासपुर नामक नगर में गोशालक मत को मानने वाला सकडालपुत्र नामक कुम्हार अपनी पत्नी अग्निमित्रा के साथ रहता था। उसके पास एक करोड़ स्वर्णमुद्रायें निधान में, एक करोड़ व्यापार में, एक करोड़ की घर बिखरी में थी, दस हजार गायों का एक व्रज था तथा नगर के बाहर मिट्टी के बर्तन बनाने की पांच सौ दुकानें थी। जिनमें कई वैतनिक नौकर काम करते थे। एक दिन वह अशोक वाटिका में गोशालक की धर्मविधि का चिन्तन करने लगा। तभी वहाँ एक देव आया और आकाश से ही बोलने लगा— "कल

यहां त्रिलोक पूज्य, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, केवलज्ञान के धारक, देव-दानवों से पूजित देव आयेंगे, तुम उनके पास जाकर पर्युपासना करना'' ऐसा कहकर देव चला गया। सकड़ालपुत्र ने सोचा गोशालक अतिशयधारी है वे कल आयेंगे, मैं उन्हें प्रतिहारिक पीठ—फलक आदि का निमन्त्रण दूँगा। दूसरे दिन भगवान महावीर के आने पर सकड़ालपुत्र धर्मकथा सुनने गया। भगवान ने उनसे कहा— देव ने गोशालक के लिए नहीं कहा था। यह सुन उन्होंने भगवान को उचित पाठ पढाने एवं रहने के लिए ३०० दुकानें दे दी। फिर भगवान से नियतिवाद की अप्रमाणिकता पर कई प्रश्न पूछे जिससे सेठ की सारी शंकाएँ दूर हो गईं और वह भगवान का भक्त बन गया तथा पत्नी को प्रेरणा देकर प्रभु महावीर के धर्मोपदेश सुनने भेजा। वह भी श्राविका बन गई, श्राविका व्रत धारण कर लिये। गोशालक सकड़ालपुत्र के जैनी बनने पर पोलासपुर आया, उसने बहुत प्रयास किये, परन्तु वह सकड़ालपुत्र को किसी भी तरह विचलित नहीं कर पाया, अतएव खेद करते हुए गोशालक अन्य जनपदों में विचरने लगा।

चौदह वर्ष श्रावक धर्म की पर्याय का पालन किया। पन्द्रहवें वर्ष पौषधशाला में धर्मविधि की आराधना करते समय एक देव आया। उसने एक-एक कर तीनों लड़कों को सकड़ालपुत्र के सामने मारा, उनके नौ मांस खंड कर उसके शरीर पर छिड़का, वह नहीं घबराया तो पत्नी के बारे में भी ऐसा करने को कहा। वह विचलित हो गया, देव को पकड़ने लगा। वह देव आकाश-मार्ग से चला गया, खम्भा हाथ लगा। पत्नी ने वस्तुस्थिति समझाकर प्रायश्चित्त करवाया, एक माह का संथारा कर प्रथम देवलोक में ४ पल्योपम की आयु वाले अरुणभूत विमान का उपभोग कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे।

(8) श्रमणोपासक महाशतक

राजगृह नगर में महाशतक नामक समृद्ध गाथापति अपनी तेरह पत्नियों के साथ सुखपूर्वक रह रहा था। उसके पास २४ करोड़ (स्वर्णमुद्राओं) में से ८ करोड़ बचत, ८ करोड़ घर बिखरी, ८ करोड़ व्यापार में, आठ व्रज यानी ८०००० पशु धन था। भगवान महावीर के गुणशील उद्यान में पधारने, धर्मोपदेश सुनने के बाद अपनी सम्पत्ति का परिमाण किया। एक बार रेवती ने सोचा कि बारह सौतों (सपत्नियों)के होते मैं यथेष्ट कामभोग का सेवन नहीं कर सकती, अतएव किसी तरह इनकी जीवन लीला समाप्त कर दी जाय, जिससे इनके पीहर से आये सारे धन का भी उपभोग कर सकूं। उसने अपनी ६ सौतों को शस्त्र प्रयोग से तथा छः सौतों को विष देकर मार डाला तथा उनका १२ करोड़ का धन अपने अधीन कर लिया तथा भोग में इतनी तल्लीन हो गई कि मदिरा और मांस के बिना उसे

चैन नहीं मिलता।

एक बार महाराज श्रेणिक ने पशुवध बन्द करा दिया। तब वह अपने पीहर से प्राप्त गोव्रज में से दो बछड़ों को नौकर द्वारा मरवा कर प्रतिदिन उनका माँस खाने लगी। उधर महाशतक श्रमणोपासक ने श्रावक व्रतों को धारण कर लिया। ऐसा करते १४ वर्ष बीत गये। तत्पश्चात् उन्होंने ग्यारह उपासक प्रतिमाओं को अंगीकार कर लिया एवं शरीर कमजोर होने पर संथारा कर लिया। साधना में उन्हें अवधिज्ञान हो गया। संसार के प्रति उदासीन वृत्ति को देखकर रेवती कामवासना में उन्मत्त होकर उन्मादजनक वचन, कामोद्दीपक बड़बड़ बोलने लगी। महाशतक को भी क्रोध आ गया। उन्होंने कहा, तेरी आयुष्य पूर्ण होने वाली है, सात दिन के अन्दर अलसक नामक रोग से पीड़ित होकर अपने किये कुकर्मों के कारण पहली नरक में चौरासी हजार वर्ष की आयु वाले नैरयिकों में उत्पन्न होगी। भगवान महावीर ने गौतम को महाशतक को प्रतिबोध देने भेजा कि तुम्हें संलेखना संथारा में सत्य तथा यथार्थ होते हुए भी कठोर एवं अकमनीय, असुन्दर वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। गौतम महाशतक के पास गये। महाशतक ने भूल स्वीकार की तथा उपयुक्त भावों की आलोचना कर समाधिपूर्वक देहत्याग किया तथा पहली देवलोक में ४ पल्योपम का आयु भोग कर महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे।

(9) श्रमणोपासक नन्दिनीपिता

श्रावस्तीनगर में नन्दिनीपिता नामक समृद्धिशाली गाथापति अपनी पत्नी अश्विनी के साथ रहता था। उसके ४ करोड़ स्वर्णमुद्राएँ सुरक्षित धन के रूप में, ४ करोड़ व्यापार, ४ करोड़ घर विखरी में थी तथा दस-दस हजार गायों के चार संकुल थे। भगवान महावीर के श्रावस्ती नगर पधारने पर वह श्रावक धर्म अपनाकर श्रमणोपासक बन गया तथा श्रावक के बारह व्रतों का पालन करता हुआ आनन्द श्रावक की तरह अपने ज्येष्ठ पुत्र को पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्व सौंप कर धर्मोपासना में निरत रहने लगा। बीस वर्षों तक श्रावक धर्म का पालन किया तथा अन्त में देह त्याग कर पहली देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहां से महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।

(10) श्रमणोपासक सालिहीपिता

श्रावस्ती नगरी में सालिहीपिता नामक एक धनाढ्य एवं प्रभावशाली गाथापति रहता था। नंदिनीपिता की तरह वह भी १२ करोड़ का स्वामी था तथा एक भाग व्यापार में, एक भाग घर बिखरी में, एक भाग सुरक्षित तथा चार गोकुल थे।

एक बार भगवान महावीर का श्रावस्ती नगरी में पदार्पण हुआ। भक्तजनों में उत्साह छा गया, सालिहीपिता भी गया। उसने श्रावक धर्म

स्वीकार कर लिया। १४ वर्ष बाद अपने ज्येष्ठ पुत्र को घरबार सौंप धर्माराधना में लग गया तथा श्रावक की ११ प्रतिमाओं को धारण किया। उन्हें कोई उपसर्ग नहीं आया। अन्त में समाधिमरण प्राप्त कर पहले देवलोक के अरुणकील विमान में देव उत्पन्न हुआ, वहां से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे।

उपसंहार

इन दस श्रमणोपासकों के अध्ययन से यह पता चलता है कि भगवान महावीर के शासन काल में ऐसे श्रावक थे, जिन्हें देव-दानव कोई धर्म से डिगा नहीं सकते थे। आनन्द और कामदेव तो अन्त तक देव के सामने नहीं झुके, नहीं डरे। चुलनीपिता मातृवध की धमकी से, सुरादेव सोलह भयंकर रोग उत्पन्न होने की धमकी से, चुल्लशतक सम्पत्ति बिखेरने की धमकी से देव को मारने की भावना से उठे अवश्य, लेकिन धर्म नहीं छोड़ा तथा आवेश लाने का प्रायश्चित्त भी कर लिया। सकड़ालपुत्र की पत्नी अग्निमित्रा ने आगे बढ़कर पति को प्रायश्चित्त के लिए प्रेरणा दी। ये सभी चरित्र हमें भी उपसर्ग के समय पाखण्डी देवों के सन्मुख विचलित न होने की प्रेरणा देते हैं।

इस सूत्र में वर्णित दस श्रावकों के जीवन में कई समानताएँ हैं। सभी उपासकों ने बीस वर्ष की श्रावक पर्याय पालन की, श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना की, देव—दानवों और मानवों द्वारा प्रदत्त घोर परीषह सहन किये, संलेखना संथारा किया, प्रथम देवलोक में ४ पल्योपम की स्थिति वाले देव बने तथा अगले भव में महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य भव को प्राप्त कर मुक्ति पाने वाले होंगे। इस प्रकार की समानता के कारण ही आगमकार ने इन दस उपासकों का वर्णन इस अंगसूत्र में किया, अन्यथा यत्र—तत्र आगमों में सुदर्शन, तुंगियां के श्रावक, पूणिया श्रावक आदि कई श्रावकों का वर्णन है।

दूसरी ओर गौतम गणधर द्वारा आनन्द श्रमणोपासक से क्षमायाचना करना बड़ा उद्बोधक प्रसंग है। प्रसन्नतापूर्वक अपने अनुयायी से क्षमा मांगने उनकी पौषधशाला में पहुँच जाते हैं। जैन दर्शन का कितना ऊँचा आदर्श, व्यक्ति बड़ा नहीं, सत्य बड़ा है। एक गणधर अपने साधु समाज से ही नहीं श्रावक से भी क्षमा मांगने सहज चले गये, कितनी अभिमान शून्यता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

खुद की खुदाई से जो जुदा हो गया।
खुदा की कसम वह खुदा हो गया।

इस तरह यह अंगसूत्र श्रावक-श्राविकाओं के लिये मार्गदर्शक का काम करता है। हमें भी अपने पारिवारिक जीवन को व्यवस्थित एवं अनुशासित करते हुए, जीवन के अंतिम लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए जीवन

चर्या को चलाना चाहिये। जीवन का उत्तरार्ध कैसे सार्थक हो, इसके लिये हमेशा सजग रहना चाहिये।

—संयोजक, श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर
जी—21, शास्त्री नगर, जोधपुर

अन्तकृत्दशासूत्र

● श्री पी.एम. चोरड़िया

अन्तकृद्दशासूत्र आठवाँ अंग-आगम है। इसके आठ वर्गों में ९० साधकों का वर्णन है, जो उसी भव में साधना कर सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हुए हैं। इस आगम से कर्म-निर्जरा हेतु पुरुषार्थ की महती प्रेरणा मिलती है। मुक्ति-प्राप्ति में जाति, वर्ण, वर्ग आदि की भिन्नता बाधक नहीं बनती है। वरिष्ट स्वाध्यायी श्री चोरड़िया जी ने अतीव संक्षेप में अन्तकृद्दशा सूत्र का परिचय दिया है। —सम्पादक

अन्तकृत्दशा सूत्र की परिगणना एकादश अंग सूत्रों में की जाती है। ग्यारह अंगों में यह आठवां अंग माना गया है। यह एक चरित्रप्रधान आगम है, जिसमें तीर्थंकर अरिष्टनेमि एवं महावीर युग के ९० साधकों का वर्णन किया गया है। प्राकृत में इसका नाम 'अन्तगडदसा सुत्त' और संस्कृत में इसका नाम 'अन्तकृत्दशा सूत्र' है।

पर्युषण पर्व में अन्तगड सूत्र का वाचन

यह एक संयोग ही है कि पर्वाधिराज पर्युषण के आठ दिन होते हैं एवं अन्तकृत्दशा सूत्र भी ग्यारह अंगों में आठवां अंग है। इस सूत्र के आठ ही वर्ग हैं। आठ कर्मों का सम्पूर्ण रूप से क्षय करने वाले महान् साधकों के उदात्त जीवन का इसमें वर्णन है। पर्वाधिराज पर्युषण के ८ दिनों में एक ऐसे सूत्र का वाचन होना चाहिये जो आठ ही दिनों में पूरा हो सके और आत्म-साधना की प्रेरणा देने के लिए भी पर्याप्त हो। यह सूत्र लघु भी है तथा इसमें ऐसे साधकों की जीवन गाथाएँ हैं, जो तप-संयम से कर्म क्षय कर मोक्षगामी बन चुके हैं। पर्युषण पर्व अष्टगुणों की प्राप्ति एवं अष्ट कर्मों की क्षीणता के लिए है। अतः इन पावन दिवसों में इसी सूत्र का वाचन पूर्णतः उपयुक्त है। इस सूत्र में छोटे बड़े सभी साधकों की जीवन गाथाओं का वर्णन है। इनमें राजा, रानियाँ, राजकुमार, श्रेष्ठी पुत्रों, गाथापतियों, मालाकार, बाल, युवक, प्रौढ़ एवं अल्पवय वालों के संयम, तप, श्रुत-अध्ययन, ध्यान, आत्म-दमन, क्षमा भाव आदि आदर्श गुणों से युक्त वैराग्यमय जीवन का वर्णन इस सूत्र में आया है। इसके अलावा सुदर्शन श्रावक, कृष्ण वासुदेव एवं देवकी महारानी के जीवन की एक झांकी भी दर्शाई गई है।

कथाओं एवं जीवन-चरित्रों के माध्यम से इस सूत्र में अनेक शिक्षाप्रद, जीवन—प्रेरक तत्त्वों का मार्मिक रूप से कथन किया गया है। सबसे मुख्य बात यह है कि इस सूत्र में जिन ९० साधकों का वर्णन किया गया है, उन्होंने उसी भव में अपनी कठोर साधना कर मोक्ष प्राप्त किया है। पर्युषण के ८ दिनों में इन महान् आत्माओं के चरित्र का वाचन, श्रवण, मनन करने से शांति, विरति आदि आठ गुणों की प्रेरणा मिलती है।

आठ वर्गों का संक्षिप्त परिचय

प्रथम वर्ग– अन्तगड़दशा सूत्र के प्रथम वर्ग में दस राजकुमारों का वर्णन है। इनके नाम हैं– १. गौतमकुमार २. समुद्रकुमार ३. सागर कुमार ४. गम्भीर कुमार ५. स्तिमित कुमार ६. अचल कुमार ७. कम्पिल कुमार ८. अक्षोभ कुमार ९. प्रसेनजित कुमार १०. विष्णु कुमार। इन सभी राजकुमारों ने दीक्षा ग्रहण कर बारह वर्ष की दीक्षा पर्याय का पालन कर शत्रुंजय पर्वत पर मासिक संलेखना करके मुक्ति प्राप्त की। द्वारिका नगरी का भी वर्णन इस वर्ग में आया है।

दूसरा वर्ग–इस वर्ग में उन आठ राजकुमारों का वर्णन है जो अन्धकवृष्णि राजा एवं धारिणी रानी के पुत्र थे। उन्होंने भी दीक्षा अंगीकार कर सोलह वर्ष तक दीक्षा पर्याय का पालन किया और अन्तिम समय शत्रुंजय पर्वत पर एक मास की संलेखना कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए।

तीसरा वर्ग–इस वर्ग के १३ अध्ययन हैं। प्रथम ६ अध्ययनों में अणीयसेन कुमार, अनन्तसेन, अजितसेन, अनिहतरिपु, देवसेन और शत्रुसेन कुमारों का वर्णन है। ये छहों कुमार नाग गाथापति के पुत्र एवं सुलसा के अंगजात थे। बीस वर्ष इनका दीक्षा पर्याय रहा तथा चौदह पूर्वों का अध्ययन कर अन्तिम समय में ये एक मास की संलेखना कर मोक्षगामी हुए। सातवां अध्ययन सारण कुमार का है। आठवें अध्ययन में गजसुकुमाल अनगार का वर्णन है। कृष्ण वासुदेव, देवकी महारानी, उनके छः पुत्र मुनियों का ३ संघाड़ों में एक दिन आहार के लिए राजमहल में आना, देवकी की पुत्र अभिलाषा एवं श्रीकृष्ण की मातृ भक्ति का चित्रण भी इसमें आया है। नवां अध्ययन सुमुख कुमार का है, जिन्होंने भगवान अरिष्टनेमी के पास दीक्षा अंगीकार कर २० वर्ष के चारित्रपर्याय का पालन किया एवं अन्तिम समय संथारा धारण कर मोक्षगामी हुए। १० से १३ इन ४ अध्ययनों में दुर्मुख, कूपदारक, दारुक एवं अनादृष्टि का वर्णन आया है।

चतुर्थ वर्ग– इस वर्ग के १० अध्ययन हैं। इसमें जालि, मयालि आदि १० राजकुमारों का वर्णन है। ये सभी राजश्री वैभव में पले होते हुए भी अरिष्टनेमि के उपदेश सुनकर दीक्षित हो गए एवं कठोर साधना कर मोक्षगामी हुए।

पांचवा वर्ग– इस वर्ग के १० अध्ययन हैं। इनमें पहले ८ अध्ययन पद्मावती आदि ८ रानियों के हैं। ये सभी कृष्ण वासुदेव की पटरानियां थी। सुरा, अग्नि और द्वीपायन ऋषि के कोप के कारण भविष्य में द्वारिका नगरी के विनाश का कारण जानकर एवं भगवान अरिष्टनेमी की धर्मसभा में वैराग्य मय उपदेश सुनकर वे दीक्षित हो गई तथा कठोर धर्म–साधना कर सिद्ध,बुद्ध, मुक्त हो गई। ९वें एवं १०वें अध्ययनों में श्री कृष्ण वासुदेव की पुत्रवधुएँ 'मूलश्री' एवं 'मूलदत्ता' का वर्णन है। ये भी भगवान के उपदेशों को सुनकर संसार की

असारता को जानते हुए दीक्षित हुई और कठोर धर्मसाधना करके मोक्षगामी हो गई।

षष्ठवर्ग— इस वर्ग के १६ अध्ययन हैं। इस वर्ग से भगवान महावीर युग के साधकों का वर्णन प्रारम्भ होता है। प्रथम, द्वितीय, ४ से १४ अध्ययनों में कुल १३ गाथापतियों का वर्णन है। तीसरे अध्ययन में अर्जुनमाली अनगार का विस्तार से वर्णन आया है। सुदर्शन श्रावक की भगवान महावीर के दर्शनों की उत्कट भावना एवं अर्जुनमाली अनगार द्वारा मात्र ६ माह की अल्पावधि में कठोर तप—साधना, समता एवं क्षमा के द्वारा भयंकर पापों को क्षय करने का वर्णन भी आया है। १५वाँ अध्ययन बालक अतिमुक्त कुमार का है, जो यह सिद्ध करता है कि लघु वय में भी संयम अंगीकार किया जा सकता है। १६वाँ अध्ययन राजा अलक्ष का है जिन्होंने दीक्षा अंगीकार कर ११ अंगों का अध्ययन किया, अनेक वर्षों तक चारित्र पर्याय का पालन कर विपुलगिरि पर सिद्ध हुए।

सातवाँ वर्ग— इसके १३ अध्ययन हैं। इनमें नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा आदि श्रेणिक राजा की १३ रानियों का वर्णन है। ये सभी भगवान महावीर की धर्मसभा में उपस्थित हुईं। प्रभु के उपदेशों से प्रभावित होकर प्रव्रज्या ग्रहण की तथा कठोर धर्मसाधना कर सिद्ध गति को प्राप्त हुईं।

आठवां वर्ग— इस वर्ग के १० अध्ययनों में जिन आत्माओं का वर्णन है वे सभी राजा श्रेणिक की रानियाँ तथा कोणिक राजा की छोटी माताएँ थीं। भगवान महावीर के वैराग्यमय धर्मोपदेश को सुनकर वे सब चन्दनबाला आर्या के पास दीक्षित हुईं। इन सब महारानियों ने कठोर तप साधना द्वारा अपने कर्मों का क्षय किया। इन महारानियों के नाम एवं उनके द्वारा किये गये तप इस प्रकार हैं—

०१. काली— रत्नावली
०२. सुकाली— कनकावली
०३. महाकाली— लघुसिंह निष्क्रीड़ित
०४. कृष्णा— महासिंह निष्क्रीड़ित
०५. सुकृष्णा— सप्त सप्तमिका, अष्ट—अष्टमिका, नव—नवमिका, दस—दसमिका भिक्षु पडिमा
०६. महाकृष्णा— लघुसर्वतो भद्र
०७. वीरकृष्णा— महासर्वतो भद्र
०८. रामकृष्णा— भद्रोत्तर
०९. पितृसेनकृष्णा— मुक्तावली
१०. महासेनकृष्णा— आयंबिल वर्द्धमान तप

उपर्युक्त महारानियों ने संयम अंगीकार कर स्वयं को तप रूपी अग्नि में झोंक दिया। उनकी तपस्या का वर्णन सुनकर हमें भी तप करने की विशेष

प्रेरणा मिलती है।

शिक्षाएँ

इस सूत्र से हमें निम्न शिक्षाएँ मिलती हैं–

०१. 'संयमः खलु जीवनम्' संयम ही जीवन है।

०२. धर्म कार्य में तनिक भी प्रमाद न करें। वय, कुल, जाति आदि संयम ग्रहण करने में बाधक नहीं बनते।

०३. सुदर्शन श्रावक की तरह हमें भी देव, गुरु एवं धर्म पर अपार श्रद्धा होनी चाहिए।

०४. मारणान्तिक कष्ट व परीषह आने पर भी गजसुकुमार की तरह समभाव में रहना चाहिए।

०५. अर्जुनमाली अनगार की तरह समभाव से संयम के परीषह एवं कष्टों को सहन कर कर्मों की निर्जरा करनी चाहिए।

०६. कृष्णवासुदेव की तरह धर्म दलाली करनी चाहिए।

०७. काली, सुकाली आदि आर्याओं की तरह कठोर तप-साधना करनी चाहिए।

इस प्रकार अन्तकृत्दशा सूत्र में अष्ट कर्म-शत्रुओं से संघर्ष करने की अद्भुत प्रेरणा भरी हुई है। इस सूत्र के प्रवक्ता भगवान महावीर हैं। बाद में सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य जम्बू स्वामी को इस अंग सूत्र का अर्थ एवं रहस्य बताया।

पर्वाधिराज पर्युषण के मंगलमय दिनों में हम सब इस आगम की वाणी का स्वाध्याय कर अपने कषायों का उपशमन करें, मन को सरल एवं क्षमाशील बनाएं तथा तप-त्याग की भावना में वृद्धि करें, यही इस सूत्र का प्रेरणादायी सार है।

-89, Audiappa Naicken Street, First Floor, Sowcarpet, Chennai-79

अन्तकृद्दशासूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन

श्री मानमल कुदाल

अंतगडदसा सूत्र के आठ वर्गों के ९० अध्ययनों में मुमुक्षुओं के वैराग्य, प्रव्रज्या, अध्ययन, साधना एवं सिद्धि का तो वर्णन है ही, किन्तु इसमें वासुदेव श्रीकृष्ण, भ. अरिष्टनेमि, तीर्थंकर महावीर, गणधर गौतम आदि के जीवन संबंधी घटनाएँ भी उपलब्ध हैं। अध्यवसायी विद्वान् श्री कुदाल ने अंतगडदसा सूत्र के नामकरण, रचनाकाल, भाषाशैली, विषयवस्तु एवं सूत्र की विशेषताओं पर अच्छा प्रकाश डाला है। —सम्पादक

प्रत्येक धर्म-परम्परा में धर्म ग्रंथों का आदरणीय स्थान होता है। जैन परम्परा में आगम-साहित्य को प्रामाणिक एवं आधारभूत ग्रंथ माना गया है। जैन आगम-साहित्य अंग, उपांग, छेद, मूल, प्रकीर्णक आदि वर्गों में विभाजित है। यह विभागीकरण हमें सर्वप्रथम विधिमार्गप्रपा (आचार्य जिनप्रभ १३वीं शताब्दी) में प्राप्त होता है।[1]

अन्य आगमों के वर्गीकरण में 'अंतकृद्दशांग' का उल्लेख अंग प्रविष्ट आगमों में आठवें स्थान पर हुआ है। आगम-साहित्य में साधु-साध्वियों के अध्ययन—विषयक जितने उल्लेख प्राप्त होते हैं, वे सब अंगों और पूर्वों से संबंधित हैं और वे सब हमें 'अन्तकृद्दशांग' में भी प्राप्त होते हैं, जैसे—

(क) सामायिक आदि ग्यारह अंगों को पढने वाले—

१. अन्तगड़, प्रथम वर्ग में भ. अरिष्टनेमि के शिष्य गौतम के विषय में प्राप्त होता है—

"सामाइयमाइयाइं एक्कारसअंगाइं अहिज्जइ"

२. अन्तगड, पंचम वर्ग, प्रथम अध्ययन में भ. अरिष्टनेमि की शिष्या पद्मावती के विषय में प्राप्त होता है—

"सामाइयमाइयाइं एक्कारसअंगाइं अहिज्जइ"

३. अन्तगड, अष्टम वर्ग, प्रथम अध्ययन में भगवान महावीर की शिष्या काली के विषय में प्राप्त होता है—

"सामाइयमाइयाइं एक्कारसअंगाइं अहिज्जइ"

४. अन्तगड, षष्ठ वर्ग, १५वें अध्ययन में भगवान महावीर के शिष्य अतिमुक्त कुमार के विषय में प्राप्त होता है—

'सामाइयमाइयाइं एक्कारसअंगाइं अहिज्जइ"

(ख) बारह अंगों को पढ़ने वाले— अन्तगड, चतुर्थ वर्ग, प्रथम अध्ययन में भगवान अरिष्टनेमि के शिष्य जालिकुमार के विषय में प्राप्त होता है—

"बारसंगी"

(ग) चौदह पूर्वों को पढने वाले—

१. अन्तगड, तृतीय वर्ग, नवम अध्ययन में भगवान अरिष्टनेमिं के शिष्य सुमुखकुमार के विषय में प्राप्त होता है—

"चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ"

२. अन्तगड, तृतीय वर्ग, प्रथम अध्ययन में भ. अरिष्टनेमि के शिष्य अणीयसकुमार के विषय में प्राप्त होता है–

"सामाइयमाइयाइं चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ"

नामकरण

'अंतकृद्दशासूत्र' में जन्म-मरण की परम्परा का अन्त करने वाली पवित्र आत्माओं का वर्णन होने से और इसके दस अध्ययन होने से इसका नाम "अन्तकृत्दशा" है। इस सूत्र के नामकरण के बारे में हमें विभिन्न प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं। "समवायांग" में इस सूत्र के दस अध्ययन और सात वर्ग बताये हैं।[२] आचार्य देववाचक ने नन्दीसूत्र में आठ वर्गों का उल्लेख किया है, दस अध्ययनों का नहीं।[३] आचार्य अभयदेव ने समवायांग वृत्ति में दोनों ही उपर्युक्त आगमों के कथन में सामंजस्य बिठाने का प्रयास करते हुए लिखा है कि प्रथम वर्ग में दस अध्ययन हैं, इस दृष्टि से समवायांग सूत्र में दस अध्ययन और अन्य वर्गों की अपेक्षा से सात वर्ग कहे हैं। नन्दीसूत्रकार ने अध्ययनों का कोई उल्लेख न कर केवल आठ वर्ग बतलाये हैं।[४] यहाँ प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि प्रस्तुत सामंजस्य का निर्वाह अन्त तक किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि समवायांग में ही अन्तकृद्दशा के शिक्षाकाल दस कहे गये हैं जबकि नन्दीसूत्र में उनकी संख्या आठ बताई है। आचार्य अभयदेव ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि हमें उद्देशनकालों के अन्तर का अभिप्राय ज्ञात नहीं हैं।[५] आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने नन्दीसूत्र चूर्णि[६] में और आचार्य हरिभद्र ने नन्दीवृत्ति[७] में लिखा है कि प्रथम वर्ग के दस अध्ययन होने से इनका नाम **"अन्तगडदसाओ"** है। नन्दीचूर्णीकार ने 'दशा' का अर्थ अवस्था किया है।[८] यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि समवायांग में दस अध्ययनों का निर्देश तो है, किन्तु उन अध्ययनों के नामों का संकेत नहीं है। स्थानांगसूत्र में अध्ययनों के नाम इस प्रकार बतलाये हैं– नमि, मातंग, सोमिल, रामगुप्त, सुदर्शन, जमालि, भगालि, किंकष, चिल्वक्क, फाल और अंबडपुत्र।[९]

अकलंक ने राजवार्तिक[१०] और शुभचन्द्र ने अंगपण्णत्ति[११] में कुछ पाठभेदों के साथ दस नाम दिये हैं– नमि, मातंग, सोमिल, रामगुप्त, सुदर्शन, यमलोक, वलीक, कंबल, पाल और अंबष्टपुत्र। इसमें यह भी लिखा है कि प्रस्तुत आगम में प्रत्येक तीर्थंकर के समय में होने वाले दस–दस अन्तकृत केवलियों का वर्णन है। इसका समर्थन वीरसेन और जयसेन जो जयधवलाकार हैं ने भी किया है।[१२] नन्दीसूत्र में न तो दस अध्ययनों का उल्लेख है और न उनके नामों का निर्देश है। समवायांग और तत्त्वार्थराजवार्तिक में जिन अध्ययनों के नामों का निर्देश है वे अध्ययन

वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृद्दशांग में नहीं हैं। नन्दीसूत्र में वही वर्णन है जो वर्तमान में अंतकृद्दशा में उपलब्ध है। इससे यह फलित होता है कि वर्तमान में अन्तकृद्दशा का जो रूप प्राप्त है वह आचार्य देववाचक के समय के पूर्व का है। वर्तमान में अन्तकृद्दशा में आठ वर्ग हैं और प्रथम वर्ग के दस अध्ययन हैं किन्तु जो नाम, स्थानांग, तत्त्वार्थराजवार्तिक व अंगपण्णति में आये हैं, उनसे पृथक् हैं। जैसे गौतम, समुद्र, सागर, गंभीर, स्तिमित, अचल, कांपिल्य, अक्षोभ, प्रसेनजित और विष्णु। आचार्य अभयदेव ने स्थानांग वृत्ति में इसे वाचनान्तर कहा है।[१३] इससे यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृद्दशा समवायांग में वर्णित वाचना से अलग है। कितने ही विद्वानों ने यह भी कल्पना की है कि पहले इस आगम में उपासकदशा की तरह दस ही अध्ययन होंगे, जिस तरह उपासकदशा में दस श्रमणोपासकों का वर्णन है, इसी तरह प्रस्तुत आगम में भी दस अर्हतों की कथाएँ आई होंगी।[१४]

उपर्युक्त वर्णन से हम यह कह सकते हैं कि अन्तकृद्दशा में उन नब्बे महापुरुषों का जीवनवृत्तान्त संगृहीत है, जिन्होंने संयम एवं तप-साधना द्वारा सम्पूर्ण कर्मों पर विजय प्राप्त करके जीवन के अन्तिम क्षणों में मोक्ष-पद की प्राप्ति की। इस प्रकार जीवन-मरण के चक्र का अन्त कर देने वाले महापुरुषों के जीवनवृत्त के वर्णन को ही प्रधानता देने के कारण इस शास्त्र के नाम का प्रथम अवयव ''अन्तकृत्'' है। नाम का दूसरा अवयव 'दशा' शब्द है। दशा शब्द के दो अर्थ हैं—

१. जीवन की भोगावस्था से योगावस्था की ओर गमन 'दशा' कहलाता है, दूसरे शब्दों में शुद्ध अवस्था की ओर निरन्तर प्रगति ही 'दशा' है।

२. जिस आगम में दस अध्ययन हों उस आगम को भी 'दशा' कहा गया है। प्रस्तुत सूत्र में प्रत्येक अन्तकृत् साधक निरन्तर शुद्धावस्था की ओर गमन करता है, अतः इस ग्रन्थ में अन्तकृत् साधकों की दशा के वर्णन को ही प्रधानता देने से ''अन्तकृद्दशा'' कहा गया है।

अन्तकृत्दशा सूत्र के कर्ता एवं रचनाकाल

अंग आगमों के उद्गाता स्वयं तीर्थंकर और सूत्रबद्ध रचना करने वाले गणधर हैं। अंगबाह्य आगमों के मूल आधार तीर्थंकर और उन्हें सूत्र रूप में रचने वाले हैं— चतुर्दश पूर्वी, दशपूर्वी और प्रत्येक बुद्ध आचार्य।[१५] मूलाचार में आचार्य वट्टकेर ने गणधर कथित, प्रत्येक बुद्ध कथित और अभिन्नदशपूर्वी कथित सूत्रों को प्रमाणभूत माना है।[१६]

इस प्रकार अंगप्रविष्ट साहित्य के उद्गाता भगवान महावीर हैं और इनके रचयिता गणधर सुधर्मास्वामी। अंगबाह्य साहित्य में कर्तृत्व की दृष्टि से अनेक आगम स्थविरों द्वारा रचित हैं और अनेक द्वादशांगों से उद्धृत हैं। वर्तमान में जो अंगसाहित्य उपलब्ध है वह भगवान महावीर के समकालीन

गणधर सुधर्मा की रचना है इसलिए अंग-साहित्य का रचनाकाल ई. पू. छठी शताब्दी सिद्ध होता है। अंगबाह्य की रचना एक व्यक्ति की नहीं, अतः उन सभी का एक समय नहीं हो सकता। प्रज्ञापना सूत्र के रचयिता श्यामाचार्य हैं तो दशवैकालिक सूत्र के रचयिता आचार्य शय्यंभव हैं। नन्दीसूत्र के रचयिता देववचाक हैं तो दशा, कल्प और व्यवहार सूत्र के कर्ता चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु। कुछ विद्वान् आगमों का रचनाकाल वीर निर्वाण के पश्चात् ९८० अथवा ९९३वाँ वर्ष जो देवर्द्धिगणीक्षमाश्रमण का है, मानते हैं उनका यह समय मानना युक्तिसंगत नहीं हैं, क्योंकि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने तो आगमों को इस काल में लिपिबद्ध किया था, किन्तु आगम तो प्राचीन ही हैं। पहले आगम साहित्य को लिखने का निषेध था, उसे कण्ठस्थ रूप में रखने की परम्परा थी।[१७] लगभग एक हजारवर्ष तक वह कण्ठस्थ रहा जिससे श्रुतवचनों में कुछ परिवर्तन होना स्वाभाविक था, परन्तु देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने इसे पुस्तकारूढ़ कर इनका ह्रास होने से बचा लिया।[१८] इसके बाद कुछ अपवादों को छोड़कर श्रुत साहित्य में परिवर्तन नहीं हुआ। कुछ स्थलों पर थोड़ा बहुत पाठ प्रक्षिप्त व परिवर्तन हुआ हों, किन्तु आगमों की प्रामाणिकता में कोई अन्तर नहीं आया।

अन्तकृद्दशांग की भाषा शैली

जिस प्रकार वेद छान्दस भाषा में, बौद्धपिटक पालि भाषा में निबद्ध हैं, उसी प्रकार जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी प्राकृत है। समवायांग सूत्र में लिखा है कि भगवान अर्द्धमागधी भाषा में धर्म का व्याख्यान करते हैं। भगवान द्वारा भाषित अर्द्धमागधी आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी आदि सभी की भाषा में परिणत हो जाती है— उनके लिए हितकर, कल्याणकर तथा सुखकर होती है।[१९] आचारांगचूर्णि में भी इसी आशय का उल्लेख है। दशवैकालिक वृत्ति में भी इसी प्रकार के आशय एवं भाव व्यक्त किये गये हैं— चारित्र की कामना करने वाले बालक, स्त्री, वृद्ध, मूर्ख, अनपढ़ सभी लोगों पर अनुग्रह करने के लिए तत्त्वद्रष्टाओं ने सिद्धान्त की रचना प्राकृत में की।[२०] प्रस्तुत आगम की भाषा अर्द्धमागधी है।

'अन्तकृद्दशासूत्र' की रचना कथात्मक शैली में की गई है। इस शैली को **'कथानुयोग'** कहा जाता है। इस शैली में **'तेणं कालेणं तेणं समएणं'** से कथा का प्रारम्भ किया जाता है। आगमों में ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशांग, अनुत्तरौपपातिक, विपाक सूत्र और अन्तकृद्दशांग सूत्र इसी शैली में निबद्ध किया गया है। इस आगम में प्रायः स्वरान्तरूप ग्रहण करने की शैली को ही अपनाया गया है जैसे— परिवसति, परिवसइ, रायवण्णतो, रायवण्णओ, एकवीसाते, एगवीसाए आदि। इस आगम में प्रायः संक्षिप्तीकरण की शैली को अपनाते हुए शब्दान्त में बिन्दुयोजना द्वारा, अंक

योजना द्वारा अवशिष्ट पाठ को व्यक्त करने की प्राचीन शैली अपनाई है। इस सूत्र में अनेक स्थानों पर तप का वर्णन प्राप्त होता है, इसके अष्टम वर्ग में विशेष रूप से तप के स्वरूप एवं पद्धतियों का विवेचन किया गया है, जिनके अनेकविध स्थापनायन्त्र प्राप्त होते हैं।

विषयवस्तु

अन्तकृद्दशांग सूत्र में उन स्त्री—पुरुषों के आख्यान हैं, जिन्होंने अपने कर्मों का अन्त करके मोक्ष प्राप्त किया है। इसमें ९०० श्लोक(प्रमाण), ८ वर्ग और ९ अध्ययन हैं। ये आठ वर्ग क्रमशः १०,८,१३,१०,१०,१६,१३ और १० अध्ययनों में विभक्त हैं। प्रत्येक अध्ययन में किसी न किसी व्यक्ति का नाम अवश्य आता है, किन्तु कथानक अपूर्ण है। अधिकांश वर्णनों को अन्य स्थान से पूर्ण कर लेने की सूचना कर दी गई है। 'वण्णओ' की परम्परा द्वारा कथानकों को अन्यत्र से पूरा कर लेने को कहा गया है। प्रथम अध्ययन में गौतम का कथानक द्वारवती नगरी के राजा अन्धकवृष्णि की रानी धारिणी देवी की सुप्तावस्था तक वर्णन कर कह दिया गया है और बताया गया है कि स्वप्नदर्शन, कुमारजन्म, उसका बालकपन, विद्याग्रहण, यौवन, पाणिग्रहण, विवाह, प्रसाद एवं भोगों का वर्णन महाबल की कथा के समान चित्रित है। आगे वाले प्रायः सभी अध्ययनों में नायक—नायिका मात्र का नाम निर्देश कर वर्णन अन्यत्र से अवगत कर लेने की सूचना दी गई है। इस आगम के आख्यानों को दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम पाँच वर्गों के कथानकों का संबंध अरिष्टनेमि के साथ है और शेष तीन वर्ग के कथानकों का संबंध भ. महावीर तथा श्रेणिक के साथ है। इस आगम में मूलतः दस अध्ययन रहे होंगे, उत्तरकाल में इसको विकसित कर यह रूप हुआ है।[२१]

प्रथम वर्ग से लेकर पाँचवें वर्ग में श्रीकृष्ण वासुदेव का वर्णन आया है। मधुकरमुनि द्वारा संपादित अन्तकृद्दशा सूत्र की भूमिका में श्रीकृष्ण वासुदेव की प्रामाणिकता के बारे में विस्तृत वर्णन किया गया है उनके अनुसार श्रीकृष्ण वासुदेव जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा में अत्यधिक चर्चित रहे हैं। वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में वासुदेव, विष्णु, नारायण, गोविन्द प्रभृति उनके अनेक नाम प्रचलित हैं। श्रीकृष्ण, वसुदेव के पुत्र थे, इसलिए वे वासुदेव कहलाये। महाभारत शान्तिपर्व में कृष्ण को विष्णु का रूप बताया है।[२२] गीता में श्रीकृष्ण, विष्णु के अवतार हैं।[२३] महाभारतकार ने उन्हें नारायण मानकर स्तुति की है। वहाँ उनके दिव्य और भव्य मानवीय स्वरूप के दर्शन होते हैं।[२४] शतपथब्राह्मण में उनके नारायण नाम का उल्लेख हुआ है।[२५] तैतरीयारण्यक में उन्हें सर्वगुणसम्पन्न कहा है।[२६] महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में नारायण को सर्वेश्वर का रूप दिया है। मार्कण्डेय ने युधिष्ठिर को यह बताया है कि जनार्दन ही स्वयं नारायण हैं। महाभारत में अनेक

स्थलों पर उनके नारायण रूप का निर्देश है।[२७] पद्मपुराण, वायुपुराण, वामनपुराण, कर्मपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, हरिवंशपुराण और श्रीमद्भागवत में विस्तार से श्रीकृष्ण का चरित्र वर्णित है।

छान्दोग्य उपनिषद् में कृष्ण को देवकी का पुत्र कहा है। वे घोर अंगिरस ऋषि[२८] के निकट अध्ययन करते हैं। श्रीमद्भागवत में कृष्ण को परब्रह्म बताया है।[२९] वे ज्ञान, शान्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज इन छह गुणों में विशिष्ट हैं। उनके जीवन के विविध रूपों का चित्रण साहित्य में हुआ है। वैदिक परम्परा के आचार्यों ने अपनी दृष्टि से श्रीकृष्ण के चरित्र को चित्रित किया है। जयदेव विद्यापति आदि ने कृष्ण के प्रेमी रूप को ग्रहण कर कृष्णभक्ति का प्रादुर्भाव किया। सूरदास आदि कवियों ने कृष्ण की बाल लीला और यौवन-लीला का विस्तार से विश्लेषण किया। रीतिकाल के कवियों के आराध्य देव श्रीकृष्ण रहे और उन्होंने गीतिकाएँ व मुक्तकों के रूप में पर्याप्त साहित्य का सृजन किया। आधुनिक युग में भी वैदिक परम्परा के विज्ञों ने प्रिय-प्रवास, कृष्णावतार आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।[३०]

बौद्ध साहित्य के घटजातक[३१] में श्रीकृष्ण चरित्र का वर्णन आया है। यद्यपि घटनाक्रम में व नामों में पर्याप्त अन्तर है, तथापि कृष्ण कथा का हार्द एक सदृश है।

जैन परम्परा में श्रीकृष्ण सर्वगुणसम्पन्न, श्रेष्ठ चरित्रनिष्ठ, अत्यन्त दयालु, शरणागतवत्सल, धीर, विनयी, मातृभक्त, महान् वीर, धर्मात्मा, कर्तव्यपरायण, बुद्धिमान, नीतिमान और तेजस्वी व्यक्तित्व के धनी हैं। समवायांग[३२] में उनके तेजस्वी व्यक्तित्व का जो चित्रण है, वह अद्भुत है, वे त्रिखण्ड के अधिपति अर्धचक्री हैं। उनके शरीर पर एक सौ आठ प्रशस्त चिह्न थे। वे नरवृषभ और देवराज इन्द्र के सदृश थे, महान योद्धा थे। उन्होंने अपने जीवन में तीन सौ साठ युद्ध किये, किन्तु किसी भी युद्ध में वे पराजित नहीं हुए। उनमें बीस लाख अष्टपदों की शक्ति थी[३३], किन्तु उन्होंने अपनी शक्ति का कभी दुरुपयोग नहीं किया। वैदिक परम्परा की भाँति जैन परम्परा ने वासुदेव श्रीकृष्ण को ईश्वर का अंश या अवतार नहीं माना है। वे श्रेष्ठतम शासक थे। भौतिक दृष्टि से वे उस युग के सर्वश्रेष्ठ अधिनायक थे, किन्तु निदानकृत होने से वे आध्यात्मिक दृष्टि से चतुर्थ गुणस्थान से आगे विकास न कर सके। वे तीर्थंकर अरिष्टनेमि के परम भक्त थे। अरिष्टनेमि से श्रीकृष्ण वय की दृष्टि से ज्येष्ठ थे तो आध्यात्मिक दृष्टि से अरिष्टनेमि ज्येष्ठ थे।[३४] एक धर्मवीर थे तो दूसरे कर्मवीर थे, एक निवृत्तिप्रधान थे तो दूसरे प्रवृत्तिप्रधान थे। अंत: जब भी अरिष्टनेमि द्वारिका में पधारते तब श्रीकृष्ण उनकी उपासना के लिए पहुंचते थे। अन्तकृद्दशा, समवायांग, ज्ञाताधर्मकथा, स्थानांग,

निरयावलिका, प्रश्नव्याकरण, उत्तराध्ययन प्रभृति आगमों में उनका यशस्वी व तेजस्वी व्यक्तित्व उजागर हुआ है। आगमिक व्याख्या-साहित्य में निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और टीका ग्रंथों में उनके जीवन से संबंधित अनेक घटनाएँ हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के मूर्धन्य मनीषियों ने कृष्ण के जीवन्त प्रसंगों को लेकर शताधिक ग्रंथों की रचनाएँ की हैं। भाषा की दृष्टि से वे रचनाएँ प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, पुरानी गुजराती, राजस्थानी व हिन्दी भाषा में हैं।

प्रस्तुत आगम में श्रीकृष्ण का चहुँमुखी व्यक्तित्व निहारा जा सकता है। वे तीन खण्ड के अधिपति होने पर भी माता-पिता के परमभक्त हैं। माता देवकी की अभिलाषापूर्ति के लिए वे हरिणगमेषी देव की आराधना करते हैं। भाई के प्रति भी उनका अत्यन्त स्नेह है। भगवान अरिष्टनेमि के प्रति भी अत्यन्त निष्ठावान हैं। जहाँ एक ओर वे रणक्षेत्र में असाधारण वीरता का परिचय देकर रिपुमर्दन करते हैं, वज्र से भी कठोर प्रतीत होते हैं, वहीं दूसरी ओर एक वृद्ध व्यक्ति को देखकर उनका हृदय अनुकम्पा से द्रवित हो जाता है और उसके सहयोग के लिए स्वयं भी ईंट उठा लेते हैं। द्वारिका विनाश की बात सुनकर वे सभी को यह प्रेरणा प्रदान करते हैं कि भगवान् अरिष्टनेमि के पास प्रव्रज्या ग्रहण करो। दीक्षितों के परिवार के पालन-पोषण आदि की व्यवस्था मैं करूँगा। स्वयं की महारानियाँ, पुत्र—पुत्रियाँ और पौत्र जो भी प्रव्रज्या के लिए तैयार होते हैं उन्हें वे सहर्ष अनुमति देते हैं। आवश्यकचूर्णि में वर्णन है कि वे पूर्णरूप से गुणानुरागी थे। कुत्ते के शरीर में कुलबुलाते हुये कीड़ों की ओर दृष्टि न डालकर उसके चमचमाते हुए दांतों की प्रशंसा की, जो उनके गुणानुराग का स्पष्ट प्रतीक है।

प्रस्तुत आगम के पाँच वर्ग तक भगवान् अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित होने वाले साधकों का उल्लेख है। भगवान अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर हैं। यद्यपि आधुनिक इतिहासकार उन्हें निश्चित तौर पर ऐतिहासिक पुरुष नहीं मानते हैं, किन्तु उनकी ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। जब उस युग में होने वाले श्रीकृष्ण को ऐतिहासिक पुरुष माना जाता है तो उन्हें भी ऐतिहासिक पुरुष मानने में संकोच नहीं होना चाहिए।

जैन परम्परा में ही नहीं, वैदिक परम्परा में भी अरिष्टनेमि का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है। ऋग्वेद में अरिष्टनेमि शब्द चार बार आया है।[३५] **"स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः"**।[३६] यहाँ पर अरिष्टनेमि शब्द भगवान अरिष्टनेमि के लिए ही आया है। इसके अतिरक्त भी ऋग्वेद के अन्य स्थलों पर **'तार्क्ष्य अरिष्टनेमि'** का वर्णन है। यजुर्वेद[३७] और सामवेद[३८] में भी भगवान अरिष्टनेमि को तार्क्ष्य अरिष्टनेमि लिखा है जो भगवान का ही नाम होना चाहिए। उन्होंने राजा सगर को मोक्षमार्ग का जो उपदेश दिया[३९], वह जैनधर्म

के मोक्ष मन्तव्यों से अत्यधिक मिलता-जुलता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि सगर के समय में वैदिक लोग मोक्ष में विश्वास नहीं करते थे।[४०] अतः यह उपदेश किसी श्रमण संस्कृति के ऋषि का ही होना चाहिए। यजुर्वेद में एक स्थान पर अरिष्टनेमि का वर्णन इस प्रकार है– अध्यात्म यज्ञ को प्रकट करने वाले, संसार के सभी भव्य जीवों को यथार्थ उपदेश देने वाले, जिनके उपदेश से जीवों की आत्मा बलवान होती है, उन सर्वज्ञ नेमिनाथ के लिए आहुति समर्पित करता हूँ।[४१] डॉ. राधाकृष्णन ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है।[४२]

स्कन्दपुराण के प्रभास खण्ड में एक वर्णन है– अपने जन्म के पिछले भाग में वामन ने तप किया। उस तप के प्रभाव से शिव ने वामन को दर्शन दिये। वे शिव, श्यामवर्ण, अचेल तथा पद्मासन में स्थित थे। वामन ने उनका नाम नेमिनाथ रखा। नेमिनाथ इस घोरकलिकाल में सब पापों का नाश करने वाले हैं। उनके दर्शन और स्पर्श से करोड़ों यज्ञों का फल प्राप्त होता है।[४३]

प्रभासपुराण[४४] में भी अरिष्टनेमि की स्तुति की गई है। महाभारत अनुशासन पर्व में **"शूरः शौरिर्जिनेश्वर"** पद आया है। विद्वानों ने "शूरः शौरिर्जिनेश्वरः" मानकर उसका अर्थ अरिष्टनेमि किया है।[४५]

लंकावतार के तृतीय परिवर्त में तथागत बुद्ध के नामों की सूची दी गई है। उनमें एक नाम "अरिष्टनेमि" है।[४६] संभव है अहिंसा के दिव्य आलोक को जगमगाने के कारण अरिष्टनेमि अत्यधिक लोकप्रिय हो गये थे जिसके कारण उनका नाम बुद्ध की नाम-सूची में भी आया है। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. राय चौधरी ने अपनी कृति वैष्णव परम्परा के प्राचीन इतिहास में श्रीकृष्ण को अरिष्टनेमि का चचेरा भाई बतलाया है। कर्नल टॉड[४७] ने अरिष्टनेमि के संबंध में लिखा है कि मुझे ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में चार मेधावी महापुरुष हुए हैं, उनमें एक आदिनाथ हैं, दूसरे नेमिनाथ हैं, नेमिनाथ ही स्क्रेन्द्रीनेविया निवासियों के प्रथम ओदिन तथा चीनियों के प्रथम 'फो' देवता थे। प्रसिद्ध कोषकार डॉ. नगेन्द्रनाथ वसु, पुरातत्त्ववेत्ता डॉक्टर फुहरर, प्रो. वारनेट, मिस्टर करवा, डॉ. हरिदत्त, डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार प्रभृति अनेक विद्वानों का स्पष्ट मन्तव्य है कि भगवान् अरिष्टनेमि एक प्रभावशाली पुरुष थे। उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानने में कोई बाधा नहीं है।

छान्दोग्योपनिषद् में भगवान् अरिष्टनेमि का नाम "घोर अंगिरस ऋषि' आया है, जिन्होंने श्री कृष्ण को आत्मयज्ञ की शिक्षा प्रदान की थी। धर्मानन्द कौशाम्बी का मानना है कि आंगिरस भगवान् अरिष्टनेमि का ही नाम

था।[४८] आंगिरस ऋषि ने श्रीकृष्ण से कहा— श्रीकृष्ण जब मानव का अन्त समय सन्निकट आये उस समय उसको तीन बातों का स्मरण करना चाहिये।

१. त्वं अक्षतमसि—तू अविनश्वर है।

२. त्वं अच्युतमसि— तू अच्युत है।

३. त्वं प्राणसंशितमसि—तू प्राणियों का जीवनदाता है।[४९]

प्रस्तुत उपदेश को श्रवणकर श्रीकृष्ण अपिपास हो गये। वे अपने आपको धन्य अनुभव करने लगे। प्रस्तुत कथन की तुलना अन्तकृद्दशा में आये हुए भगवान अरिष्टनेमि के इस कथन से कर सकते हैं कि जब भगवान के मुँह से द्वारिका का विनाश और जराकुमार के हाथ से स्वयं अपनी मृत्यु की बात सुनकर श्रीकृष्ण का मुखकमल मुरझा जाता है, तब भगवान कहते हैं— हे श्रीकृष्ण! तुम चिन्ता न करो। आगामी भव में तुम अमम नामक तीर्थंकर बनोगे।[५०] यह सुनकर श्रीकृष्ण संतुष्ट एवं खेदरहित हो गये।

प्रस्तुत आगम में श्रीकृष्ण के छोटे भाई गजसुकुमार का प्रसंग अत्यन्त प्रेरणास्पद एवं रोचक है। वे भगवान् अरिष्टनेमि के उपदेश से इतने प्रभावित हुए कि सब कुछ छोड़कर श्रमण बन जाते हैं और महाकाल नामक श्मशान में जाकर भिक्षु महाप्रतिमा को स्वीकार कर ध्यान में लीन हो जाते हैं। इधर सोमिल नामक ब्राह्मण देखता है कि मेरा होने वाला जामाता श्रमण बन गया है तो उसे अत्यन्त क्रोध आता है और सोचता है कि इसने मेरी बेटी के जीवन से खिलवाड़ किया है, क्रोध से उसका विवेक क्षीण हो जाता है। उसने गजसुकुमार मुनि के सिर पर मिट्टी की पाल बांधकर धधकते अंगार रख दिये। उनके मस्तक, चमड़ी, मज्जा, मांस आदि के जलने से महाभयंकर वेदना होती है फिर भी वे ध्यान से विचलित नहीं होते हैं। उनके मन में जरा भी विरोध एवं प्रतिशोध की भावना पैदा नहीं हुई। यह थी रोष पर तोष की विजय। दानवता पर मानवता की विजय, जिसके फलस्वरूप उन्होंने केवल एक ही दिन में अपनी चारित्र पर्याय के द्वारा मोक्ष को प्राप्त किया।

चतुर्थ वर्ग के दस अध्ययनों में उन दस राजकुमारों का वर्णन हैं जिन्होंने राज्य के सम्पूर्ण वैभव व ठाट-बाट को छोड़कर भगवान अरिष्टनेमि के पास उग्र तपश्चर्या कर केवलज्ञान को प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त किया। इस वर्ग में निम्न दस राजकुमारों का वर्णन है—

नाम	पिता	माता
१. जालि कुमार	म. वसुदेव	रानी धारिणी
२. मयालि कुमार	म. वसुदेव	रानी धारिणी
३. उवयालि कुमार	म. वसुदेव	रानी धारिणी
४. पुरु षसेन कुमार	म. वसुदेव	रानी धारिणी
५. वारिषेण कुमार	म. वासुदेव	रानी धारिणी

६. प्रद्युम्न कुमार	श्रीकृष्ण वासुदेव	रानी रूक्मिणी
७. शाम्ब कुमार	श्रीकृष्ण वासुदेव	रानी जाम्बवती
८. अनिरुद्ध कुमार	प्रद्युम्न कुमार	रानी दैदर्भी
९. सत्यनेमि कुमार	म. समुद्र विजय	रानी शिवा
१०. दृढनेमि कुमार	म. समुद्र विजय	रानी शिवा

इस वर्ग में वर्णन आया है कि इन सभी राजकुमारों का जीवन गौतम कुमार की तरह था। इन सभी ने पचास-पचास कन्याओं के साथ विवाह किया था। बारह वर्ष तक अंगों का अध्ययन कर सोलह वर्ष तक संयम का पालन किया और अन्त में शत्रुंजय पर्वत पर मुक्त अवस्था प्राप्त की।

पाँचवें वर्ग के दस अध्ययनों में श्रीकृष्ण वासुदेव की आठ रानियों तथा दो पुत्रवधुओं के वैराग्यमय जीवन का वर्णन है। श्रीकृष्ण की रानियों में पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्बवती, सत्यभामा तथा रूक्मिणी देवी और पुत्रवधुओं में मूलश्री एवं मूलदत्ता देवी है। राज्य वैभव को त्यागकर वैराग्य मार्ग को अपनाने में राजरानियाँ भी किसी से कम नहीं हैं। यह अपूर्व उदाहरण है। इसी वर्ग में भगवान अरिष्टनेमि ने श्रीकृष्ण को कहा था कि वे आने वाली चौबीसी में जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष के पुण्ड्रदेश के शतद्वार नामक नगर में अमम नामक बारहवें तीर्थंकर बनेंगे। इस वर्ग का एक और प्रसंग महत्त्वपूर्ण है जिसमें भगवान अरिष्टनेमि द्वारा द्वारिका के विनाश का कारण बताया गया- सुरापान के कारण यदुवंशी युवक द्वैपायन ऋषि का अपमान करेंगे और द्वैपायन ऋषि अग्निकुमार देव बनकर द्वारिका नगरी का विनाश करेंगे।

छठे वर्ग में सोलह अध्ययन हैं। प्रथम और द्वितीय अध्ययन में मंकाई और किंकम गाथापति, तृतीय अध्ययन में अर्जुनमाली, चतुर्थ अध्ययन से चौदहवें अध्ययन में काश्यप, क्षेमक, धृतिधर, कैलाश, हरिचन्दन, वारदत्तक, सुदर्शन ,पूर्णभद्र, सुमनभद्र, सुप्रतिष्ठित और मेघकुमार मुनि, पन्द्रहवें अध्ययन में अतिमुक्त कुमार और सोलहवें अध्ययन में अलक्ष नरेश का वर्णन आया है। मंकाई तथा किंकम ने सोलह वर्ष तक गुणरत्न संवत्सर तप की आराधना कर विपुलगिरि पर्वत पर सिद्धावस्था प्राप्त की। इसके तृतीय अध्ययन में अर्जुनमाली और उसकी पत्नी बन्धुमती का मार्मिक वर्णन प्राप्त होता है जो मुद्गरपाणि नामक यक्ष की उपासना करते थे। ललित गोष्ठी के छह सदस्यों द्वारा बन्धुमती के चरित्र हरण करने पर अर्जुनमाली को क्रोध आता है और मुद्गरपाणि यक्ष के सहयोग से उन छहों सदस्यों को मार देता है। भगवान महावीर के राजगृह नगर में आगमन पर सुदर्शन नामक श्रेष्ठी उनके दर्शनार्थ जाते हैं। सुदर्शन पर भी वह क्रोधित होता है, परन्तु सुदर्शन अपने जीवन को समता साधना में लगाकर अर्जुनमाली का क्रोध शांत कर देता है और वे दोनों भगवान के पास पहुँच कर श्रमणदीक्षा

अंगीकार कर उग्र तपश्चर्या करते हैं। जिनके नाम से एक दिन बड़े—बड़े वीरों के पांव थर्राते थे और हृदय कांपते थे, जिसने तेरह दिन में ११४१ व्यक्तियों की हत्याएँ की थीं, वही अर्जुनमाली श्रमणदीक्षा ग्रहण कर लोगों के कटुवचन तथा तिरस्कार को निर्जरा का हेतु समझकर अपनी इन्द्रियों का दमन करता है। वह निमित्त को दोषी नहीं मानते हुए, अपने कर्मों का दोष मानते हुए, समत्व भावना का चिन्तन करते हुए, भयंकर उपसर्गों को शान्त भाव से सहन करता हुआ उग्र साधना के द्वारा छह माह में ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

इसी वर्ग के पन्द्रहवें अध्ययन में बालमुनि अतिमुक्तक कुमार का मार्मिक वर्णन प्राप्त होता है जो साधना की दृष्टि से सभी मुनियों के लिए प्रेरणास्रोत है। इस प्रसंग से यह सिद्ध होता है कि साधना की दृष्टि से वय की प्रधानता नहीं है जो साधक वय की दृष्टि से भले ही छोटा हो, परन्तु यदि उसमें साधना की योग्यता है तो वह दीक्षित हो सकता है। इस अध्ययन में अतिमुक्तक और गौतम गणधर का समागम और भगवान महावीर से चर्चाएँ मुख्य हैं। अतिमुक्तक कुमार का उनके माता-पिता के साथ संसार की क्षणभंगुरता का प्रसंग मार्मिक है माता-पिता ने अतिमुक्तक कुमार को इस प्रकार कहा— 'हे पुत्र! तुम अभी बालक हो। असंबुद्ध हो। तुम अभी धर्म तत्त्व को क्या जानते हो? तब अतिमुक्तक कुमार ने कहा— हे माता-पिता! मैं जिसको जानता हूँ, उसको नहीं जानता हूँ और जिसको नहीं जानता हूँ उसको जानता हूँ। तब उन्होंने कहा— हे माता-पिता! मैं जानता हूँ कि जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है, किन्तु मैं यह नहीं जानता कि मृत्यु कब, किस समय अथवा कहाँ अर्थात् किस स्थान पर कैसी अवस्था में आयेगी। जीव किन कर्मों से नरक आदि में जंन्म लेते हैं यह मैं नही जानता, किन्तु यह जानता हूँ कि कर्मबन्ध के कारणों से नारकी आदि योनियों में जन्म लेते हैं। अत: मैं संयम अंगीकार करना चाहता हूँ। भगवती सूत्र[५१] में उल्लेख है कि शौच के लिए जाते समय रास्ते में पानी को देखकर अतिमुक्तक कुमार का बालकपन उभर आया और एक पात्र उस पानी में छोड़कर वे कहने लगे— "**तिर मेरी नैया तिर**"। परन्तु अन्य स्थविरों को उनका यह कृत्य श्रमणमर्यादा के विपरीत लगा। अत: उन्हें उपालम्भ दिया। अतिमुक्तक को इस कृत्य पर अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ। भगवान महावीर ने स्थविरों के मन की भावना को जानकर उन्हें कहा कि अतिमुक्तक इसी भव में मोक्ष प्राप्त करेंगे। इनकी निन्दा और गर्हणा मत करो। यहाँ मुक्ति के लिए पश्चात्ताप के आदर्श मार्ग को अतिमुक्त मुनि के प्रसंग से दर्शाया है।

सप्तम वर्ग के १३ अध्ययन हैं। इन तेरह अध्ययनों में राजगृह नगर के सम्राट् राजा श्रेणिक की तेरह रानियों के बीस वर्ष तक संयम पालन कर अन्त में सिद्धत्व प्राप्ति का उल्लेख है। ये तेरह रानियाँ हैं— नंदा, नंदवती,

नंदोत्तरा, नंदश्रेणिका, मरुता, समरुता, महामरुता, मरुदेवा, भद्रा, सुभद्रा, सुजाता, सुमनायिका और भूतदत्ता। अष्टम वर्ग के १० अध्ययन हैं। इनमें राजा श्रेणिक की रानियों की कठोर तपश्चर्या का वर्णन है जो रोंगटे खड़े करने वाला है। इन महारानियों के छुट-पुट जीवन-प्रसंग अन्य आगमों में भी विस्तार से मिलते हैं। ये महारानियाँ अपने जीवन के अन्त में संलेखनापूर्वक आयु पूर्ण कर मुक्ति प्राप्त करती हैं। इस वर्ग के प्रथम अध्ययन में काली देवी के "रत्नावली तप" दूसरे अध्ययन में सुकाली देवी के "कनकावली तप" तृतीय अध्ययन में महाकाली देवी के "लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप", चतुर्थ अध्ययन में कृष्णा देवी के "महासिंहनिष्क्रीड़ित तप", पंचम अध्ययन में सुकृष्णा देवी के "सप्तसप्तमिका भिक्षुप्रतिमा तप, षष्ठ अध्ययन में महाकृष्णा देवी के "लघुसर्वतोभद्र तप", सप्तम अध्ययन में वीरकृष्णा देवी के "महासर्वतोभद्र तप", अष्टम अध्ययन में रामकृष्णा देवी के "भद्रोत्तरप्रतिमा तप", नवम अध्ययन में पितृसेन कृष्णा देवी के "मुक्तावली तप" तथा दशम अध्ययन में महासेनकृष्णा देवी के "आयंबिल वर्द्धमान तप" का वर्णन है जो श्रमणों के लिए अनुकरणीय है।

1.रत्नावली तप

एक परिपाटी— तपश्चर्या काल—१ वर्ष ३मास २२ दिन, तप के दिन—१ वर्ष २४ दिन, पारणे के दिन—८८

चार परिपाटी— तपश्चर्या काल—५ वर्ष २ मास २८ दिन, तप के दिन—४ वर्ष ३ मास ६ दिन, पारणे के दिन ३५२

2. कनकावली तप—

एक परिपाटी— तपश्चर्या काल—१ वर्ष ५मास १२ दिन, तप के दिन—१ वर्ष २ माह १४ दिन, पारणे के दिन ८८

चार परिपाटी— तपश्चर्या काल—५ वर्ष ९ मास १८ दिन, तप के दिन—४ वर्ष ९ मास २६ दिन, पारणे के दिन—३५२

3.खुड्डागसिंह निकीलियं (लघुसिंह निष्क्रीडित तप)

एक परिपाटी—तपश्चर्या काल—६ मास ७ दिन; तप के दिन— ५ मास ४ दिन, पारणे के दिन— ३३

चार परिपाटी—तपश्चर्या काल— २ वर्ष २८ दिन, तप के दिन—१ वर्ष ८ मास १६ दिन, पारणे के दिन— १३२

4. महासिंह निकीलियं

एक परिपाटी—तपश्चर्या काल— १ वर्ष ६मास १८ दिन, तप के दिन— १ वर्ष ४ माह १७ दिन, पारणे के दिन— ६१

चार परिपाटी—तपश्चर्या काल—६ वर्ष २ मास १२ दिन, तप के दिन— ५ वर्ष ६ मास ८ दिन, पारणे के दिन— २४४

5. सतसत्तमिका भिक्खुपडिमा तप

तपश्चर्या काल— ४९ दिन, १९६ दत्तियाँ

6. अट्ठअट्ठमिया भिक्खुपडिमा तप

तपश्चर्या काल— ६४ दिन, २८८ दत्तियाँ

7. नवनवमियाभिक्खुपडिमा तप

तपश्चर्याकाल— ८१ दिवस, ४०५ दत्तियाँ

8. दसदसमियाभिक्खुपडिमा तप

तपश्चर्याकाल— १०० दिवस, ५५० दत्तियाँ

9. खुओयासव्वतोभद्द पडिमा तप

तपश्चर्याकाल— ७५ दिवस, पारणे—२९

10. महासर्वतोभद्र पडिमा तप

तपश्चर्याकाल—१९६ दिवस, पारणे—४९

11. भद्रोतर प्रतिमा

तपश्चर्याकाल— १७५ दिवस, पारणे—२९

12. मुक्तावली

एक परिपाटी— तपश्चर्या काल— ११मास २५ दिन, तप के दिन— २८५ दिन, पारणे के दिन— ६०

चार परिपाटी— तपश्चर्या काल— ३ वर्ष १० मास, तप के दिन— ३ वर्ष २ मास २४० दिन

13. आयंबिल वर्धमान

तपश्चर्याकाल— १४ वर्ष, ३ मास, २० दिन,

चार परिपाटी— ११ मास १५ दिन, तप के दिन— ३ वर्ष १० मास। बीच में कोई पारणा नहीं।

विशिष्ट तपश्चर्या वर्णन— प्रस्तुत ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें विशिष्ट तपश्चर्या का वर्णन किया गया है जिसके माध्यम से राजा श्रेणिक की रानियों ने मुक्ति प्राप्त की। यहाँ इन तपश्चर्याओं का संक्षिप्त विवरण दर्शाया गया है।

पर्युषण में अन्तकृद्दशांग सूत्र की वाचना क्यों ?:—

दिगम्बर परम्परा में पर्युषण काल में तत्त्वार्थसूत्र के वाचन की परम्परा है। ऐसा कहा जाता है कि राजा श्रेणिक के शासनकाल में चम्पानगरी के पूर्णभद्र उद्यान में सुधर्मा स्वामी ने जम्बूस्वामी को अंतगडदशासूत्र का अध्ययन कराया था। वह काल पर्युषण काल नहीं था और शास्त्रों में भी पर्युषण काल में ही इसकी वाचना का विधान प्राप्त नहीं होता, परन्तु पर्युषण काल में ही इसकी वाचना की परम्परा विद्यमान है। पर्युषण के अवसर पर कब से इसकी वाचना की परंपरा प्रारंभ हुई, यह भी एक शोध का विषय है, परन्तु ऐसा लगता है कि १५वीं शती के पश्चात् अर्थात् लोंकाशाह के पश्चात् इसके वाचन की परंपरा प्रारंभ हुई होगी। चूंकि एक ओर इसमें

महाराजा श्रेणिक तथा श्रीकृष्ण वासुदेव की महारानियों द्वारा विशिष्ट तपश्चर्याओं के आचरण के माध्यम से मुक्तावस्था का वर्णन है तो दूसरी ओर गजसुकुमार और अतिमुक्तक कुमार जैसे श्रमणों का तेजस्वी व्यक्तित्व वर्णित है और तीसरी ओर सेठ सुदर्शन, अर्जुनमाली आदि के आख्यानों का मार्मिक वर्णन है, जो सम्पूर्ण जैन संस्कृति के लिए अनुकरणीय एवं आदर्श है। अतः पर्युषण के पावन पर्व पर स्थानकवासी परम्परा में इस आगम के वाचन की परिपाटी विद्यमान है। श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक समाज में कल्पसूत्र के वाचन की परम्परा है। अंगसूत्रों में 'अन्तकृद्दशा' आठवाँ अंग आगम है। यह आठ वर्गों में बंटा हुआ है और पर्युषण के दिन भी आठ ही होते हैं। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर इसके वाचन की परिपाटी पर्युषण के दिनों में हुई होगी। वैसे इसका वाचन किसी भी दिन किया जा सकता है।

अंतकृद्दशांग सूत्र की वृत्तियाँ एवं अनुवाद

अंतकृद्दशांग सूत्र पर संस्कृत में दो वृत्तियाँ प्राप्त होती हैं– आचार्य अभयदेव और आचार्य घासीलाल जी म.सा. की। छः हिन्दी-अनुवाद प्राप्त होते हैं। तीन-चार गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। इस तरह इस आगम के करीब तेरह संस्करण प्राप्त होते हैं। एक अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक वैशिष्ट्य

अन्तगडदशासूत्र में कांकदी, गुणशील उद्यान, चम्पानगरी, जम्बूद्वीप, द्वारिका, दूतिपलाश चैत्य, पूर्णभद्र चैत्य, भद्दिलपुर, भरतक्षेत्र, राजगृह, रैवतक, विपुलगिरि पर्वत, सहस्राम्रवन उद्यान, साकेत तथा श्रावस्ती के परिचय के साथ ही इसमें ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र और क्षत्रिय जातियों का परिचय भी प्राप्त होता है। ब्राह्मण वर्ण के व्यक्ति विशेष में सोमश्री, सोम और सोमिल ब्राह्मण का उल्लेख हुआ है। वैश्य वर्ण के व्यक्ति गाथापति में काश्यप, किंकर्मा, कैलाशजी, द्वैपायनऋषि, धृतिधरजी, नागगाथापति, पूर्णभद्र, मंकातिगाथापति, मेघकुमार वास्तक, सुदर्शन सेठ (प्रथम एवं द्वितीय), सुप्रतिष्ठित, सुमनभद्र, सुलसा, हरिचन्दन और क्षेमकगाथापति। शूद्र वर्ग में अर्जुनमाली और उसकी पत्नी बंधुमती तथा क्षत्रिय वर्ग में राजाओं की दृष्टि में अंधकवृष्णि, अलक्षराजा, श्रीकृष्ण वासुदेव, कोणिकराजा, जितशत्रु, प्रद्युम्न, विजयराजा, वासुदेवराजा, बलदेव, समुद्रविजय तथा श्रेणिक राजा, रानियों में काली, कृष्णा, गांधारी, गौरी, चेल्लणा, जाम्बवती, देवकी, धारिणी, नन्दश्रेणिका, नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा, पद्मावती, पितृसेनकृष्णा, बलदेवपत्नी भद्रा, मरुदेवी, मरुतादेवी, महाकाली, भद्रकृष्णा, महामरुता, महासेनकृष्णा, मूलदत्ता, मूलश्री, रामकृष्णा, रुक्मिणी, लक्ष्मणा, वसुदेव-पत्नी, वीरकृष्णा, वैदर्भी,

सत्यभामा, सुकालिका, सुकृष्णा, सुजाता, सुभद्रा, सुमनतिका, सुमरूत्त, सुसीमा और श्रीदेवी। राजकुमारों में अचल, अतिमुक्त, अनंतसेन, अनादृष्टि, अनियस, अनिरुद्ध, अनिहत, अभिचन्द्र, अक्षोभकुमार, उवयालि, कांपिल्य, कूपक, गजसुकुमार, गंभीर, गौतम, जालि, दृढनेमि, दारुक, दुर्मुख, देवयश, धरण, प्रद्युम्न, प्रसेनजीत, पुरुषषेण, पूर्णकुमार, मयालि, वारिषेण, विदु, विष्णु, सत्यनेमि, समुद्र, सागर, सारण, स्तिमिता, सुमुख, शत्रुसेन, शांब और हेमवन्त कुमार का वर्णन मिलता है।

अंतगडदशासूत्र की कतिपय विशेषताएँ

१. चरित्र एवं पौराणिक काव्यों के लिए इसमें बीजभूत आख्यान समाविष्ट हैं।

२. राजकीय परिवार के स्त्री-पुरुषों को संयम धारण करते हुए देखकर आध्यात्मिक साधना के लिए प्रेरणा प्राप्त होती है।

३. कृष्ण और कृष्ण की आठ पत्नियों का आख्यान—सम्यक्त्वकौमुदी की कथाओं का स्रोत है। जम्बूस्वामी की आठ पत्नियाँ एवं उनको सम्यक्त्व प्राप्ति की कथाएँ भी इन्हीं बीजों से अंकुरित हुई हैं।

४. कथानकों के बीजभाव काव्य और कथाओं के विकास में उपादान रूप में व्यवहृत हुए हैं। एक प्रकार से उत्तरवर्ती साहित्य के विकास के लिए इन्हें 'जर्मिनल आइडिया' कहा जा सकता है।

५. द्वारिका नगरी के विध्वंस का आख्यान—जिसका विकास परवर्ती साहित्य में खूब हुआ है।

६. ललित गोष्ठियों (मित्र मण्डलियों) के अनेक रूप—अर्जुनमाली के आख्यान से प्रकट हैं।

७. प्राचीन मान्यताओं और अन्धविश्वासों का प्रतिपादन यक्षपूजा, मनुष्य के शरीर में यक्ष का प्रवेश आदि के द्वारा किया गया है।

८. अहिंसक के समक्ष हिंसावृत्ति का काफूर होना और अहिंसा वृत्ति में परिणत होना—अर्जुन लौह मुद्गर से नगरवासियों का विध्वंस करता है, किन्तु भगवान महावीर के समक्ष जाकर वह नतमस्तक हो जाता है और प्रव्रज्या ग्रहण कर लेता है।

९. नगर, पर्वत—रैवतक, आयतन-सुरप्रिय, यक्षायतन आदि का वर्णन काव्यग्रंथों के लिए उपकरण बना।

१०. देवकी के पुत्र गजसुकुमार के दीक्षित हो जाने पर सोमिल ने ध्यानस्थ दशा में उसे जला दिया। अत्यन्त वेदना होने पर भी वह शांत भाव से कष्ट सहन करता रहा, यह आख्यान साहित्य-निर्माताओं को इतना प्रिय हुआ, जिससे 'गजसुकुमार' नामक स्वतन्त्र काव्यग्रंथ लिखे गये।[५२]

इस प्रकार अन्तगडदशांग अंग-आगमों में अपना विशिष्ट स्थान

१७५—१७६
२२. महाभारत शान्तिपर्व अ. ४८
२३. श्रीमद्भगवद्गीता।
२४. महाभारत—अनुशासन पर्व १४७/१८—२०
२५. शतपथब्राह्मण, १३/३/४
२६. तैत्तरीयारण्यक, १०/११
२७. महाभारत—वनपर्व १६—४७, उद्योग पर्व ४८१
२८. छान्दोग्योपनिषद् अ.३ खण्ड १७, २ श्लोक ६, गीताप्रेस गोरखपुर।
२९. श्रीमद्भागवत—दशम स्कन्ध ८—४८, ३/१३/२४—२५
३०. भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण— एक अनुशीलन, पृष्ठ १७६ से १८६
३१. जातककथाएँ, चतुर्थ खण्ड ४५४ में घटजातक—भदन्त आनन्द कौशल्यायन।
३२ समवायांग, १५८
३३. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ४१५
३४. अन्तकृद्दशा, वर्ग १ से ३ तक
३५. (क) ऋग्वेद १/१४/९५/६
(ख) ऋग्वेद १/२४/१८०/१०
(ग) ऋग्वेद ३/४/५३/१७
(घ) ऋग्वेद १०/१२/१७८/१
३६. ऋग्वेद १/१४/८९/९, १/१/१६, १/१२/१७८/१
३७. यजुर्वेद २५/१८
३८. सामवेद ३/८
३९. महाभारत शान्ति पर्व— २८८/४
४०. महाभारत शान्ति पर्व— २८८/५/६
४१. वाजसनेयि :माध्यन्दिन शुक्लयजुर्वेद, अध्याय ८ मंत्र २५, सातवलेकर संस्करण (विक्रम १८९४)
४२. Indian Philosophy संस्करण(विक्रम १८९४)
४३. स्कन्धपुराण प्रभास खण्ड
४४. प्रभास पुराण ४८/५०
४५. मोक्षमार्ग प्रकाश, पण्डित टोडरमल।
४६. बौद्ध धर्म दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव पृ. १६२
४७. अन्नल्स ऑफ दी भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पत्रिका २३, पृ. १२२।
४८. भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृ. ५७
४९. तद्धैतद् घोरं अंगिरस: कृष्णाय देवकीपुत्राय। — छान्दोग्योपनिषद् प्र.३, खण्ड १८१
५०. अन्तकृद्दशासूत्र वर्ग ५, अध्ययन १
५१. भगवती शतक ५, उद्देशक ४
५२. डॉ. नेमिचन्द शास्त्री—प्राकृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. १७६

—ओ.टी.सी. स्कीम, उदयपुर

अनुत्तरौपपातिकदशा सूत्र

सुश्री श्वेता जैन

अनुत्तरौपपातिक अंग आगम में भगवान महावीर कालीन उन ३३ साधकों का वर्णन है जो काल करके अनुत्तरविमान नामक श्रेष्ठ देवयोनि में उत्पन्न हुए हैं। वहाँ से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र से ये सभी सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होंगे। जैनदर्शन की शोधछात्रा सुश्री श्वेता जैन ने इस सूत्र का समीक्षात्मक परिचय दिया है।— **सम्पादक**

सर्वज्ञ की वाणी का ग्रथित रूप 'आगम' है। स्मृति दोष से लुप्त होते आगमज्ञान को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से गणधरों ने इसे ग्रथित किया तथा कालान्तर में इसे लिखित रूप दिया गया।

'अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं'

अरिहंतों सर्वज्ञों द्वारा अर्थ और सूत्र रूप में कहे गये वाक्यों को गणधरों द्वारा निपुणता से गूंथ कर व्यवस्थित आगम या शास्त्र का स्वरूप प्रदान किया जाता है।

ग्यारह अंगों की शृंखला में 'अनुत्तरौपपातिकदशा' नामक अंग का नवम स्थान है। इस अंग में भगवान महावीर के काल में हुए उन महापुरुषों के कथानक वर्णित हैं, जिन्होंने उत्कृष्ट संयम साधनामय जीवन पूर्ण कर अनुत्तर विमान में जन्म लिया। इन विमानों से कोई उत्तर (बढ़कर) विमान न होने के कारण इनको अनुत्तर विमान कहते हैं और जो साधक अपने तपोमय जीवन से इनमें उपपात (जन्म) धारण करते हैं, उनको अनुत्तरौपपातिक कहते हैं। अनुत्तरौपपातिकों की विभिन्न दशाओं का वर्णन इस सूत्र में होने से इसका नाम 'अनुत्तरौपपातिकदशा' रखा गया। दशा शब्द 'दस' अर्थ को भी प्रकट करता है। प्रथम वर्ग में दस अध्ययन होने से भी इसे अनुत्तरौपपातिकदशा' कहा जाता है— ऐसा अभयदेव की वृत्ति में उल्लेख प्राप्त होता है—

"तत्रानुत्तरेषु विमानविशेषेषूपपातो—जन्म अनुत्तरोपपातः। स विद्यते येषां तेऽनुत्तरौपपातिकास्तत्प्रतिपादिका दशाः-दशाध्ययनप्रतिबद्धप्रथमवर्गयोगाद्दशाः ग्रन्थविशेषोऽनुत्तरौपपातिकदशास्तासां च सम्बन्धसूत्रं।

इसमें अनुत्तरौपपातिकों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, समवसरण, माता पिता, धर्मगुरु, धर्माचार्य, धर्मकथा, संसार की ऋद्धि, भोग उपभोग का तथा तप त्याग, प्रव्रज्या, उत्सर्ग, संलेखना, दीक्षा पर्याय, अंतिम समय के पादोपगमन (संथारा) आदि, अनुत्तर विमान में उपपात, वहाँ से श्रेष्ठ कुल में जन्म, बोधिलाभ तथा मोक्षगमन आदि का वर्णन किया गया है।

यह आगम वर्तमान में ३ वर्गों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः १०,१३ और १० अध्ययन हैं। इस प्रकार ३३ अध्ययनों में ३३ महान् आत्माओं के भव्य जीवन का सुन्दर एवं प्रेरक वर्णन किया गया है। इसमें श्रेणिक के २३ और भद्रा सार्थवाही के १० पुत्रों का कथन है। इन दोनों के एक एक पुत्र के जीवनवृत्त का निरूपण विस्तार से करके शेष पुत्रों का उनके समान कहकर

संक्षेपण किया गया है। यही कारण है कि प्रथम वर्ग में जालिकुमार का और तृतीय वर्ग में धन्यकुमार का चरित्र ही कुछ विस्तार से आया है और शेष चरित्रों का सूचन मात्र हुआ है। इस आगम की आदि श्री जम्बू स्वामी की इस पृच्छा से हुई है कि श्रमण भगवान महावीर ने नौवें अंग में क्या भाव फरमाए हैं? उनकी जिज्ञासा-शमन हेतु सुधर्मा स्वामी द्वारा यह आगम प्रस्तुत किया गया।

प्रथम वर्ग

यह वर्ग १० अध्ययनों में विभक्त है। प्रत्येक अध्ययन में क्रमश: जालि, मयालि, उवयालि, पुरुषसेन, वारिसेन, दीर्घदन्त, लष्ठदन्त, विहल्ल, वैहायस और अभयकुमार के संघर्षपूर्ण जीवन की कथा है। प्रथम अध्ययन में जालि कुमार के आत्मविजय की शौर्य गाथा है। जैन-बौद्ध संस्कृति के मुख्य केन्द्र, समृद्ध और वैभवशाली राजगृह नगरी के राजा श्रेणिक और रानी धारिणी के पुत्र रूप में जालिकुमार का जन्म हुआ। सिंह के दिव्य स्वप्न के साथ गर्भ को धारण करने वाली धारिणी रानी ने कालपरिपाक होने पर जालिकुमार को जन्म दिया। आठ कन्याओं के संग परिणय-सूत्र में बंधने के बाद जालि कुमार इष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध की विपुलता वाले मनुष्य संबंधी कामभोगों को भोगने में रत हो गए। राजसिक सुख भोगों से घिरे हुए राजकुमार ने जब सर्वस्वत्यागी भगवान् के दर्शन कर जिनवाणी से अपने कर्णयुगल को पवित्र किया तो उनके मन-मन्दिर में श्रद्धा का दीप प्रज्वलित हो उठा।

अत: प्रबुद्ध जालि कुमार ने माता.पिता से आज्ञा लेकर प्रव्रज्या ग्रहण की। गुणरत्न संवत्सर नामक तप की आराधना करते हुए उन्होंने १६ वर्ष तक संयम साधना की। विपुलगिरि पर एक मास का संथारा पूर्ण कर 'विजय' नामक अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए और वहां से वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्धि प्राप्त करेंगे। शेष नौ अध्ययनों में ९ राजकुमारों का वर्णन जालि कुमार के समान है। कुछ भिन्नता है, वहं निम्नलिखित है—

वेहल्ल और वेहायस चेलना के पुत्र हैं। अभयकुमार नन्दा का पुत्र है। पहले के ५ कुमारों की श्रमण पर्याय १६ वर्ष की, तीन की श्रमण पर्याय १२ वर्ष की और दो की श्रमण पर्याय ५ वर्ष की है। मयालि, उवयालि, पुरुषसेन, वारिषेण, दीर्घदन्त, लष्ठदन्त, वेहल्लकुमार, वेहायस कुमार और अभयकुमार का उपपात (जन्म) अनुक्रम से वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सर्वार्थसिद्ध, सर्वार्थसिद्ध, अपराजित, जयन्त, वैजयन्त और विजय विमान में हुआ।

कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य—

मेघकुमार भी अनुत्तरौपपातिक हैं तब भी उनका वर्णन इस अंग

आगम में न करके 'ज्ञाताधर्मकथांग' नामक छठे अंग सूत्र में क्यों किया गया है? ऐसा प्रश्न हमारे मस्तिष्क पटल पर उभरता है। समाधान रूप में कहा जाता हैं कि छठे अंगसूत्र में धर्मयुक्त पुरुषों की शिक्षाप्रद जीवन घटनाओं का वर्णन है और मेघकुमार के जीवन में भी कितनी ही ऐसी शिक्षाप्रद घटनाएँ घटित हुई हैं, जिनके पढ़ने से प्रत्येक व्यक्ति को अत्यन्त लाभ हो सकता है, किन्तु अनुत्तरौपपातिक सूत्र में केवल सम्यक् चारित्र पालन करने का फल बताया गया है। अत: मेघकुमार के चरित्र में विशेषता दिखाने के लिए उसका वर्णन नवम अंग में न देकर छठे अंग में ही दिया गया है।

जालिकुमार आदि राजकुमारों ने भगवान से दीक्षा ग्रहण की तथा उनके ही समीप ११ अंगों का अध्ययन किया, यह बात कैसे सम्भव हो सकती है? क्योंकि इस नवम अंग सूत्र में स्वयं जालिकुमार आदि राजकुमारों का वृत्तान्त है। अत: जालिकुमार आदि राजकुमारों द्वारा अपने ही चरित्र के प्ररूपक अनुत्तरौपपातिक दशा सूत्र का अध्ययन सर्वथा असंभव है। प्रश्न उपस्थित होता है कि उन्होंने कौनसे नौवें अंग का अध्ययन किया?

समाधान इस प्रकार है- "अंग अर्थरूप से ध्रुव , नित्य एवं शाश्वत हैं अर्थात् आगम का स्वरूप सदा सर्वदा नियत होता है। अर्थरूप अर्थात् साररूप में भगवान महावीर के द्वारा नौवें अंग में किन-किन मार्गों से और कैसी कैसी साधना से मोक्ष होता है, यह कहा गया है। ये कथन सार्वभौमिक सत्य हैं। इन सत्य कथनों का ही अध्ययन नवम अंग के रूप में जालिकुमार आदि ने किया। जो स्वरूप नवम अंग का हमारे सामने प्रस्तुत है वह तो महावीर स्वामी के निर्वाण पद-प्राप्ति के अनन्तर प्रतिपादित किया गया है। सूत्र रूप कथन को पूर्ण रूप से प्रतिपादित करने के लिए हेतु और दृष्टान्त के प्रयोग किए जाते हैं, इसी का अनुकरण करते हुए सुधर्मा स्वामी ने भी भगवान महावीर के सार कथन को हेतु व दृष्टान्त (जालिकुमारादि) देकर नवम अंग को इस रूप में अंकित किया है।

अनुत्तरौपपातिकदशा के अतिरिक्त जालि आदि १० कुमारों का वर्णन अन्तगड सूत्र के चतुर्थ वर्ग के अध्ययन १ से १० में भी प्राप्त होता है। ये जालि आदि १० कुमार भगवान अरिष्टनेमि के तीर्थ में हुए। इन १० कुमारों के नाम इस प्रकार हैं- जालि, मयालि, उवयालि, पुरुषसेन, वारिषेण, प्रद्युम्न, शंब, अनिरुद्ध, सत्यनेमि और दृढ़नेमि। इन दोनों तीर्थों के १० कुमारों में कुछ समानताएँ हैं जैसे- प्रथम पाँचों के नाम एक ही हैं, इन पाँचों की माता का नाम भी धारिणी है। इनकी भी दीक्षा पर्याय १६ वर्ष है। इसके अतिरिक्त पिता, नगर, उद्यान, धर्मगुरु, धर्माचार्य, दीक्षापर्याय, संलेखना स्थल आदि में विभिन्नताएँ हैं।

द्वितीय वर्ग

यह वर्ग १३ अध्ययनों में विभक्त है। इन अध्ययनों में दीर्घसेन,

महासेन, दृष्टदन्त, गूढदन्त, शुद्धदन्त, हल, द्रुम, द्रुमसेन, सिंह, सिंहसेन, महासिंहसेन और पुष्यसेन नामक राजकुमारों के विलासपूर्ण जीवन को त्याग कर साधना पथ के पथिक होने का वर्णन है। सभी ने गुणरत्न तप से अपनी आत्मिक शक्ति को पुष्ट करते हुए १६ वर्ष तक संयम-साधना की और अन्त में एक मास का संथारा ग्रहण कर विपुलगिरि पर्वत पर अपनी देह का त्याग किया। दीर्घसेन, महासेन, लष्टदन्त और गूढदन्त 'विजय' नामक अनुत्तर विमान में, शुद्धदन्त और हल्लकुमार 'जयन्त' नामक अनुत्तर विमान में, द्रुम और द्रुमसेन 'अपराजित' नामक अनुत्तर विमान में तथा शेष सभी सर्वार्थसिद्ध में उत्पन्न हुए। वहां से सभी च्यवनकर महाविदेह क्षेत्र से मोक्ष प्राप्त करेंगे।

तृतीय वर्ग

इस वर्ग के १० अध्ययनों में काकन्दी नगरी की भद्रा सार्थवाही के १० पुत्रों का वर्णन है। धन्यकुमार, सुनक्षत्रकुमार, ऋषिदास, पेल्लक, रामपुत्र, चन्द्रिक, पृष्टिमातृक, पेढालपुत्र, पोटिल्ल और वेहल्ल नामक दस कुमारों ने भगवान महावीर के उपदेश से सांसारिक भोगों में क्षणिकता का ज्ञान होते ही ऐन्द्रिक विषय-विकारों को सांप की केंचुली के समान त्याग दिया।

धन्य अणगार के जीवन का सांगोपांग वर्णन प्रथम अध्ययन में मिलता है। विपुल सांसारिक ऋद्धि से सम्पन्न धन्य कुमार का विवाह ३२ श्रेष्ठ कन्याओं के साथ सम्पन्न हुआ। दहेज में उन्हें ३२—३२ वस्तुएँ प्रदान की गई। यथा— बत्तीस कोटि चांदी व सोने के सिक्के, बत्तीस मुकुट-हार-रेशमी वस्त्र-ध्वज-गोकुल गांव-उत्तम यान-उत्तम दास-उत्तम दासियाँ-थाल-कटोरे-चम्मच-छत्र आदि। मनोज्ञ—भोगों में लिप्त धन्य अणगार भगवान के दर्शन कर और वचनों को सुनकर जिनवाणी में अनुरक्त हुए। माता से आज्ञा प्राप्त कर दीक्षा ली और दीक्षित होते ही षष्ठ बेला तप और आयम्बिल के पारणे से अपने शरीर और कर्म को कृश करते हुए संयम की आराधना करने लगे। निरन्तर कठोर तप की आराधना करते हुए उनका शरीर हड्डियों का ढांचा मात्र रह गया था। इस अध्ययन में धन्य अणगार के शरीर के अंगों की तुलना मुरझाए हुए फूल से, ऊँट-बैल के खुर से, मेहंदी की गुटिका से, मूंग व उड़द की फली से और सूखे हुए सर्प आदि विभिन्न पदार्थों से की है। शरीर की इतनी दुर्बलता के बावजूद भी उनके मन के संकल्प की सबलता अनुपम थी। ९ मास तक संयम साधना की। अन्त में एक मास का संथारा पूर्ण कर सर्वार्थसिद्ध विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए।

सुनक्षत्र से पोटिल्ल तक के ८ राजकुमारों की दीक्षापर्याय बहुत वर्षों की थी तथा वेहल्ल की ६ मास की थी। शेष वर्णन धन्यकुमार के समान है। विशेषता यही है कि—ऋषिदास और पेल्लक राजगृह नगर में, रामपुत्र और

चन्द्रिक—साकेत में, पृष्टिमातृक और पेढाल पुत्र—वाणिज्यग्राम में, पोटिल्ल—हस्तिनापुर में, वेहल्लकुमार— राजगृह नगरी में उत्पन्न हुए। ये सभी १० कुमार महाविदेह क्षेत्र से सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे।

विशेष बिन्दु

धन्य कुमार का विवाह ३२ इभ्य कन्याओं के साथ हुआ। ये सभी कन्याएँ अपने साथ सोना-चांदी-रत्नजड़ित थाल, कटोरे, हार, रेशमी वस्त्र, घोड़े, दास-दासियाँ आदि ३२—३२ वस्तुएँ दहेज में लाईं। इस वर्णन से उस काल की सामाजिक व्यवस्था का प्रतिपादन होता है कि उस समय भी दहेज प्रथा प्रचलित थी, किन्तु दहेज की मांग नहीं की जाती थी। समाज में पुरुष की प्रधानता थी। अत: राजा ही नहीं श्रेष्ठी भी ३२ कन्याओं के साथ विवाह कर सकता था, किन्तु इनका त्याग करके संयम का पथ अपनाने में तनिक भी संकोच नहीं होता था।

इस अध्ययन के पठन से उस समय की स्त्री जाति की उन्नत अवस्था का पता लगता है। उस काल में भी स्त्रियां पुरुष के समान अधिकार रखती थी और स्वयं उनकी बराबरी में व्यापार आदि बड़े—बड़े कार्य करती थी। यहां भद्रा नाम की स्त्री सार्थवाही का काम स्वयं करती थी और विशेष बात यह थी कि वह अपनी जाति वाले लोगों में किसी से कम नहीं थी।

इस आगम के स्वाध्याय से हमें नित नवीन आत्महित की शिक्षाएँ मिलती हैं। उन शिक्षाओं को अपनाकर हम अपने जीवन को प्रफुल्लित एवं सुगन्धित बना सकते हैं। इस नवम अंग से हमें मुख्यत: निम्नलिखित शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं—

१. गुणी आत्माओं का गुणानुवाद कर गुणानुरागी बनना चाहिए। स्वयं भगवान महावीर ने धन्य अणगार के गुणों का जनता के समक्ष कथन किया। दूसरे में विद्यमान गुणों की प्रशंसा अवश्य करनी चाहिए जिससे उन गुणों के प्रति श्रोता की रुचि जागृत हो। अपने गुण की प्रशंसा सुनने से उस व्यक्ति का गुणों के प्रति आकर्षण बढेगा और वह धीरे—धीरे बहुगुणी हो जाएगा। झूठी प्रशंसा करने वाला तो आत्मघाती होता है, किन्तु गुणों का अनुमोदन न करने वाला भी महाघाती से कम नहीं होता।
२. महाराजा श्रेणिक ने जब धन्य अणगार के गुण भगवान के मुखारविन्द से सुने तो वे स्वयं उनकी स्तुति करने लगे। इस प्रसंग से पता चलता है कि यथार्थ गुणानुवाद प्रत्येक आत्मा को गुणों की ओर आकृष्ट करता है, परन्तु जो काल्पनिक गुणानुवाद होते हैं, वे उपहास्य हो जाते हैं।
३. सभी साधकों ने अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह निष्ठा एवं उत्साहपूर्वक किया। फलस्वरूप वे अपने ध्येय को प्राप्त करने में सफल हो सके,

इसी प्रकार सभी जीवों को अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर उन्मुख होना चाहिए। मंजिल प्राप्ति में चाहे कितने ही कष्ट आएँ, किन्तु उनसे विचलित न होकर सदैव बढ़ते रहना चाहिए।

४. जालिकुमार आदि ३३ साधकों द्वारा ११ अंगों का ग्रहण विनयपूर्वक किया गया। विनयपूर्वक अध्ययन किया हुआ ही सफल हो सकता है। विनययुक्त ज्ञान से परिपूर्ण आत्मा ही अन्य आत्माओं का उद्धार करने में समर्थ हो सकती है। अत: 'विणओ धम्ममूलं' कहा गया।

इस प्रकार अनुत्तरौपपातिक सूत्र में ३३ महापुरुषों का परिचय दिया गया है। यह वर्णन प्राचीन समय की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक स्थिति को प्रकट करता है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह महत्त्वपूर्ण है।

—शोध छात्रा, संस्कृत-विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

प्रश्नव्याकरण सूत्र

श्री सोभागमल जैन

'प्रश्नव्याकरण' सूत्र का प्राचीन रूप लुप्त हो गया है। उसमें प्रश्नोत्तर शैली में नन्दीसूत्र, समवायांग आदि के अनुसार जो विषयवस्तु थी, वह अब उपलब्ध नहीं है। उसके स्थान पर दो श्रुतस्कन्धों में अब हिंसा आदि पाँच आस्रवों एवं अहिंसा आदि पाँच संवरों का वर्णन उपलब्ध होता है। हिंसा, मृषावाद, चौर्य, मैथुन, परिग्रह तथा इनके विपरीत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का इस सूत्र में गम्भीर, विशद एवं हृदयग्राही विवेचन हुआ है। वरिष्ठ स्वाध्यायी एवं व्याख्याता श्री सोभागमल जी जैन ने इस आलेख में प्रश्नव्याकरण सूत्र की समस्त विषयवस्तु को समेट कर परोसने का प्रयत्न किया है। —सम्पादक

जैन धर्म अपने स्वतंत्र अस्तित्व वाला स्वतंत्र धर्म है जिसका अपना स्वयं का दर्शन है एवं मान्य सिद्धान्त हैं। चौबीस तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट और उन्हीं उपदेशों के आधार पर रचा गया साहित्य ही जैन धर्म में प्रमाणभूत है। जिस काल में जो भी तीर्थंकर होते हैं, उन्हीं के उपदेश, आचार–विचार आदि तत्कालीन समाज में प्रचलित होते हैं। इस दृष्टि से भ. महावीर स्वामी अंतिम तीर्थंकर होने से वर्तमान में उन्हीं के उपदेश अंतिम उपदेश हैं, वे ही प्रमाण भूत हैं।

भ. महावीर ने जो उपदेश दिया, उसे गणधरों ने सूत्रबद्ध किया, इसी कारण अर्थ रूप शास्त्र के कर्ता भ. महावीर और शब्द रूप शास्त्र के कर्ता गणधर थे। ऐसा विद्वान आचार्यों ने वीतराग भगवंतों के कथनानुसार एक मत से स्वीकार किया है। आगम या शास्त्र प्रारंभ में लिखे हुए नहीं थे, अपितु कण्ठस्थ थे और वे स्मृति द्वारा सुरक्षित रखे जाते थे। गुरु द्वारा अपने शिष्य को और शिष्य द्वारा प्रशिष्य को श्रुतज्ञान प्रदान करने की परम्परा प्रचलित थी। शिष्य अपने गुरु से सुनकर सीखे गये ज्ञान को सुरक्षित रखते थे। अतः शास्त्रों के लिए श्रुत, स्मृति, श्रुति आदि नाम प्राचीन काल में प्रचलित रहे हैं। वर्तमान में 'आगम' शब्द जैन परम्परा में व्यापक रूप से प्रचलित है जो पूर्ण सार्थकता लिये हुए है। इस संदर्भ में 'आगम' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए महापुरुषों ने बताया है—१. विधिपूर्वक जीवादितत्त्वों को समझाने वाला शास्त्र आगम है। २. आप्तवचनमागमः इसको स्पष्ट करते हुए बताया है कि "आप्त वे हैं जिनके दोषों का क्षय हो चुका है, अतः दोषमुक्त की वाणी आगम है।"

यहाँ प्रतिपाद्य विषय 'प्रश्नव्याकरण सूत्र' है। अतः उस पर चिंतन अभीष्ट है। प्रश्नव्याकरण सूत्र को द्वादशांगी में दसवां स्थान प्राप्त है।

सूत्र का नाम, अर्थ एवं स्वरूप– समवायांग, नंदी और अनुयोगद्वार सूत्र में 'प्रश्नव्याकरण' के लिए 'पण्हावागरणाइं' शब्द का प्रयोग हुआ है। सांदर्भिक

सूत्र के उपसंहार में 'पण्हापागरण' का प्रयोग भी उपलब्ध है। ठाणांग सूत्र के दसवें ठाणे में 'पण्हावागरणदसा' का उल्लेख है। दिगंबर साहित्य में भी 'पण्हवायरण' शब्द की जानकारी मिलती है। अत: समग्र दृष्टि से संस्कृत में 'प्रश्नव्याकरण' नाम ही अधिक प्रचलित है। यह समासयुक्त पद है, जिसका अर्थ होता है 'प्रश्नों का व्याकरण'। किन्तु इसमें किन प्रश्नों का व्याकरण या व्याख्यान किया गया था एतद् विषयक श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के मान्य ग्रन्थों जैसे—अंगपण्णत्ति, धवलाग्रन्थों एवं ठाणांग, समवायांग, नंदीसूत्र आदि ग्रन्थों में जिस विषयसामग्री का उल्लेख मिलता है उससे वर्तमान में उपलब्ध 'प्रश्नव्याकरण सूत्र' का मेल नहीं बैठता है।

समवायांग सूत्र में इस सूत्र का परिचय देते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि "इस सूत्र में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न और १०८ प्रश्नाप्रश्न हैं। विद्या में अतिशय प्राप्त किए हुए नागकुमार, सुवर्ण कुमार अथवा यक्षादि के साथ साधकों के जो दिव्य संवाद हुआ करते थे, उन सब लब्धियों, दिव्य विद्याओं, अतिशय युक्त प्रश्नों आदि विषयों का निरूपण किया गया है। इस सूत्र में १ श्रुतस्कंध, ४५ उद्देशन काल, ४५ समुद्देशन काल, संख्यात सहस्र पद, संख्यात अक्षर, परिमित वाचनाएँ, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियाँ, संख्यात संग्रहणियाँ और संख्यात ही प्रतिपत्तियाँ हैं। नंदी सूत्र में भी इसी से मिलता-जुलता उल्लेख प्राप्त होता है। ठाणांग सूत्र में इसके १० अध्ययनों की संख्या एवं उन अध्ययनों के नाम उल्लिखित हैं। दिगंबर परंपरा के ग्रंथ अंगपण्णत्ति, धवला और राजवार्तिक आदि में भी ठाणांग सूत्र से मिलता-जुलता वर्णन प्राप्त होने का उल्लेख विवेचक आचार्यों द्वारा अपने ग्रंथों में किया गया है।

दोनों परम्पराओं के उपर्युक्त मान्य ग्रंथों में प्रश्नव्याकरण सूत्र की जिस विषय सामग्री का उल्लेख किया गया है उस सामग्री का वर्तमान में उपलब्ध सूत्र में श्रुत स्कंध के उल्लेख के अतिरिक्त तनिक भी समानता नहीं है। इस संबंध में वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने स्पष्टीकरण देते हुए बताया है कि "इस समय का कोई अनधिकारी व्यक्ति सूत्र में वर्णित विद्याओं का दुरुपयोग न कर बैठे, इस आशंका से वे सब विद्याएँ इस सूत्र में से निकाल दी गई और उनके स्थान पर आस्रव और संवर के वर्णन का समावेश कर दिया गया।"

एक विवेचनकार के विचारानुसार "आगम के मूल पाठ से ऐसा प्रकट होता है कि वर्णित चमत्कार पूर्ण अत्यंत निगूढ एवं मनोगत प्रश्नों के प्रतीतिकारक वास्तविक उत्तर देने के लिए अनेक विद्याएँ इस अंग में विद्यमान थीं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में जैन सिद्धान्त के अनुरूप इन आरंभ-समारंभ पूर्ण विद्याओं से सर्वथा बचते हुए धर्म के

अभ्युदय हेतु अपवाद रूप से ही इनका उपयोग किया जाता होगा। किन्तु काल के प्रभाव से परिवर्तित परिस्थितियों में पूर्वाचार्यों को उन विद्याओं के दुरुपयोग की आशंका होने से उन विद्याओं को इस अंग से निकाल दिया गया हो।'' वस्तु स्थिति की वास्तविकता क्या रही होगी, यह केवलीगम्य है। किन्तु इतना अवश्य है कि वर्तमान उपलब्ध सूत्र में ऐसी कोई विषय सामग्री उपलब्ध नहीं होने से प्रश्नव्याकरण का सामान्य अर्थ जिज्ञासा और समाधान ही ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। उपलब्ध वर्ण्य विषय के आधार पर धर्म और अधर्म रूप विषयों की चर्चा से युक्त सूत्र ही प्रश्न व्याकरण सूत्र है, ऐसी मूर्धन्य विद्वद्वर्ग की मान्यता है।

सूत्र रचनाकार, भाषा और शैली–''जंबू! इणमो अण्हय– संवर विणिच्छयं पवयणस्स णीसंदं। वोच्छामि णिच्छयत्थं सुहासियत्थं महेसीहिं।'' उक्त गाथा में आर्य जम्बू को संबोधित किया गया है। अत: टीकाकारों ने इस सूत्र को उनके गुरु सुधर्मा स्वामी द्वारा निरूपित अंग सूत्र के रूप में स्वीकार किया है। प्रस्तुत आगम के अंतर्गत सम्पूर्ण विषय वस्तु का कथन आर्य सुधर्मा द्वारा जम्बू स्वामी को संबोधित करते हुए उपलब्ध होता है, अत: रचनाकार के संबंध में शंका निर्मूल है। प्रश्नव्याकरण सूत्र की भाषा अर्द्धमागधी प्राकृत है। भावों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग में ली गई भाषा एवं शब्दों की योजना प्रभावपूर्ण है। जैसे हिंसा आस्रव का एक रूप है, जिसमें क्रूरता एवं भयानकता के भाव रहे हुए हैं जिसका बोध कराने के लिए कर्कश एवं रौद्र शब्दों का प्रयोग होना चाहिए, इसमें उस रूप की विद्यमानता परिलक्षित होती है। दूसरी ओर अहिंसा, सत्य आदि संवर के स्वरूप वर्णन हेतु कोमल पदों का उपयोग अपेक्षित है, प्रश्नव्याकरण में इस वैशिष्ट्य की भी प्रचुरता है। इसका प्रत्यक्ष एवं मूर्त रूप इसके अध्ययन से भलीभाँति प्रकट होता है।

सूत्र का वर्ण्य विषय– इस सूत्र में आस्रव एवं संवर का मौलिक रूप में विशद चिन्तन एवं वर्णन किया गया है। वैसे तो आस्रव-संवर की चर्चा अन्य आगमों में भी हुई है, किन्तु 'प्रश्नव्याकरण सूत्र' तो इन्हीं के वर्णन का शास्त्र है। इनका जितना क्रमबद्ध और व्यवस्थित विशद वर्णन इसमें किया गया है उतना अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है। पूज्य श्री अमोलकऋषि जी म.सा., पूज्य श्री घासीलाल जी म.सा., पूज्य श्री मधुकरमुनि जी म.सा. प्रभृति सन्तों ने इसका विवेचन कर वर्ण्य विषय को सुबोधता प्रदान की है। साहित्य मनीषी आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. ने इस पर टीका ग्रंथ की रचना की है, जिसके द्वारा प्रतिपाद्य विषय के आशय को सरल सुबोध भाषा में स्पष्ट कर उसकी दुरूहता दूर करते हुए जन-सामान्य के लिए बोधगम्य एवं उपयोगी बनाया है।

उक्त सूत्र को चरम तीर्थंकर भ. महावीर द्वारा प्रतिपादित द्वादशांगी के दसवें अंग के रूप में स्थान प्राप्त है। सूत्र के उपसंहार में सूत्रकार ने '' इस

प्रश्न व्याकरण सूत्र में एक श्रुतस्कंध है, दस अध्ययन हैं।'' ऐसा कथन किया है। किन्तु वर्तमान में उपलब्ध यह सूत्र मुख्य रूप से २ भागों में विभक्त है—१. **प्रथम खण्ड**— इसमें समाविष्ट विषय वस्तु आस्रव द्वार और २. **द्वितीय खण्ड**—इसकी विषय सामग्री संवर द्वार के रूप में निरूपित है। प्रथम विभाग में हिंसा आदि पाँच आस्रवों का और दूसरे भाग में अहिंसा आदि पाँच संवरों का वर्णन किया गया है।

आस्रव और संवर इन दोनों तत्त्वों की नव तत्त्वों में गणना की गई है किसी भी मोक्षार्थी आत्मा के लिए इनका ज्ञान आवश्यक ही नहीं, अपितु साधना-मार्ग पर आगे बढ़ने हेतु अनिवार्य है। आस्रव तत्त्व जहाँ जन्म—मरण रूप भव-परम्परा की वृद्धि का मुख्य कारण है वहीं संवर तत्त्व शुद्ध आत्म दशा (मुक्ति) प्राप्ति का मुख्य हेतु है। किन कारणों से कर्मों का बंध होता है और किन उपायों से कर्मों के बंध का निरोध किया जा सकता है, साधक के लिए इस तथ्य को हृदयंगम कर चलने पर ही इष्ट साध्य की प्राप्ति संभव हो सकती है। इन्हीं प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों को इसमें स्पष्ट किया है।

सूत्र का प्रारम्भिक परिचय— जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, प्रस्तुत शास्त्र में हिंसादि पाँच आस्रवों और अहिंसा आदि पाँच संवरों का कुल १० अध्ययनों में वर्णन है। अध्ययन के वर्ण्य विषय के अनुरूप सार्थक नामों का उल्लेख एवं उनके परिणामों का विस्तार से वर्णन उपलब्ध है। उदाहरणार्थ— हिंसा आस्रव के अंतर्गत प्राणवध एवं उसका स्वरूप, उसके भिन्न-भिन्न नाम, वह जिस तरह किया जाता है एवं उसके कुफल भोगने आदि का किया गया वर्णन पाठकों एवं स्वाध्यायियों के समक्ष उसका साक्षात् दृश्य उपस्थित करता है। हिंसा-आस्रव के सदृश ही शेष चारों आस्रवों का विशद विवेचन उपलब्ध है। इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कंध के पाँच अध्ययनों में क्रमशः हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह आदि आंतरिक विकार रूप रोगों के स्वरूप, उनके द्वारा होने वाले दुःखों, यथा—वध, बंधन, कुयोनियों, नीच कुलों में जन्म-मरण करते हुए अनंतकाल तक भव-भ्रमण का चित्रण हुआ है।

इसके विपरीत द्वितीय श्रुतस्कंध में इन उपर्युक्त रोगों से निवृत्ति दिलाने के उपायों का वर्णन है। इसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के स्वरूप और उनके सुखद प्रतिफलों का निरूपण किया गया है।

प्रत्येक अध्ययन के प्रतिपाद्य विषय का सार प्रश्नव्याकरण सूत्र पर रचित व्याख्या-ग्रंथों के अनुशीलनोपरांत उपलब्ध तथ्यों के आधार पर अध्ययनों के क्रम में प्रस्तुत है—

प्रथम श्रुत-स्कंध

प्रथम अध्ययन–प्रथम आस्रव द्वार 'हिंसा'

इस अध्ययन में प्राणवध रूप प्रथम आस्रव 'हिंसा' का वर्णन है। वीतराग जिनेश्वर देव ने हिंसा को पाप रूप अनार्य कर्म और दुर्गति में ले जाने वाला बताया है। इसके अंतर्गत प्राण वध का स्वरूप, प्राणवध के कलुष फल के निर्देशक ३० नाम, पापियों का पाप कर्म जिसमें असंयमी, अविरति, मन-वाणी तथा काय के अशुभ योग वाले जीवों द्वारा जलचर, स्थलचर, चतुष्पद, उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प, नभचर आदि त्रस जीवों के अस्थि, मांस, चर्म एवं अंगों की प्राप्ति कर शरीर, भवन आदि की शोभा बढ़ाने हेतु की जाने वाली हिंसा का निरूपण, पृथ्वीकायिक, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति आदि स्थावरकायिक जीवों की सकारण व अकारण की जाने वाली हिंसा का निरूपण एवं हिंसक जीवों का दृष्टिकोण, हिंसक जन एवं जातियों में ५० प्रकार के अनार्यों का वर्णन, हिंसा के क्रोधादि अंतरंग कारण, धर्म–अर्थ–काम के निमित्त से की जाने वाली सप्रयोजन एवं निष्प्रयोजन हिंसा, हिंसकों के उत्पत्ति स्थान, नरक के दु:खानुभव का निरूपण जिसके अंतर्गत नारकों को दिया जाने वाला लोमहर्षक दु:ख, नारक जीवों की करुण पुकार, परमाधार्मिक देवों को दिये जाने वाले घोर दु:ख एवं दी जाने वाली विविध पीड़ाओं एवं यातनाओं के प्रकार, यातनाओं में प्रयुक्त शस्त्रों के प्रकार, परस्पर में वेदनाओं को उत्पन्न करते हुए नारकियों की दशा व उनके पश्चात्ताप का निरूपण, तिर्यंच योनि के दु:खों का निरूपण, चतुरिन्द्रिय से एकेन्द्रिय और सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक, अपर्याप्तक, प्रत्येक, साधारण शरीरी जीवों के दु:खों और मनुष्य भव के दु:खों का सविस्तार वर्णन किया गया है तथा बताया गया है कि हिंसा रूप पापकर्म करने वाले प्राणी नरक और तिर्यंच योनियों में तथा कुमानुष अवस्था में भटकते हुए अनंत दु:ख प्राप्त करते रहते हैं।

मूल में हिंसा के फल विपाक को अल्प सुख और बहुत दु:ख का कारण कहा गया है। इसका आशय यह है कि हिंसक को हिंसा करते समय प्रसन्नता होती है। शिकारी शिकार के प्राणों का हरण करके हिंसाजन्य सुख का अनुभव करता है, जो सुखाभास मात्र है, क्योंकि उसके पीछे घोर दु:ख रहा हुआ है। सुख की यह क्षणिक अनुभूति जितनी तीव्र होती है, भविष्य में उतने ही तीव्र दु:खों का अनुभव कराती है। इसका फल विपाक महाभय वाला, भयंकर, कठोर और असाता रूप है जो पल्योपम और सागरोपम आदि अनेक सहस्रों वर्षों में भोगते–भोगते छूटता है, बिना भोगे कभी भी छुटकारा नहीं हो सकता है। इसलिए इस प्राणवध का 'ज्ञ' परिज्ञा स्वरूप जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार के

भाव, अध्ययन का उपसंहार करते हुए सूत्रकार द्वारा फरमाये गये हैं।

द्वितीय अध्ययन– द्वितीय आस्रव द्वार 'मृषावाद'

इस अध्ययन में सर्वप्रथम मृषावाद का स्वरूप बताया गया है जिसे अलीक वचन अथवा मिथ्याभाषण भी कहा गया है। अलीक वचन का निरूपण करते हुए शास्त्रकार फरमाते हैं कि असत्य दुर्गति में ले जाता है एवं संसार-परिभ्रमण की वृद्धि कराने वाला है। असत्य वचनों का प्रयोग ऐसे मनुष्य ही करते हैं जिनमें गुणों की गरिमा नहीं होती, जो क्षुद्र, तुच्छ या हीन होते हैं, जो अपने वचनों का स्वयं मूल्य नहीं जानते, जो प्रकृति में चंचलता होने से बिना सोचे समझे बोलते हैं। धार्मिक दृष्टि से नास्तिकों, एकांतवादियों और कुदर्शनियों को भी मृषाभाषी बताया गया है। ऐसे वचन स्व और पर के लिए अहितकर होते हैं। अत: संतजन और सत्पुरुष असत्य का कदापि सेवन नहीं करते, क्योंकि असत्य वचन पर-पीड़ाकारक होते हैं और पीड़ाजनक वचन, तथ्य होने पर भी सत्य नहीं कहलाते हैं।

इस आस्रव द्वार के अंतर्गत मृषावाद के ३० नामों का उल्लेख करने के साथ मृषावादी का पूर्ण परिचय देते हुए क्रोधी, लोभी, भयग्रस्त, हास्यवश झूठ बोलने वाले, चोर, भाट, जुआरी, वेषधारी मायावी, अवैध माप–तौल करने वाले, स्वर्णकार, वस्त्रकार, चुगलखोर, दलाल, लोभी, स्वार्थी आदि के असत्य बोलने का वर्णन है। इनके अतिरिक्त इसमें अनेक विषयों का वर्णन है, यथा– मृषावाद के चार कारण, मृषावादी नास्तिक वादियों के मत का निरूपण, शून्यवाद, स्कंधवाद के अन्तर्गत–रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार वर्णन। वायुजीव वाद असद्भाववादी मत, प्रजापति का सृष्टि सर्जन, ईश्वर सृष्टि, एकात्मवाद, अकर्तृत्ववाद, यदृच्छावाद, स्वभाववाद, विधिवाद, नियतिवाद, पुरुषार्थवाद, कालवाद का निरूपण। झूठा दोषारोपण करने वाले निन्दकों, पाप का परामर्श देने वाले जीवघातक हिंसकों के उपदेश–आदेश, युद्धादि के उपदेश–आदेश रूप मृषावाद का सविस्तार विवेचन हुआ है तत्पश्चात् मृषावाद के भयानक फल का दिग्दर्शन कराते हुए बताया है कि इसका फलविपाक सुख वर्जित और दु:ख बहुल है, प्रचुर कर्म रूपी रज से भरा हुआ है, महाभंयकर, दु:खकर, अपयशकर, दारुण और कठोर है। वैरकर, अरति, रति, राग–द्वेष व मानसिक संक्लेश उत्पन्न कराने वाला है। यह अधोगति में निपात व जन्म-मरण का कारण है। यह चिरपरिचित एवं अनुगत है, अत: इसका अंत कठिनता से एवं परिणाम दु:खमय ही होता है।

अंत में उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने कथन किया है कि इस अलीक वचन को जो तुच्छात्मा, अति नीच एवं चपल होते हैं, वे ही बोलते हैं, जिसका फल विपाक जीव पल्योपम एवं सागरोपम प्रमाण काल तक भोगता

है तभी जाकर छुटकारा पाता है।

तृतीय अध्ययन—तृतीय आस्रव द्वार 'अदत्तादान'

मृषावाद और अदत्तादान में घनिष्ठ संबंध होना निरूपित करते हुए तीसरे आस्रव द्वार के रूप में सूत्रकार ने तृतीय अध्ययन में अदत्तादान का वर्णन किया है। सर्वप्रथम अदत्तादान के स्वरूप का निरूपण करते हुए सूत्रकार फरमाते हैं कि चोरी चिंता एवं भय की जननी तथा संतजनों द्वारा विनिन्दित है। यह चौर्यकर्म परकीय पदार्थ का हरण रूप है, हृदय को जलाने वाला, मरण भय रूप, कलुषित, मलिन, लोभ का मूल, अधोगति की ओर ले जाने वाला, अनार्य पुरुषों द्वारा आचरित है। यह करुणाहीन कृत्य है। यह भेदकारक, अप्रीतिकारक, रागद्वेष की बहुलता वाला, पश्चात्ताप का कारण, दुर्गति में ले जाने एवं भवभ्रमण कराने वाला है। यह चिर—परिचित की तरह आत्मा के साथ लगा हुआ है और अंत में इसका परिणाम अत्यंत दु:खदायी है।

इसके बाद अदत्तादान के ३० नामों का निरूपण, चौर्य कर्म के विविध प्रकार, परधन में लुब्ध राजाओं के आक्रमण व संग्राम का वर्णन है। 'जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई' की उक्ति के अनुसार अत्यधिक लालसा वाले राजाओं द्वारा युद्ध के लिए शस्त्र सज्जा, युद्ध स्थल की बीभत्सता का निरूपण, चोरी के उपकरणों और १८ प्रकार के चौर्य प्रकारों, छोटे—बड़े सभी तरह के चोरों— वनवासी चोर, समुद्री डाके डालने वाले, ग्रामादि लूटने वाले, तस्करी का कार्य करने वाले आदि का वर्णन है। फिर चोरी के अपराध में दिये जाने वाले कठोर दण्ड—ताड़न, तर्जन, छेदन, भेदन, अंग-त्रोटन, बंधन, कारावास एवं बंदीगृह में होने वाले दु:ख, चोरों को दी जाने वाली भीषण यातनाओं आदि का सविस्तार उल्लेख है। अदत्तग्राही चोरी का पाप और परलोक में दुर्गति की परम्परा निरूपित है। जीव ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों से बंध दशा को प्राप्त कर संसार सागर में रहते हैं, अत: संसार सागर के स्वरूप का निरूपण है। किस प्रकार के अदत्तग्राही चोरों को किस प्रकार के फल मिलते हैं आदि विषय-बिंदुओं के माध्यम से विपुल सामग्री का विस्तार से इस अध्ययन में समावेश किया गया है।

उपसंहार के अन्तर्गत बताया गया है कि यह अदत्तादान अल्परूपेण सुखजनक एवं भयंकर से भयंकर दु:ख प्रदाता, बड़ा भीषण और कठोर तथा असातावेदनीय कर्म स्वरूप है। साथ ही पर-धन-अपहरण, दहन, मृत्यु, भय, मलिनता, त्रास एवं लोभ का मूल है, जो चिरकाल से प्राणियों के साथ लगा हुआ है एवं इसका फल विपाक अत्यंत कटुक होने से इसका अंत अत्यन्त कठिनाई से अर्थात् पल्योपम व सागरोपम प्रमाण-काल में होने का कथन सूत्रकार द्वारा किया गया है।

चतुर्थ अध्ययन–चतुर्थ आस्रव द्वार 'अब्रह्म'

चौथे आस्रव द्वार अब्रह्मचर्य की प्ररूपणा करते हुए भगवान ने उसका स्वरूप फरमाया है कि यह संसारस्थ प्राणियों द्वारा प्रार्थनीय, कमनीय एवं इच्छित है जो प्राणियों को फंसाने के लिए कीचड़ सदृश, फिसलन युक्त, बांधने के लिए पाश एवं फंसाने के लिए जाल सदृश है। जो तीन वेदरूप चिह्न युक्त, तप—संयम—ब्रह्मचर्य एवं चारित्र का विघातक, प्रमाद का मूल, निन्दितों द्वारा सेवनीय, सज्जनों-पापविरतों द्वारा त्याज्य, तीनों लोकों में अवस्थिति, जरा-मरण, रोग-शोक की बहुलता, वध—बंध—विघात द्वारा भी जिसका अंत नहीं, मोह का मूल कारण, चिरपरिचित, अनुगत एवं दुरन्त है, जिसका फल अत्यंत ही दुःखप्रद होता है।

इसके अतिरिक्त अब्रह्म के ३० गुणनिष्पन्न नाम एवं लक्षण, मोह मुग्धमति देव—देवी, चक्रवर्ती के विशिष्ट भोग, यथा— राज्य विस्तार, विशेषण, शुभ लक्षण, ऋद्धि, निधियाँ, रत्न आदि का निरूपण, बलदेव वासुदेव के भोग, माण्डलिक राजाओं के भोग, युगलिकों आदि अकर्म भूमिज ३२ लक्षण युक्त मनुष्यों के भोग, एवं मनुष्यिणियों की शरीर सम्पदा आदि अनुपम अपार भोग सामग्री को दीर्घकाल तक भोग कर भी बिना तृप्ति के काल कवलित हो जाने, मैथुनासक्ति के कारण हुए अनेक जनक्षयकारी युद्धों का उल्लेख, परस्त्री में लुब्ध जीवों की दुर्दशा, अब्रह्मचर्य का दुष्परिणाम आदि विविध विषयों का इसके अंतर्गत अत्यंत मार्मिक एवं तलस्पर्शी विस्तृत चित्रण प्रस्तुत किया गया है। जो भव्य जीवों के लिए चिंतनीय एवं मननीय है।

अंत में इस द्वार का इस लोक और परलोक संबंधी विपाक का कथन करते हुए उल्लेख किया गया है कि यह अल्प सुख एवं बहु दुःख वाला, अत्यंत भयंकर, पापरज से संयुक्त, बड़ा ही दारुण एवं कठोर, असाताजनक, अनुगत, दुरन्त और नाना प्रकार के दुःखों का दाता है, जिसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं है। इस पर विजय के लिए उत्कट साधना की आवश्यकता है।

पंचम अध्ययन–पंचम आस्रव द्वार 'परिग्रह'

इसके अंतर्गत चल, अचल तथा मिश्र परिग्रह के स्वरूप को विस्तार से प्रकट करते हुए वृक्ष के रूपक के माध्यम से वर्णन किया है। इसमें बताया है कि विविध प्रकार की मणियों, रत्नों, स्वर्णाभूषणों आदि अचेतन; हाथी, अश्व, दास, दासी, नौकर, चाकर आदि चेतन; रथ पालकी आदि सवारियाँ, ग्राम नगरादि से युक्त सम्पूर्ण भरतक्षेत्र का यहाँ तक कि सम्पूर्ण पृथ्वी के अखण्ड साम्राज्य का उपभोग कर लेने पर भी तृष्णा शांत नहीं होती है, क्योंकि ''लाभ लोभ का वर्द्धक है'' अतः परिग्रह की वृद्धि करके जो संतोष

प्रात करना चाहते हैं वे आग में घी डालकर उसे बुझाने के सदृश असफल प्रयास करते हैं। संतोष-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है—शौच, निर्लोभता व मुनि धर्म का आचरण। जो संतोषवृत्ति को पुष्ट कर तृष्णा, लोभ, लालसा से विरत हो जाते हैं, वे ही परिग्रह रूप राक्षस से मुक्ति पा सकते हैं। ऐसा परिग्रह स्वरूप सूत्र में प्रकट किया गया है।

इसके पश्चात् इसमें परिग्रह के ३० गुण निष्पन्न नाम हैं। परिग्रह के पाश में बंधने वाले देवगण, मनुष्य, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, मांडलिक, तलवर, श्रेष्ठि, सेनापति आदि का वर्णन है। परिग्रह वृद्धि के लिए ही पुरुष द्वारा ७२ व महिलाओं द्वारा ६४ कला का शिक्षण प्राप्त किया जाता है। इसी के लिए हिंसा, झूठ, चोरी आदि दुष्कर्म तथा भूख, प्यास, बन्धन, अपमान आदि संक्लेश सहे जाते हैं। परिग्रह केवल संक्लेश का कारण ही नहीं अपितु ''सव्वदुक्ख संनिलयणं'' अर्थात् समस्त दुःखों का घर है। उक्त बिन्दुओं के अन्तर्गत परिग्रह का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

अंत में ''परिग्रह पाप का कटु फल'' के अंतर्गत प्रकट किया है कि परिग्रह में आसक्त प्राणी परलोक और इस लोक में नष्ट-भ्रष्ट होते हैं, अज्ञान अंधकार में प्रविष्ट होते हैं, तीव्र मोहनीय कर्म के उदय से लोभ के वश में पड़े हुए प्राणी त्रस, स्थावर, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक व अपर्याप्तक अवस्थाओं वाले चार गति रूप भव कानन में परिभ्रमण करते हैं। इसका फल विपाक, अल्पसुख व बहुदुःख वाला, महान् भय से परिपूर्ण, गाढ़े कर्मबंध का कारण, दारुण, कठोर, असाता का हेतु और मोक्ष मार्ग रूप निर्लोभता के लिए अर्गला सदृश है। इसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता है।

आस्रव द्वार का उपसंहार– इसका उपसंहार अंतिम ५ गाथाओं में निरूपित है जिसका भाव इस प्रकार है– ''इन पाँचों आस्रवों के निमित्त से जीव प्रति समय कर्म रूपी रज का संचय करके चार गति रूप संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। जो पुण्य हीन प्राणी धर्म का श्रवण नहीं करते तथा श्रवण करके भी आचरण में प्रमाद करते हैं, वे अनंत काल तक जन्म—मरण करते रहेंगे। ऐसा भगवान ने फरमाया है।''

द्वितीय श्रुत-स्कंध

प्रथम अध्ययन–प्रथम संवर द्वार 'अहिंसा'

इस अध्ययन के अन्तर्गत सर्वप्रथम संवर द्वारों की महिमा का वर्णन है। इसमें बताया है कि ये व्रत समस्त लोक हितकारी, तप और संयम रूप हैं, जिनमें शील व उत्तम गुण रहे हुए हैं। ये मुक्ति प्रदाता, सभी तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट, कर्म रज के विदारक, जन्म-मरण के अंतकर्ता, दुःखों से बचाने व सुखों में प्रवृत्त करने वाले, कायरों के लिए दुस्तर, सत्पुरुषों द्वारा सेवित हैं तथा मोक्ष के मार्ग हैं।

इसके पश्चात् इस संवर द्वार में अहिंसा को प्रथम धर्म बताते हुए कहा है कि यह देव, मनुष्य और असुरादि लोकों में दीप के समान प्रकाशक और सबकी शरण एवं आधारभूत है। अहिंसा के गुण निष्पन्न साठ नामों का उल्लेख करने के साथ इसे जीव मात्र के लिए क्षेमंकरी बताया है, क्योंकि अहिंसा भगवती अपरिमित ज्ञानी—त्रिलोक पूज्य तीर्थंकरों द्वारा सुदृष्ट, अवधि ज्ञानियों द्वारा ज्ञात, पूर्वधारियों द्वारा पठित, ज्ञान-तप-लब्धिधर साधकों द्वारा अनुपालित और उपदिष्ट है। इसी के साथ प्रकट किया है कि इसके रक्षण हेतु आहार शुद्धि परमावश्यक है। अत: गृहीत आहार निर्दोष विधिपूर्वक नवकोटि परिशुद्ध, उद्गम उत्पादन व एषणा दोष से रहित होना चाहिए। अहिंसा व्रत की रक्षार्थ ५ भावनाओं का वर्णन भी उपलब्ध है। इसके अंतर्गत ईर्या समिति, मन: समिति, भाषा समिति, एषणा समिति और आदान-निक्षेपणा समिति के पालन एवं 'धिइमया मइमया' अर्थात् धैर्य और विवेक का पालन अहिंसा साधना के लिए परमावश्यक होने का सूत्रकार द्वारा उल्लेख किया गया है।

अध्ययन का उपसंहार करते हुए सूत्रकार फरमाते हैं कि इस संवर द्वार को प्रत्येक मुनिजन को उपयोग पूर्वक पाँच भावनाओं सहित जीवन पर्यन्त पालन करना चाहिए। पालन में यदि परीषह और उपसर्ग आयें तो धैर्यपूर्वक सह लेना चाहिए, क्योंकि यह नवीन कर्मों के आस्रव को रोकता है। अर्हन्त भगवंतों ने स्वयं इसे जीवन में उतार कर ही साधक को धारण करने, सेवन करने का उपदेश दिया है। भ. महावीर ने इसकी प्रशंसा की है तथा देव, मानुषादि की परिषदा में देशना की है अत: यह धर्म द्वार प्रमाण प्रतिष्ठित है और मंगलमय है।

द्वितीय अध्ययन— द्वितीय संवर द्वार 'सत्य'

इस अध्ययन में सर्वप्रथम सत्य के स्वरूप का निरूपण करते हुए सत्य की महिमा का वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत सदोष सत्य का त्याग और बोलने योग्य वचनों का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। सत्य सभी के लिए हितकर, मितकर, व्रतरूप और सर्वज्ञों द्वारा देखा और परखा गया होने से शंका रहित है। सत्यसेवी ही सच्चा तपस्वी है, इसे स्वर्ग व अपवर्ग का मार्ग कहा है। घोर संकट में पड़े हुए मनुष्य की 'सत्य' देवता की तरह रक्षा करता है। सत्यनिष्ठ को आग जला नहीं सकती, न वह समुद्र में डूबता है। वह भीषण विपत्तियों से भी सहज में ही छुटकारा पा लेता है। सत्य सभी के लिए अर्चनीय, पूजनीय, आराधनीय माना गया है। सत्य को महासागर से भी अधिक गंभीर, मेरू से अधिक स्थिर, चन्द्र से अधिक सौम्य एवं निर्मल, सूर्य से अधिक तेजपुंज उपमित किया है। वर्जनीय सत्य के भी ११ रूप प्रदर्शित किये हैं। सूत्र में १० प्रकार के सत्य, १२ प्रकार की भाषा और सोलह प्रकार के वचनों का अंकन है। सत्य धर्म के रक्षणार्थ भी ५ भावनाओं—अनुवीचि भाषण (अक्रोध या क्रोधनिग्रह), निर्लोभता, निर्भयता

अथवा धैर्य और मौन भावना (हास्य त्याग) का निरूपण उपलब्ध है।

इस सत्य महाव्रत को जो मुनिजन उक्त पाँच भावनाओं सहित पालते हैं उनके अशुभ अध्यवसाय रुक जाते हैं व नवीन कर्मों का बंध नहीं होता है। यह मंगलमय, निर्दोष और बाधा रहित है, अतः इसे धारण कर प्रत्येक मनुष्य को अपना जीवन सफल बनाना चाहिए।

तृतीय अध्ययन–तृतीय संवर द्वार 'अचौर्य'

प्रस्तुत अध्ययन में तृतीय संवर द्वार का निरूपण करते हुए अस्तेय का स्वरूप प्रकट किया है। इसके अंतर्गत बताया है कि जीवन पर्यन्त तृण जैसे तुच्छ पदार्थ को भी बिना पूछे ग्रहण न करना एक महती साधना है। इस व्रत के प्रभाव से मन अत्यंत संयमशील बन जाता है, परधन ग्रहण की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। ज्ञानी भगवंतों ने इसे उपादेय कहा है। यह आस्रव-निरोध का हेतु एवं निर्भयता-प्रदाता है। इसे साधुजनों का धर्माचरण माना है। अनेक गुणों का जनक होने से इसके धारण व पालन से इस लोक और परलोक में उपकार होने का ग्रंथकार द्वारा उल्लेख किया गया है।

इसी के साथ अस्तेय के आराधक कौन नहीं, का परिचय देते हुए तपःस्तेन, वचःस्तेन, रूपस्तेन, आचारस्तेन, भावस्तेन का उल्लेख किया है, साथ ही अस्तेय का आराधक कौन, के अंतर्गत बताया है कि जो वस्त्र, पात्रादि, धर्मोपकरण, आहार-पानी आदि के संग्रहण व संविभाग में कुशल हो जो बाल, रुग्ण, वृद्ध, तपस्वी, प्रवर्तक, आचार्य, उपाध्याय, साधु, कुल, गण व संघ की प्रसन्नता के लिए १० प्रकार की सेवा करने वाला हो व निर्जरा का अभिलाषी हो तथा निषिद्ध आचरणों से सदा दूर रहता हो वह अस्तेय का आराधक होता है। इसके पश्चात् अचौर्यव्रत की आराधना का फल एवं इसके रक्षणार्थ ५ भावनाओं–विविक्तवसति (निर्दोष उपाश्रय), अनुज्ञात संस्तारक (निर्दोष संस्तारक), शय्या परिकर्मवर्जन, अनुज्ञात भक्तादि, साधर्मिक विनय आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन उपलब्ध है।

इस धर्म द्वार को जो मुनिजन तीन करण, तीन योग से जीवनपर्यन्त पालते हैं उनके अशुभ अध्यवसाय रुक जाते है, नवीन कर्मों का बंधन नहीं होता, संचित कर्मों की निर्जरा होती रहती है। समस्त अरिहंत भगवंतों ने इसका पालन किया है। अतः मंगलमय है।

चतुर्थ अध्ययन– चतुर्थ संवर द्वार 'ब्रह्मचर्य'

प्रस्तुत अध्ययन में सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य की महिमा का गान एवं उसके स्वरूप का निरूपण किया है। आर्य सुधर्मा स्वामी ने इसकी महत्ता को प्रकट करते हुए कथन किया हैं कि ब्रह्मचर्य तपों, नियमों, ज्ञान–दर्शन–चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है। यह हिमवान पर्वत से भी महान और तेजवान है, गंभीर है, मनुष्य के अंतःकरण को स्थिर करने वाला, साधुजनों द्वारा आसेवित और मोक्ष का मार्ग है, उत्तम गुणों वाला व सुख रूप है, सर्व

प्रकार के उपद्रवों से रहित, अचल अक्षय पद प्रदान करने वाला, उत्तम मुनियों द्वारा आचरित और उपदिष्ट है। कल्याण का कारण, कुमारादि अवस्थाओं में भी विशुद्ध रूप से आराधित व पालित है, शंका रहित है। निर्भीकता प्रदाता, चित्त की शांति का स्थल और अविचल है। तप और संयम का मूल आधार, पाँच महाव्रतों में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण तथा पाँच समिति–तीन गुप्ति से रक्षित है। दुर्गति के मार्ग को अवरुद्ध करने एवं सद्गति के मार्ग को प्रशस्त करने वाला और लोक में उत्तम बताया गया है।

इस व्रत को कमलों से सुशोभित तालाब से उपमित एवं पाल के समान धर्म की रक्षा करने वाला बताया है। विशाल वृक्ष के स्कंध के समान यह धर्म का आधार रूप एवं अनेक निर्मल गुणों से युक्त है। इसके भंग होने पर विनय, शील, तप आदि गुणों का समूह फूटे घड़े की तरह संभग्न, आटे की तरह चूर्ण, तोड़ी हुई लकड़ी की तरह खण्डित एवं अग्नि द्वारा जलकर बिखरे काष्ठ के समान विनष्ट हो जाता है– इस प्रकार ब्रह्मचर्य का माहात्म्य प्रकट करते हुए अंत में 'वह ब्रह्मचर्य भगवान है' इस प्रकार गुण उत्कीर्तन द्वारा स्वयं वीतराग भगवंतों ने ब्रह्मचर्य व्रत के महिमा मण्डित होने का प्रस्तुत सूत्र में उल्लेख किया है। इसी के साथ ब्रह्मचर्य आराधना का फल, ब्रह्मचारी के आचरणीय और अनाचरणीय का निरूपण, ब्रह्मचर्य-विघातक निमित्त एवं ब्रह्मचर्यरक्षक नियमों के वर्णन के साथ, ब्रह्मचर्य रक्षक ५ भावनाओं यथा– विविक्त शयनासन, स्त्रीकथा-वर्जन, स्त्रीरूप-निरीक्षण वर्जन, पूर्वभोग चिंतन-त्याग और प्रणीत भोजन-वर्जन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

जो मुनिजन इसको तीनों योगों से शुद्धिपूर्वक पाँच भावनाओं सहित मरण पर्यन्त पालते हैं उनके अशुभ अध्यवसाय रुक जाते हैं, नवीन पाप कर्मों का बंध बंद हो जाता है, संचित कर्मों की निर्जरा होने लगती है। समस्त अरिहंत भगवंतों ने इसका पालन किया है, उन्हीं के कथनानुसार भ. महावीर ने भी इसका कथन किया है।

पंचम अध्ययन–पंचम संवर द्वार 'परिग्रह त्याग'

प्रस्तुत अध्ययन में सूत्रकार ने अपरिग्रही श्रमण का स्वरूप प्रकट करते हुए कहा कि जो मूर्च्छा–ममत्व भाव से रहित है, इन्द्रिय संवर और कषाय संवर से युक्त है एवं आरंभ–परिग्रह तथा क्रोध, मान, माया, लोभ से रहित है वही श्रमण होता है। जो जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित शाश्वत सत्य है, उसमें शंका–कांक्षा रहित होकर हिंसादि से निवृत्ति करनी चाहिए। इसी प्रकार निदान रहित होकर, अभिमान से दूर रहकर निर्लोभ होकर, मूढ़ता त्याग कर जो अपने मन, वचन और काय को संवृत करता हुआ श्रद्धा करता है वही साधु है। इस प्रकार साधु का स्वरूप निरूपण करने के पश्चात् इस संवर द्वार को धर्मवृक्ष का रूपक दिया है। इसमें साधुओं को खाद्य पदार्थों का संचय कर

नहीं रखने का निर्देश करते हुए आहार संबंधी दोषों का भी नामोल्लेख किया गया है। कल्पनीय भिक्षा के अन्तर्गत नव कोटि विशुद्ध आहार ग्रहण करने के कारणों एवं उपकरण आदि की सजगता का निर्देश किया है। निर्ग्रन्थों के आंतरिक स्वरूप एवं निर्ग्रथों की ३१ उपमाओं का निरूपण भी इसमें किया गया है। अपरिग्रह व्रत के रक्षणार्थ ५ भावनाओं—श्रोत्रेन्द्रिय संयम, चक्षुरिन्द्रिय संयम, घ्राणेन्द्रिय संयम, रसनेन्द्रिय संयम और स्पर्शनेन्द्रिय संयम का सविस्तार वर्णन करते हुए इनके विषय विकारों से बचने का निर्देश किया है।

अंत में सूत्रकार ने कथन किया है कि पाँचों इन्द्रियों के संवर से सम्पन्न और मन, वचन, काय से गुप्त होकर ही साधु को धर्म का आचरण करना चाहिए।

संवर द्वार का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने फरमाया है कि जो साधु पूर्वोक्त पच्चीस भावनाओं और ज्ञान, दर्शन से युक्त, कषाय और इन्द्रिय संवर से संवृत्त, प्राप्त संयम-योग का प्रयत्नपूर्वक पालन और अप्राप्त संयम-योग की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हुए सर्वथा विशुद्ध श्रद्धावान होता हैं, वह इन संवरों की आराधना करके मुक्त होता है। इस प्रकार की विषय सामग्री का निरूपण प्रश्नव्याकरण सूत्र के अंतर्गत आर्य सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी के समक्ष प्रकट किया है।

– व्याख्याता, अलीगढ़, जिला–टोंक (राज.)

विपाक सूत्र : एक परिचय

श्री जम्बू कुमार जैन

विपाक का अर्थ होता है— फल या परिणाम। विपाक सूत्र में सत्कर्मों का फल सुखरूप तथा दुष्कर्मों का फल दुःखरूप प्रतिपादित किया गया है। दुःखविपाक एवं सुखविपाक दोनों के दश—दश अध्ययनों द्वारा कर्म-फल को सोदाहरण स्पष्ट कर पापकर्मों के परित्याग एवं सत्कर्मों के उपादान की प्रेरणा की गई है। श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, जयपुर के पूर्व छात्र एवं वरिष्ठ स्वाध्यायी श्री जम्बूकुमार जी ने विपाकसूत्र के प्रतिपाद्य को संक्षेप में स्पष्ट किया है। —**सम्पादक**

अंगसूत्रों में विपाक सूत्र ग्यारहवाँ अंग सूत्र है। इसके दो श्रुत स्कंध हैं— १. सुख विपाक और २. दुःख विपाक। दुःख विपाक में पाप कर्मों का तथा सुख विपाक में पुण्य कर्मों का फल प्रतिपादित किया गया है। किस प्रकार का कर्म करने पर किस प्रकार का फल प्राप्त होता है, यही विपाक सूत्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। अशुभ कार्य का फल कभी सुखद नहीं होता तथा शुभ कार्य का फल कभी दुःखद नहीं होता। बबूल का पेड़ बोकर उससे आम प्राप्त नहीं किए जा सकते अर्थात् कर्म के अनुसार ही फल प्राप्त होता है।

आचार्य वीरसेन ने कर्मों के उदय एवं उदीरणा को विपाक कहा है। आचार्य पूज्यपाद ने विशिष्ट या नाना प्रकार के पाक को विपाक कहा है। आचार्य अभयदेव ने पुण्य-पाप रूप कर्मफल का प्रतिपादन करने वाले सूत्र को विपाक सूत्र कहा है।

समवायांगसूत्र में विपाकसूत्र को सुकृत और दुष्कृत कर्मों के फल (विपाक) को बतलाने वाला आगम कहा गया है। स्थानांग में विपाकसूत्र का नाम कर्म विपाकदशा प्रयुक्त हुआ है।

विपाकसूत्र में कर्म फल की बात बतलायी गई है, अतः कर्म के संबंध में जानकारी आवश्यक है। राग—द्वेष से युक्त संसारी जीव में प्रतिसमय परिस्पदंन रूप जो क्रिया होती रहती है, उसको सामान्य रूप से पाँच रूपों में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग में वर्गीकृत कर सकते हैं। इनके निमित्त से आत्मा के साथ कर्म-वर्गणा के अचेतन पुद्गल परमाणु आते हैं और वे राग-द्वेष का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बंध जाते हैं, इसे कर्म कहते हैं। संक्षिप्त में कहें तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से जीव द्वारा जो किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं। जब तक आत्मा के साथ कर्म लगे रहते हैं तब तक जीव अनेक जन्म धारण कर इस संसार सागर में गोते लगाता रहता है अर्थात् पुनर्जन्म लेता है। जब सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाता है तो वह मुक्त हो जाता है, फिर उसे जन्म लेने की आवश्यकता नहीं होती।

विपाक सूत्र के प्रत्येक अध्ययन में पुर्नजन्म की चर्चा है। संसार में कोई व्यक्ति दुःख से पीड़ित है तो कोई सुखसागर में तैरता दिखाई देता है। ऐसा क्यों होता है, इसी को विपाकसूत्र में सम्यक् रूपेण समझाया गया है। जो अन्याय, अत्याचार, मांसभक्षण, वेश्यागमन करता है तथा दीन-दुःखियों को पीड़ित करता है उसके द्वारा विभिन्न प्रकार की यातनाएँ एवं महादुःख भोगा जाता है, इसका वर्णन इस सूत्र में किया गया है। इसे दुःखविपाक के नाम से जाना जाता है। सुखविपाक में सुपात्रदानादि का प्रतिफल सुख बताया गया है। इस आगम में पाप और पुण्य की गुरु-ग्रन्थियों को सरल उदाहरणों द्वारा उद्घाटित किया गया है। जिन जीवों ने पूर्वभवों में विविध पापकृत्य किए, उन्हें आगामी जीवन में दारुण वेदनाएँ प्राप्त हुई, दुःख विपाक में ऐसे ही पापकृत्य करने वाले जीवों का वर्णन है और जिन्होंने पूर्वभव में सुकृत किए, उन्हें फलरूप में सुख उपलब्ध हुआ, सुख विपाक में ऐसे ही जीवों का वर्णन है।

रचनाकाल– इसकी रचना कब हुई, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। समवायांग के पचपनवें समवाय में भगवान महावीर द्वारा अंतिम समय में पुण्य कर्मफल तथा पापकर्मफल को प्रदर्शित करने वाले पचपन–पचपन अध्ययन धर्मदेशना के रूप में प्रदान करने का उल्लेख है। कई चिन्तक यह मानते हैं कि यह वही विपाक सूत्र है जो आज उपलब्ध है, अब इसके पैंतालीस–पैंतालीस अध्ययन विस्मृत हो गये हैं, किन्तु यह मन्तव्य किसी भी दृष्टि से युक्ति संगत नहीं बैठता है। नन्दीसूत्र में विपाक सूत्र के बीस अध्ययनों का उल्लेख मिलता है, किन्तु वर्तमान में इसका बहुत बड़ा भाग विस्मृत हो गया है तथा इसका आकार काफी छोटा हो गया है। वर्तमान में छोटे आकार के बीस अध्ययन वाला विपाक सूत्र ही उपलब्ध है। ये अध्ययन छोटे-छोटे होने पर भी बड़े ही रोचक, प्रेरणास्पद एवं हृदय को छूने वाले हैं। इन अध्ययनों को पढ़कर मुमुक्षु साधक अपने को पापकर्मों से बचाकर शुभ कर्मों में लगा सकता है तथा अपना मानव जीवन सफल कर सकता है। यह सूत्र १२१६ श्लोक प्रमाण है।

विषयवस्तु– विपाक सूत्र के दो श्रुतस्कन्ध हैं– १. दुःखविपाक और २. सुख विपाक। इनमें प्रत्येक में १०–१० अध्ययन हैं, जो निम्न प्रकार हैं–

दुःखविपाक के अध्ययन	सुःखविपाक के अध्ययन
१. मृगापुत्र	१. सुबाहुकुमार
२. उज्झितक	२. भद्रनंदी
३. अभग्नसेन	३. सुजातकुमार
४. शकट	४. सुवासव कुमार
५. बृहस्पतिदत्त	५. जिनदास कुमार

६. नन्दिवर्द्धन	६. धनपति
७. उम्बरदत्त	७. महाबल कुमार
८. शौरिकदत्त	८. भद्रनंदी कुमार
९. देवदत्त	९. महाचन्द्र कुमार
१०. अंजू	१०. वरदत्त कुमार

दुःखविपाक

इसमें कुल १० अध्ययन हैं। इसमें पहला अध्ययन ही विस्तृत है, शेष संक्षिप्त हैं। प्रथम अध्ययन में मृगापुत्र का वर्णन है। मृगापुत्र जन्म से ही अंधा, बहरा, लूला, लंगड़ा और हुंडक संस्थानी था। उसके शरीर में कान, नाक, आँख, हाथ, पैर आदि अवयवों का अभाव था, मात्र उनके निशान थे। वह जो भी आहार लेता वह भस्मक व्याधि के प्रभाव से तत्काल हजम हो जाता तथा तुरन्त ही रुधिर और मवाद के रूप में बदल जाता था। उसकी इस बीभत्स दशा के संबंध में गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से जिज्ञासा की। भगवान महावीर ने उत्तर में फरमाया कि पूर्वजन्म में वह विजयवंर्द्धमान नामक खेट का शासक इक्काई नामक राष्ट्रकूट(प्रान्ताधिपति) था। वह अत्यन्त अधर्मी, अधर्मदर्शी, अधर्माचारी था। उसे प्रजा को दुःख देने में आनन्द आता था। वह रिश्वतखोर था तथा निरपराधी जनों को तंग करता था। रात-दिन पापकृत्यों में लीन रहता था। इन कृत्यों का तात्कालिक फल यह हुआ कि उसके शरीर में सोलह महाकष्टदायी रोग उत्पन्न हो गएँ वह दुःख भोगता हुआ अन्त समय में मरकर प्रथम नारकी में उत्पन्न हुआ। वहाँ दारुण वेदनाएँ भोगकर आयु पूर्ण होने पर यहाँ मृगाराणी की कुक्षि से मृगापुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ है। आगे भी वह अनेक भवों में दुःख भोगता हुआ अन्त में मनुष्य भव प्राप्त कर संयम की साधना कर मुक्त होगा।

द्वितीय अध्ययन में उज्झितक द्वारा पूर्वभव में पशुओं को अनेक प्रकार के कष्ट देने, मांस, मदिरा का सेवन करने तथा वर्तमान भव में जुआ खेलने, शराब सेवन करने, चोरी करने तथा वेश्यागमन के कारण शूली पर चढ़ने का वर्णन है। तृतीय अध्ययन में अभग्नसेन द्वारा पूर्वभवों में अण्डों का व्यापार करने, उन्हें भूनकर खाने के कारण वर्तमान भव में विवश होकर अपना ही मांस खाने, अपना ही रुधिर पीने तथा सरेआम फांसी पर चढ़ने का वर्णन है। चतुर्थ अध्ययन में शकटकुमार द्वारा पूर्वभव में पशुओं का मांस बेचने तथा वर्तमान भव में वेश्यागमन एवं परस्त्रीगमन के कारण तृतीय अध्ययन के समान ही कष्ट भोगने का वर्णन है। पाँचवें अध्ययन में बृहस्पतिदत्त का वर्णन है। पूर्वभवों में ब्राह्मणों की बलि चढ़ाने तथा वर्तमान भव में परस्त्रीगमन के कारण बृहस्पतिदत्त को घोर कष्ट उठाने पड़े तथा शूली पर चढ़ाया गया है। छठे अध्ययन में नंदीवर्द्धन द्वारा पूर्वभवों में जेलर के पद पर रहते हुए कैदियों को यातनाएँ देने तथा वर्तमान भव में राज्यलिप्सा के

कारण घोर कष्ट उठाने तथा असमय में ही मृत्यु का ग्रास बनने का वर्णन है। सातवें अध्ययन में उम्बरदत्त द्वारा पूर्वभवों में मांसाहार एवं मदिरा सेवन करने के कारण वर्तमान भव में अनेक शारीरिक रोगों से पीड़ित होने का वर्णन है। आठवें अध्ययन में शौरिदत्त का वर्णन है। पूर्वभवों में पशुपक्षियों का मांस पकाने तथा वर्तमान भव में मछली का व्यापार करने, उसका सेवन करने के कारण गले में मछली का कांटा फंस जाने के कारण दारुण दुःख एवं असाध्य वेदना सहने का वर्णन है। नवम अध्ययन में देवदत्ता द्वारा पूर्वभवों में स्त्रियों को जलाकर मारने तथा वर्तमान भव में अपनी सासू की हत्या के कारण दारुण वेदनाएँ भोगने का वर्णन है। दसवें अध्ययन में सार्थवाह की पुत्री अंजू का वर्णन है। पूर्वभव में उसके वेश्या होने के कारण अन्त समय तक कामभोगों में आसक्त रहने के कारण वहाँ से निकलकर छठी नरक में उत्पन्न हुई तथा वहाँ आयुष्य पूर्ण होने पर वर्तमान में अंजू के रूप में जन्म लिया। पूर्वकर्मों तथा विषय भोगों में प्रगाढ़ आसक्ति के कारण उसे वर्तमान भव में योनिशूल जैसी महावेदना को भोगना पड़ा।

इस तरह सभी अध्ययनों में पूर्वभव एवं वर्तमान भव में किए गए अशुभ कर्मों के कारण वर्तमान भव में दारुण वेदनाएँ भोगने का वर्णन है। इस दुःखविपाक से हम निम्नलिखित प्रेरणाएँ एवं शिक्षाएँ ग्रहण कर सकते हैं—

१. सत्ता प्राप्त होने पर उसका दुरुपयोग न करें।
२. पति की आज्ञा से मृगाराणी ने दुःसह दुर्गन्धियुक्त उस पापी मृगापुत्र की भी सेवा परिचर्या की। यह कर्त्तव्यनिष्ठा एवं पतिपरायणता का अनुपम आदर्श है।
३. जन्म-जन्मांतर तक पापाचरण के संस्कार चलते हैं इसी प्रकार धर्म संस्कार की भी अनेक भवों तक परम्परा चलती है।
४. मांसाहार में आसक्त जीवों को अनेक भवों तक कष्ट भोगने पड़ते हैं।
५. अंडों का व्यापार एवं आहार, पंचेन्द्रिय की हिंसा, मदिरा सेवन आदि प्रवृत्तियों वाला जीव प्रायः नरकगामी होता है।
६. चौर्य प्रवृति भी अच्छी नहीं है। चोरी करने वाला सदैव भयाक्रांत एवं संकटग्रस्त रहता है।
७. व्यसन से अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। अतः हमें व्यसनमुक्त जीवन जीना चाहिएँ
८. रूई में लपेटी हुई आग जिस तरह छुप नहीं सकती उसी तरह गुप्त पाप भी एक दिन कई गुना होकर प्रकट हो जाता है। अतः पाप को प्रकट कर शुद्धि कर लेनी चाहिएँ
९. दूसरों को दुःख देने में आनंद मानने वाला स्वयं भी प्रतिफल में दुःख ही प्राप्त करता है।

१०. दूसरों को खुश करने के लिए भी जीव पाप कर्म का सेवन करते हैं, किन्तु कर्मों का उदय होने पर उसका फल स्वयं को ही भोगना पड़ता है।
११. स्वार्थ एवं भोगलिप्सा सारे संबंध भुला देती है।
१२. भोगविलास, इन्द्रिय विषयों के सुख या आनंद जीव के लिए मीठे जहर के समान हैं।
१३. व्यक्ति अपने घराणे, सत्ता या धन का अहं भाव करता है, किन्तु तीव्र पापकर्मोदय होने पर कोई त्राणभूत, शरणभूत नहीं होता।
१४. जीवन को धर्मसंस्कारों, शुभाचरणों से भावित किया जाए तो विकट दु:ख की घड़ियों को भी आसानी से सहन कर कर्मबन्ध से बचा जा सकता है।
१५. धर्माचरण के अभ्यास एवं चिन्तन से आत्मविश्वास जाग्रत होता है।

सुखविपाक

इसमें उन आत्माओं का वर्णन हैं, जिन्होंने शुभकर्मों के कारण सुख को प्राप्त किया। इसमें भी १० अध्ययन हैं जिनमें प्रथम अध्ययन सुबाहुकुमार का है। पूर्वभव में सुबाहुकुमार द्वारा निर्दोष भाव से मासखमण के पारणे में भिक्षार्थ आए मुनिराज को खीर का आहार दिया गया था, उसी के फलस्वरूप उसे वर्तमान भव में राजपरिवार में जन्म तथा अनेक सुखोपभोग के साधन उपलब्ध हुए तथा भगवान महावीर का समागम भी प्राप्त हुआ। शेष नौ अध्ययन भी सुबाहुकुमार की तरह ही हैं, केवल नगरी आदि के नाम का अन्तर है, उन्होंने भी पूर्वजन्म के शुभकर्मों के कारण वर्तमान भव में सुखोपभोग प्राप्त किया। इस सुखविपाक से हम निम्नलिखित प्रेरणाएँ ले सकते हैं—

१. भव्य आत्माएँ अधिक समय तक भोगों में आसक्त नहीं रहती, किन्तु निमित्त मिलते ही भोगों का त्याग कर विरक्त बन जाती हैं।
२. यदि हम संयम स्वीकार न कर सकें तो हमें श्रावक के व्रत अवश्य ही ग्रहण करने चाहिए।
३. दीक्षा ग्रहणोपरान्त अपना समय निर्दोष संयमाराधना एवं ज्ञान-ध्यान के चिन्तन-मनन में बिताना चाहिए।
४. सुपात्र दान देने से सम्यक्त्व की प्राप्ति एवं संसार परीत्त होता है। अत: सुपात्रदान का लक्ष्य रखना चाहिए।
५. मुनिराज के गोचरी पधारने पर शालीनता से विधिपूर्वक व्यवहार करना चाहिए।
६. एषणा के ४२ दोषों एवं गोचरी संबंधी विवेक-व्यवहार का ज्ञान श्रावकों को भी रखना चाहिए।
७. सुपात्र दान देने में त्रैकालिक हर्ष होना चाहिए, यथा दान देने के सुअवसर पर, सुसंयोग प्राप्त होने पर, दान देते वक्त, दान देकर निवृत्त हो जाने पर।

इस तरह से विपाक श्रुत का अध्ययन करने से हमें यह जानकारी प्राप्त होती है कि किस प्रकार जीव दुष्कृत करने से दारुण वेदनाएँ भोगता है तथा सुकृत करने से अपार सुखोपभोग को प्राप्त करता है। हमें किन प्रवृत्तियों से बचना चाहिए तथा किन प्रवृत्तियों को अपनाना चाहिए। अगर हम सुख चाहते हैं तो अपना जीवन दूसरों की भलाई, कल्याण एवं परोपकार में लगाएँ स्वयं वीतराग धर्म का आराधन कर इस मानव जन्म को सफल व सार्थक बनाएँ। जीवन की सफलता सुख भोग में नहीं, भोगों के त्याग में है, इस तथ्य को सदैव स्मरण रखें।

–112/303, अग्रवाल फार्म, मानसरोवर, जयपुर

दृष्टिवाद का स्वरूप

आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा.

बारहवाँ अंग आगम दृष्टिवाद इस समय अनुपलब्ध है। इसके पाँच विभागों का उल्लेख मिलता है— १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. पूर्वगत, ४. अनुयोग और ५. चूलिका। सम्प्रति उपलब्ध स्रोतों के आधार पर प्रस्तुत आलेख में दृष्टिवाद का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यह लेख आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी महाराज द्वारा रचित "जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग—२" से साभार उद्धृत किया गया है। —**सम्पादक**

दिट्ठिवाय-दृष्टिवाद-दृष्टिपात—यह प्रवचनपुरुष का बाहरवां अंग है, जिसमें संसार के समस्त दर्शनों और नयों का निरूपण किया गया है।[1] अथवा जिसमें सम्यक्त्व आदि दृष्टियों अर्थात् दर्शनों का विवेचन किया गया है।[2]

दृष्टिवाद नामक यह बारहवां अंग विलुप्त हो चुका है, अत: आज यह कहीं उपलब्ध नहीं होता। वीर निर्वाण सं. १७० में श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गगमन के पश्चात् दृष्टिवाद का ह्रास प्रारम्भ हुआ और वी.नि. सं. १००० में यह पूर्णत: (शब्द रूप से पूर्णत: और अर्थ रूप में अधिकांशत:) विलुप्त हो गया।[3]

स्थानांग में दृष्टिवाद के दस नाम बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं— १. दृष्टिवाद २. हेतुवाद ३. भूतवाद ४. तथ्यवाद ५. सम्यक्वाद ६. धर्मवाद ७. भाषाविचय अथवा भाषाविजय ८. पूर्वगत ९. अनुयोगगत और १०. सर्वप्राण— भूतजीवसत्त्वसुखावह।[4]

समवायांग एवं नन्दीसूत्र के अनुसार दृष्टिवाद के पांच विभाग कहे गये हैं— परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका।[5] इन पांचों विभागों के विभिन्न भेदप्रभेदों का समवायांग एवं नन्दीसूत्र में विवरण दिया गया है, जिनका सारांश यह है कि दृष्टिवाद के प्रथम विभाग परिकर्म के अन्तर्गत लिपिविज्ञान और सर्वांगपूर्ण गणित विद्या का विवेचन था। इसके दूसरे भेद सूत्रविभाग में छिन्न—छेद नय, अछिन्न—छेद नय, त्रिक नय तथा चतुर्नय की परिपाटियों में से प्रथम— छिन्न छेद नय और चतुर्थ चतुर्नय ये दो परिपाटियां निर्ग्रन्थों की और अछिन्न छेदनय एवं त्रिकनय की परिपाटियां आजीविकों की कही गयी है।

दृष्टिवाद का तीसरा विभाग— पूर्वगत विभाग अन्य सब विभागों से अधिक विशाल और बड़ा महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित १४ पूर्व थे—

1. **उत्पादपूर्व**— इसमें सब द्रव्य और पर्यायों के उत्पाद (उत्पत्ति) की प्ररूपणा की गई थी।[6] इसका पदपरिमाण १ कोटि माना गया है।
2. **अग्रायणीयपूर्व**— इसमें सभी द्रव्य, पर्याय और जीवविशेष के

अग्रपरिमाण का वर्णन किया गया था। इसका पद परिमाण ६९ लाख पद माना गया है।

3. वीर्यप्रवाद— इसमें सकर्म एवं निष्कर्म जीव तथा अजीव के वीर्य-शक्तिविशेष का वर्णन था। इसकी पद संख्या ७० लाख मानी गई है।

4. अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व— इसमें वस्तुओं के अस्तित्व तथा नास्तित्व के वर्णन के साथ—साथ धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का अस्तित्व और खपुष्प आदि का नास्तित्व तथा प्रत्येक द्रव्य के स्वरूप से अस्तित्व एवं पररूप से नास्तित्व का प्रतिपादन किया गया था। इसका पदपरिमाण ६० लाख पद बताया गया है।

5. ज्ञानप्रवादपूर्व— इसमें मतिज्ञान आदि ५ ज्ञान तथा इनके भेद—प्रभेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया था। इसकी पदसंख्या १ करोड़ मानी गई है।

6. सत्यप्रवादपूर्व— इसमें सत्यवचन अथवा संयम का, प्रतिपक्ष (असत्यों के स्वरूपों) के विवेचन के साथ-साथ विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया था। इसमें कुल १ करोड़ और ६ पद होने का उल्लेख मिलता है।

7. आत्मप्रवादपूर्व— इसमें आत्मा के स्वरूप,उसकी व्यापकता, ज्ञातृभाव तथा भोक्तापन संबंधी विवेचन अनेक नयमतों की दृष्टि से किया गया था। इसमें २६ करोड़ पद माने गये हैं।

8. कर्मप्रवादपूर्व— इसमें ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों का, उनकी प्रकृतियों, स्थितियों, शक्तियों एवं परिमाणों आदि का बंध के भेद—प्रभेद सहित विस्तारपूर्वक वर्णन था। इस पूर्व की पदसंख्या १ करोड़ ८० हजार पद बताई गई है।

9. प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व— इसमें प्रत्याख्यान का, इसके भेद—प्रभेदों के साथ विस्तार सहित वर्णन किया गया था। इसके अतिरिक्त इस नौवें पूर्व में आचार संबंधी नियम भी निर्धारित किये गए थे। इसमें ८४ लाख पद थे।

10. विद्यानुवादपूर्व— इसमें अनेक अतिशय शक्तिसम्पन्न विद्याओं एवं उपविद्याओं का उनकी साधना करने की विधि के साथ निरूपण किया गया था। जिनमें अंगुष्ठ प्रश्नादि ७०० लघु विद्याओं, रोहिणी आदि ५०० महाविद्याओं एवं अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन और छिन्न इन आठ महानिमित्तों द्वारा भविष्य जानने की विधि का वर्णन किया गया था। इस पूर्व के पदों की संख्या १ करोड़ १० लाख बताई गई है।

11. अवन्ध्यपूर्व— वन्ध्य शब्द का अर्थ है निष्फल अथवा मोघ। इसके विपरीत जो कभी निष्फल न हो अर्थात् जो अमोघ हो उसे अवन्ध्य कहते हैं। इस अवन्ध्यपूर्व में ज्ञान, तप आदि सभी सत्कर्मों को शुभफल देने वाले तथा प्रमाद आदि असत्कर्मों को अशुभ फलदायक बताया गया था। शुभाशुभ कर्मों के फल निश्चित रूप से अमोघ होते हैं, कभी किसी भी दशा में निष्फल नहीं होते। इसलिए इस ग्यारहवें पूर्व का नाम अवन्ध्यपूर्व रखा गया।

इसकी पदसंख्या २६ करोड़ बताई गई है।

दिगम्बर परम्परा में ग्यारहवें पूर्व का नाम ''कल्याणवाद पूर्व'' माना गया है। दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार कल्याणवाद नामक ग्याहवें पूर्व में तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों के गर्भावतरणोत्सवों, तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन करने वाली सोलह भावनाओं एवं तपस्याओं का तथा चन्द्र व सूर्य के ग्रहण, ग्रह—नक्षत्रों के प्रभाव, शकुन, उनके शुभाशुभ फल आदि का वर्णन किया गया था। श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा में भी इस पूर्व की पद संख्या २६ करोड़ ही मानी गई है।

12. प्राणायु पूर्व— इस पूर्व में श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार आयु और प्राणों का भेद—प्रभेद सहित वर्णन किया गया था।

दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार इसमें काय-चिकित्सा प्रमुख अष्टांग, आयुर्वेद, भूतिकर्म, जांगुलि, प्रक्रम, साधक आदि आयुर्वेद के भेद, इला, पिंगलादि प्राण, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि तत्वों के अनेक भेद, दश प्राण, द्रव्य, द्रव्यों के उपकार तथा अपकार रूपों का वर्णन किया गया था।

श्वेताम्बरपरम्परा की मान्यतानुसार प्राणायुपूर्व की पद संख्या १ करोड़ ५६ लाख और दिगम्बर मान्यतानुसार १३ करोड़ थी।

13. क्रियाविशालपूर्व— इसमें संगीतशास्त्र, छन्द, अलंकार, पुरुषों की ७२ कलाएं, स्त्रियों की ६४ कलाएं, चौरासी प्रकार के शिल्प, विज्ञान, गर्भाधानादि कायिक क्रियाओं तथा सम्यग्दर्शन क्रिया, मुनीन्द्रवन्दन, नित्यनियम आदि आध्यात्मिक क्रियाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया था। लौकिक एवं लोकोत्तर सभी क्रियाओं का इसमें वर्णन किया जाने के कारण इस पूर्व का कलेवर अति विशाल था।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराएं इसकी पद संख्या ९ करोड़ मानती हैं।

14. लोकबिन्दुसार— इसमें लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार की विद्याओं का एवं सम्पूर्ण रूप से ज्ञान निष्पादित कराने वाली सर्वाक्षरसन्निपातादि विशिष्ट लब्धियों का वर्णन था। अक्षर पर बिन्दु की तरह सब प्रकार के ज्ञान का सर्वोत्तम सार इस पूर्व में निहित था। इसी कारण इसे लोकबिन्दुसार अथवा त्रिलोकबिन्दुसार की संज्ञा से अभिहित किया गया है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं की मान्यता के अनुसार इसकी पद संख्या साढे बारह करोड़ थी।

उपर्युक्त १४ पूर्वों की वस्तु (ग्रन्थविच्छेदविशेष) संख्या क्रमशः १०, १४,८,१८,१२,२,१६,३०,२०,१५,१२,१३,३० और २५ उल्लिखित है।[८]

चौदह पूर्वों के उपर्युक्त ग्रन्थविच्छेद-वस्तु के अतिरिक्त आदि के ४ पूर्वों की क्रमशः ४,१२,८ और १० चूलिकाएं (चुल्ल क्षुल्लक) मानी गई हैं। शेष १० पूर्वों के चुल्ल अर्थात् क्षुल्ल नहीं माने गये हैं।[८]

जिस प्रकार पर्वत के शिखर का पर्वत के शेष भाग से सर्वोपरि स्थान होता है उसी प्रकार पूर्वों में चूलिकाओं का स्थान सर्वोपरि माना गया है।

अनुयोग—अनुयोग नामक विभाग के मूल प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग ये दो भेद बताये गए हैं। प्रथम मूल प्रथमानुयोग में अरहन्तों के पंचकल्याणक का विस्तृत विवरण तथा दूसरे गंडिकानुयोग में कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषों का चरित्र दिया गया था।

दृष्टिवाद के इस चतुर्थ विभाग अनुयोग में इतनी महत्त्वपूर्ण विपुल सामग्री विद्यमान थी कि उसे जैन धर्म का प्राचीन इतिहास अथवा जैन पुराण की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

दिगम्बर परम्परा में इस चतुर्थ विभाग का सामान्य नाम प्रथमानुयोग पाया जाता है।

चूलिका—समवायांग और नन्दीसूत्र में आदि के चार पूर्वों की जो चूलिकाएं बताई गई हैं, उन्हीं चूलिकाओं का दृष्टिवाद के इस पंचम विभाग में समावेश किया गया है। यथा— 'से किं तं चूलियाओ? चूलियाओ आइल्लाणं चउण्हं पुव्वाणं चूलिया, सेसाइं अचूलियाइं, से तं चूलियाओ।'' पर दिगम्बर परम्परा में जलगत, स्थलगत, मायागत, रूपगत और आकाशगत—ये पांच प्रकार की चूलिकाएं बताई गई हैं।

संदर्भ—

१. दृष्टयो दर्शनानि नया वा उच्यन्ते अभिधीयन्ते पतन्ति वा अवतरन्ति यत्रासौ दृष्टिवादो, दृष्टिपातो वा। प्रवचनपुरुषस्य द्वादशेऽङ्गे —स्थानांग वृत्ति ठा.४,उ.१
२. दृष्टिदर्शनं सम्यक्त्वादि, वदनं वादो, दृष्टिना वादो दृष्टिवादः। —प्रवचन सारोद्धार, द्वार १४४
३. गोयमा! जंबूदीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए ममं एगं वाससहस्सं पुव्वगए अणुसज्जिस्सइ। —भगवतीसूत्र, शतक २०, उ.८, सूत्र ६७७ सुत्तागमे, पृ. ८०१
४. दिट्ठिवायस्स णं दस नामधिज्जा पण्णत्ता। तं जहा दिट्ठिवाएइ वा, हेतुवाएइ वा, भूयवाएइ वा, तच्चावाएइ वा, सम्मावाएइ वा, धम्मावाएइ वा, भासाविजएइ वा, पुव्वगएइ वा, अणुओगगएइ वा, सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहेइ वा। —स्थानांग सूत्र ठा. १०
५. से किं दिट्ठिवाए? से समासओ पंचविहे पण्णत्ते तं जहा परिकम्मे, सुत्ताइं, पुव्वगए, अणुओगे चूलिया (नन्दी)
६. पढमं उप्पायपुव्वं, तत्थ सव्वदव्वाणं पज्जवाण य उप्पायभावमंगी ... कया। (नन्दीचूर्णी)
७. दस चोद्दस अट्ठ अट्ठारसेव बारस दुवे य वत्थूणि।
सोलस तीसा बीसा पण्णरस अणुप्पवायम्मि।

बारस इक्कारसमे बारसमे तेरसेव वत्थूणि।
तीसा पुण तेरसमे चोद्दसमे पण्णवीसा उ।।

८. चत्तारि दुवालस अट्ठ चेव दस चेव चूलवत्थूणि।
आइल्लाण चउण्हं सेसाणं चूलिया नत्थि
—श्रीमन्नन्दीसूत्रम् (पू. हस्तीमल जी म.सा. द्वारा अनूदित) पृ. १४८

९. ते सव्वुवरि ठिंया पढिज्जंति य अतो तेसु य पव्वय चूला इव चूला। (नन्दीचूर्णि)

औपपातिक सूत्र

❁प्रो. चांदमल कर्णावट

अंगबाह्य उपांग आगमों में 'औपपातिकसूत्र' की गणना प्रथम स्थान पर की जाती है। कई आगमों में वर्णित विषयों का इसमें निर्देश किया गया है। चम्पानगरी, पूर्णभद्र चैत्य, वनखण्ड आदि का इसमें मनोहारी वर्णन है। चम्पानरेश कूणिक द्वारा भगवान महावीर के दर्शन करने संबंधी वर्णन भी विस्तार से हुआ है। इसमें द्वादशविध तप का भी विस्तृत विवेचन है। भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस आगम का अध्ययन उपयोगी है। समर्पित स्वाध्यायी–प्रशिक्षक एवं सेवानिवृत्त प्रोफेसर श्री चाँदमल जी कर्णावट ने औपपातिक सूत्र के विविध आयामों का दिग्दर्शन कराया है। — **सम्पादक**

चतुर्दशपूर्वधर स्थविर प्रणीत 'उववाइय' या 'औपपातिक सूत्र' बारह उपांगों में प्रथम है। इसे आचारांग सूत्र का उपांग माना जाता है। आचार्य अभयदेव सूरि द्वारा रचित औपपातिक वृत्ति में एतद्विषयक उल्लेख किया गया है। आचारांग में वर्णित 'मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ' का विश्लेषण औपपातिक में किया जाना इसका प्रमाण माना गया है।

औपपातिक का नामकरण आचार्य अभयदेव के अनुसार 'उपपात में देव एवं नारकियों के जन्म तथा सिद्धिगमन के वर्णन से प्रस्तुत आगम का नाम औपपातिक है। (औपपातिक अभयदेववृत्ति)

औपपातिक का संक्षिप्त परिचय– औपपातिक या उववाइय शब्द उपपात से बना है। उपपात का अर्थ 'जन्म' है। इस आगम में देव, नारक एवं अन्य जीवों के उपपात या जन्म का वर्णन होने से यह औपपातिक कहलाया। प्रस्तुत आगम वर्णनप्रधान शैली में रचित है। संबंधित वर्णन विस्तार से हुए हैं, अत: यह अन्य आगमों के लिए संदर्भ माना जाता है। बीच में कुछ पद्य रचना होते हुए भी यह मुख्यत: गद्यात्मक रचना है।

आगम का आरंभ चम्पानगरी के वर्णन से हुआ है। इसके बाद पूर्णभद्र चैत्य, वनखण्ड, शिलापट्ट के शब्दचित्र युक्त सुन्दर वर्णन इसमें उपलब्ध हैं। आगम के पूर्वार्द्ध में उक्त वर्णनों के अनन्तर तीर्थंकर भगवान महावीर का चम्पा में पदार्पण, यहीं भगवान की शिष्य संपदा का ललित चित्रोपम वर्णन, आध्यात्मिकतापूर्ण वैराग्योत्पादकता, महावीर के ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, लब्धिसंपन्न साधु संघ का वर्णन, प्रसंगोपात्त अनशनादि १२ तपों के भेदोपभेदों का सुविस्तृत कथन, महाराजा कूणिक की दर्शनार्थ जाने की तैयारी, महारानियों की दर्शनार्थ प्रस्थान की तैयारी, प्रभु के समवसरण में देवों का आगमन, देव ऋद्धि का चित्रण, जनसमुदाय का चित्रण अत्यन्त मनोरम शैली व साहित्यिक शैली में निरूपित है। आगम के उत्तरार्द्ध में गणधर गौतम की विभिन्न देवों आदि के उपपात (जन्म) संबंधी जिज्ञासाएँ और उनका समाधान, इसी प्रसंग में तत्कालीन परिव्राजकों की अनेक

परंपराओं का वर्णन, अम्बड़ संन्यासी का विस्तृत वर्णन, समुद्घात एवं सिद्धावस्था का चित्रण उपलब्ध है। इस विस्तृत वर्णन में तत्कालीन समाज, राज्य व्यवस्था, शिल्प एवं कलाकौशल की जानकारी शोधार्थियों के लिए महत्त्वपूर्ण है।

आगमिक विषय-वस्तु का विश्लेषण

चम्पानगरी—प्रस्तुत आगम का आरंभ चंपानगरी के सुरम्य, चित्रोपत्र वर्णन से हुआ है, जहां बाद में तीर्थंकर प्रभु महावीर का पदार्पण हुआ। चम्पा के वर्णनान्तर्गत नगरी के वैभव, समृद्धि एवं सुरक्षा के उल्लेख के साथ नागरिक जीवन, लहलहाती खेती, पशु—पक्षी, आमोद—प्रमोद के साधन, बाग—बगीचे, कुएँ, तालाब—बावड़ियाँ, छोटे—छोटे बांधों से सम्पन्न वह नगरी नंदन वन तुल्य प्रतीत होती थी। ऊँची विस्तृत गहरी खाई से युक्त परकोटे, सुदृढ़ द्वार, भवनों की सुन्दर कलात्मक कारीगरी, चौड़े तिराहें—चौराहे, नगर द्वार, तोरण, हाट बाजार, कमलों से युक्त जलाशय, शिल्प एवं वास्तुकला के सुन्दर नमूनों से भरी पूरी थी वह नगरी। वस्तुत: वह नगरी प्रेक्षणीय अभिरूप या मनोज्ञ और प्रतिरूप अर्थात् मन में बस जाने योग्य थी।

पूर्णभद्र चैत्त्य या यक्षायतन— जहां भगवान महावीर विराजे, वह पूर्णभद्र चैत्य प्राचीन एवं प्रसिद्ध था। वह छत्र, ध्वज, घंटा, पताका युक्त झंडियों से सुसज्जित था। वहां रोममय पिच्छियां सफाई हेतु थीं। गोबर निर्मित वेदिकाएं थी और चंदन चर्चित मंगल घट रखे थे। चंदन कलशों और तोरणों से द्वार सुसज्जित थे। उन पर लंबी पुष्पमालाएं लटक रही थी। अगर कुन्दुरूक लोबान की गमगमाती महक से सुरभित था। हास्य-विनोद का स्थान नर्तकों, कलाबाजों, पहलवानों आदि की उपस्थिति से प्रकट था। लौकिक दृष्टि से पूजा स्थल था वह।

वनखण्ड— वनखण्ड अनेकविध वृक्षों से परिपूर्ण हरे-भरे पत्र, पुष्प, फूल-फलों से युक्त सघन एवं रमणीय था। पक्षियों के कलरव से गुंजायमान था। वनखण्ड की पादावली में अशोक वृक्ष विशिष्ट था। अनेक रथों, यानों, डोलियों एवं पालखियों को ठहराने हेतु पर्याप्त स्थान था। वनखण्ड में कदम्बादि अनेक वृक्षों से घिरा लताकुंज सभी ऋतुओं में खिलने वाले फूलों से सुरम्य था।

शिलापट्ट— सिंहासनकृति था। चित्रांकित सुन्दर कला कारीगरी से युक्त था।

चम्पानरेश कूणिक, राजमहिषियां एवं दरबार— भगवान महावीर के यहाँ पधारने एवं विराजने के कारण चम्पानरेश कूणिक एवं उनके दरबार का वर्णन भी किया गया है। राजा कूणिक हिमवान पर्वत सदृश प्रजापालक, करुणाशील, न्यायी, सम्मानित, पूजित एवं राजलक्षणों से युक्त था। इन्द्र समान ऐश्वर्यवान, पितृतुल्य एवं पराक्रमी था। उसका भव्य प्रासाद, विशाल

इसी अंबड़ के ७०० अंतेवासी किस प्रकार अदत्त न लेने के अपने व्रत की साधना में संथारापूर्वक पंडित मरण को प्राप्त होते हैं, यह उल्लेख मिलता है।

समुद्घात एवं सिद्धावस्था– उपपात के साथ केवली समुद्घात का विस्तृत वर्णन तथा समुद्घात का स्वरूप वर्णन करके शास्त्रकार द्वारा सिद्ध अवस्था का स्वरूप बताया गया है। इसमें सिद्धों की अवगाहना, संहनन, संस्थान, तथा उनके परिवास का उल्लेख प्राप्त होता है।

प्रस्तुत आगम की कतिपय विशेषताएँ

- आप्तवाणी होने से आगम ज्ञान के प्रकाशस्तंभ होते हैं। वे अज्ञान अंधकार में भटकते मानव को ज्ञान का प्रकाश प्रदान कर कल्याण पथ पर अग्रसर करते हैं।
- उववाइय सूत्र नगरी के वर्णन, वनखंड के वर्णन आदि की दृष्टि से अन्य आगमों के लिए संदर्भ ग्रन्थ माना गया है। इसे आगम की मौलिक विशेषता माना गया है।
- नगर निर्माण, नगर सुरक्षा एवं व्यवस्था, जनजीवन, कला, शिल्प(वास्तु) एवं राज्यव्यवस्था की पर्याप्त सामग्री इस आगम में उपलब्ध है। इस दृष्टि से यह शोधार्थियों के लिए अतीव महत्त्वपूर्ण है।
- वानप्रस्थ एवं परिव्राजक परम्पराओं के उल्लेख इस आगम में विस्तार से किए गए हैं। ये इनकी आचार-विचार चर्या पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। सूत्र सूयगडांग के समय अधिकार में दार्शनिक दृष्टि से विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं का वर्णन है, जो सैद्धांतिकता पर प्रकाश डालते हैं। वानप्रस्थ एवं परिव्राजक परम्पराओं का अध्ययन शोधकर्ताओं के लिए महत्त्वपूर्ण है।
- वर्णनप्रधान एवं शब्दचित्र शैली में रचित यह आगम साहित्यिक रचना का उदाहरण है। इसके प्रणेता चतुर्दशपूर्वी स्थविर ने सिद्धान्तानुसार वर्णनप्रधान स्थलों एवं क्रियाकलापों का यथातथ्य वर्णन प्रस्तुत किया है।
- श्रमण जीवन एवं स्थविर जीवन के विस्तृत वर्णन के साथ तप-साधना का विस्तारपूर्वक उल्लेख इसकी अपनी विशेषता है।

अंततः यह आगम ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप के साधकों के लिए पठनीय, मननीय एवं आचरणीय है।

–35, अहिंसापुरी, उदयपुर (राज.)

राजप्रश्नीय सूत्र

श्री सुन्दरलाल जैन

द्वितीय उपांग राजप्रश्नीय सूत्र कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण आगम है। इसमें संगीतकला, नाट्यकला, वास्तुकला की रोचक जानकारी तो प्राप्त होती ही है, किन्तु मूलत: इसमें शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व की संवाद-शैली में रोचक ढंग से सिद्धि की गई है। आगम के पूर्वार्द्ध में सूर्याभ देव द्वारा भगवान महावीर के दर्शन करने के साथ देव ऋद्धि, नाट्यविधि आदि का अलौकिक प्रदर्शन है, वहाँ इसके उत्तरार्द्ध में सूर्याभ देव के पूर्वभववर्ती जीव– राजा प्रदेशी की पार्श्वापत्य केशीकुमार श्रमण से आध्यात्मिक/दार्शनिक चर्चा है, जो राजा प्रदेशी के जीवन को परिवर्तित करने में निमित्त बनी। प्रस्तुत आलेख में संस्कृत व्याख्याता श्री सुन्दरलाल जी जैन ने इस चर्चा को संवाद के रूप में प्रस्तुत किया है, जो आत्म-तत्त्व के अस्तित्व की सिद्धि में युक्तियों से युक्त है।

–सम्पादक

आप्त वचन को आगम कहते हैं। स्थानकवासी जैन परम्परा में ३२ आगम मान्य हैं। इनमें आचारांग आदि ग्यारह अंग सूत्र, औपपातिक आदि बारह उपांग सूत्र, दशाश्रुत आदि चार छेद सूत्र, उत्तराध्ययन आदि चार मूल सूत्र एवं आवश्यक सूत्र की परिगणना की जाती है।

जिस प्रकार वैदिक साहित्य में प्रत्येक वेद से संबद्ध ब्राह्मण आदि ग्रंथ होते हैं, उसी प्रकार आचारांग आदि ग्यारह अंगों से संबद्ध उपांग होते हैं। राजप्रश्नीय सूत्र दूसरे अंगसूत्र सुत्रकृतांग से संबद्ध उपांग सूत्र है।

राजप्रश्नीय सूत्र कथा प्रधान आगम है। इस आगम में प्रश्नोत्तर के माध्यम से 'तत् जीवं तत् शरीर वाद' का खण्डन कर "जीव भिन्न है, शरीर भिन्न है" इस भेद ज्ञान का मण्डन उपलब्ध होने से यह एक दार्शनिक आगम है। इस आगम में राजा प्रदेशी द्वारा केशी कुमार श्रमण से पूछे गये रोचक प्रश्नों एवं उनके समाधान का समावेश होने से इस सूत्र का नामकरण राजप्रश्नीय सूत्र किया गया है।

विषय वस्तु के आधार पर प्रस्तुत आगम को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। इसके पूर्वार्द्ध में प्रथम देवलोक के सूर्याभ नामक देव की देवऋद्धि, उसका भगवान महावीर के दर्शनार्थ अमलकप्पा नगरी में पदार्पण, भगवान की पर्युपासना कर देव माया से विभिन्न नाट्य विधियों एवं भगवान महावीर की जीवन झांकी का प्रदर्शन सम्मिलित है, तो इसके उत्तरार्द्ध में केशीकुमार श्रमण द्वारा चित्त सारथि को उपदेश देकर श्रमणोपासक बनाना तथा उसकी विनति पर श्वेताम्बिका नगरी पधारकर अधर्मी राजा प्रदेशी के साथ जीव के अस्तित्व, नास्तित्व पर चर्चा कर उसे श्रमणोपासक बनाने की घटना वर्णित है। राजा प्रदेशी का जीव ही मरकर प्रथम सौधर्म कल्प में सूर्याभ नामक देव रूप में उत्पन्न हुआ।

कथा का सार

अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरे में आमलकप्पा नामक नगरी थी जो कि पश्चिम विदेह में श्वेताम्बिका नगरी के समीप थी। उस नगरी के उत्तर पूर्व दिक् कोण में आम्रशालवन चैत्य था। उस नगरी में राजा सेय (श्वेत) राज्य करता था, जिसकी धारिणी नामक पटरानी थी।

उस आमलकप्पा नगरी में अपनी शिष्य सम्पदा सहित श्रमण भगवान महावीर का पदार्पण हुआ, परिषद् वन्दना करने निकली, राजा सेय ने भी अनेक कौटुम्बिक पुरुषों के सहित सम्पूर्ण राजकीय वैभव के साथ भगवान के दर्शन एवं वन्दन के लिए आम्रशालवन चैत्य की ओर प्रस्थान किया, वहाँ भगवान महावीर के समवशरण के न अति दूर एवं न अति समीप राजचिह्नों का परित्याग कर पाँच अभिगमपूर्वक भगवान महावीर के सम्मुख आकर तीन बार प्रदक्षिणा कर वंदन नमस्कार किया।

जब भगवान महावीर आमलकप्पा नगरी में विराजमान थे उस समय प्रथम सौधर्म नामक देवलोक के सूर्याभ विमान की सुधर्मा सभा में सूर्याभ सिंहासन पर दिव्य वैभव के साथ बैठे हुए सूर्याभ नामक देव ने अपने विपुल अवधिज्ञान से जम्बूद्वीप का निरीक्षण करते हुए आमलकप्पा नगरी के आम्रशालवन चैत्य में भगवान महावीर को अपने शिष्य समुदाय सहित विराजित देखा तो वह अत्यंत हर्षित हुआ, सिंहासन से उठा, उत्तरासंग करके विनयपूर्वक सात–आठ कदम चला, फिर बायां घुटनां ऊँचा कर विनय आसन से बैठकर नमोत्थुणं के पाठ से भगवान महावीर की स्तुति की। तब उस सूर्याभ देव के मन में भगवान महावीर के दर्शन करने का शुभ संकल्प उत्पन्न हुआ। उस सूर्याभ देव ने अपने आभियोगिक देवों को बुलाकर कहा कि तुम आमलकप्पा नगरी में जाकर भगवान महावीर के चारों ओर एक योजन त्रिज्या के क्षेत्र को देव रमण योग्य बनाकर मुझे सूचित करो।

यह कार्य सम्पन्न होने के पश्चात् सूर्याभ देव ने अभियोगिक देवों को विमान निर्माण का आदेश दिया। दिव्य विमान की रचना के समाचार पाकर सूर्याभ देव ने दिव्य उत्तर वैक्रिय रूप की विकुर्वणा की और अपने परिवार सहित चार अग्रमहिषियों एवं गंधर्व तथा नाट्य इन दो अनीकों को साथ लेकर उस दिव्य यान विमान पर पूर्व की ओर मुख करके आरूढ़ हुआ। तत्पश्चात् चार हजार सामानिक देव एवं अन्य देव–देवियां अपने लिये निश्चित स्थान पर विमान में बैठें।

उस विमान पर आरूढ वह सूर्याभ देव सौधर्म कल्प के निर्याण मार्ग से निकलकर एक लाख योजन प्रमाण वाली दिव्य देवगति से नीचे उतरकर नन्दीश्वर द्वीप में रतिकर पर्वत पर आया। वहाँ आकर उस दिव्य देव ऋद्धि को धीरे-धीरे संकुचित कर जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की आमलकप्पा नगरी के आम्रशालवन चैत्य में, जहाँ श्रमण भगवान महावीर स्वामी विराजमान थे

वहाँ आया और भगवान की तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा कर वंदन नमस्कार किया। तब भगवान महावीर ने कहा— हे सूर्याभ देव! यह जीत परम्परागत व्यवहार है। यह कृत्य है। भगवान महावीर ने उपस्थित परिषद् को धर्म देशना दी, परिषद् पुन: लौट गई।

तब सूर्याभ देव ने भगवान महावीर के सम्मुख जिज्ञासा प्रस्तुत की और पूछा कि—

भगवन्! मैं सूर्याभदेव भव्य हूँ या अभव्य, सम्यग्दृष्टि हूँ या मिथ्यादृष्टि, परित्त संसारी हूँ या अपरित्त संसारी, आराधक हूँ अथवा विराधक, चरम शरीरी हूँ या अचरमशरीरी? तब भगवान महावीर ने कहा— हे सूर्याभ! तुम भव्य, सम्यग्दृष्टि, परित्तसंसारी, आराधक एवं चरमशरीरी हो।

तदनन्तर उस सूर्याभ देव ने भगवान महावीर के समक्ष अपनी दिव्य शक्ति से अनेक प्रकार की नाट्य विधियों का अति सुन्दर प्रदर्शन किया एवं साथ ही भगवान महावीर के जीवन प्रसंगों का भी सुन्दर अभिनय किया।

सूर्याभ देव द्वारा प्रदर्शित नाट्य विधियों को देखकर गौतम स्वामी के मन में सूर्याभ देव के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई, उन्होंने भगवान महावीर से निवेदन किया—

हे भदन्त! इस सूर्याभ देव ने दिव्य देव ऋद्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देव प्रभाव कैसे प्राप्त किया? यह सूर्याभदेव पूर्वभव में कौन था?

तब भगवान महावीर ने गौतम की जिज्ञासा को शान्त करते हुए उसे संबोधित कर कहा—

हे गौतम! अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरे में केशी स्वामी के विचरने के समय इस जम्बूद्वीप के केकय—अर्द्ध नामक जनपद में सेयविया (श्वेताम्बिका) नाम की नगरी थी, उस नगरी का राजा प्रदेशी था। राजा प्रदेशी अधार्मिक राजा था, वह सदैव मारो, छेदन करो, भेदन करो, इस प्रकार की आज्ञा का प्रवर्तक था। उसके हाथ सदैव रक्त से सने रहते थे और वह साक्षात् पाप का अवतार था। उस राजा प्रदेशी की सूर्यकान्ता नाम की रानी तथा उस सूर्यकान्ता रानी का आत्मज सूर्यकान्त नामक राजकुमार था। वह सूर्यकान्त कुमार युवराज था, वह प्रदेशी के शासन की देखभाल स्वयं करता था।

उस प्रदेशी राजा का उम्र में बड़ा भाई एवं मित्र जैसा चित्त नामक सारथी था। वह चित्त सारथी कुशल राजनीतिज्ञ, राज्य प्रबंधन में कुशल तथा बुद्धिमान था। एक समय राजा प्रदेशी ने चित्त सारथी को कुणाल जनपद की राजधानी श्रावस्ती नगरी भेजा, क्योंकि श्रावस्ती नगरी का राजा जितशत्रु राजा प्रदेशी के अधीन था।

चित्त सारथी राजा की आज्ञा प्राप्त कर विपुल उपहारों सहित श्रावस्ती नगरी पहुँचा। वह जितशत्रु राजा से भेंट कर वहाँ की शासन व्यवस्था एवं

राजव्यवहार को देखा और अनुभव किया। चित्त सारथी के श्रावस्ती नगरी में पहुँचने पर वहाँ चार ज्ञान के धारक, चौदह पूर्वों के ज्ञाता पार्श्वापत्य केशीकुमार नामक श्रमण पाँच सौ अणगारों के साथ ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए श्रावस्ती नगरी के बाहर कोष्ठक नामक चैत्य में स्थान की याचना कर अवग्रह ग्रहण कर संयम व तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। परिषद् धर्म कथा श्रवण करने को निकली, कर्णाकर्णी चित्तसारथी को भी ज्ञान हुआ कि कोष्ठक चैत्य में परम प्रतापी केशीकुमार नामक श्रमण का पदार्पण हुआ है। तब चित्त सारथी अत्यन्त हर्षित हुआ एवं केशीकुमार श्रमण के दर्शनार्थ निकला। वहाँ पहुँचकर केशीकुमार स्वामी को वंदन नमस्कार कर धर्मोपदेश सुनने की इच्छा से विनयपूर्वक उनकी पर्युपासना की।

तत्पश्चात् केशीकुमार श्रमण ने चित्त सारथी सहित उपस्थित परिषद् को चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया। चित्त सारथी केशी कुमार श्रमण के धर्मोपदेश को सुनकर अत्यन्त हर्षित हुआ और उसने केशी कुमार श्रमण से श्रावक धर्म स्वीकार किया।

कुछ दिनों तक श्रावस्ती नगरी में रहकर केशी स्वामी के चरणों में चित्त सारथी ने सेयविया नगरी में पधारने हेतु विनती की, अति अनुनयभरी विनती को केशी श्रमण ने स्वीकार किया। चित्त सारथी हर्षित होता हुआ सेयविया नगरी पहुँचा तथा श्रद्धापूर्वक श्रावक धर्म का पालन करने लगा।

किसी समय केशीकुमार श्रमण श्रावस्ती नगरी से विहार कर सेयविया नगरी में पधारे। केशी कुमार श्रमण के सेयविया नगरी में पधारने पर परिषद् वंदन करने निकली, चित्त सारथी भी वंदना करने पहुँचा। वहाँ पहुँचकर केशी कुमार श्रमण को वंदन नमस्कार कर पर्युपासना करने लगा। धर्मोपदेश सुनने के पश्चात् चित्त सारथी ने केशी श्रमण से निवेदन किया-

"हे भदन्त! हमारा प्रदेशी राजा अधार्मिक एवं पापाचार में लिप्त है, वह अपने जनपद का पालन व रक्षण नहीं करता है, अत: आप राजा प्रदेशी को धर्म उपदेश देकर उसका कल्याण करें।"

केशी कुमार श्रमण ने कहा- "राजा प्रदेशी जब श्रमण माहण के सम्मुख ही उपस्थित नहीं होता है तो हे चित्त! मैं राजा प्रदेशी को कैसे उपदेश दे सकूंगा।"

केशी स्वामी के कथन को सुनने बाद चित्त सारथी ने दूसरे दिन युक्तिपूर्वक राजा प्रदेशी को केशीकुमार श्रमण की सेवा में उपस्थित किया।

केशी कुमार श्रमण को दूर से देखकर राजा प्रदेशी ने चित्त से कहा- "अज्ञानी ही अज्ञानी की उपासना करते हैं, परन्तु यह कौन पुरुष है जो जड़, मुंड, मूढ, अपंडित और अज्ञानी होते हुए भी श्री ह्रीं से सम्पन्न है, शारीरिक कान्ति से सुशोभित है?" तब चित्त सारथी ने राजा प्रदेशी से कहा-

हे स्वामिन्! ये पार्श्वापत्य केशी नामक कुमार श्रमण है जो चार ज्ञान

सम्पन्न हैं। तब राजा प्रदेशी चित्त सारथी सहित केशी कुमार श्रमण के समीप पहुँचा। केशीकुमार श्रमण एवं राजा प्रदेशी के बीच **'तत् जीव तत् शरीरवाद'** को लेकर जो रोचक संवाद हुआ उसका सार इस प्रकार है—

राजा— क्या आप जीव और शरीर को अलग मानते हैं?

मुनि— तुम मेरे चोर हो।

राजा— चौंककर, क्या मैं चोर हूँ? मैंने कभी किसी की चोरी नहीं की है।

मुनि— क्या तुम अपने राज्य में चुंगी न चुकाने वाले को चोर नहीं मानते हो?

(चतुर राजा ने तत्काल मुनि के अभिप्राय को समझकर यथोचित वंदना की और कहा)

राजा— मुनिराज! यहाँ बैठूँ?

मुनि— यह पृथ्वी तुम्हारे अधिकार में है।

(इस विचित्र एवं प्रभावशाली उत्तर को सुनकर राजा को पूर्ण विश्वास हो गया कि मुनिराज असाधारण हैं, मेरी शंका का समाधान अवश्य होगा)

राजा— क्या आप जीव और शरीर को अलग—अलग मानते हैं?

मुनि— हाँ! मृत्यु के पश्चात् शरीर में रहने वाला जीव अन्यत्र जाकर दूसरे शरीर को धारण करके पहले के पुण्य.पाप का फल भोगता है।

राजा— मेरे दादा बहुत पापी थे। आपके कथनानुसार वे नरक में गये होंगे और वहाँ दुःख भोगते होंगे। वे यहाँ आकर मुझसे कहते कि—बेटा! पाप न कर, पाप करेगा तो मेरी तरह नरक में दुःख भोगेगा, तो मैं मानूँ कि जीव व शरीर भिन्न है।

मुनि— तुम अपनी सूर्यकान्ता रानी के साथ किसी पापी मनुष्य को व्यभिचार करते देखो तो क्या करोगे?

राजा— उसी समय और उसी जगह उसकी जान ले लूँ?

मुनि— कदाचित् वह पुरुष हाथ जोड़कर प्रार्थना करे कि राजन्! मुझे थोड़ी देर के लिए छुट्टी दीजिए। मैं अभी अपने लड़के को बताकर आता हूँ कि वह व्यभिचार करेगा तो मेरी तरह मारा जायेगा। तो क्या आप उस पापी को थोड़ी देर के लिए छोड़ दोगे?

राजा— ऐसा कौन मूर्ख होगा जो अपराधी के कहने का भरोसा कर ले।

मुनि— जब तुम एक पाप करने वाले को, अपनी ही राज्य सीमा के भीतर, जाकर आने की थोड़ी सी देर की छुट्टी नहीं दे सकते, तो अनेक पाप करने वाले तुम्हारे दादा को इतनी दूर आने की छुट्टी कैसे मिल सकती है?

राजा— ठीक है, किन्तु मेरी दादी धर्मी थी, उन्हें अवश्य स्वर्ग मिला होगा, वह यह बताने क्यों नहीं आती कि धर्म का फल उत्तम होता है।

मुनि– अगर कोई हरिजन तुम्हें अपनी दुर्गंधमय झोपड़ी में बुलाना चाहे तो क्या तुम जाना पसन्द करोगे?

राजा– आपका यह प्रश्न बड़ा विचित्र है। मैं राजा होकर अपवित्र दुर्गंधमय झोपड़ी में कैसे पैर रख सकता हूँ।

मुनि– तो तुम्हारी दादी स्वर्ग के अनुपम सुखों में मग्न है। दुर्गन्ध युक्त मुनष्य लोक जिसकी दुर्गन्ध ९०० योजन तक असर करती है, में कैसे प्रवेश करेगी?

राजा– ठीक है। मैं दूसरा प्रश्न पूछता हूँ। एक बार मैंने एक अपराधी को लोहे की कोठी में बंद कर दिया। कोठी चारों ओर से बंद थी, थोड़ी देर बाद कोठी खोलकर देखी तो अपराधी की मृत्यु हो चुकी थी। मगर उसके शरीर से मैंने जीव को निकलता नहीं देखा। अगर जीव अलग है तो वह कोठी से कैसे निकल गया?

मुनि– किसी गुफा का दरवाजा मजबूती से बंद करके कोई आदमी जोर से ढोल बजावे तो ढोल की आवाज बाहर आती है या नहीं?

राजा– आती है।

मुनि– इसी प्रकार देह रूपी गुफा में से जीव निकल जाता है, पर वह दृष्टिगोचर नहीं होता। परम ज्ञानी महात्मा ही अपने दिव्य ज्ञान से उसे जान-देख सकते हैं। (जीव अरूपी होने से इन्द्रियग्राह्य नहीं है)

राजा– मैंने एक चोर को प्राणरहित करके एक कोठी में बंद करवा दिया। कोठी अच्छी तरह बंद थी। बहुत दिनों बाद कोठी को उघाड़कर देखा तो उस पुरुष के शरीर में असंख्य कृमि व्याप्त थे। बंद कोठी में कृमि कैसे घुसे?

मुनि– जिस प्रकार लोहे के ठोस गोले को आग में तपाया जाय तो उसमें चारों ओर जिस प्रकार अग्नि प्रवेश करती है, उसी प्रकार बंद कोठी में चोर के शरीर में जीव प्रवेश कर कीट रूप में उत्पन्न हुए।

राजा– जीव सदा एक सरीखा रहता है या छोटा–बड़ा, कम–ज्यादा होता है?

मुनि– जीवात्मा स्वयं सदैव एक सा रहता है।

राजा– ऐसा है तो जवान आदमी के हाथ से एक साथ पाँच बाण छूट सकते हैं, उसी प्रकार वृद्ध आदमी के हाथ से पाँच बाण क्यों नहीं छूट सकते हैं?

मुनि– युवा व्यक्ति भी नवीन धनुष से पाँच बाण छोड़ने में समर्थ है, लेकिन उसे पुराना धनुष दें तो वह पाँच बाण छोड़ने में असमर्थ होगा। वैसे ही युवा एवं वृद्ध आदमी के संबंध में जानना चाहिए।

राजा– युवा आदि जितना भार उठा सकता है, उतना वृद्ध व्यक्ति क्यों नहीं उठा सकता है।

मुनि— नवीन छींका जितना वजन सह सकता है उतना पुराना नहीं। यही बात जवान और बूढ़े के बोझ उठाने के संबंध में समझना चाहिए।

राजा— मैंने एक जीवित चोर को तुलवाया, फिर उसके गले में फांसी लगाकर उसके मर जाने पर तुलवाया, लेकिन उसका वजन पहले जितना ही था। यदि जीव और शरीर भिन्न—भिन्न हैं तो जीव के निकलने पर वजन घटना था।

मुनि— चमड़े की मशक में पहले हवा भर कर तौला जाय तथा फिर हवा निकालकर तोला जाय, दोनों बार तौल बराबर होता है। यही बात जीव के संबंध में समझना चाहिए।

राजा— मैंने एक चोर के टुकड़े—टुकड़े करके देखा तो कहीं भी जीव दिखाई नहीं दिया। फिर शरीर में जीव कहाँ रहता है?

मुनि— राजन्! तुम उस लकड़हारे के समान मालूम होते हो जो अरणि की लकड़ी में आग खोजने के लिए उस अरणि की लकड़ी के टुकड़े—टुकड़े कर देता है, लेकिन कहीं भी आग नहीं दिखाई देती है, वह नहीं जानता कि जब उस अरणि की दो लकड़ियों को परस्पर रगड़ा जाता है तो आग प्रकट होती है।

राजा— मुनिराज मेरी समझ में कुछ नहीं आता है। कोई प्रत्यक्ष उदाहरण देकर समझाइए कि शरीर भिन्न है, जीव भिन्न है।

मुनि— ठीक, सामने खड़े वृक्ष के पत्ते किसकी प्रेरणा से हिल रहे हैं?

राजा— हवा से।

मुनि— वह हवा कितनी बड़ी है व उसका रंग कैसा है?

राजा— हवा दिखाई नहीं देती है अतः आपके प्रश्न का उत्तर कैसे दिया जा सकता है?

मुनि— जब हवा दिखाई नहीं देती तो कैसे जाना कि हवा है?

राजा— पत्तों के हिलने से।

मुनि— तो उसी प्रकार शरीर के हिलने डुलने आदि क्रियाओं से जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है।

राजा— मुनिराज! आप कहते हैं कि सब जीव सरीखे हैं तो चींटी छोटी और हाथी बड़ा कैसे हो सकता है?

मुनि— जैसे किसी दीपक को कटोरे से ढक दिया जाता है तो वह कटोरे जितनी जगह में प्रकाश करेगा और जब उसी दीपक को महल में रख दिया जाय तो महल के क्षेत्र को प्रकाशित करेगा, उसी प्रकार जीव छोटे या बड़े जिस किसी शरीर में रहता है वैसा ही आकार प्राप्त कर लेता है।

राजा— मुनिवर! आपका कथन सत्य है लेकिन मैं वंशानुक्रम से चले आ रहे अपने आग्रह को कैसे छोड़ दूं।

मुनि– यदि तुम नहीं छोड़ सकते तो तुम्हारी दशा भी उस लोह वणिक् जैसी होगी जिसने सर्वप्रथम प्राप्त होने वाली लोहे की खान से लोहे की गांठ बांध ली तथा आगे क्रमशः तांबा, चांदी, सोना तथा रत्नों की खानों के प्राप्त होने पर भी उसने मित्रों का कहना नहीं मानकर लोहे की गांठ का परित्याग नहीं किया। उसके मित्र पूर्व. पूर्व वस्तु का त्याग कर अन्त में प्राप्त रत्नों की गांठ बांधकर सुखी हुए और वह लोह वणिक् लोह का भार ढोकर अत्यन्त दुःखी हुआ। अतः तुम भी कदाग्रह रखकर अपने बाप–दादा का धर्म नहीं छोड़ोगे तो दुःखी होओगे।

मुनि केशीकुमार श्रमण का कथन सुनकर राजा प्रदेशी ने जैन धर्म अंगीकार किया। उसने अपने धन के चार विभाग कर एक भाग दान के लिए रख दिया और बेले–बेले की तपस्या करते हुए धर्माराधन में रत रहने लगा। केशी कुमार श्रमण वहाँ से विहार कर अन्यत्र चले गये। रानी सूर्यकांता ने काम.भोग से विमुख जानकर राजा प्रदेशी को मारने का षड्यंत्र रचा और उस प्रेय मार्ग की पथिका रानी सूर्यकान्ता ने अपने पति प्रदेशी राजा को तेरहवें बेले के पारणे के समय विष खिला दिया। विष दिये जाने की बात विदित हो जाने पर भी राजा ने समभाव नहीं त्यागा। समाधि भाव में शरीर का त्याग कर राजा प्रदेशी का वह जीव ही पहले देवलोक के सूर्याभ विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ है। वहाँ से च्यवकर वह महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य होगा और संयम धारण कर मोक्ष प्राप्त करेगा।

इस प्रकार "जीव भिन्न है, शरीर भिन्न है" इस दार्शनिक मान्यता का मण्डन करने वाला यह ग्रंथ सत्संगति के महत्त्व को प्रतिपादित करता है।

सूत्रकृतांग नामक दार्शनिक अंगसूत्र से संबद्ध यह कथाप्रधान आगम अपनी दार्शनिकता के लिए विशेष प्रसिद्ध है। पार्श्वनाथ की परम्परा के केशीकुमार श्रमण तथा अधर्मी राजा प्रदेशी के मध्य जीव के अस्तित्व एवं नास्तित्व पर हुआ रोचक संवाद इस आगम का प्राण है। केशी कुमार जैसे श्रेष्ठ मुनिराज का सान्निध्य पाकर राजा प्रदेशी ने अपने जीवन का उद्धार कर लिया। सूर्याभदेव के रूप में प्रथम देवलोक में दिव्य सुखों का उपभोग करने वाला वह प्रदेशी का जीव महाविदेह क्षेत्र में मानव भव प्राप्त कर जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करेगा।

–व्याख्याता संस्कृत
सी–121, पुनर्वास कॉलोनी, पो. सागवाड़ा, जिला– डूंगरपुर (राज.)

जीवाजीवाभिगम सूत्र

श्री प्रकाश सालेचा

जीवाजीवाभिगम में जीव एवं अजीव के संबंध में विवेचन हुआ है। इसकी नौ प्रतिपत्तियों में जीव विषयक विवेचन ही मुख्य है, अजीव की चर्चा न्यून है। जीव के विभिन्न प्रकारों का विवेचन करने के साथ इसमें जम्बूद्वीप, विमान, पर्वत आदि खगोल–भूगोल विषयक जानकारी का भी समावेश है। जीवजगत् के विशेष अध्ययन के लिए यह सूत्र विशेष उपयोगी है। संस्कृत (जैनदर्शन) में एम.ए. एवं वरिष्ठ स्वाध्यायी श्री प्रकाश जी सालेचा ने जीवाजीवाभिगम सूत्र का संक्षेप में परिचय दिया है। —सम्पादक

जीवाजीवाभिगम सूत्र में अजीव तत्त्व का संक्षेप में तथा जीव तत्त्व का विस्तार से वर्णन किया गया है। जीव एवं अजीव तत्त्व का वर्णन करने के कारण इस सूत्र का नाम जीवाजीवाभिगम है, जीवतत्त्व के वर्णन की मुख्यता होने से इसका अपर नाम जीवाभिगम भी है।

इसके अध्ययन से जीव एवं अजीव तत्त्व की सम्पूर्ण जानकारी हो सकती है। भगवान महावीर ने स्पष्ट किया कि जो जीव व अजीव तत्त्व को नहीं जानता वह मोक्षमार्ग को कैसे समझ सकेगा। साधक को सर्वप्रथम जीव व अजीव तत्त्व का ज्ञान करना आवश्यक माना गया है। इसी को जैन दर्शन में भेद–विज्ञान का नाम दिया गया है। जीव एवं अजीव की भिन्नता का बोध प्राप्त किये बिना जीव का मोक्ष संभव नहीं है। इस दृष्टिकोण से साधक के लिये जीवाजीवाभिगम सूत्र का अध्ययन करना आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है।

वर्तमान चौबीसी के अंतिम तीर्थंकर प्रभु महावीर एवं इन्द्रभूति गौतम के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में जीव अजीव के भेद–प्रभेदों पर विशद चर्चा हुई। उसी चर्चा को आचार्यों ने जीवाजीवाभिगम नामक सूत्र में प्रतिष्ठापित किया है।

जीवाजीवाभिगम सूत्र की विषय वस्तु

प्रस्तुत आगम में नौ प्रतिपत्तियाँ (प्रकरण) हैं। प्रथम प्रतिपत्ति में जीवाभिगम और अजीवाभिगम का विवेचन किया गया है। अभिगम का शाब्दिक अर्थ परिच्छेद अथवा ज्ञान है।

जैन दर्शन में नौ तत्त्व मान्य हैं— जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इनमें दो तत्त्व मुख्य मान्य हैं— जीव व अजीव। शेष सात तत्त्व इन दोनों तत्त्वों के सम्मिलन व वियोग की परिणति मात्र हैं। इसी कारण प्रभु महावीर ने साधक एवं श्रावक को नवतत्त्व की सम्पूर्ण जानकारी करने की आज्ञा प्रदान की है। नवतत्त्व का ज्ञाता ही साधना के क्षेत्र में अपने चरण बढ़ा सकता है। संसार के अन्य आस्तिक दर्शनों ने भी इस प्रकार दो मूलभूत तत्त्वों को स्वीकार किया है। वेदान्त दर्शन ने इन दो तत्त्वों को ब्रह्म और माया के रूप में स्वीकार किया है। सांख्य दर्शन ने पुरुष

और प्रकृति के रूप में एवं बौद्धों ने विज्ञानघन और वासना के रूप में स्वीकार किया है। वैदिक दर्शन ने आत्म-तत्त्व व भौतिक तत्त्व के रूप में इसी बात को मान्यता प्रदान की है। अत: इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि आस्तिक दर्शनों के मूल में भी आत्मवाद को स्वीकार किया गया है। विशेषकर जैन दर्शन ने आत्म-तत्त्व का बहुत ही सूक्ष्मता के साथ विस्तृत विवेचन किया है। जैन चिन्तन धारा का प्रारम्भ ही आत्म तत्त्व से होता है और अन्त मोक्ष में। ग्यारह अंगों में प्रथम अंग आचारांग सूत्र का आरम्भ भी आत्म-जिज्ञासा से हुआ है। उसके आदि वाक्य में ही कहा गया है– संसारस्थ अनेक जीवों को यह ज्ञान नहीं होता है कि उनकी आत्मा किस दिशा से आई है और कहाँ जायेगी, वे यह भी नहीं जानते कि उनकी आत्मा जन्मान्तर में संचरण करने वाली है या नहीं, मैं पूर्वजन्म में कौन था और यहाँ से मरकर दूसरे जन्म में क्या होऊँगा, यह भी वे नहीं जानते हैं। इस प्रकार की आत्म जिज्ञासा से ही धर्म और दर्शन का उद्गम हुआ है। अत: जैन दर्शन द्वारा मान्य नव तत्त्वों में प्रथम तत्त्व जीव एवं अन्तिम तत्त्व मोक्ष है। बीच के सात तत्त्वों का निर्माण इन दो तत्त्वों के विभाव व सद्भाव में होता है। सुख देने वाला पुद्गल समूह पुण्य तत्त्व है। दु:ख देने वाला और ज्ञानादि पर आवरण करने वाला पाप तत्त्व है। आत्मा की मलिन प्रवृत्ति आस्रव है। इस मलिन प्रवृत्ति को रोकना संवर है, कर्म के आवरण का आंशिक क्षीण होना निर्जरा है। कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ बंधना बंधतत्त्व है। कर्म के आवरणों का सर्वथा क्षीण हो जाना मोक्ष है।

प्रथम प्रतिपत्ति

तीर्थंकर परमात्मा के प्रवचन के अनुसार ही स्थविर भगवन्तों ने जीवाभिगम व अजीवाभिगम की रचना की है अर्थात् प्रज्ञापना की है। अल्प विवेचन होने के कारण पहले अजीवाभिगम का कथन किया गया है। अजीवाभिगम दो प्रकार का कहा गया है– रूपी अजीवाभिगम एवं अरूपी अजीवाभिगम। अरूपी अजीवाभिगम के दस भेद बताये गये हैं। धर्मास्तिकाय के स्कन्ध, देश, प्रदेश; अधर्मास्तिकाय के स्कंध, देश, प्रदेश; आकाशास्तिकाय के स्कन्ध, देश, प्रदेश और दसवाँ काल।

जैन दर्शन के अनुसार जीव और पुद्गल को गति कराने में धर्मास्तिकाय एवं जीव व पुद्गल को स्थिति प्रदान करने में अधर्मास्तिकाय सहायक है। आकाश और काल को अन्य दार्शनिकों ने स्वीकार किया है, परन्तु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को जैन दर्शन के सिवाय किसी ने भी नहीं माना है। जैन सिद्धान्त की अपनी यह सर्वथा मौलिक अवधारणा है। इस अवधारणा के पीछे प्रमाण व युक्ति का सुदृढ आधार है। जैनाचार्यों ने प्रमाणों से सिद्ध किया है कि लोक–अलोक की व्यवस्था के लिए कोई

नियामक तत्त्व होना चाहिए। पुद्गल व जीव गतिशील है। इन दोनों द्रव्यों की गति लोक में ही होती है, अलोक में नहीं होती। यही कारण है कि संसार से मुक्त जीव लोक के अग्रभाग सिद्धशिला पर जाकर रूक जाते हैं, क्योंकि आगे धर्मास्तिकाय का क्षेत्र नहीं है। जीव की गति में सहायक धर्मास्तिकाय का क्षेत्र लोकप्रमाण माना गया है। अत: कहा जा सकता है कि यदि धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय नहीं होते तो लोक की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती, अत: जैन दार्शनिकों ने गति—नियामक तत्त्व के रूप में धर्मास्तिकाय को, स्थिति-नियामक तत्त्व के रूप में अधर्मास्तिकाय की सत्ता को स्वीकार किया है।

आकाश द्रव्य शेष सभी द्रव्यों को आश्रय देता है, स्थान प्रदान करता है, अवकाश देता है। आकाश की सत्ता तो सब दर्शनों ने मानी है। यदि आकाश नहीं होता तो जीव व पुद्गल कहाँ रहते? धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय कहाँ व्याप्त होते? काल कहाँ वर्तता, पुद्गल का रंगमंच कहाँ बनता?

काल औपचारिक द्रव्य है। निश्चय नय की दृष्टि से काल, जीव और अजीव की पर्याय है। व्यवहार नय की दृष्टि से वह द्रव्य है, वर्तना आदि इसके उपकार होने से काल उपकारक है अत: वह द्रव्य है। पदार्थों की स्थिति मर्यादा के लिये जिसका व्यवहार होता है, उसे काल माना गया है।

इसके पश्चात् प्रस्तुत ग्रन्थ में रूपी अजीवाभिगम चार प्रकार का बताया गया है— स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु। इनको संक्षेप में पाँच प्रकार का भी कहा गया है— १. वर्ण परिणत २. गन्ध परिणत ३. रस परिणत ४. स्पर्श परिणत और ५. संस्थान परिणत। यह रूपी अजीव का कथन हुआ। इसके साथ ही अजीवाभिगम का कथन भी पूर्ण हुआ।

जीवाभिगम पर विचार करते हुए शिष्य प्रश्न करता है कि जीवाभिगम कितने प्रकार का होता है? प्रश्न के उत्तर में आचार्य फरमाते हैं— जीवाभिगम दो प्रकार का होता है १. संसार समापन्नक २. असंसार समापन्नक । संसार समापन्नक अर्थात् संसारवर्ती जीवों का ज्ञान और असंसार समापन्नक अर्थात् संसारमुक्त जीवों का ज्ञान। संसार का अर्थ नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव भवों में भ्रमण करना है। जो जीव उक्त चार प्रकार के भवों में भ्रमण कर रहे हैं वे संसार समापन्नक जीव हैं और जो जीव इस भव-भ्रमण से छूटकर मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं वे असंसार समापन्नक जीव हैं।

असंसार समापन्नक जीव दो प्रकार कहे गये हैं— १. अनन्तर सिद्ध २. परम्पर सिद्ध। सिद्धत्व के प्रथम समय में विद्यमान सिद्ध अनन्तर सिद्ध हैं, अर्थात् उनके सिद्धत्व में समय का अन्तर नहीं है। परम्परसिद्ध वे हैं जिन्हें

सिद्ध हुए दो तीन यावत् अनन्त समय हो चुका है।

अनन्तर सिद्धों के तीर्थ, अतीर्थ आदि १५ प्रकार कहे गये हैं तथा परम्पर सिद्ध के भी अनेक प्रकार कहे गये हैं। यथा– १. प्रथम समय सिद्ध, २. द्वितीय समय सिद्ध ३. तृतीय समय सिद्ध यावत् असंख्यात समय सिद्ध और अनन्त समय सिद्ध।

संसारवर्ती जीवों के प्रकार के संबंध में नौ प्रतिपत्तियाँ बताई गई है। प्रतिपत्ति का अर्थ है प्रतिपादन, कथन। इस संबंध में नौ प्रकार के प्रतिपादन हैं।

जो आचार्य संसारवर्ती जीवों को दो प्रकार का कहते हैं वे ही आचार्य अन्य विवक्षा से संसारवर्ती जीव के तीन प्रकार भी कहते हैं। अन्य विवक्षा से चार प्रकार भी कहते हैं, यावत् अन्य विवक्षा से दस प्रकार भी कहते हैं। विवक्षा के भेद से कथनों में भेद होता है किन्तु उनमें विरोध नहीं होता।

संसार समापन्नक जीवों के भेट बताने वाली नौ प्रतिपत्तियों में से प्रथम प्रतिपत्ति का निरूपण करते हुए इस सूत्र में कहा गया है कि संसारवर्ती जीव भी दो प्रकार के हैं– त्रस और स्थावर।

द्वितीय प्रतिपत्ति

द्वितीय प्रतिपत्ति में संसार-समापन्नक जीवों के तीन भेद बताये गये हैं– १. स्त्री, २. पुरुष ३. नपुंसक।

तृतीय प्रतिपत्ति

तृतीय प्रतिपत्ति में संसार-समापन्नक जीव चार प्रकार के कहे गये हैं– १. नैरयिक २. तिर्यंच योनिक ३. मनुष्य ४.देव

नैरयिक सात प्रकार के कहे गये हैं, यथा– प्रथम पृथ्वी नैरयिक, द्वितीय पृथ्वी नैरयिक, तृतीय पृथ्वी नैरयिक, चतुर्थ पृथ्वी नैरयिक, पंचम पृथ्वी नैरयिक, षष्ठ पृथ्वी नैरयिक और सप्तम पृथ्वी नैरयिक। इस प्रतिपत्ति में सात नारकों एवं उनके गोत्रों का वर्णन किया गया है। नैरयिक जीवों उनके निवास रूप नरक भूमियों के नाम, गोत्र, विस्तार आदि क्या और कितने हैं, इस प्रकार नरक भूमियों और नारकों के विषय में विविध जानकारी प्रदान की गई है।

तिर्यक् योनिक जीव पाँच प्रकार के कहे गये है– एकेन्द्रिय तिर्यक् योनिक, द्वीन्द्रिय तिर्यक्योनिक, त्रीन्द्रिय तिर्यक्योनिक, चतुरिन्द्रिय तिर्यक्योनिक, पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक। एकेन्द्रिय के पाँच भेद बताये गये है–पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय को विकलेंद्रिय कहा गया है। पंचेन्द्रिय के दो भेद किये गये हैं– पर्याप्त एवं अपर्याप्त।

पंचेन्द्रिय तिर्यक् योनिक तीन प्रकार के हैं— १. जलचर २. स्थलचर ३. खेचर।

परिसर्प स्थलचर के दो भेद बताये गये है— १. उरपरिसर्प २. भुजपरिसर्प।

मनुष्य के दो प्रकार कहे गये हैं— १. सम्मूर्च्छिम मनुष्य २. गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्य। सम्मूर्च्छिम मनुष्य १४ अशुचि स्थानों पर पैदा होते हैं। गर्भज मनुष्य तीन प्रकार के कहे गये है— १. कर्मभूमिक २. अकर्मभूमिक और ३. अन्तर्द्वीपज। देव चार प्रकार के कहे गये हैं— १. भवनवासी २. वाणव्यन्तर ३. ज्योतिष्क ४. वैमानिक।

चतुर्थ प्रतिपत्ति

चतुर्थ परिपति में जीव पाँच प्रकार के कहे गये हैं— १. एकेन्द्रिय २. द्वीन्द्रिय ३. त्रीन्द्रिय ४. चतुरिन्द्रिय ५. पंचेन्द्रिय।

पंचम प्रतिपत्ति

पंचम प्रतिपत्ति में संसार समापन्नक जीव छह प्रकार के कहे गये हैं— १. पृथ्वीकायिक २. अप्कायिक ३. तेजस्कायिक ४. वायुकायिक ५. वनस्पतिकायिक ६. त्रसकायिक

षष्ठ प्रतिपत्ति

षष्ठ प्रतिपत्ति में संसार-समापन्नक जीव सात प्रकार के हैं— १. नैरयिक २. तिर्यंच ३. तिरश्ची (तिर्यक् स्त्री) ४. मनुष्य ५. मानुषी ६. देव ७. देवी।

सप्तम प्रतिपत्ति

सप्तम प्रतिपत्ति में संसार-समापन्नक जीवों के आठ प्रकार कहे गये हैं। उनके अनुसार ये आठ प्रकार इस तरह हैं—
१. प्रथम समय नैरयिक २. अप्रथम समय नैरयिक ३. प्रथम समय तिर्यक् योनिक ४. अप्रथम समय तिर्यक्योनिक ५. प्रथम समय मनुष्य ६. अप्रथम समय मनुष्य ७. प्रथम समय देव ८. अप्रथम समय देव।

अष्टम प्रतिपत्ति

अष्टम प्रतिपत्ति में संसार समापन्नक जीवों के नौ भेद कहे गये हैं— १. पृथ्वीकायिक २. अप्कायिक ३. तेजस्कायिक ४. वायुकायिक ५. वनस्पतिकायिक ६. द्वीन्द्रिय ७. त्रीन्द्रिय ८. चतुरिन्द्रिय ९. पंचेन्द्रिय।

नवम प्रतिपत्ति

नवम प्रतिपत्ति में संसार-समापन्न जीवों के दस प्रकार कहे गये हैं— १. प्रथम समय एकेन्द्रिय २. अप्रथम समय एकेन्द्रिय ३. प्रथम समय द्वीन्द्रिय ४. अप्रथम समय द्वीन्द्रिय ५. प्रथम समय त्रीन्द्रिय ६. अप्रथम समय त्रीन्द्रिय ७. प्रथम समय चतुरिन्द्रिय ८. अप्रथम समय चतुरिन्द्रिय ९. प्रथम समय पंचेन्द्रिय १०. अप्रथम समय पंचेन्द्रिय।

जैसे संसार-समापन्नक जीवों के विषय में नौ प्रतिपत्तियाँ कहीं गई हैं वैसे ही सर्वजीव के विषय में भी नौ प्रतिपत्तियाँ कही गई हैं। सर्वजीव में संसारी और मुक्त दोनों प्रकार के जीवों का समावेश होता है। अतएव इन नौ प्रतिपत्तियों में सब प्रकार के जीवों का समावेश हो जाता है। वे नौ प्रतिपत्तियाँ इस प्रकार हैं—

१. सर्वजीव दो प्रकार के कहे गये हैं— १. सिद्ध २. असिद्ध
२. सब जीव तीन प्रकार के कहे गये हैं— १. सम्यग्दृष्टि २. मिथ्यादृष्टि ३. सम्यग्मिथ्या दृष्टि।
३. सब जीव चार प्रकार के कहे गये हैं—१. मनोयोगी २. वचनयोगी ३. काययोगी ४. अयोगी।
४. सब जीव पाँच प्रकार के कहे गये हैं—१. नैरयिक २. तिर्यंच ३. मनुष्य ४. देव ५. सिद्ध
५. सब जीव छः प्रकार के कहे गये हैं— १. औदारिक शरीरी २. वैक्रिय शरीरी ३. आहारक शरीरी ४. तैजस शरीरी ५. कार्मण शरीरी ६. अशरीरी।
६. सब जीव सात प्रकार के कहे गये हैं—१. पृथ्वीकायिक २. अप्कायिक ३. तेजस्कायिक ४. वायुकायिक ५. वनस्पतिकायिक ६. त्रसकायिक ७. अकायिक।
७. सब जीव आठ प्रकार के कहे गये है— १. मतिज्ञानी २. श्रुतज्ञानी ३. अवधिज्ञानी ४. मनःपर्यवज्ञानी ५. केवलज्ञानी ६. मति-अज्ञानी ७. श्रुत-अज्ञानी ८. विभंगज्ञानी।
८. सब जीव नौ प्रकार के कहे गये हैं— १. एकेन्द्रिय २. द्वीन्द्रिय ३. त्रीन्द्रिय ४. चतुरिन्द्रिय ५. नैरयिक ६. तिर्यंच ७. मनुष्य ८. देव ९. सिद्ध
९. सब जीव दस प्रकार के कहे गये हैं— १. पृथ्वीकायिक २. अप्कायिक ३. तेजस्कायिक ४. वायुकायिक ५. वनस्पतिकायिक ६. द्वीन्द्रिय ७. त्रीन्द्रिय ८. चतुरिन्द्रिय ९. पंचेन्द्रिय १०. अतीन्द्रिय।

जैन तत्त्व ज्ञान प्रधानतया आत्मवादी है। जीव या आत्मा इसका केन्द्र विन्दु है। अतएव यह कहा जा सकता है कि जैन तत्त्व ज्ञान का मूल आत्मद्रव्य (जीव) है। उसका आरम्भ आत्म-विचार से होता है तथा मोक्ष उसकी अन्तिम परिणति है। इस जीवाजीवाभिगम सूत्र में उसी आत्म द्रव्य की अर्थात् जीव की विस्तार के साथ चर्चा की गई है। अतएव यह जीवाभिगम कहा जाता है। अभिगम का अर्थ है ज्ञान। जिसके द्वारा जीव—अजीव का ज्ञान विज्ञान हो वह जीवाजीवाभिगम है। अजीव तत्त्व का सामान्य उल्लेख करने के वाद सम्पूर्ण परिचय जीव तत्त्व को लेकर दिया गया है।

उपर्युक्त वर्णित नौ प्रतिपत्तियों के माध्यम से यह बताया गया है कि

राग-द्वेषादि विभाव परिणतियों से परिणत यह जीव संसार में कैसी—कैसी अवस्थाओं का, किन—किन रूपों का, किन—किन योनियों में जन्म मरण आदि का अनुभव करता है, इस प्रकार के विषयों का उल्लेख इन नौ प्रतिपत्तियों में किया गया है।

इस प्रकार यह सूत्र और इसकी विषयवस्तु जीव के संबंध में विस्तृत जानकारी देती है। अतएव इसका जीवाभिगम नाम सार्थक है। यह आगम जैन तत्त्वज्ञान का महत्त्वपूर्ण अंग है।

प्रस्तुत सूत्र का मूल प्रमाण ४७५० (चार हजार सात सौ पचास) श्लोक ग्रन्थाग्र है। इस पर आचार्य मलयगिरि ने १४००० (चौदह हजार) ग्रन्थाग्र-प्रमाण वृत्ति लिखकर इस गम्भीर आगम के मर्म को प्रकट किया है। वृत्तिकार ने अपने बुद्धि वैभव से आगम के मर्म को हम साधारण लोगों के लिये उजागर कर हमें बहुत उपकृत किया है। इस आगम का अध्ययन करने से हमें जीव-अजीव तत्त्व का ज्ञान होने से हम आत्मा व शरीर की भिन्नता का बोध प्राप्त करते हुए अपने चरम व परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं। अत: यह आगम हमारे लिये उपयोगी है।

— 295, प्रथम 'ए' रोड़, सरदारपुरा, जोधपुर

प्रज्ञापना सूत्र : एक परिचय

श्री प्रकाशचन्द जैन

श्यामाचार्य द्वारा रचित प्रज्ञापनासूत्र एक प्रमुख उपांगसूत्र है। अंगसूत्रों में जो स्थान व्याख्याप्रज्ञप्ति का है वही स्थान उपांगसूत्रों में प्रज्ञापना सूत्र का है। व्याख्याप्रज्ञप्ति के लिए जहाँ भगवती नाम प्रचलित है, वहाँ प्रज्ञापना के लिए भगवती विशेषण प्रयुक्त हुआ है। इसके ३६ पदों में द्रव्यानुयोग की विषयवस्तु का निरूपण हुआ है, जिसका संक्षेप में निरूपण श्री महावीर जैन स्वाध्याय विद्यापीठ, जलगांव के प्राचार्य श्री प्रकाशचन्द जी जैन ने इस आलेख में किया है। —सम्पादक

"अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं" अर्थात् तीर्थंकर भगवान अर्थ रूप आगम की प्ररूपणा करते हैं और उन्हीं के व्युत्पन्नमति सुशिष्य चतुर्दश पूर्वधर गणधर उस अर्थ रूप आगम वाणी को सूत्र रूप में गूँथते हैं, जिन्हें अंगसूत्र के नाम से पुकारा जाता है। उन्हीं अंग सूत्रों के आधार पर विषय को विशद करने हेतु कम से कम दस पूर्वधर आचार्यों के द्वारा रचे गये सूत्र उपांग कहलाते हैं। उन उपांगों में चतुर्थ उपांग प्रज्ञापना सूत्र है।

अंगसूत्रों में जो स्थान भगवती सूत्र का है, उपांग सूत्रों में वही स्थान प्रज्ञापना का है। प्रज्ञापना का अर्थ है— जीव-अजीव के संबंध में प्ररूपणा। इस सूत्र की रचना आचार्य श्याम ने की है। इसका एक ही अध्ययन है। इसके कुल ३६ पद हैं जिनमें जैन सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसकी रचना प्रश्नोत्तर शैली में हुई है। आचार्य मलयगिरि इसे समवायांग का उपांग मानते हैं जबकि आचार्य श्याम इसे दृष्टिवाद का निष्कर्ष कहते हैं। भगवती में अनेक स्थलों पर पन्नवणा की भोलावण दी गई है। इससे प्रज्ञापना की गहनता और व्यापकता स्पष्टत: परिलक्षित होती है।

प. दलसुख मालवणिया आदि विद्वान दिगम्बर परम्परा के आगम षट्खण्डागम की तुलना प्रज्ञापना से करते हैं, क्योंकि दोनों ही आगमों का मूलस्रोत पूर्वज्ञान है। दोनों का विषय जीव और कर्म का सैद्धान्तिक दृष्टि से विश्लेषण करना है। दोनों में अल्पबहुत्व, अवगाहना, अन्तर आदि अनेक विषयों का समान रूप से प्रतिपादन किया गया है।

इस सूत्र के ३६ पदों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

1. प्रथम पद **प्रज्ञापना** में प्रज्ञापना के दो भेद— अजीव व जीव प्रज्ञापना। अजीव प्रज्ञापना में अरूपी अजीव और रूपी अजीव ये दो भेद बताए हैं। जीव प्रज्ञापना में संसारी और सिद्ध जीव के २ भेद बताकर सिद्धों के १५ प्रकार तथा संसारी जीवों के भेद—प्रभेद बताए हैं।
2. द्वितीय **स्थानपद** में पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, नैरयिक, तिर्यंच, भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक और सिद्ध जीवों के वासस्थान का वर्णन है। निवास स्थान दो

प्रकार के हैं— १. स्वस्थान—जहां जीव जन्म से मृत्यु तक रहता है २. प्रासंगिक वासस्थान (उपपात, समुद्घात)

3. तृतीय **अल्पबहुत्व** पद में दिशा, गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, संयत, उपयोग, आहार, भाषक, परीत, पर्याप्त, सूक्ष्म, संज्ञी, भव, अस्तिकाय, चरम, जीव, क्षेत्र, बन्ध, पुद्गल और महादण्डक इन २७ द्वारों की अपेक्षा से जीवों के अल्पबहुत्व का विचार किया गया है।
4. चतुर्थ **स्थितिपद** में नैरयिक, भवनवासी, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, मनुष्य, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक जीवों की स्थिति का वर्णन है।
5. पंचम **विशेषपद** या **पर्यायपद** में चौबीस दण्डकों के नैरयिक से वैमानिक तक की पर्यायों की विचारणा की गई है। इसके बाद अजीव पर्याय के भेद—प्रभेद तथा अरूपी अजीव व रूपी अजीव के भेद—प्रभेदों की अपेक्षा से पर्यायों की संख्या की विचारणा की गई है।
6. छठे **व्युत्क्रान्ति** पद में बारह मुहूर्त और चौबीस मुहूर्त का उपपात और मरण संबंधी विरहकाल क्या है? कहां जीव सान्तर उत्पन्न होता है, कहां निरन्तर? एक समय में कितने जीव उत्पन्न होते हैं और मरते हैं? कहां से आकर उत्पन्न होते हैं? मरकर कहां जाते हैं? परभव की आयु कब बंधती हैं? आयु बन्ध संबंधी आठ आकर्ष कौनसे हैं? इन आठ द्वारों से जीव प्ररूपणा की गई है।
7. सातवें **उच्छ्वास** पद में नैरयिक आदि के उच्छ्वास ग्रहण करने और छोड़ने के काल का वर्णन है।
8. आठवें **संज्ञा** पद में जीव की आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, लोक और ओघ इन दस संज्ञाओं का २४ दण्डकों की अपेक्षा निरूपण किया गया है।
9. नौवें **योनि** पद में जीव की शीत, उष्ण, शीतोष्ण, सचित्त, अचित्त, मिश्र, संवृत, विवृत, संवृतविवृत, कूर्मोन्नत, शंखावर्त, वंशीपत्र इन योनियों के आश्रय से समग्र जीवों का विचार किया गया है।
10. दसवें **चरम-अचरम** पद में चरम है, अचरम है, चरम है (बहुवचन) अचरम है, चरमान्त प्रदेश है, अचरमान्त प्रदेश है, इन ६ विकल्पों को लेकर २४ दण्डकों के जीवों का गति आदि की दृष्टि से तथा विभिन्न द्रव्यों का लोक—अलोक आदि की अपेक्षा विचार किया गया है।
11. ग्यारहवें **भाषा** पद में भाषा किस प्रकार उत्पन्न होती है? कहां पर रहती है? उसकी आकृति किस प्रकार की है? उसका स्वरूप, बोलने वाले आदि के प्रश्नों पर विचार किया है। साथ ही सत्य भाषा के दस, मृषाभाषा के दस, सत्यामृषा के दस तथा असत्यामृषा के १६ प्रकार

बताये हैं। अन्त में १६ प्रकार के वचनों का उल्लेख है।

12. बारहवें **शरीर** पद में पांच शरीरों की अपेक्षा चौबीस दण्डकों में से कितने शरीर हैं? तथा इन सभी में बुद्ध, मुक्त कितने—कितने और कौनसे शरीर होते हैं? आदि का वर्णन है।
13. तेरहवें **परिणामपद** में जीव के गति आदि दस परिणामों और अजीव के बंधन आदि दस परिणामों का वर्णन है।
14. चौदहवें **कषायपद** में क्रोधादि चार कषाय, उनकी प्रतिष्ठा, उत्पत्ति, प्रभेद तथा उनके द्वारा कर्मप्रकृतियों के चयोपचय एवं बन्ध की प्ररूपणा की गई है।
15. पन्द्रहवें **इन्द्रियपद** में दो उद्देशक हैं। प्रथम में पांचों इन्द्रियों के संस्थान, बाहल्य आदि २४ द्वारों से विचारणा की है। दूसरे में इन्द्रियोपचय, इन्द्रियनिर्वर्तना, निर्वर्तनासमय, इन्द्रियलब्धि, इन्द्रिय—उपयोग आदि तथा इन्द्रियों की अवगाहना, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा आदि १२ द्वारों से चर्चा की गई है। अन्त में इन्द्रियों के भेद—प्रभेद की चर्चा है।
16. सोलहवें **प्रयोगपद** में सत्यमन प्रयोग आदि १५ प्रकार के प्रयोगों का २४ दण्डकवर्ती जीवों की अपेक्षा विचार किया गया है। अन्त में ५ प्रकार के गतिप्रपात का चिन्तन है।
17. सतरहवें **लेश्यापद** में ६ उद्देशक हैं। प्रथम में समकर्म, समवर्ण, समलेश्या, समवेदना, समक्रिया और समआयु का अधिकार है। दूसरे में कृष्णादि ६ लेश्याओं के आश्रय से जीवों का निरूपण किया है। तीसरे में लेश्या सम्बन्धी प्रश्नोत्तर हैं। चतुर्थ में परिणाम, रस, वर्ण, गन्ध, अवगाढ़, वर्गणा, स्थान, अल्पबहुत्व आदि का अधिकार है। पांचवे में लेश्याओं के परिणाम हैं। छठे में जीवों की लेश्याओं का वर्णन है।
18. अठारहवें पद का नाम **कायस्थिति** है। जीव—अजीव दोनों अपनी अपनी पर्याय में कितने काल तक रहते हैं, इसका वर्णन है।
19. उन्नीसवें **सम्यक्त्व** पद में २४ दण्डकवर्ती जीवों में क्रमशः सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि व मिश्रदृष्टि का विचार किया है।
20. बीसवें **अन्तक्रियापद** में कौनसा जीव अन्तक्रिया कर सकता है और क्यों? का वर्णन है। अन्तक्रिया शब्द वर्तमान भव का अन्त करके नवीन भव प्राप्ति के अर्थ में भी हुआ है, जिसका २४ दण्डक के जीवों के बारे में विचार किया गया है। कर्मों की अन्तरूप अन्तक्रिया तो एकमात्र मनुष्य ही कर सकते हैं, इसका ६ द्वारों के माध्यम से वर्णन है।
21. इक्कीसवें **अवगाहना संस्थान** पद में शरीर के भेद, संस्थान, प्रमाण, पुद्गलों के चय, पारस्परिक संबंध उनके द्रव्य, प्रदेश तथा अवगाहना के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा है।
22. बावीसवें **क्रियापद** में कायिकी आदि ५ क्रियाओं का तथा इनके भेदों की

अपेक्षा समस्त संसारी जीवों का विचार है।

23. तेबीसवें **कर्मप्रकृति** पद में २ उद्देशक हैं। प्रथम में ज्ञानावरणीय आदि ८ कर्मों में से कौन जीव कितनी प्रकृतियां बांधता है, इसका विचार है तथा दूसरे में कर्मों की उत्तरप्रकृतियों और उनके बन्ध का वर्णन है।
24. चौबीसवें **कर्मबंध** पद में ज्ञानावरणीय आदि में से किस कर्म को बांधते हुए जीव कितनी प्रकृतियों को बांधता है? का वर्णन है।
25. पच्चीसवें **कर्मवेद** पद में ज्ञानावरणीयादि कर्मों को बांधते हुए जीव कितनी प्रकृतियों का वेदन करता है?, इसका विचार किया गया है।
26. छब्बीसवें **कर्मवेदबन्ध** पद में ज्ञानावरणीयादि कर्मों का वेदन करते हुए जीव कितनी प्रकृतियों को बांधता है? यह बताया गया है।
27. सत्तावीसवें **कर्मवेदपद** में ज्ञानावरणीयादि कर्मों का वेदन करते हुए जीव कितनी कर्म प्रकृतियों का वेदन करता है? का वर्णन है।
28. अट्ठावीसवें **आहारपद** में दो उद्देशक हैं। प्रथम में सचित्ताहारी आहारार्थी कितने काल तक किसका आहार करता है? वह सर्वात्म प्रदेशों से आहार करता है या अमुक भाग से? क्या सर्वपुद्गलों का आहार करता है? किस रूप में उसका परिणमन होता है? लोमाहार आदि क्या है? इसका विचार है दूसरे उद्देशक में आहार, भव्य, संज्ञी, लेश्या, दृष्टि आदि तेरह अधिकार हैं।
29. उनतीसवें **उपयोग पद** में दो उपयोगों के प्रकार बताकर किस जीव में कितने उपयोग पाये जाते हैं? का वर्णन है।
30. तीसवें **पश्यत्ता** पद में ज्ञान और दर्शन, ये उपयोग के २ भेद बताकर इनके प्रभेदों की अपेक्षा जीवों का विचार किया गया है।
31. इकतीसवें **संज्ञी** पद में संज्ञी, असंज्ञी, नोसंज्ञी की अपेक्षा जीवों का विचार किया है।
32. बत्तीसवें **संयत** पद में संयत, असंयत और संयातासंयत की दृष्टि से जीवों का विचार किया है।
33. तेतीसवें **अवधिपद** में विषय, संस्थान, अभ्यन्तावधि, बाह्यावधि, देशावधि, सर्वावधि, वृद्धि—अवधि, प्रतिपाती और अप्रतिपाती इन द्वारों से विचारणा की गई है।
34. चौंतीसवें **प्रविचारणा** पद में अनन्तरागत आहारक, आहारविषयक आभोग—अनाभोग, आहार रूप से गृहीत पुद्गलों की अज्ञानता, अध्यवसायकथन, सम्यक्त्वप्राप्ति तथा कायस्पर्श, रूप, शब्द, मन से संबंधित प्रविचारणा (विषयभोग) एवं उनके अल्पबहुत्व का वर्णन है।
35. पैंतीसवें **वेदनापद** में शीत, उष्ण, शीतोष्ण, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, शारीरिक, मानसिक, शारीरिक—मानसिक साता, असाता, साता—असाता, दुःख, सुख, अदुःखसुखा, आभ्युपगमिकी,

औपक्रमिकी, निदा एवं अनिदा नामक वेदनाओं की अपेक्षा जीवों का विचार किया गया है।

36. छत्तीसवें **समुद्घात** पद में में वेदना, कषाय, मरण, वैक्रिय, तैजस, आहारक और केवली समुद्घात की अपेक्षा जीवों की विचारणा की गई है। इसमें केवली समुद्घात का विस्तृत वर्णन है।

–प्राचार्य, श्री महावीर जैन स्वाध्याय विद्यापीठ, जलगांव
319, भीकमचन्द जैन नगर, प्रिम्पाला रोड़, जलगांव–425001

प्रज्ञापना सूत्र : एक समीक्षा

श्री पारसमल संचेती

प्रज्ञापना सूत्र के ३६ पदों/प्रकरणों में जीवादि पदार्थों का प्रज्ञापन/निरूपण हुआ है। इसके लिए भी व्याख्याप्रज्ञप्ति की भांति 'भगवती' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। आगमज्ञ श्री पारसमल जी संचेती ने प्रज्ञापना सूत्र के कर्त्ता, रचनाकाल, चतुर्थ उपांगत्व, रचना शैली, व्याख्या-ग्रन्थ, अन्य सूत्रों में अतिदेश आदि की चर्चा करने के साथ प्रज्ञापना सूत्र की विषयवस्तु की भी संक्षिप्त विवेचना की है। लेख विचारपूर्ण है। —सम्पादक

नंदी सूत्र में आगमों के अंग प्रविष्ट श्रुत और अंगबाह्य श्रुत दो भेद किये गए हैं। उसमें प्रज्ञापना की गणना अंगबाह्य के उत्कालिक श्रुत में की गई है। श्वेताम्बर संप्रदाय में मान्य यह चौथा उपांग सूत्र है। जिस प्रकार आगमों में आचारांग के लिए 'भगवान'[१] एवं व्याख्याप्रज्ञप्ति के लिये 'भगवती' विशेषण उपलब्ध है उसी प्रकार प्रज्ञापना के लिये भी 'भगवती'[२] विशेषण उपलब्ध होता है। वह इसकी महत्ता का सूचक है। यह सूत्र विविध श्रुत रत्नों का खजाना है व दृष्टिवाद का निष्यन्द(निष्कर्ष) है। कहा है—

'अज्झयणमिणं चित्तं सुयरयणं दिट्ठिवायणीसंदं'[३]

प्रज्ञापना का अर्थ

'प्र' यानी विशिष्ट प्रकार से 'ज्ञापन' यानी निरूपण करना। यथावस्थित रूप से जीवादि पदार्थों का ज्ञान कराने वाली होने से यह 'प्रज्ञापना' है। 'यथावस्थितं जीवादिपदार्थज्ञापनात् प्रज्ञापना' यह अर्थ आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ने किया है।[४] प्रज्ञापना का अर्थ करते हुए आचार्य मलयगिरि लिखते हैं—'प्रकर्षेण निःशेषकुतीर्थितीर्थकरासाध्येन यथावस्थितनिरूपण-लक्षणेन ज्ञाप्यन्ते शिष्यबुद्धावारोप्यन्ते जीवाजीवादयः अनयेति प्रज्ञापना।'[५] अर्थात् जिसके द्वारा शिष्यों को जीव—अजीव आदि तत्त्वों के यथावस्थित स्वरूप का निरूपण किया जाय, जो विशिष्ट निरूपण कुतीर्थिक प्रणेताओं के लिये असाध्य है, वह प्रज्ञापना है।

इस सूत्र में जीवादि पदार्थों के भेदों के रहने के स्थान आदि का व्यवस्थित क्रम से, विस्तार से विशिष्ट वर्णन होने से इसका प्रज्ञापना नाम सार्थक है। इस सूत्र के प्रथम पद का नाम भी प्रज्ञापना है।

रचना आधार, कर्त्ता व समय

प्रज्ञापना कर्त्ता ने आरम्भ की गाथाओं में इसे दृष्टिवाद का निष्यंद कहा है— 'अज्झयणमिणं चित्तं सुयरयणं दिट्ठिवायणीसंदं। जह वण्णियं भगवया अहमवि तह वण्णइस्सामि।।' इससे प्रज्ञापना की रचना का आधार अनेक पूर्व रहे हों ऐसा मालूम पड़ता है।

इसके कर्ता के विषय में आर्यश्याम (कालक) का नाम निर्विवाद रूप

से मान्य हैं। ऐसा उल्लेख सूत्र के प्रारम्भ में निर्दिष्ट मंगल के बाद की दो गाथाओं में भी है जिनको व्याख्याकार आचार्य हरिभद्र व आचार्य मलयगिरि ने अन्य कर्तृक कहा है। उनमें प्रज्ञापनाकर्ता आर्य श्याम को पूर्व श्रुत से समृद्ध भी बताया है।[६]

वर्तमान में उपलब्ध इतिहास में तीन कालकाचार्य प्रसिद्ध हैं। प्रथम जो निगोद व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध हैं तथा वीर निर्वाण ३७६ में कालधर्म को प्राप्त हुए। दूसरे गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य जिनका समय वीर निर्वाण ४५३ के आसपास का है। तीसरे वीर निर्वाण ९९३ में हुए हैं। इनमें से तीसरे कालकाचार्य तो प्रज्ञापना के कर्ता हो ही नहीं सकते, क्योंकि वीर निर्वाण ९९३ तक तो प्रज्ञापना की रचना हो चुकी थी। बाकी दो कालकाचार्यों को कुछ आधुनिक विद्वान एक ही होना मानते हैं। दो मानने पर प्रथम कालकाचार्य को प्रज्ञापना कर्ता मानने की ओर अधिकांश आधुनिक विद्वानों का झुकाव है। प्राचीन ग्रंथपट्टावलियों में भी प्रज्ञापना कर्ता के रूप में इनका ही उल्लेख मिलता है। जैसे—'आद्यः प्रज्ञापनाकृत इन्द्रस्य अग्रे निगोदविचारवक्ता श्यामाचार्यापरनामा (खरतरगच्छीय पट्टावली)[७] इन कालकाचार्य का जन्म वीर निर्वाण संवत् २८०, दीक्षा वीर सं. ३००, युगप्रधान पदवी वीर सं. ३३५, मृत्यु वीर सं. ३७६ में होने का उल्लेख मिलता है।[८] इससे प्रज्ञापना रचना काल वीर सं. ३३५ से ३७६ के बीच कहीं ठहरता है।

इन कालकाचार्य का नंदी स्थविरावली में वाचक वंश परम्परा के तेरहवें स्थविर आर्य श्याम के रूप में उल्लेख है। किन्तु प्रज्ञापना सूत्र की प्रारंभ की दो प्रक्षिप्त गाथाएं[६], जो उनके शिष्य प्रशिष्यों द्वारा कृत संभव लगती है जिनका उल्लेख व्याख्याकार आचार्य हरिभद्र ने भी किया है उनमें आर्य श्याम को वाचकवंश के तेईसवें धीर पुरुष कहा है (वायगवरवसाओ तेवीसइमेणं धीरपुरिसेणं)। इसका समाधान इस प्रकार से किया जाता है कि वाचक वंश परम्परा के तेरहवें पाट पर नंदी स्थविरावली में आर्य श्याम है उनमें से आर्य सुधर्मा को कम करने पर १२ रहे। वाचक वंश प्रमुख ११ ही गणधर भगवंत तथा उनके बाद उनके पाट पर होने वाले बारहवें वाचक वंश प्रमुख आर्य श्याम वाचकवंश परम्परा में तेईसवें धीर पुरुष हो जाते है। ऐसा समाधान 'विचारश्रेणि' में भी दिया गया है[८] अथवा लिपि प्रमाद से 'तेरसमेणं' की जगह 'तेवीसइमेणं' शब्द हो गया हो यह भी संभव लगता है।

स्थानकवासी परम्परा ने उनको ही आगम रूप से मान्य किया है जो लगभग दशपूर्वी या उनके ऊपर वालों की रचना हो। नंदीसूत्र में भी स्थविरावली जो कि देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण (देववाचक) द्वारा कृत है को

छोड़कर अन्य प्राय: सभी पाठ प्राचीन नंदी[९] के मान्य होने से ही उसको आगम की कोटि में रखा गया है। इसीलिये स्थविरावली को पढ़ने में अस्वाध्याय काल का वर्जन नहीं किया जाता है बाकी सूत्र को पढ़ने के लिये अस्वाध्याय काल का वर्जन किया जाता रहा है। नंदीसूत्र में वर्णित अंगबाह्य कालिक व उत्कालिक सूत्रों में जो क्रम दिया गया है उसका आधार उनका रचना काल क्रम रहा है, विशेष बाधक प्रमाण के अभाव में ऐसा मान लिया जाय तो ऐसा कहा जा सकता है कि प्रज्ञापना सूत्र की रचना दशवैकालिक, औपपातिक, राजप्रश्नीय तथा जीवाभिगम सूत्र के बाद व नंदी, अनुयोगद्वार के पूर्व हुई है। अनुयोगद्वार सूत्र के कर्त्ता आर्यरक्षित थे। उनके पूर्व का आर्य स्थूलिभद्र तक का काल १० पूर्वधरों का काल रहा है। यह बात इतिहास से सिद्ध है[८] तथा आर्य श्याम इसके मध्य होने वाले वाचक वंश में युगप्रधान है। यह निश्चित हो जाता है कि प्रज्ञापना १० पूर्वधर आर्य श्याम की रचना है। अत: तीनों ही श्वेताम्बर सम्प्रदायों में यह आगम रूप से मान्य है।

क्या प्रज्ञापना चौथा उपांग सूत्र है

व्याख्या-साहित्य में प्रज्ञापना सूत्र को चौथे अंग समवायांग सूत्र का उपांग बताया गया हैं।[१०] स्थानांग, राजप्रश्नीय, नंदी, अनुयोगद्वार में श्रुत के दो भेद अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य (अनंग प्रविष्ट) किये हैं। समवायांग, उत्तराध्ययन व नंदी सूत्र में अंगबाह्य के 'प्रकीर्णक' भेद को भी बताया है।[११] आगमों में सिर्फ एक जगह निरियावलिका पंचक में अंगबाह्य के अर्थ में उपांग शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। आचार्य उमास्वाति ने भी तत्त्वार्थभाष्य में अंगबाह्य के सामान्य अर्थ में उपांग शब्द का प्रयोग किया है।[११] जिस प्रकार वेद—वेदांगों के उपांग सूत्र किसी वेद या वेदांग विशेष से संबंधित नहीं होकर उनके पूरक या सहायक व्याख्या ग्रंथ रहे हैं, उसी प्रकार अंग सूत्रों के सहायक पूरक या अंगांशों को अंगबाह्य या उपांग सूत्र भी कहा जाता रहा है। धीरे—धीरे अंग बाह्यों को विशेष अंगों से संबंधित किया जाने लगा और विशेष अंगों के संबंध में उपांग संज्ञा कही जाने लगी। आरम्भ में निरयावलिका सूत्र में 'उपांग' शब्द अंगबाह्य के सामान्य अर्थ में आया है क्योंकि ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता है कि उनका निर्माण विशेष अंगों के उपांग रूप में किया गया हो। प्रज्ञापना की हरिभद्रीय प्रदेश वृत्ति में भी प्रज्ञापना के समवायांग सूत्र के उपांग होने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। किंतु नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरि के समय तक सूर्यप्रज्ञप्ति को पांचवें अंग भगवती के व जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति को छठे अंग ज्ञाताधर्म कथा के उपांग की संज्ञा प्राप्त हो गयी थी, परन्तु चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र प्रकीर्णक ही रहा। ऐसा उल्लेख उनकी स्थानांग की चौथे स्थान की टीका में है।[१२] इसके बाद होने वाले

आचार्य श्रीचन्द्र के समय चन्द्र प्रज्ञप्ति सूत्र सातवें अंग के उपांग स्थान को प्राप्त कर चुका था, लेकिन निरयावलिका आदि पांच सूत्र निश्चित रूप से उपांग संज्ञा को प्राप्त नहीं हुए थे।[१३] यद्यपि उपासकदशा से चन्द्रप्रज्ञप्ति का एवं पीछे के पांच अंगों से निरियावलिका आदि सूत्रों का विषय-संबंध कोई स्पष्ट नहीं होता है। आचार्य जिनप्रभ जिन्होंनें ई. १३०६ में विधिमार्गप्रपा ग्रंथ की रचना की थी। उसमें स्पष्ट रूप से १२ अंगों के साथ १२ उपांगों का जिस अंग का जो उपांग है निर्देश किया है एवं आगमों का अंग, उपांग, मूल और छेद रूप में विभाजन सर्वप्रथम इस ग्रंथ में उपलब्ध होता है।

इस तरह जो सूत्र आरंभ में तथा अंग सूत्रों के मध्य पढाये जाते थे उनको छोड़कर शेष उपलब्ध आगम धीरे-धीरे उन-उन कारणों से (आगमों को श्रुत पुरुष की व्याख्या से समझाना आदि) उन-उन अंगों से संबंधित होते हुए स्पष्ट उपांग संज्ञा को प्राप्त हो गये। श्रमण जीवन में मूल सहायक होने से व आरंभ में पढाये जाने वाले आगम मूल संज्ञा को, अंगों के मध्य पढाये जाने वाले प्रायश्चित्त आदि के विधायक होने से छेद संज्ञा को, बाकी आगम उपांग संज्ञा को प्राप्त कर व्यवस्थित हो गये।[१४] इस तरह प्रज्ञापना सूत्र चौथे उपांग सूत्र रूप में व्यवस्थित हुआ। टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने भी अपनी प्रज्ञापना टीका में इसे चौथे अंग का उपांग कहा है। चौथे अंग से इसका संबंध इस प्रकार से कहा जा सकता है कि श्वासोच्छ्वास, संज्ञा, कषाय, इन्द्रिय, योग, क्रिया, कर्म, उपयोग समुद्घात आदि के विषय में जहां समवायांग सूत्र में संक्षेप में वर्णन है, प्रज्ञापना में उनका विस्तार से वर्णन है। प्रथम पद प्रज्ञापना, व्युत्क्रांति, अवगाहना, संस्थान, लेश्या, आहार, अवधि, वेदना पद का समवायांग में 'जाव' आदि शब्दों से संक्षेप हुआ है। उनका प्रज्ञापना में पूरा खुला पाठ दिया गया है। भगवती सूत्र में तो लगभग पूरे प्रज्ञापना सूत्र का समावेश हो जाता है। वह प्रज्ञापना से निकट संबंध रखता है।

रचना शैली

प्रज्ञापना सूत्र उपांगों में सबसे बड़ा सूत्र है। यह समग्र ग्रंथ ७८८७ श्लोक प्रमाण है। यह ३६ प्रकरणों में विभक्त है जिनको कि पद कहा गया है। समग्र ग्रंथ की रचना प्रश्नोत्तर रूप में है। यह आगम मुख्यतया गद्यात्मक है, कुछ भाग पद्य में भी है। इसमें आयी हुई गाथाओं का परिमाण २७२ है। प्रथम पद में काफी गाथाएं हैं। पदों के आरम्भ में विषय या द्वार सूचक और कहीं मध्य में तो कहीं उपसंहार सूचक गाथाएं आयी हुई हैं। विषयों का विस्तार से वर्णन है। प्राय: पदों में २४ दण्डकों में जीवों को विभाजित कर विषय निरूपण किया गया है। सूत्र की भाषा अर्द्धमागधी है जिस पर महाराष्ट्री प्राकृत का असर हुआ है, ऐसा आधुनिक विद्वान मानते हैं।

प्रज्ञापना सूत्र के व्याख्या ग्रंथ

प्रज्ञापना सूत्र की अनेक प्राचीन ताड़पत्रीय तथा कागज पर लिखी हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध होती हैं। श्री शांतिनाथ ताड़पत्रीय जैन भण्डार खंभात तथा जैसलमेर के जिनभद्रसूरि ज्ञान भण्डार में विक्रम की १४वीं सदी की ताड़पत्रीय प्रतियां उपलब्ध होती हैं तथा विक्रम की सोलहवीं सदी की कागज पर लिखी प्रतियां भी मिलती हैं। समय–समय पर आचार्यो ने प्रज्ञापना पर अनेक व्याख्याएं भी लिखी हैं, जो सूत्र को सुगम बना देती हैं। उनमें से निम्न व्याख्याएं आजकल उपलब्ध होती हैं[७]—

1. प्रज्ञापना प्रदेश व्याख्या— इसके कर्त्ता भवविरह हरिभद्रसूरि (समय ई.सं. ७०० से ७७०) है। प्रज्ञापना के अमुक अंशों का इसमें अनुयोग है।

2. प्रज्ञापना तृतीय पद संग्रहणी तथा उसकी अवचूर्णि— आचार्य अभयदेव (सं.११२०) ने तीसरे अल्पबहुत्व पद संग्रहणी की रचना की है तथा इस पर लिखी एक अवचूर्णि भी उपलब्ध होती है। इसके कर्ता कुलमंडन सूरि ने संवत् १४४१ में इसकी रचना की है।

3. विवृति (टीका)—आचार्य मलयगिरि ने संस्कृत भाषा में प्रज्ञापना पर विस्तृत व्याख्या लिखी है। लेखनकाल सं. ११८८ से १२६० के बीच का है। सम्पूर्ण प्रज्ञापना सूत्र को समझने में प्रमुख आधारभूत यह टीका है।

4. श्री मुनिचन्द्रसूरि (स्वर्गवास सं. 1178) कृत वनस्पति विचार— ७१ गाथाओं में प्रज्ञापना के आद्य पद में आयी हुई वनस्पतियों पर विचार किया गया है। इस पर एक अज्ञात लेखक की अवचूरि भी है।

5. प्रज्ञापना बीजक—हर्षकुल गणी ने लिखा है। प्रति पर लेखन संवत् १८५९ लिखा है।

6. श्री पद्मसुंदर कृत अवचूरि— यह अवचूरि पद्मसुंदरजी ने मलयगिरि टीका के आधार पर रची है। इसकी हस्तलिखित प्रति सं. १६६८ में लिखी हुई मिलती है।

7. श्री धनविमलकृत टब्बा— रचना सं. १७६७

8. श्री जीवविजयजी कृत टब्बा— रचना सं. १७७४

9. श्री परमानंद जी कृत स्तबक—रचना सं. १८७६

10.श्री नानचंदजी कृत संस्कृत छाया—प्रज्ञापना का संस्कृतानुवाद है। अनुवादकर्ता श्री नानचंद जी म.सा. ई. सं. १८८४ में विद्यमान थे।

11. अज्ञात कर्तृक वृत्ति

12. प्रज्ञापना सूत्र भाषांतर—पं. भगवानदासजी हरखचन्दजी द्वारा

13. प्रज्ञापना पर्याय— कुछ विषम पदों के पर्याय रूप है।

इनमें से क्रम संख्या १,२,३,१० व १२ की व्याख्याएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इनके अलावा प्रज्ञापना सूत्र पर हिन्दी व गुजराती में अनेक भाषान्तर व विवेचन प्रकाशित हुए है। जिनमें श्री अमोलकऋषिजी म.सा. कृत आगम

का हिंदी अनुवाद, श्री घासीलाल जी म.सा. कृत संस्कृत में विस्तृत टीका तथा उसका हिन्दी व गुजराती अनुवाद तथा युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म. सा. के प्रधान सम्पादन में आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर से निकला हिन्दी संस्करण आदि हैं।

प्रज्ञापना सूत्र की अन्य सूत्रों में भलामण या अतिदेश

आगम लेखनकाल में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने अनेक आगमों में आये हुए कई मिलते जुलते पाठों को एक आगम में रखकर अन्य आगम में 'जाव' आदि शब्दों से संक्षेप कर उस आगम में देखने का संकेत किया है, जिससे समान पाठ बार—बार न लिखना पड़े तथा आगमों का कलेवर छोटा रहे। अनेक आगमों में पाठों को संक्षिप्त कर प्रज्ञापना से देखने का भी अतिदेश किया गया है। समवायांग सूत्र के जीव—अजीव राशि विभाग में प्रज्ञापना के १,६,१७,२१,२८,३३,३५ पद देखने की भलामण दी है। इसी तरह भगवती सूत्र में प्रज्ञापना सूत्र के १,२,३,४,५,६,७,८,९, १०,११,१२,१३,१४,१५,१६,१७,१८,१९,२०,२१,२२,२३,२४,२५, २६,२८,२९,३०,३२,३३,३४,३५,३६ इन पदों से विषय पूर्ति कर लेने का संकेत किया गया है। जीवाभिगम सूत्र में प्रथम प्रज्ञापना, दूसरे स्थानपद, चौथा स्थिति, छठा व्युत्क्रांति तथा अठारहवें कायस्थिति पद की अनेक जगह भलामण है।[१५]

विषयवस्तु

प्रज्ञापना सूत्र प्रधानतया द्रव्यानुयोगमय है। कुछ गणितानुयोग व प्रसंगोपात्त इतिहास आदि के विषय इसमें सम्मिलित हैं। जीवादि द्रव्यों का इसमें सविस्तार विवेचन है। वृत्तिकार मलयगिरि पदों के विषय का विभाजन ७ तत्त्वों में इस प्रकार से करते है—

१—२ जीव अजीव तत्व	—१,३,५,१०,१३ वाँ पद
३ आस्रव	—१६ व २२वाँ पद
४. बंध	— २३ वाँ पद
५—७ संवर, निर्जरा और मोक्ष	— ३६ वां पद

बाकी के पदों में कहीं किसी तत्त्व का, कहीं किसी का निरूपण है। आचार्य मलयगिरि ने द्रव्यादि चार पदों में भी इन पदों का विभाजन किया हैं—

द्रव्य का	— प्रथम पद में
क्षेत्र का	— द्वितीय पद में
काल का	— चौथे पद में
भाव का	— शेष पदों में

द्रव्यानुयोगप्रधान स्थानांग, भगवती, जीवाभिगम आदि सूत्रों के अनेक विषय इससे मिलते जुलते हैं। भगवती सूत्र में तो लगभग पूरा प्रज्ञापना

समाविष्ट हो जाता है। दिगम्बर ग्रंथ षट्खण्डागम तथा उसी के आधार से बने गोम्मटसार से भी कई विषय मेल खाते हैं। संक्षेप में धर्म, साहित्य, दर्शन, भूगोल के कई विषयों का इसमें समावेश है।

सूत्रकार आर्य श्यामाचार्य ने सूत्र के आरम्भ में सिद्धों को नमस्कार करके त्रैलोक्य गुरु भगवान महावीर को नमस्कार किया है।[१६] आगे की गाथाओं में यह बताया है कि भगवान् ने जिस प्रकार से सर्वभावों की प्रज्ञापना की है उसी प्रकार मैं भी चित्र श्रुत रत्न एवं दृष्टिवाद के निष्यंद रूप अध्ययन को कहूंगा। फिर क्रमशः ३६ पदों के नाम दिये हैं।

प्रथमादि पदों की विषयवस्तु संक्षेप में निम्न है—

1. प्रज्ञापना पद— प्रथम पद में प्रज्ञापना को दो भागों में विभक्त किया है (अ) जीव प्रज्ञापना (ब) अजीव प्रज्ञापना। प्रथम अजीव प्रज्ञापना को कहते हुए उसके दो भेद बताये हैं— रूपी अजीव व अरूपी अजीव। अरूपी अजीव के १० भेद एवं रूपी अजीव के ५३० भेदों का वर्णन किया है। जीव प्रज्ञापना में जीवों के दो भेद किये है संसारी और सिद्ध। सिद्ध जीवों के भेद बताने के बाद संसारी जीवों का विस्तार से वर्णन भेदों के द्वारा बताया है। पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, नारकी, जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प, मनुष्य तथा देवों के प्रकार समझाये गये हैं। मनुष्यों के सम्मूर्च्छिम, अकर्मभूमिज, अंतरद्वीपज, कर्मभूमिज आदि प्रकारों के नाम गिनाये गये हैं। कर्मभूमिज मनुष्यों के भेदों में म्लेच्छ जातियों एवं आर्यों का वर्णन है। आर्यों के अनेक भेद करते हुए उस समय की आर्य जाति या कुल, शिल्प, कर्म, लिपि एवं आर्य देशों का वर्णन किया है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आर्यों का वर्णन है।

इस प्रकार इस पद में जीव—अजीवों को व्यवस्थित वर्गीकरण के द्वारा समझाया है। सम्पूर्ण विश्व में जैन दर्शन ही एक मात्र दर्शन है जिसने वनस्पति आदि एकेन्द्रियों में भी स्पष्ट रूप से जीवत्व स्वीकार किया है तथा उनकी रक्षा के लिए सर्वांगीण उपाय बताये हैं। वनस्पति आदि की रक्षा मुख्यतया पर्यावरण की शुद्धि पर आधारित है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी वनस्पति को सचेतन सिद्ध कर दिया है। वह आहार ग्रहण करती है, बढ़ती है, श्वासोच्छ्वास लेती है, रोगी होती है तथा मरती भी है। विभिन्न प्रकार के प्रयोगों के द्वारा वैज्ञानिकों ने निष्कर्ष निकाला है कि वनस्पति भयभीत होती है, हर्षित होती है। वनस्पति विज्ञान में पौधों की मैथुन क्रिया का विशद वर्णन है। प्रज्ञापना के इस पद में वनस्पति को सचेतन माना है। आगे के पदों में उनके आयु, श्वासोच्छ्वास, भोजन, हर्ष, दुःख आदि का वर्णन है। कषाय पद में बताया है कि वनस्पति को क्रोध आता है, वह मान भी करती है, उसमें माया भी होती है, उसमें लोभ भी

होता है, वह परिग्रह भी रखती है।

अजीव प्रज्ञापना में बताये हुए द्रव्यों को आधुनिक विज्ञान ने भी किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। धर्मास्तिकाय को ईथर (Ether), अधर्मास्तिकाय को गुरुत्वाकर्षण का क्षेत्र (Field of gravitation) के रूप में, पुद्गल (Matter) आकाश एवं काल को भी माना है। किन्तु वैज्ञानिकों द्वारा माने हुए परमाणु तथा काल की सूक्ष्म ईकाई से जैन दर्शन के परमाणु तथा काल की ईकाई अति सूक्ष्म है।

2. स्थान पद– उपर्युक्त प्रथम पद में आये हुए जीवों के रहने के स्थान का वर्णन है।

3. अल्पबहुत्व पद– दिशा, गति, इन्द्रिय आदि २७ द्वारों से जीवों का अल्पबहुत्व है। अजीवों का द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से अल्पबहुत्व बताया है तथा अंत में आगमों का सबसे बड़ा अल्पबहुत्व महादण्डक (९८ बोल की अल्पबहुत्व) है।

4. स्थिति पद– चौबीस ही दण्डकों के जीवों के पर्याप्त व अपर्याप्त की स्थिति का वर्णन है।

5. विशेष अथवा पर्याय पद– जीव अजीव के पर्यायों की द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा तुलना की गयी है।

6. व्युत्क्रांति पद– जीवों की गति आदि में उत्पात, उद्वर्तन संबंधी विरह, उनके उत्पन्न होने की संख्या का वर्णन है। साथ ही यह बताया गया है कि वे कहां से आकर उत्पन्न हो सकते हैं तथा मरकर कहां–कहां जा सकते हैं।

7. उच्छ्वास पद– इस पद में नैरयिक आदि २४ दण्डकों के उच्छ्वास ग्रहण करने और छोड़ने के काल का वर्णन है।

8. संज्ञा पद– आहारादि १० संज्ञाओं के आश्रय से जीवों का वर्णन है।

9. योनि पद– जीवों के उत्पन्न होने की योनियों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन है।

10.चरम पद– रत्नप्रभा पृथ्वी आदि, परमाणु आदि व जीवों में चरम–अचरम का कथन है।

11.भाषा पद–भाषा के भेद, उनके बोलने में प्रयोग में आने वाले द्रव्यों का वर्णन करते हुए बताया है कि किस प्रकार बोले जाने पर भाषा के द्रव्य सारे लोक में फैल जाते हैं। उन ध्वनि तरंगों रूप द्रव्यों को ग्रहण कर शब्द सुने जाते हैं। जैन दर्शन सिवाय अन्य भारतीय दार्शनिक विचारधाराएं शब्द को आकाश का गुण मानती रही है जबकि जैन दर्शन उनको पुद्गल मानता है। जैन धर्म की इस विलक्षण मान्यता को भी विज्ञान ने प्रमाणित कर दिया है।

12.शरीर पद– औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर कितने हैं? किन जीवों को कितने प्राप्त हैं तथा उनसे छूटे द्रव्य (मुक्त शरीर) कितने हैं? इस प्रकार का वर्णन है।

13.परिणाम पद– जीव के गति आदि १० परिणामों का २४ दण्डकों में विचार किया गया है। अजीव के बंधन आदि दस परिणामों का वर्णन करते हुए बताया है कि किस प्रकार के पुद्‌गलों का आपस में बंध होता है। जैन दर्शन पुद्‌गलों में पाये जाने वाले स्निग्धत्व और रुक्षत्व इन दो गुणों के कारण बंध होना मानता है। वैज्ञानिक भी धन विद्युत (Positive Charge) और ऋण विद्युत (Negative Charge) इन दो स्वभावों को पुद्‌गलों के बंध का कारण मानते हैं।[१७]

14.कषाय पद– क्रोधादि चारों कषायों के भेदों का २४ दण्डकों में वर्णन एवं उनसे होने वाले कर्मों के बंधादि का वर्णन है।

15.इन्द्रिय पद– इसके दो उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में इन्द्रियों का संस्थान, रचना के द्रव्य विषयादि का वर्णन है। द्रव्यों की पृथ्वीकायादि से स्पर्शना व द्वीप समुद्र के नामों का उल्लेख भी है। द्वितीय उद्देशक में इन्द्रिय उपयोग के अवग्रहादि प्रकार, अतीत, बद्ध (वर्तमान) और पुरस्कृत (भविष्य में होने वाली) द्रव्येन्द्रियों एवं भावेन्द्रियों के आश्रय से जीवों का वर्णन है।

16.प्रयोग पद– जीव के सत्यमनोयोग आदि १५ योगों एवं प्रयोगगति आदि पांच भेदों की गतियों का वर्णन है। इस पद से नारकी और देवता के उत्तर वैक्रिय में भी वैक्रिय मिश्र योग शाश्वत बताया गया है। वैक्रिय मिश्रयोग मात्र अपर्याप्त अवस्थाभावी मानने पर वह शाश्वत नहीं रहता। क्योंकि देवता तथा नारकी निरंतर अपर्याप्त नहीं मिलते हैं। इसलिये इनके पर्याप्त अवस्था में उत्तर वैक्रिय करते हुए वैक्रिय मिश्र मानने पर ही इसकी शाश्वतता सिद्ध हो सकती हैं।

जीव तथा पुद्‌गलों की विभिन्न गतियों का वर्णन इस पद में है। आधुनिक विज्ञान द्वारा मान्य ध्वनिगति एवं प्रकाश गति से भी अतिशीघ्र पुद्‌गलों तथा जीव की गति होती है, यह इसमें बताया है।

17. लेश्या पद– छः उद्देशकों में लेश्या संबंधी विस्तार से वर्णन है।

18.कायस्थिति पद– जीव, गति, इन्द्रिय आदि २१ द्वारों से काय स्थिति का वर्णन है।

19.सम्यक्त्व पद– सम्यक्, मिथ्या और मिश्र इन तीन दृष्टियों का २४ दण्डकों में विवेचन है।

20.अंतक्रिया पद– कौनसा जीव अपने भव से मनुष्य बन कर मोक्ष जा सकता है, कौन तीर्थंकर चक्रवर्ती एवं उनके १४ रत्न रूप में उत्पन्न हो सकता है, आदि वर्णन है।

21.अवगाहना संस्थान पद–पांचों शरीरों की अवगाहना आदि का वर्णन है।

22.क्रिया पद– कायिकी आदि विभिन्न क्रियाओं का विस्तार से वर्णन है।

23. कर्म प्रकृति पद– पहले उद्देशक में आठ कर्मों के बंध, उनके फल तथा

दूसरे उद्देशक में आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियों एवं उनकी स्थिति आदि का वर्णन है।

24.कर्म बंध पद– आठ कर्मों में से एक–एक कर्म के बांधते हुए अन्य कर्मों के बंध का उल्लेख है।

25. कर्म वेद पद– आठ कर्मों को बांधते हुए अलग–अलग कर्म वेदने का उल्लेख है।

26. कर्म वेद बंधपद– कौनसे कर्म वेदते हुए किन–किन कर्मों का बंध होगा, इसका वर्णन है।

27. कर्म वेद वेद पद– एक–एक कर्म वेदते हुए अन्य कौन से कर्मों का वेदन होता है इनके परस्पर भंग बनाते हुए वर्णन किया है।

28. आहार पद– जीवों के आहार का विस्तार से, **29 उपयोग पद**–१२ उपयोग का। **30. पश्यत्ता पद**– साकार पश्यता तथा अनाकार पश्यता का। **31. संज्ञी पद**– संज्ञी, असंज्ञी, नो संज्ञी, नो असंज्ञी जीवों का। **32. संयत पद**– संयत, असंयत, संयतासंयत तथा नो संयत, नो असंयत, नो संयतासंयत जीवो का। **33. अवधि पद**– जीवों के अवधि विषय, संस्थान, भेदों का **34 प्रविचारणपद**– देवों के परिचारणा का। **35. वेदना पद**– साता, असाता आदि वेदनाओं का। **36. समुद्घात पद**– वेदना आदि सात समुद्घातों का विस्तार से वर्णन है।

केवली समुद्घात के बाद योग निरोध से शैलेषी अवस्था को प्राप्त कर चार अघाति कर्मों का क्षयकर आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होती है। जिस प्रकार जले हुए बीजों की पुनः अंकुर-उत्पत्ति नहीं होती है उसी प्रकार सिद्ध भगवान के कर्म बीज जल जाने से पुनः जन्मोत्पत्ति नहीं होती है। वे शाश्वत अनागत काल तक अव्याबाध सुखों में स्थित होते हैं।

इस सूत्र को पढ़ने का उपधान तप ग्रंथों में तीन आयम्बिल बताया गया है। प्रज्ञापना सूत्र का यह संक्षेप में विवेचन किया गया है। आगमों में ज्यों–ज्यों अवगाहन किया जाता है त्यों-त्यों अद्भुत आनंद रस की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार वैज्ञानिक लोगों को रिसर्च करते नयी-नयी जानकारी प्राप्त होने पर अपूर्व आह्लाद की प्राप्ति होती है। उसी तरह आगमों से नया-नया ज्ञान प्राप्त होने पर अपूर्व आनंद की अनुभूति होती है। श्रद्धा सहित पढ़ने वाला अनुपम आत्म-सुख को प्राप्त करता है।

संदर्भ

१. आयारस्स भगवओ सचूलियागस्स। समवायांग सूत्र, समवाय १८,२५,८५
२. पण्णवणाए भगवईए पढमं पण्णवणा वयं समत्तं(इसी प्रकार सभी पदों के अंत में)
३. प्रज्ञापना सूत्र प्रारंभ की गाथा नं. ३(५)
४. अनुयोग द्वार टीका
५. प्रज्ञापना टीका

६. वायगवरवंसाओ तेवीसइमेणं धीरपुरिसेणं,
दुद्धरधरेण मुणिणा पुव्वसुयसमिद्धबुद्धीणं।
सूयसागरा विणेऊण जेण सुयरयणमुत्तमं दिण्णं,
सीसगणस्स भगवओ तस्स नमो अज्जसामस्स।।
७. जैनागम ग्रंथमाला— पण्णवणा सुत्तं।
८. जैन धर्म का मौलिक इतिहास
९. निर्युक्तियाँ जो देवर्द्धिगणि के पूर्ववर्ती गिनी भी जाती हैं, उनमे नंदी का उल्लेख है— ''नंदी अणुओगदारं विहिवदुग्घाइयं च नाउणं'। निर्युक्ति संग्रह आव. नि. गाथा १०२६
सुत्ते नंदी माइयं—वही गाथा सं. १३६५
द्वादशार नयचक्र की सिंहगणि क्षमाश्रमण की टीका में वर्तमान नंदी से भिन्न पाठ हैं।
१०. प्रज्ञापना की मलयगिरि टीका व अनेक ग्रंथों में।
११. समवायांग समवाय ८४ तथा उत्तराध्ययन अ. २८
अन्यथा ह्यनिबद्धमंगोपांगतः समुद्रप्रतरणवद् दुरध्यवसेयं स्यात्। —तत्त्वार्थ भाष्य
१२. तत्र सूरप्रज्ञप्ति जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, पंचषष्ठांगयोरुपांगभूते इतरे (चंद्रप्रज्ञप्ति) तु प्रकीर्णरूपे इति।
१३. सुखबोधा समाचारी १११२ ई. (जैन साहित्य का वृहद् इतिहास)
१४. सुखबोधा समाचारी वायणाविहि आदि (जैन साहित्य का वृहद् इतिहास)
१५. कहीं मात्र 'जाव' शब्द से, कहीं 'जाव' व 'जहा पण्णवणाए' सूत्र निर्देश के साथ, कहीं 'जहा वक्कंतीए, ओहीपयं भणियव्वं' आदि पद के नाम देते हुए, कहीं 'जहा पण्णवणाए ठाणपए' सूत्र के साथ पद का नाम देते हुए आदि तरीकों से संकेत किया गया है।
१६. ववगयजरमरणभए सिद्धे अभिवंदिऊण तिविहेण।
वंदामि जिणवरिंदं तेलोक्कगुरु-महावीरं।।
१७. जीव अजीव तत्त्व— श्री कन्हैयालाल लोढ़ा

—पाली बाजार, महामंदिर, जोधपुर

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति

आचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी म.सा.

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में सात वक्षस्कारों के अन्तर्गत इतिहास एवं भूगोल संबंधी वर्णन उपलब्ध है। इसमें जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, कालचक्र, ऋषभदेव, विनीता नगरी, भरत चक्रवर्ती, गंगानदी, पर्वत, विजय, दिक्कुमारी, जम्बूद्वीप के खण्ड, चन्द्रादि नक्षत्र इत्यादि की चर्चा हुई है। आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी के प्रस्तुत आलेख में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के प्रमुख अंशों पर सुन्दर परिचय उपलब्ध है। यह आलेख आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर से प्रकाशित जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की प्रस्तावना से चयन कर संकलित है। –**सम्पादक**

नन्दीसूत्र में अंगबाह्य आगमों की सूची में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का कालिक श्रुत की सूची में आठवाँ स्थान है। जब आगम साहित्य का अंग, उपांग, मूल और छेद रूप में वर्गीकरण हुआ तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का उपांग में पाँचवाँ स्थान रहा और इसे भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र का उपांग माना गया है। भगवती सूत्र के साथ प्रस्तुत उपांग का क्या संबंध है? इसे किस कारण भगवती का उपांग कहा गया है? यह शोधार्थियों के लिये चिन्तनीय प्रश्न है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में एक अध्ययन है और सात वक्षस्कार है। यह आगम पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध इन दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्द्ध में चार वक्षस्कार हैं तो उत्तरार्द्ध में तीन वक्षस्कार हैं। वक्षस्कार शब्द यहाँ प्रकरण के अर्थ में व्यवहृत हुआ है, पर वस्तुतः जम्बूद्वीप में इस नाम के प्रमुख पर्वत हैं, जिनका जैन भूगोल में अनेक दृष्टियों से महत्त्व प्रतिपादित है। जम्बूद्वीप से संबद्ध विवेचन के संदर्भ में ग्रन्थकार प्रकरण का अवबोध कराने के लिए ही वक्षस्कार शब्द का प्रयोग करते हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के मूल पाठ का श्लोक प्रमाण ४१४६ है। १७८ गद्य सूत्र हैं और ५२ पद्य सूत्र हैं। जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग दूसरे में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को छठा उपांग लिखा है। जब आगमों का वर्गीकरण अनुयोग की दृष्टि से किया गया तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को गणितानुयोग में सम्मिलित किया गया, पर गणितानुयोग के साथ ही उसमें धर्मकथानुयोग आदि भी हैं।

प्रथम वक्षस्कार

मिथिला : एक परिचय–जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का प्रारम्भ मिथिला नगरी के वर्णन से हुआ है, जहाँ पर श्रमण भगवान महावीर अपने अन्तेवासियों के साथ पधारे हुए हैं। उस समय वहाँ का अधिपति राजा जितशत्रु था। बृहत्कल्पभाष्य[१] में साढ़े पच्चीस आर्य क्षेत्रों का वर्णन है। उसमें मिथिला का वर्णन है। मिथिला विदेह जनपद की राजधानी थी।[२] विदेह राज्य की सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में गंगा, पश्चिम में गंडकी और पूर्व में महीनदी तक

थी। जातक की दृष्टि से इस राष्ट्र का विस्तार ३०० योजन था[3] उसमें सोलह सहस्र गाँव थे।[4] यह देश और राजधानी दोनों का ही नाम था। आधुनिक शोध के अनुसार यह नेपाल की सीमा पर स्थित था। वर्तमान में जो जनकपुर नामक एक कस्बा है, वही प्राचीन युग की मिथिला होनी चाहिए। इसके उत्तर में मुजफ्फरपुर और दरभंगा जिला मिलते हैं[5]।

जम्बूद्वीप—गणधर गौतम भगवान महावीर के प्रधान अन्तेवासी थे। वे महान जिज्ञासु थे। उनके अन्तर्मानस में यह प्रश्न उद्‌बुद्ध हुआ कि जम्बूद्वीप कहाँ है? कितना बड़ा है? उसका संस्थान कैसा है? उसका आकार/स्वरूप कैसा है? समाधान करते हुए भगवान महावीर ने कहा— वह सभी द्वीप—समुद्रों में आभ्यन्तर है। वह तिर्यक्‌लोक के मध्य में स्थित है, सबसे छोटा है, गोल है। अपने गोलाकार में यह एक लाख योजन लम्बा चौड़ा है। इसकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस एक सौ अट्‌ठाईस धनुष और साढे तेरह अंगुल से कुछ अधिक है। इसके चारों और एक वज्रमय दीवार है। उस दीवार में एक जालीदार गवाक्ष भी है और एक महान् पद्मवरवेदिका है। पद्मवरवेदिका के बाहर एक विशाल वन-खण्ड है। जम्बूद्वीप के विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित—ये चार द्वार हैं। जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र कहाँ है? उसका स्वरूप क्या है? दक्षिणार्द्ध भरत और उत्तरार्द्ध भरत वैताढ्य नामक पर्वत से किस प्रकार विभक्त हुआ है? वैताढ्य पर्वत कहाँ है? वैताढ्य पर्वत पर विद्याधर श्रेणियाँ किस प्रकार है। वैताढ्य पर्वत के कितने कूट/शिखर हैं? सिद्धायतन कूट कहाँ है? दक्षिणार्द्ध भरतकूट कहाँ है? ऋषभकूट पर्वत कहाँ है? आदि का विस्तृत वर्णन प्रथम वक्षस्कार में किया गया है।

प्रस्तुत आगम में जिन प्रश्नों पर चिन्तन किया गया है, उन्हीं पर अंग साहित्य में भी विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। स्थानांग, समवायांग और भगवती में अनेक स्थलों पर विविध दृष्टियों से लिखा गया है। इसी प्रकार परवर्ती श्वेताम्बर साहित्य में भी बहुत ही विस्तार से चर्चा की गई है, तो दिगम्बर परम्परा के तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रन्थों में भी विस्तार से निरूपण किया गया है। यह वर्णन केवल जैन परम्परा के ग्रन्थों में ही नहीं, भारत की प्राचीन वैदिक परम्परा और बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में भी इस सम्बन्ध में यत्र—तत्र निरूपण किया गया है। भारतीय मनीषियों के अन्तर्मानस में जम्बूद्वीप के प्रति गहरी आस्था और अप्रतिम सम्मान रहा है। जिसके कारण ही विवाह, नामकरण, गृहप्रवेश प्रभृति मांगलिक कार्यों के प्रारम्भ में मंगल कलश स्थापन के समय यह मन्त्र दोहराया जाता है—**जम्बूद्वदीपे भरतक्षेत्रे आर्यखण्डे..... प्रदेशे.....नगरे.....संवत्सरे...शुभमासे....**

प्रस्तुत आगम में जम्बूद्वीप का आकार गोल बताया है और उसके

लिए कहा गया है कि तेल में तले हुए पूए जैसा गोल, रथ के पहिये जैसा गोल, कमल की कर्णिका जैसा गोल और प्रतिपूर्ण चन्द्र जैसा गोल है। भगवती[६], जीवाजीवाभिगम[७], ज्ञानार्णव[८], त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्त[९], लोकप्रकाश[१०], आराधना—समुच्चय[११], आदिपुराण[१२] में पृथ्वी का आकार झल्लरी (झालर या चूड़ी) के आकार के समान गोल बताया गया है। प्रशमरतिप्रकरण[१३] आदि में पृथ्वी का आकार स्थाली के सदृश भी बताया गया है। पृथ्वी की परिधि भी वृत्ताकार है, इसलिए जीवाजीवाभिगम में परिवेष्टित करने वाले घनोदधि प्रभृति वायुओं को वलयाकार माना है।[१४] तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ में पृथ्वी (जम्बूद्वीप) की उपमा खड़े हुए मृदंग के ऊर्ध्व भाग (सपाट गोल) से दी गई है।[१५] दिगम्बर परम्परा के जम्बूद्वीवपण्णत्ति[१६] ग्रंथ में जम्बूद्वीप के आकार का वर्णन करते हुए उसे सूर्यमण्डल की तरह वृत्त बताया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैन साहित्य में पृथ्वी नारंगी के समान गोल न होकर चपटी प्रतिपादित है। जैन परम्परा ने ही नहीं वायुपुराण, पद्मपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, भागवतपुराण प्रभृति पुराणों में भी पृथ्वी को समतल आकार, पुष्कर पत्र समाकार चित्रित किया है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से पृथ्वी नारंगी की तरह गोल है। भारतीय मनीषियों द्वारा निरूपित पृथ्वी का आकार और वैज्ञानिकसम्मत पृथ्वी के आकार में अन्तर है। इस अन्तर को मिटाने के लिए अनेक मनीषीगण प्रयत्न कर रहे हैं। यह प्रयत्न दो प्रकार से चल रहा है। कुछ चिन्तकों का यह अभिमत है कि प्राचीन वाङ्मय में आये हुए इन शब्दों की व्याख्या इस प्रकार की जाये जिससे आधुनिक विज्ञान के हम सन्निकट हो सकें तो दूसरे मनीषियों का अभिमत है कि विज्ञान का जो मत है वह सदोष है, निर्बल है, प्राचीन महामनीषियों का कथन ही पूर्ण सही है।

प्रथम वर्ग के चिन्तकों का कथन है कि पृथ्वी के लिये आगम साहित्य में झल्लरी या स्थाली की उपमा दी गई है। वर्तमान में हमने झल्लरी शब्द को झालर मानकर और स्थाली शब्द को थाली मानकर पृथ्वी को वृत्त अथवा चपटी माना है। झल्लरी का एक अर्थ झांझ नामक वाद्य भी है और स्थाली का अर्थ भोजन पकाने वाली हंडिया भी हैं। पर आधुनिक युग में यह अर्थ प्रचलित नहीं है। यदि हम झांझ और हंडिया अर्थ मान लें तो पृथ्वी का आकार गोल सिद्ध हो जाता है।[१७] जो आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी संगत है। स्थानांगसूत्र में झल्लरी शब्द झांझ नामक वाद्य के अर्थ में व्यवहृत हुआ है।[१८]

दूसरी मान्यता वाले चिन्तकों का अभिमत है कि विज्ञान एक ऐसी

प्रक्रिया है जिसमें सतत अनुसंधान और गवेषणा होती रहती है। विज्ञान ने जो पहले सिद्धान्त संस्थापित किये थे आज वे सिद्धान्त नवीन प्रयोगों और अनुसंधानों से खण्डित हो चुके हैं। कुछ आधुनिक वैज्ञानिकों ने 'पृथ्वी गोल है' इस मान्यता का खण्डन किया है।[१९] लंदन में 'फ्लेट अर्थ सोसायटी' नामक संस्था इस संबंध में जागरूकता से इस तथ्य को कि पृथ्वी चपटी है, उजागर करने का प्रयास कर रही है, तो भारत में भी अभयसागर जी महाराज व आर्यिका ज्ञानमती जी दत्तचित्त होकर उसे चपटी सिद्ध करने में संलग्न हैं। उन्होंने अनेक पुस्तकें भी इस संबंध में प्रकाशित की है।

द्वितीय वक्षस्कार : एक चिन्तन

द्वितीय वक्षस्कार में गणधर गौतम की जिज्ञासा पर भगवान महावीर ने कहा कि भरत क्षेत्र में काल दो प्रकार का है और वह अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नाम से विश्रुत है। दोनों का कालमान बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। सागर या सागरोपम मानव को ज्ञात समस्त संख्याओं से अधिक काल वाले कालखण्ड का उपमा द्वारा प्रदर्शित परिमाण है। वैदिक दृष्टि से चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों का एक कल्प होता है। इस कल्प में एक हजार चतुर्युग होते हैं। पुराणों में इतना काल ब्रह्मा के एक दिन या रात्रि के बराबर माना है। जैन दृष्टि से अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के छह–छह उपविभाग होते हैं। वे इस प्रकार हैं–

अवसर्पिणी

क्रम	काल विस्तार
१. सुषमा–सुषमा	चार कोटाकोटि सागर
२. सुषमा	तीन कोटाकोटि सागर
३. सुषमा–दुःषमा	दो कोटाकोटि सागर
४. दुःषमा–सुषमा	एक कोटाकोटि सागर में ४२००० वर्ष न्यून
५. दुःषमा	२१००० वर्ष
६. दुःषमा–दुःषमा	२१००० वर्ष

उत्सर्पिणी

क्रम	काल विस्तार
१. दुःषमा–दुःषमा	२१००० वर्ष
२. दुःषमा	२१००० वर्ष
३. दुःषमा–सुषमा	एक कोटाकोटि सागर में ४२००० वर्ष न्यून
४. सुषमा–दुःषमा	दो कोटाकोटि सागर
५. सुषमा	तीन कोटाकोटि सागर
६. सुषमा–सुषमा	चार कोटाकोटि सागर

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नामक इन दोनों का काल बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। यह भरतक्षेत्र और ऐरावतक्षेत्र में रहट–घट न्याय[२०]

से अथवा शुक्ल—कृष्ण पक्ष[21] के समान एकान्तर क्रम से सदा चलता रहता है। आगमकार ने अवसर्पिणी काल के सुषमा—सुषमा नामक प्रथम आरे का विस्तार से निरूपण किया है। उस काल में मानव का जीवन अत्यन्त सुखी था। उस पर प्रकृति देवी की अपार कृपा थी। उसकी इच्छाएँ स्वल्प थीं और वे स्वल्प इच्छाएँ कल्पवृक्षों के माध्यम से पूर्ण हो जाती थीं। चारों ओर सुख का सागर ठाठें मार रहा था। वे मानव पूर्ण स्वस्थ और प्रसन्न थे। उस युग में पृथ्वी सर्वरसा थी। मानव तीन दिन में एक बार आहार करता था और वह आहार उन्हें उन वृक्षों से ही प्राप्त होता था। मानव वृक्षों के नीचे निवास करता था। वे घटादार और छायादार वृक्ष भव्य भवन के सदृश ही प्रतीत होते थे। न तो उस युग में असि थी, न मसी और न ही कृषि थी। मानव पादचारी था, स्वेच्छा से इधर—उधर परिभ्रमण कर प्राकृतिक सौन्दर्य—सुषमा के अपार आनन्द को पाकर आह्लादित था। उस युग के मानवों की आयु तीन पल्योपम की थी। जीवन की सांध्यवेला में छह माह अवशेष रहने पर एक पुत्र और पुत्री समुत्पन्न होते थे। उनपचास दिन वे उसकी सार—सम्भाल करते और अन्त में छींक और उबासी/जम्हाई के साथ आयु पूर्ण करते। इसी तरह से द्वितीय आरक और तृतीय आरक के दो भागों तक भोगभूमि— अकर्मभूमि काल कहलाता है। क्योंकि इन कालखण्डों में समुत्पन्न होने वाले मानव आदि प्राणियों का जीवन भोगप्रधान रहता है। केवल प्रकृतिप्रदत्त पदार्थों का उपभोग करना ही इनका लक्ष्य होता है। कषाय मन्द होने से उनके जीवन में संक्लेश नहीं होता। भोगभूमि काल को आधुनिक शब्दावली में कहा जाय तो वह 'स्टेट ऑफ नेचर' अर्थात् प्राकृतिक दशा के नाम से पुकारा जायेगा। भोगभूमि के लोग समस्त संस्कारों से शून्य होने पर भी स्वाभाविक रूप से ही सुसंस्कृत होते हैं। घर—द्वार, ग्राम—नगर, राज्य और परिवार नहीं होता और न उनके द्वारा निर्मित नियम होते हैं। प्रकृति ही उनकी नियामक होती है। छह ऋतुओं का चक्र भी उस समय नहीं होता। केवल एक ऋतु ही होती है। उस युग के मानवों का वर्ण स्वर्ण सदृश होता है। अन्य रंग वाले मानवों का पूर्ण अभाव होता है। प्रथम आरक से द्वितीय आरक में पूर्वापेक्षया वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि प्राकृतिक गुणों में शनैः शनैः हीनता आती चली जाती है। द्वितीय आरक में मानव की आयु तीन पल्योपम से कम होती—होती दो पल्योपम की हो जाती है। उसी तरह से तृतीय आरे में भी ह्रास होता चला जाता है। धीरे—धीरे यह ह्रासोन्मुख अवस्था अधिक प्रबल हो जाती है, तब मानव के जीवन में अशान्ति का प्रादुर्भाव होता है। आवश्यकताएँ बढ़ती हैं। उन आवश्यकताओं की पूर्ति प्रकृति से पूर्णतया नहीं हो पाती। तब एक युगान्तरकारी प्राकृतिक एवं जैविक परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन से अनभिज्ञ मानव भयभीत बन जाता है। उन मानवों को पथ प्रदर्शित करने के

लिए ऐसे व्यक्ति आते हैं जो जैन पारिभाषिक शब्दावली में 'कुलकर' की अभिधा से अभिहित किये जाते हैं और वैदिक परम्परा में वे 'मनु' की संज्ञा से पुकारे गये हैं।

भगवान ऋषभदेव—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में भगवान ऋषभदेव को पन्द्रहवाँ कुलकर माना है तो साथ ही उन्हें प्रथम तीर्थंकर, प्रथम राजा, प्रथम केवली, प्रथम धर्मक्रचवर्ती आदि भी लिखा है। भगवान ऋषभदेव का जाज्वल्यवान व्यक्तित्व और कृतित्व अत्यन्त प्रेरणादायी है। वे ऐसे विशिष्ट महापुरुष हैं, जिनके चरणों में जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीनों भारतीय धाराओं ने अपनी अनन्त आस्था के सुमन समर्पित किये हैं। स्वयं मूल आगमकार ने उनकी जीवनगाथा बहुत ही संक्षप में दी है। वे बीस लाख पूर्व तक कुमार अवस्था में रहे। तिरेसठ लाख पूर्व तक उन्होंने राज्य का संचालन किया। एक लाख पूर्व तक उन्होंने संयम—साधना कर तीर्थंकर जीवन व्यतीत किया। उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रजा के हित के लिये कलाओं का निर्माण किया। बहत्तर कलाएँ पुरुषों के लिये तथा चौसठ कलाएँ स्त्रियों के लिये प्रतिपादित की।[२२] साथ ही सौ शिल्प भी बताये। आदिपुराण ग्रन्थ में दिगम्बर आचार्य जिनसेन[२३] ने ऋषभदेव के समय प्रचलित छह आजीविकाओं का उल्लेख किया है— १. असि—सैनिकवृत्ति, २. मसि— लिपिविद्या, ३. कृषि— खेती का काम, ४. विद्या— अध्यापन या शास्त्रोपदेश का कार्य, ५. वाणिज्य—व्यापार, व्यवसाय, ६. शिल्प— कलाकौशल।

उस समय के मानवों को 'षट्कर्मजीवानाम्' कहा गयाहै।[२४] महापुराण के अनुसार आजीविका को व्यवस्थित रूप देने के लिए ऋषभदेव के क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन तीन वर्णों की स्थापना की।[२५] आवश्यकनिर्युक्ति[२६], आवश्यकचूर्णि[२७], त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्त[२८] के अनुसार ब्राह्मणवर्ण की स्थापना ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने की। ऋग्वेदसंहिता[२९] में वर्णों की उत्पत्ति के संबंध में विस्तार से निरूपण है। वहाँ पर ब्राह्मण का मुख, क्षत्रिय को बाहु, वैश्य को उर और शूद्र को पैर बताया है। यह लाक्षणिक वर्णन समाजरूप विराट् शरीर के रूप में चित्रित किया गया है। श्रीमद्भागवत[३०] आदि में भी इस संबंध में उल्लेख किया गया है।

प्रस्तुत आगम में जब भगवान ऋषभदेव प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं, तब वे चार मुष्ठि लोच करते हैं, जबकि अन्य सभी तीर्थंकरों के वर्णन में पंचमुष्ठि लोच का उल्लेख है। टीकाकार ने विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिस समय भगवान् ऋषभदेव लोच कर रहे थे, उस समय स्वर्ण के समान चमचमाती हुई केशराशि को निहार कर इन्द्र ने भगवान ऋषभदेव से प्रार्थना की, जिससे भगवान ऋषभदेव ने इन्द्र की प्रार्थना से एक मुष्ठि केश

इसी तरह रहने दिये। केश रखने से वे केशी या केसरिया जी के नाम से विश्रुत हुए। पद्मपुराण[31] हरिवंशपुराण[32] में ऋषभदेव की जटाओं का उल्लेख है। ऋग्वेद[33] में ऋषभ की स्तुति केशी के रूप में की गई। वहाँ बताया है कि केशी अग्नि, जल, स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है और केश विश्व के समस्त तत्त्वों का दर्शन कराता है और प्रकाशमान ज्ञानज्योति है।

भगवान ऋषभदेव ने चार हजार उग्र, भोग, राजन्य और क्षत्रिय वंश के व्यक्तियों के साथ दीक्षाग्रहण की। पर उन चार हजार व्यक्तियों को दीक्षा स्वयं भगवान ने दी, ऐसा उल्लेख नहीं है। आवश्यकनिर्युक्तिकार[34] ने इस संबंध में यह स्पष्ट किया है कि उन चार हजार व्यक्तियों ने भगवान ऋषभदेव का अनुसरण किया। भगवान की देखादेखी उन चार हजार व्यक्तियों ने स्वयं केशलुंचन आदि क्रियाएँ की थीं। प्रस्तुत अगाम में यह भी उल्लेख नहीं है कि भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा के पश्चात् कब आहार ग्रहण किया? समवायांग में यह स्पष्ट उल्लेख है कि **'संवच्छरेण भिक्खा लद्धा उसहेण लोगनाहेण।'**[35] इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान् ऋषभदेव की दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् एक वर्ष से अधिक समय व्यतीत होने पर भिक्षा मिली थी। किस तिथि को भिक्षा प्राप्त हुई थी, इसका उल्लेख 'वसुदेवहिण्डी[36] और हरिवंशपुराण[37] में नहीं हुआ है। वहाँ पर केवल संवत्सर का ही उल्लेख है। पर खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली[38], त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्त[39] और महाकवि पुष्पदन्त[40] के महापुराण में यह स्पष्ट उल्लेख है कि अक्षय तृतीया के दिन पारणा हुआ। श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार ऋषभदेव ने बेले का तप धारण किया था और दिगम्बर ग्रन्थों के अनुसार उन्होंने छह महीनों का तप धारण किया था, पर भिक्षा देने की विधि से लोग अपरिचित थे। अत: अपने आप ही आचीर्ण तप उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया और एक वर्ष से अधिक अवधि व्यतीत होने पर उनका पारणा हुआ। श्रेयांसकुमार ने उन्हें इक्षुरस प्रदान किया।

तृतीय आरे के तीन वर्ष साढे आठ मास शेष रहने पर भगवान ऋषभदेव दस हजार श्रमणों के साथ अष्टापद पर्वत पर आरूढ हुए और उन्होंने अजर–अमर पद को प्राप्त किया,[41] जिसे जैनपरिभाषा में निर्वाण या परिनिर्वाण कहा गया है। शिवपुराण में अष्टापद पर्वत के स्थान पर कैलाशपर्वत का उल्लेख है।[42] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[43], कल्पसूत्र[44], त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्त[45], के अनुसार ऋषभदेव की निर्वाणतिथि माघ कृष्णा त्रयोदशी है। तिलोयपण्णत्ति[46] एवं महापुराण[47] के अनुसार माघ कृष्णा चतुर्दशी है। विज्ञों का मानना है कि भगवान ऋषभदेव की स्मृति में श्रमणों ने उस दिन उपवास रखा और वे रातभर धर्मजागरण करते रहे। इसलिये वह

रात्रि शिवरात्रि के रूप में जानी गई। ईशान संहिता[४८] में उल्लेख है कि माघ कृष्णा चतुर्दशी की महानिशा में कोटिसूर्य-प्रभोपम भगवान आदिदेव शिवगति प्राप्त हो जाने से शिव—इस लिंग से प्रकट हुए। जो निर्वाण के पूर्व आदिदेव थे, वे शिवपद प्राप्त हो जाने से शिव कहलाने लगे।

अन्य आरक वर्णन—भगवान ऋषभदेव के पश्चात् दुष्षमसुषमा नामक आरक में तेईस अन्य तीर्थंकर होते हैं और साथ ही उस काल में ग्यारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव और नौ वासुदेव आदि श्लाघनीय पुरुष भी समुत्पन्न होते हैं। पर उनका वर्णन प्रस्तुत आगम में नहीं आया है। संक्षेप में ही इन आरकों का वर्णन किया गया है। छठे आरक का वर्णन कुछ विस्तार से हुआ है। छठे आरक में प्रकृति के प्रकोप से जन—जीवन अत्यन्त दु:खी हो जायेगा। सर्वत्र हाहाकार मच जायेगा। मानव के अन्तर्मानस में स्नेह—सद्भावना के अभाव में छल—छद्म का प्राधान्य होगा। उनका जीवन अमर्यादित होगा तथा उनका शरीर विविध व्याधियों से संत्रस्त होगा। गंगा और सिन्धु जो महानदियाँ हैं, वे नदियाँ भी सूख जायेंगी। रथचक्रों की दूरी के समान पानी का विस्तार रहेगा तथा रथचक्र की परिधि से केन्द्र की जितनी दूरी होती है, उतनी पानी की गहराई होगी। पानी में मत्स्य और कच्छप जैसे जीव विपुल मात्रा में होंगे। मानव इन नदियों के सन्निकट वैताढ्य पर्वत में रहे हुए बिलों में रहेगा। सूर्योदय ओर सूर्यास्त के समय बिलों से निकलकर वे मछलियाँ और कछुए पकडेंगे और उनका आहार करेंगे। इस प्रकार २१००० वर्ष तक मानव जाति विविध कष्टों को सहन करेगी और वहाँ से आयु पूर्ण कर वे जीव नरक और तिर्यंच गति में उत्पन्न होंगे। अवसर्पिणी काल समाप्त होने पर उत्सर्पिणी काल का प्रारम्भ होगा। उत्सर्पिणी काल का प्रथम आरक अवसर्पिणी काल के छठे आरक के समान ही होगा और द्वितीय आरक पंचम आरक के सदृश होगा। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आदि में धीरे—धीरे पुन: सरसता की अभिवृद्धि होगी। क्षीरजल, घृतजल, और अमृतजल की वृष्टि होगी, जिससे प्रकृति में सर्वत्र सुखद परिवर्तन होगा। चारों और हरियाली लहलहाने लगेगी। शीतल मन्द सुगन्ध पवन ठुमक—ठुमक कर चलने लगेगा। बिलवासी मानव बिलों से बाहर निकल आयेंगे और प्रसन्न होकर यह प्रतिज्ञा ग्रहण करेंगे कि हम भविष्य में मांसाहार नहीं करेंगे और जो मांसाहार करेगा उनकी छाया से भी हम दूर रहेंगे। उत्सर्पिणी काल के तृतीय आरक में तेईस तीर्थंकर, ग्यारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ, बलदेव आदि उत्पन्न होंगे। चतुर्थ आरक के प्रथम चरण में चौबीसवें तीर्थंकर समुत्पन्न होंगे और एक चक्रवर्ती भी। अवसर्पिणी काल में जहाँ उत्तरोत्तर ह्रास होता है, वहाँ उत्सर्पिणी काल में उत्तरोत्तर विकास होता है। जीवन में अधिकाधिक सुख—शांति का सागर ठाटें मारने लगता है। चतुर्थ आरक के द्वितीय चरण से पुन: यौगलिक काल

प्रारम्भ हो जाता है। कर्मभूमि से मानव का प्रस्थान भोग भूमि की ओर होता है। इस प्रकार द्वितीय वक्षस्कार में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल का निरूपण हुआ है। यह निरूपण ज्ञानवर्द्धन के साथ ही साधक के अन्तर्मानस में यह भावना उत्पन्न करता है कि मैं इस कालचक्र में अनन्त काल से विविध योनियों में परिभ्रमण कर रहा हूँ। अब मुझे ऐसा उपक्रम करना चाहिये जिससे सदा के लिये इस चक्र से मुक्त हो जाऊँ।

तृतीय वक्षस्कार

विनीता—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के तृतीय वक्षस्कार में सर्वप्रथम विनीता नगरी का वर्णन है। उस विनीता नगरी की अवस्थिति भरतक्षेत्र स्थित वैताढ्य पर्वत के दक्षिण के ११४,११/१९ योजन तथा लवणसमुद्र के उत्तर में ११४,११/१९ योजन की दूरी पर, गंगा महानदी के पश्चिम में और सिन्धु महानदी के पूर्व में दक्षिणार्द्ध भरत के मध्यवर्ती तीसरे भाग के ठीक बीच में है। विनीता का ही अपर नाम अयोध्या है। जैन साहित्य की दृष्टि से यह नगर सबसे प्राचीन है। यहाँ के निवासी विनीत स्वभाव के थे। एतदर्थ भगवान ऋषभदेव ने इस नगरी का नाम विनीता रखा।[४९] यहाँ और पाँच तीर्थंकरों ने दीक्षा ग्रहण की।

आवश्यनिर्युक्ति के अनुसार यहाँ दो तीर्थंकर—ऋषभदेव (प्रथम) अभिनन्दन (चतुर्थ) ने जन्म ग्रहण किया।[५०] अन्य ग्रन्थों के अनुसार ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनन्दन, सुमति, अनन्त और अचलभानु की जन्मस्थली और दीक्षास्थली रही है। राम, लक्ष्मण आदि बलदेव—वासुदेवों की भी जन्मभूमि रही है। अचल गणधर ने भी यहाँ जन्म ग्रहण किया था। आवश्यकमलयगिरिवृत्ति[५१] के अनुसार अयोध्या के निवासियों ने विविध कलाओं में कुशलता प्राप्त की थी इसलिये अयोध्या को 'कौशला' भी कहते हैं। अयोध्या में जन्म लेने के कारण भगवान ऋषभदेव कौशलीय कहलाये थे।

भरत चक्रवर्ती

सम्राट् भरत चक्रवर्ती का जन्म विनीता नगरी में ही हुआ था। वे भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनकी बाह्य आकृति जितनी मनमोहक थी, उतना ही उनका आन्तरिक जीवन भी चित्ताकर्षक था। स्वभाव से वे करुणाशील थे, मर्यादाओं के पालक थे, प्रजावत्सल थे। राज्य—ऋद्धि का उपभोग करते हुए भी वे पुण्डरीक कमल की तरह निर्लेप थे। वे गन्धहस्ती की तरह थे। विरोधी राजारूपी हाथी एक क्षण भी उनके सामने टिक नहीं पाते थे। जो व्यक्ति मर्यादाओं का अतिक्रमण करता उसके लिये वे काल के सदृश थे। उनके राज्य में दुर्भिक्ष और महामारी का अभाव था।

एक दिन सम्राट अपने राजदरबार में बैठा हुआ था। उस समय आयुधशाला के अधिकारी ने आकर सूचना दी कि आयुधशाला में चक्ररत्न

पैदा हुआ है। आवश्यकनिर्युक्ति[५२], आवश्यकचूर्णि[५३], त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित्त[५४] और चउप्पन्नमहापुरिसचरियं[५५] के अनुसार राजसभा में यमक और शमक बहुत ही शीघ्रता से प्रवेश करते हैं। यमक सुभट ने नमस्कार कर निवेदन किया कि भगवान ऋषभदेव को एक हजार वर्ष की साधना के बाद केवलज्ञान की उपलब्धि हुई है। वे पुरिमताल नगर के बाहर शकटानन्द उद्यान में विराजित हैं। उसी समय शमक नामक सुभट ने कहा— स्वामी! आयुधशाला में चक्ररत्न पैदा हुआ है, वह आपकी दिग्विजय का सूचक है। आप चलकर उसकी अर्चना करें। दिगम्बर परम्परा के आचार्य जिनसेन ने उपर्युक्त दो सूचनाओं के अतिरिक्त तृतीय पुत्र की सूचना का भी उल्लेख किया है।[५६] ये सभी सूचनाएँ एक साथ मिलने से भरत एक क्षण असमंजस में पड़ गये।[५७] वे सोचने लगे कि मुझे प्रथम कौनसा कार्य करना चाहिये? पहले चक्ररत्न की अर्चना करनी चाहिये या पुत्रोत्सव मनाना चाहिए या प्रभु की उपासना करनी चाहिये? दूसरे ही क्षण उनकी प्रत्युत्पन्न मेधा ने उत्तर दिया कि केवलज्ञान का उत्पन्न होना धर्मसाधना का फल है, पुत्र उत्पन्न होना काम का फल है और देदीप्यमान चक्र का उत्पन्न होना अर्थ का फल है।[५८] इन तीन पुरुषार्थों में प्रथम पुरुषार्थ धर्म है, इसलिये मुझे सर्वप्रथम भगवान ऋषभदेव की उपासना करनी चाहिये। चक्ररत्न और पुत्ररत्न तो इसी जीवन को सुखी बनाता है पर भगवान का दर्शन तो इस लोक और परलोक दोनों को ही सुखी बनाने वाला है। अत: मुझे सर्वप्रथम उन्हीं के दर्शन करना है।[५९] प्रस्तुत आगम में केवल चक्ररत्न का ही उल्लेख हुआ है, अन्य दो घटनाओं का उल्लेख नहीं है। अत: भरत ने चक्ररत्न का अभिवादन किया और अष्ट दिवसीय महोत्सव किया।

चक्रवर्ती सम्राट् बनने के लिये चक्ररत्न अनिवार्य साधन है। यह चक्ररत्न देवाधिष्ठित होता है। एक हजार देव इस चक्ररत्न की सेवा करते हैं। यों चक्रवर्ती के पास चौदह रत्न होते हैं। यहाँ पर रत्न का अर्थ अपनी—अपनी जातियों की सर्वोत्कृष्ट वस्तुएँ हैं।[६०] चौदह रत्नों में सात रत्न एकेन्द्रिय और सात रत्न पंचेन्द्रिय होते हैं। आचार्य अभयदेव ने स्थानांगवृत्ति में लिखा है कि चक्र आदि सात रत्न पृथ्वीकाय के जीवों के शरीर से बने हुए होते हैं, अत: उन्हें एकेन्द्रिय कहा जाता है। आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रवचनसारोद्धार ग्रन्थ में इन सात रत्नों का प्रमाण इस प्रकार दिया है।[६१] चक्र, छत्र और दण्ड ये तीनों व्याम तुल्य है।[६२] तिरछे फैलाये हुए दोनों हाथों की अंगुलियों के अन्तराल जितने बड़े होते हैं। चर्मरत्न दो हाथ लम्बा होता है। असिरत्न बत्तीस अंगुल, मणिरत्न चार अंगुल लम्बा और दो अंगुल चौड़ा होता है। कागिणीरत्न की लम्बाई चार अंगुल होती है। जिस युग में जिस

चक्रवर्ती की अवगाहना होती है, उस चक्रवर्ती के अंगुल का यह प्रमाण है।

चक्रवर्ती की आयुधशाला में चक्ररत्न, छत्ररत्न, दण्डरत्न और असिरत्न उत्पन्न होते हैं। चक्रवर्ती के श्रीधर में चर्मरत्न, मणिरत्न और कागिणीरत्न उत्पन्न होते हैं। चक्रवर्ती की राजधानी विनीता में सेनापति, गृहपति, वर्द्धकि और पुरोहित ये चार पुरुषरत्न होते हैं। वैताढ्यगिरि की उपत्यका में अश्व और हस्ती रत्न उत्पन्न होते हैं। उत्तरदिशा की विद्याधर श्रेणी में स्त्रीरत्न उत्पन्न होता है।[६३]

गंगा महानदी—सम्राट भरत षट्खण्ड पर विजय—वैजयन्ती फहराने के लिये विनीता से प्रस्थित होते हैं और गंगा महानदी के दक्षिणी किनारे से होते हुए पूर्व दिशा में मागध दिशा की ओर चलते हैं। गंगा भारतवर्ष की बड़ी नदी है। स्कन्धपुराण[६४], अमरकोश[६५], आदि में गंगा को देवताओं की नदी कहा है। जैनसाहित्य में गंगा को देवाधिष्ठित नदी माना है।[६६] स्थानांग[६७], समवायांग[६८], जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६९], निशीथ[७०], और बृहत्कल्प[७१], में गंगा को एक महानदी के रूप में चित्रित किया गया है। स्थानांग[७२], निशीथ[७३] और बृहत्कल्प[७४] में गंगा को महार्णव भी लिखा है। आचार्य अभयदेव के स्थानांगवृत्ति[७५] में महार्णव शब्द को उपमावाचक मानकर उसका अर्थ किया है कि विशाल जलराशि के कारण वह विराट् समुद्र की तरह थी। पुराणकाल में भी गंगा को समुद्ररूपिणी कहा है।[७६]

नवनिधियाँ—सम्राट भरत के पास चौदह रत्नों के साथ ही नवनिधियाँ[७७] भी थीं, जिनसे उन्हें मनोवाँछित वस्तुएँ प्राप्त होती थीं। निधि का अर्थ खजाना है। भरत महाराज को ये नवनिधियाँ, जहाँ गंगा महानदी समुद्र में मिलती है, वहाँ पर प्राप्त हुई। आचार्य अभयदेव[७८] के अनुसार चक्रवर्ती को अपने राज्य के लिये उपयोगी सभी वस्तुओं की प्राप्ति इन नौ निधियों से होती है। इसलिये इन्हें नवनिधान के रूप में गिना है। वे नवनिधियाँ इस प्रकार है— १. नैसर्पनिधि २. पांडुकनिधि ३. पिंगलनिधि ४. सर्वरत्ननिधि ५. महापद्मनिधि ६. कालनिधि ७. महाकालनिधि ८. माणवकनिधि ९. शंखनिधि।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में वर्णन है कि भरत आदर्शघर में जाते हैं। वहाँ अपने दिव्य रूप को निहारते हैं। शुभ अध्यवसायों के कारण उन्हें केवलज्ञान व केवलदर्शन प्राप्त हो गया। उन्होंने केवलज्ञान/केवलदर्शन होने के पश्चात् सभी वस्त्राभूषणों को हटाया और स्वयं पंचमुष्टि लोच कर श्रमण बने।[७९] परन्तु आवश्यकनिर्युक्ति[८०] आदि में यह वर्णन दूसरे रूप में प्राप्त है। एक बार भरत आदर्शभवन में गए। उस समय उनकी अंगुली से अंगूठी नीचे गिर पड़ी। अंगूठी रहित अंगुली शोभाहीन प्रतीत हुई। वे सोचने लगे कि अचेतन

पदार्थों से मेरी शोभा है। मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? मैं जड़ पदार्थों की सुन्दरता को अपनी सुन्दरता मान बैठा हूँ। इस प्रकार चिन्तन करते हुए उन्होंने मुकुट, कुण्डल आदि समस्त आभूषण उतार दिये। सारा शरीर शोभाहीन प्रतीत होने लगा। वे चिन्तन करने लगे कि कृत्रिम सौन्दर्य चिर नहीं है, आत्मसौन्दर्य ही स्थायी है। भावना का वेग बढ़ा और वे कर्ममल को नष्ट कर केवलज्ञानी बन गये।

चतुर्थ वक्षस्कार

चतुर्थ वक्षस्कार में चुल्ल हिमवन्त पर्वत का वर्णन है। इस पर्वत के ऊपर बीचों–बीच पद्म नाम का एक सरोवर है। इस सरोवर का विस्तार से वर्णन किया गया है। गंगा नदी, सिन्धु नदी, रोहितांशा नदी प्रभृति नदियों का भी वर्णन है। प्राचीन साहित्य, चाहे वह वैदिक परम्परा का रहा हो या बौद्ध परम्परा का, उनमें इन नदियों का वर्णन विस्तार के साथ मिलता है।

चुल्ल हिमवन्त पर्वत पर ग्यारह शिखर हैं। उन शिखरों का भी विस्तार से निरूपण किया है। हैमवत क्षेत्र का और उसमें शब्दापाती नामक वृत्तवैताढ्य पर्वत का भी वर्णन है। महाहिमवन्त नामक पर्वत का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि उस पर्वत पर एक महापद्म नामक सरोवर है। उस सरोवर का भी निरूपण हुआ है। हरिवर्ष, निषध पर्वत और उस पर्वत पर तिगिंछ नामक एक सुन्दर सरोवर है। महाविदेह क्षेत्र का भी वर्णन है। जहाँ पर सदा–सर्वदा तीर्थंकर प्रभु विराजते हैं, उनकी पावन प्रवचन धारा सतत प्रवहमान रहती है। महाविदेह क्षेत्र में से हर समय जीव मोक्ष में जा सकता है। इसके बीचों–बीच मेरु पर्वत है। जिससे महाविदेह क्षेत्र के दो विभाग हो गये हैं– एक पूर्व महाविदेह और एक पश्चिम महाविदेह। पूर्व महाविदेह के मध्य में शीता नदी और पश्चिम महाविदेह के मध्य में शीतोदा नदी आ जाने से एक–एक विभाग के दो–दो उपविभाग हो गये हैं। इस प्रकार महाविदेह क्षेत्र के चार विभाग हैं। इन चारों विभागों में आठ–आठ विजय हैं, अतः महाविदेह क्षेत्र में ८ X ४ =३२ विजय हैं। गन्धमादन पर्वत, उत्तर कुरु में यमक नामक पर्वत, जम्बूवृक्ष, महाविदेह क्षेत्र में माल्यवन्त पर्वत, कच्छ नामक विजय, चित्रकूट नामक अन्य विजय, देवकुरु, मेरुपर्वत, नन्दनवन, सौमनस वन आदि वनों के वर्णनों के साथ नील पर्वत, रम्यक हिरण्यवत और ऐरावत आदि क्षेत्रों का भी इस वक्षस्कार में बहुत विस्तार से वर्णन किया है। यह वक्षस्कार अन्य वक्षस्कारों की अपेक्षा बड़ा है।

पाँचवाँ वक्षस्कार

पाँचवें वक्षस्कार में जिनजन्माभिषेक का वर्णन है। तीर्थंकरों का हर एक महत्त्वपूर्ण कार्य कल्याणक कहलाता है। स्थानांग, कल्पसूत्र आदि में तीर्थंकरों के पंच कल्याणकों का उल्लेख है। इनमें प्रमुख कल्याणक

जन्मकल्याणक है। तीर्थंकरों का जन्मोत्सव मनाने के लिये ५६ महत्तरिका दिशाकुमारियों और ६४ इन्द्र आते हैं।

छठा वक्षस्कार

छठे वक्षस्कार में जम्बूद्वीपगत पदार्थ संग्रह का वर्णन है। जम्बूद्वीप के प्रदेशों का लवणसमुद्र से स्पर्श और जीवों का जन्म, जम्बूद्वीप में भरत, ऐरवत, हैमवत, हैरण्यवत, हरिवास, रम्यकवास और महाविदेह इनका प्रमाण, वर्षधर पर्वत, चित्रकूट, विचित्रकूट, यमक पर्वत, कंचन पर्वत, वक्षस्कार पर्वत, दीर्घ वैताढ्य पर्वत, वर्षधरकूट, वक्षस्कारकूट, वैताढ्यकूट, मन्दरकूट, मागध, तीर्थ, वरदाम तीर्थ, प्रभास तीर्थ, विद्याधर श्रेणियाँ चक्रवर्ती विजय, राजधानियाँ, तमिस्रगुफा, खंडप्रपातगुफा, नदियों और महानदियों का विस्तार से मूल आगम में वर्णन प्राप्त है। पाठक गण उसका पारायण कर अपने ज्ञान में अभिवृद्धि करें।

सातवाँ वक्षस्कार

सातवें वक्षस्कार में ज्योतिष्कों का वर्णन है। जम्बूद्वीप में दो चन्द्र, दो सूर्य, छप्पन नक्षत्र, १७६ महाग्रह प्रकाश करते हैं। उसके पश्चात् सूर्य मण्डलों की संख्या आदि का निरूपण है। सूर्य की गति, दिन और रात्रि का मान, सूर्य के आतप का क्षेत्र, पृथ्वी, सूर्य आदि की दूरी, सूर्य का ऊर्ध्व और तिर्यक् नाप, चन्द्रमण्डलों की संख्या, एक मुहूर्त में चन्द्र की गति, नक्षत्र मण्डल एवं सूर्य के उदय–अस्त विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

संवत्सर पाँच प्रकार के हैं—नक्षत्र, युग, प्रमाण, लक्षण और शनैश्चर। नक्षत्र संवत्सर के बारह भेद बताये हैं। युगसंवत्सर, प्रमाणसंवत्सर और लक्षणसंवत्सर के पाँच–पाँच भेद हैं। शनैश्चर संवत्सर के २८ भेद हैं। प्रत्येक संवत्सर के १२ महीने होते हैं। उनके लौकिक और लोकोत्तर नाम बताये हैं। एक महीने के दो पक्ष, एक पक्ष के १५ दिन व १५ रात्रि और १५ तिथियों के नाम, मास, पक्ष, करण, योग, नक्षत्र, पोरुषीप्रमाण आदि का विस्तार से विवेचन किया गया है।

चन्द्र का परिवार, मंडल में गति करने वाले नक्षत्र, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में चन्द्रविमान को वहन करने वाले देव, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा के विमानों को वहन करने वाले देव, ज्योतिष्क देवों की शीघ्र गति,उनमें अल्प और महाऋद्धि वाले देव, जम्बूद्वीप में एक तारे से दूसरे तारे का अन्तर, चन्द्र की चार अग्रमहिषियाँ, परिवार, वैक्रियशक्ति, स्थिति आदि का वर्णन है।

जम्बूद्वीप में जघन्य, उत्कृष्ट तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, निधि, निधियों का परिभोग, पंचेन्द्रिय रत्न तथा उनका परिभोग, एकेन्द्रिय रत्न, जम्बूद्वीप का आयाम, विष्कंभ, परिधि, ऊँचाई, पूर्ण परिमाण, शाश्वत

अशाश्वत कथन की अपेक्षा, जम्बूद्वीप में पाँच स्थावर कायों में अनन्त बार उत्पत्ति, जम्बूद्वीप नाम का कारण आदि बताया गया है।

व्याख्या साहित्य

जैन भूगोल तथा प्रागैतिहासिककालीन भारत के अध्ययन की दृष्टि से जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का अनूठा महत्त्व है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति पर कोई भी निर्युक्ति प्राप्त नहीं है और न भाष्य ही लिखा गया है। किन्तु एक चूर्णि अवश्य लिखी गई है।[८१] उस चूर्णि के लेखक कौन थे और उसका प्रकाशन कहाँ से हुआ, यह मुझे ज्ञात नहीं हो सकता है। आचार्य मलयगिरि ने भी जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति पर एक टीका लिखी थी, वह भी अप्राप्य है।[८२] संवत् १६३९ में हीरविजयसूरि ने इस पर टीका लिखी, उसके पश्चात् वि. संवत् १६४५ में पुण्यसागर ने तथा विक्रम संवत् १६६० में शान्तिचन्द्रगणी ने प्रमेयरत्नमंजूषा नामक टीकाग्रन्थ लिखा। यह टीकाग्रन्थ सन् १८८५ में धनपतसिंह कलकत्ता तथा सन् १९२० में देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई से प्रकाशित हुआ। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का हिन्दी अनुवार विक्रम संवत् २४४६ में हैदराबाद से प्रकाशित हुआ था। जिसके अनुवादक आचार्य अमोलकऋषि जी म.सा. थे। आचार्य घासीलाल जी म.सा. ने भी सरल संस्कृत टीका लिखी और हिन्दी तथा गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

जैन भूगोल का परिज्ञान इसलिये आवश्यक है कि आत्मा को अपनी विगत/आगत/अनागत यात्रा का ज्ञान हो जाये और उसे यह भी परिज्ञान हो जाये कि इस विराट् विश्व में उसका असली स्थान कहाँ है? उसका अपना गन्तव्य क्या है? वस्तुत: जैन भूगोल अपने घर की स्थितिबोध का शास्त्र है। उसे भूगोल न कहकर जीवनदर्शन कहना अधिक यथार्थ है। वर्तमान में जो भूगोल पढ़ाया जाता है, वह विद्यार्थी को भौतिकता की ओर ले जाता है। वह केवल ससीम की व्याख्या करता है। वह असीम की व्याख्या करने में असमर्थ है। उसमें स्वरूप बोध का ज्ञान नहीं है जबकि महामनीषियों द्वारा प्रतिपादित भूगोल में अनन्तता रही हुई है, जो हमें बाहर से भीतर की ओर झांकने को उत्प्रेरित करती है।

जो भी आस्तिक दर्शन है जिन्हें आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास है,वे यह मानते हैं कि आत्म कर्म के कारण इस विराट् विश्व में परिभ्रमण कर रहा है। हमारी जो यात्रा चल रही है, उसका नियामक तत्त्व कर्म है। वह हमें कभी स्वर्गलोक की यात्रा कराता है तो कभी नरकलोक की, कभी तिर्यंचलोक की तो कभी मानव लोक की। उस यात्रा का परिज्ञान करना या कराना ही जैन भूगोल का उद्देश्य रहा है। आत्मा शाश्वत है, कर्म भी शाश्वत है और धार्मिक भूगोल भी शाश्वत है। क्योंकि आत्मा का वह परिभ्रमण स्थान है। जो आत्मा और कर्मसिद्धान्त को नहीं जानता वह धार्मिक

भूगोल को भी नहीं जान सकता। आज कहीं पर अतिवृष्टि का प्रकोप है, कहीं पर अल्पवृष्टि है, कहीं पर अनावृष्टि है, कहीं पर भूकम्प आ रहे हैं तो कहीं पर समुद्री तूफान और कहीं पर धरती लावा उगल रही है, कहीं दुर्घटनाएँ है। इन सभी का मूल कारण क्या है, इसका उत्तर विज्ञान के पास नहीं है। केवल इन्द्रियगम्य ज्ञान से इन प्रश्नों का समाधान नहीं हो सकता। इन प्रश्नों का समाधान होता है– महामनीषियों के चिन्तन से, जो हमें धरोहर के रूप में प्राप्त है। जिस पर इन्द्रियगम्य ज्ञान ससीम होने से असीम संबंधी प्रश्नों का समाधान उसके पास नहीं है। इन्द्रियगम्य ज्ञान विश्वसनीय इसलिये माना जाता है कि वह हमें साफ–साफ दिखलाई देता है। आध्यात्मिक ज्ञान असीम होने के कारण उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये आत्मिक क्षमता का पूर्ण विकास करना होता है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का वर्णन इस दृष्टि से भी बहुत ही उपयोगी है।

संदर्भ

१. बृहत्कल्पभाष्य १.३२७५–८९
२. (क) महाभारत वनपर्व २५४
   (ख) महावस्तु III, १७२
   (ग) दिव्यावदान पृ. ४२४
३. सुरुचि जातक (सं.४८९) भाग ४, ५२१–५२२
४. जातक (सं. ४०६) भाग ४, पृष्ठ २७
५. (क) लाहा, ज्यॉग्रेफी ऑव अर्ली बुद्धिज्म, पृ.३१
   (ख) कर्निंघम, ऐंश्येंट ज्यॉग्रेफी ऑव इंडिया, एस.एन. मजुमदार संस्करण पृ. ७१८
   (ग) कर्निंघम, आर्क्यालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट XVI, ३४
६. भगवतीसूत्र ११/१०/८
७. खरकांडे किंसंठिए पण्णत्ते? गोयमा! झल्लरीसंठिए पण्णत्ते। –जीवाजीवाभिगम सूत्र ३/१/७४
८. मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः। –ज्ञानार्णव ३३/८
९. मध्येतो झल्लरीनिभः। –त्रिषष्टिशलाका पु. च. २/३/४७९
१०. एतावान्मध्यलोकः स्यादाकृत्या झल्लरीनिभः। –लोकप्रकाश १२/४५
११. आराधनासमुच्चय–५८
१२. आदिपुराण–४/४१
१३. स्थालमिव तिर्यग्लोकम्। –प्रशमरति, २११
१४. घनोदधिवलए–वट्टे वलयागारसंठाणसंठिए। –जीवाजीवाभिगम ३/१/७६
१५. मज्झिमलोयायारो उब्भिय–मुरअद्धसारिच्छो। –तिलोयपण्णत्ति १/१३७
१६. जम्बुद्दीवपण्णत्ति १/२०
१७. तुलसीप्रज्ञा, लाडनूं, अप्रेल–जून १९७५, पृ. १०६, ले. युवाचार्य महाप्रज्ञ
१८. मज्झिमं पुण झल्लरी। –स्थानांग ७/४२
१९. Research Article- A criticism upon modern views of our earth by Sri Gyan Chand Jain (Appeared in Pt. Sri Kailash Chandra

Shastri Felicitation Volume pp. 446-450)

२०. अवसप्पणि उस्सप्पणि कालच्चिय रहटघटियणाए।
होंति अणंताणंता भरहेरावद खिदिम्मि पुढं।। — तिलोयपण्णत्ति ४/१६१४

२१. यथा शुक्लं च कृष्णं च पक्षद्वयमनन्तरम्।
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योरेवं क्रमसमुद्भवः।। —पद्मपुराण ३/७३

२२. कल्पसूत्र १९५

२३. आदिपुराण १/१७८

२४. आदिपुराण ३९/१४३

२५. महापुराण १८३/१६/३६२

२६. आवश्यकनिर्युक्ति पृ. २३५/१

२७. आवश्यकचूर्णि २१२—२१४

२८. त्रिषष्टी. १/६

२९. ऋग्वेदसंहिता १०/९०; ११,१२

३०. श्रीमद्भागवत ११/१७/१३, द्वितीय भाग पृ. ८०९

३१. पद्मपुराण ३/२८८

३२. हरिवंशपुराण ९/२०४

३३. ऋग्वेद १०/१३६/१

३४. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ३३७

३५. समवायांगसूत्र १५७

३६. भयवं पियामहो निराहारो....पडिलाहेइ सामिं खोयरसेणं।

३७. हरिवंशपुराण, सर्ग ९, श्लोक १८०—१९१

३८. श्री युगादिदेव पारणकपवित्रितायां वैशाखशुक्लपक्षतृतीयायां स्वपदे महाविस्तरेण स्थापिताः।

३९. त्रिषष्टिशलाका पु. च. १/३/३०१

४०. महापुराण, संधि ९, पु. १४८—१४९

४१. आवश्यकचूर्णि, २२१

४२. शिवपुराण, ५९

४३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४८/९१

४४. कल्पसूत्र १९९/५९

४५. त्रिषष्टि श.पु. च. १/६

४६. माघस्स किण्हि चोद्दसि पुव्वहे णिययजम्मणक्खत्ते अट्ठावयम्मि उसहो अजुदेण समं गओज्जोमि। —तिलोयपण्णत्ति

४७. महापुराण ३७/३

४८. माघे कृष्णचतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि। शिवलिंगतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः। तत्कालव्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रिव्रते तिथिः। —ईशानसंहिता

४९. आवस्सक कामेंट्री, पृ. २४४

५० आवश्यकनिर्युक्ति ३८२

५१. आवश्यकमलयगिरिवृत्ति, पृ. २१४

५२. आवश्यकनिर्युक्ति ३४२

५३. आवश्यकचूर्णि १८१

५४ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १/३/५११—५१३

५५. [illegible]

५६. महापुराण २४/२/५७३
५७. (क) त्रिषष्टिशलाकपुरुष च. १/३/५/५१४
(ख) महापुराण २४/२/५७३
५८. महापुराण २४/६/५७३
५९. महापुराण २४/९/५७३
६०. रत्नानि स्वजातीयमध्ये समुत्कर्षवन्ति वस्तूनीति—समवायांगवृत्ति पृ. २७
६१. प्रवचनसारोद्धार गाथा १२१६—१२१७
६२. चक्रं छत्रं.....पुंसस्तिर्यगहस्तद्वयांगुल्योरंतरालम्। —प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, पत्र ३५१
६३. भरहस्स णं रन्नो.....उत्तरिल्लाए विज्जाहरसेढीए समुप्पन्ने।
६४. प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, पत्र ३५०—३५१ —आवश्यकचूर्णि पृ. २०८
६५. स्कन्धपुराण, काशीखण्ड, गंगा सहस्रनाम, अध्याय २९
६६. अमरकोश १/१०/३१
६७. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्षस्कार ४
६८. स्थानांग ५/३
६९. समवायांग २४वां समवाय
७०. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्षस्कार ४
७१. निशीथसूत्र १२/४२
७२. बृहत्कल्पसूत्र ४/३२
७३. स्थानांग ५/२/१
७४. निशीथ १२/४२
७५. बृहत्कल्प ४/३२
७६. (क) स्थानांगवृत्ति ५/२/१ (ख) बृहत्कल्पभाष्य टीका ५६१६
७७. स्कन्दपुराण, काशीखण्ड, अध्याय २९
७८. (क) त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र १/४
(ख) स्थानांगसूत्र ९/११
(ग) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, भरतचक्रवर्ती अधिकार, वक्षस्कार ३
(घ) हरिवंशपुराण, सर्ग ११
(ङ) माघनन्दी विरचित शास्त्रसारसमुच्चय, सूत्र १८, पृ. ५४
७९. स्थानांगवृत्ति, पत्र २२६
८०. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्षस्कार ३
८१. (क) आवश्यकनिर्युक्ति ४३६ (ख) आवश्यकचूर्णि पृ. २२७
८२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग—३, पृ. २८९
८३. वही, भाग—३, पृ. ४१७

सूर्यप्रज्ञप्ति-चन्द्रप्रज्ञप्ति : एक विवेचन

डॉ. छगनलाल शास्त्री

सूर्यप्रज्ञप्ति एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति नाम से दो आगम हैं, किन्तु इनकी विषयवस्तु एवं पाठ लगभग समान ही हैं। अत: इस संबंध में विद्वज्जन ऊहापोह करते हैं कि आगमों के दो नाम होने पर भी विषयवस्तु एक किस प्रकार है? प्रोफेसर डॉ. छगनलाल शास्त्री ने अपने इस आलेख में इस बिन्दु को उठाया है एवं समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। ये दोनों आगम ग्रह, तारा, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र आदि के साथ ज्योतिष्क गणित पर भी प्रकाश डालते हैं। इन आगमों का प्रतिपादन आधुनिक खगोल-विज्ञान से मेल नहीं खाता है, तथापि इससे आगमों में निहित खगोलविज्ञान का महत्त्व कम नहीं होता है।— **सम्पादक**

सूर्यप्रज्ञप्ति तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति— ये दोनों आगम उपांगों के अन्तर्गत गृहीत हैं। अत: इन पर चर्चा करने से पूर्व यह आवश्यक है कि अर्द्धमागधी जैन आगमों से अंग एवं उपांग मूलक विभाजन पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाए।

विद्वानों द्वारा श्रुत—पुरुष की कल्पना की गई। जैसे किसी पुरुष का शरीर अनेक अंगों का समवाय है, उसी की भाँति श्रुत पुरुष के भी अंग कल्पित किये गये। कहा गया—

"श्रुत पुरुष के बारह अंग होते हैं— दो चरण, दो जंघाएँ, दो ऊरु, दो गात्र—शरीर के आगे का भाग तथा पीछे का भाग, दो भुजाएँ, गर्दन व मस्तक यों कुल मिलाकर २+२+२+२+२+१+१=१२ बारह अंग होते हैं। इनमें— श्रुत पुरुष के अंगों में जो प्रविष्ट या सन्निविष्ट हैं, विद्यमान हैं वे आगम श्रुत पुरुष के अंग रूप में अभिहित हुए हैं, अंग आगम हैं।"[१]

इस व्याख्या के अनुसार निम्नांकित बारह आगम श्रुत-पुरुष के अंग हैं। इनके कारण आगम वाङ्मय द्वादशांगी कहा जाता है—

१. आयारंग (आचारांग) २. सूयगडंग (सूत्रकृतांग) ३. ठाणांग (स्थानांग) ४. समवायांग ५. वियाहपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति अथवा भगवती) ६. णायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्मकथा अथवा ज्ञातृधर्मकथा) ७. उवासगदसाओ (उपासकदशा) ८. अंतगडदसाओ (अन्तकृद्दशा) ९. अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपातिक दशा) १०. पण्हावागरणाइं (प्रश्नव्याकरण) ११. विवागसुय (विपाक श्रुत) तथा १२. दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद)।

उपांग

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जिन आगमों के संदर्भ में श्रोताओं का, पाठकों का, तीर्थंकर प्ररूपित धर्म देशना के साथ गणधर ग्रथित शाब्दिक माध्यम द्वारा सीधा संबंध बनता है, वे अंगप्रविष्ट कहलाते हैं। उनके अतिरिक्त आगम अंग बाह्य कहे जाते हैं। यद्यपि अंगबाह्यों में वर्णित तथ्य अंगों के अनुरूप होते हैं, विरुद्ध नहीं होते, किन्तु प्रवाह परंपरया वे तीर्थंकर भाषित से सीधे सम्बद्ध नहीं हैं, स्थविरकृत हैं। इन अंगबाह्यों में बारह ऐसे हैं,

जिनकी उपांग संज्ञा है। वे निम्नांकित हैं:—

१. उववाइय (औपपातिक) २. रायपसेणीय (राजप्रश्नीय) ३. जीवाजीवाभिगम ४. पन्नवणा (प्रज्ञापना) ५. जम्बूद्वीवपन्नत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति) ६. चंदपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति) ७. सूरियपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति) ८. निरयावलिया (निरयावलिका) ९. कप्पवडंसिया (कल्पावतंसिका) १०. पुप्फिया (पुष्पिका) ११. पुप्फचूला (पुष्पचूला) तथा १२. वण्हिदसा (वृष्णिदशा)।

प्रत्येक अंग का एक उपांग होता है। अंग और उपांग में आनुरूप्य हो, यह वांछनीय है। इसके अनुसार अंग-आगमों तथा उपांग-आगमों में विषय सादृश्य होना चाहिए।

उपांग एक प्रकार से अंगों के पूरक होने चाहिए। किन्तु अंगों एवं उपांगों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि ऐसी स्थिति नहीं है। उनमें विषय वस्तु के विवेचन, विश्लेषण आदि की परस्पर संगति नहीं है। उदाहरणार्थ आचारांग प्रथम अंग है। औपपातिक प्रथम उपांग है। अंगोपांगात्मक दृष्टि से यह अपेक्षित है कि विषयाकलन, तत्त्व—प्रतिपादन आदि के रूप में उनमें साम्य हो, औपपातिक आचारांग का पूरक हो, किन्तु ऐसा नहीं है। यही स्थिति लगभग प्रत्येक अंग एवं उपांग के बीच है। यों उपांग परिकल्पना में तत्त्वतः वैसा कोई आधार प्राप्त नहीं होता, जिससे इसका सार्थक्य फलित हो।

वेद : अंग—उपांग

तुलनात्मक समीक्षा की दृष्टि से विचार किया जाए तो वैदिक परंपरा में भी अंग, उपांग आदि के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वेदों के रहस्य, आशय, तद्गत तत्त्व-दर्शन आदि को सम्यक् स्वायत्त करने, अभिज्ञात करने की दृष्टि से वहाँ अंगों एवं उपांगों का उपपादन है। वेद-पुरुष की कल्पना की गई है। कहा गया है—

"छन्द वेद के पाद—चरण या पैर हैं। कल्प—याज्ञिक विधि—विधानों एवं प्रयोगों के प्रतिपादक ग्रन्थ उनके हाथ हैं, ज्योतिष नेत्र हैं, निरुक्त—व्युत्पत्ति शास्त्र, श्रोत्र—कान हैं, शिक्षा—वैदिक मंत्रों के शुद्ध उच्चारण, उदात्त-अनुदात्त स्वरित के रूप में स्वर प्रयोग, सन्धि-प्रयोग आदि के निरूपक ग्रन्थ घ्राण—नासिका हैं, व्याकरण इनका मुख है। अंग सहित वेदों का अध्ययन करने से अध्येता ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है।"[२]

कहने का अभिप्राय यह है कि इन विषयों के सम्यक् अध्ययन के बिना वेदों का अर्थ, रहस्य, आशय अधिगत नहीं हो सकता।

यहाँ यह ज्ञाप्य है कि जैन आगमों और वेदों के सन्दर्भ में प्रयुक्त 'अंग' पद केवल शाब्दिक कलेवर गत साम्य लिये हुए है, तत्त्वतः दोनों का

आशय भिन्न है। आगमों के साथ संलग्न 'अंग' पद तद्गत विषयों से सम्बद्ध है, जबकि वेदों के साथ संपृक्त 'अंग' पद वेदगत विषयों के प्रकटीकरण, स्पष्टीकरण अथवा विशदीकरण के साधनभूत शास्त्रों का सूचक है।

वेदों के विवेच्य विषयों को विशेष स्पष्ट एवं सुगम करने हेतु अंगों के साथ—साथ उनके उपांगों की भी कल्पना की गई। पुराण, न्याय, मीमांसा तथा धर्म शास्त्रों का वेदों के उपांगों के रूप में स्वीकरण हुआ।[3]

उपवेद

वैदिक परम्परा में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद—इन चारों वेदों के समकक्ष चार उपवेद भी स्वीकार किये गये हैं। वे क्रमशः (१) आयुर्वेद, (२) धनुर्वेद—आयुध विद्या, (३) गान्धर्व वेद—संगीत शास्त्र एवं (४) अर्थशास्त्र—राजनीति विज्ञान के रूप में हैं।

विषय—साम्य की दृष्टि से वेदों और उपवेदों पर यदि चिन्तन किया जाए तो सामवेद के साथ तो गान्धर्व वेद की यत् किंचित संगति सिद्ध होती है, किन्तु ऋग्वेद के साथ आयुर्वेद, यजुर्वेद के साथ धनुर्वेद तथा अथर्ववेद के साथ अर्थशास्त्र की कोई ऐसी संगति नहीं प्रतीत होती, जिससे इस 'उप' उपसर्ग से गम्यमान सामीप्य सिद्ध हो सके। दूरान्वित सायुज्य स्थापना का प्रयास, जो यत्र तत्र किया जाता रहा है, केवल कष्ट कल्पना है। कल्पना के लिए केवल इतना ही अवकाश है कि आयुर्वेद, धनुर्वेद तथा अर्थशास्त्र का ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के साथ संबंध जोड़ने में महिमांकन मानते हुए ऐसा किया गया हो ताकि वेद संपृक्त समादर एवं श्रद्धा के ये भी कुछ भागी बन सकें।

जैन मनीषियों का भी स्यात् कुछ इसी प्रकार का झुकाव बना हो, जिससे वेदों के साथ उपवेदों की तरह उनको अंगों के साथ उपांगों की परिकल्पना सूझी हो। कल्पना सौष्ठव या सज्जा—वैशिष्ट्य तो इसमें है, पर जैन उपांग आज जिस स्वरूप में उपलब्ध हैं, उनमें विषयगत सामीप्य की अपेक्षा से तथ्यात्मकता कहां तक है, यह सर्वथा स्पष्ट है। हाँ, इतना अवश्य है, स्थविरकृत अंग बाह्यों में से इन बारह को 'उपांग' श्रेणी में ले लिये जाने से औरों की अपेक्षा इनका महत्त्व समझा जाता है। अब लेख के मूल विषय सूर्यप्रज्ञप्ति एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति के संबंध में समालोचनात्मक एवं समीक्षात्मक दृष्टि से ऊहापोह किया जाना अपेक्षित है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति

चन्द्रप्रज्ञप्ति छठे उपांग के रूप में स्वीकृत है। इसमें चन्द्र एवं सूर्य के आकार, तेज, गतिक्रम, उदय, अस्त आदि विविध विषयों का विस्तृत वर्णन है। साथ ही साथ अन्य ग्रहों के संबंध में भी आनुषंगिक रूप में विशद विवेचन है।

यह बीस प्राभृतों में विभक्त है। प्राभृत का अर्थ उपहार या भेंट है। प्रशस्तार्थकता के भाव से इसका यहां खण्ड या अध्याय के अर्थ में प्रयोग हुआ है।

चन्द्र प्रज्ञप्ति का प्रारंभ निम्नांकित अठारह गाथाओं से होता है—

जयइ नव-णलिण—कुवलय—विगसिय—सयवत्थपतल—दलत्थो।
नीरो गयंदमयंगल—सललिय गयविक्कमो भयवं।।1।।
नमिऊण असुर—सुर—गरुल—भुयंग—परिवंदिए गयकिलेसे।
अरिहे सिद्धायरिए उवज्झाए सव्वसाहू णं।।2।।
फुडवियडं पागडत्थं वुत्थं पुव्वसुय-सारणीसंदं।
सुहुमगणिणोवइट्ठ—जोइसगणरायपण्णत्ते।।3।।
णामेण इंदभुइत्ति गोयमो वंदिऊण तिविहेणं।
पुच्छइ जिणवरवसहं, जोइस—गणराय—पण्णत्तिं।।4।।
कइ मंडलाइं वच्चंति, तिरिच्छा किंवा एच्छंति।
ओभासीत, केवइयं सेयाए, किंति संठिति।।5।।
कहिं पडिहया लेसा, कहिं तेउय संठिति।
किं सूरिया चरयंति, कहं ते उदयं संठिति।।6।।
कई कठ पोरसीच्छाया, जो एत्ति किं ते आहिए।
के ते संवच्छराणाइ, कइ संवच्छराई य।।7।।
कहं चंदमसो वुड्ढी, कया ते दोसिणा बहुं।
केई सिग्घगति वुत्ते, किंते दोसिण लक्खणं।।8।।
चयणोववायं उच्चतं, सूरिया कति आहिया।
अणुभावे केरिसे वुत्ते, एवमेताणि वीसति।।9।।
वड्ढोवड्ढी मुहुत्ताणं, अद्धमंडलसंठिइ।
किं ते चिण्णं परिचरंति, अंतरं किं चरंति य।।10।।
उग्गहति केवतियं, केवतियं च विकप्पति।
मंडलाण य संठाणं, विक्खंभ—अट्ठपाहुडा।।11।।
छप्पं च य सत्तेवय, अट्ठय तिन्नि य हवंति पडिवत्ती।
पढमस्स पाहुडस्स, ओहवंति एयाओ पडिवत्ती।।12।।
पडिवत्तीओ उदए, तह अत्थिमणेसु य।
भेयग्घाए कण्णकला, मुहुत्ताण गति तिया।।13।।
निक्खममाणे सिग्घगती, पविसंते मंदगति तीय।
चुलसीय सयं पुरिसाणं, तेसिं च पडिवत्तीओ।।14।।
उदयम्मि अट्ठभणिया, भेयग्घाए दुवेय पडिवत्ती।
चत्तारि मुहुत्तगती, होति वीयंमि पडिवत्ती।।15।।
आवलियमुहुत्तग्गे, एवं भागाय जोगस्स।
कुलाय पुण्णिमासी य, सण्णीवाए य संठिति।।16।।
तारगावण्णेयाय, चंदमग्गति यावरे।
देवाण य अज्झयणा, मुहुत्ताणं णामधेयाइं।।17।।
दिवस—राईयवुत्ता, तिहिं गुत्ता भोयणाणि य।
आइच्च चार मासाय, पंचसंवच्छराति य।।18।।

इन गाथाओं के अन्तर्गत प्रथम गाथा, जो मंगलाचरण रूप है, में

"जयइ" (जयति) शब्द द्वारा भगवान् महावीर की सर्वोत्कृष्टता ख्यापित करते हुए उनके प्रति भक्ति प्रकट की गई है।

दूसरी गाथा में अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं समग्र साधुओं को वन्दन किया गया है।

तीसरी गाथा में चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र का नाम संकेत किया है। उसे पूर्वश्रुत से सार रूप में उद्धृत बतलाया है।

चौथी गाथा में भगवान् महावीर के प्रमुख अन्तेवासी गणधर इन्द्रभूति गौतम द्वारा भगवान महावीर के समक्ष जिज्ञासु भाव से पृच्छा की गई है, जिसके समाधान में भगवान द्वारा प्रस्तुत आगमगत समस्त विषयों के विवेचन किये जाने का संकेत है।

यहाँ "पुच्छइ जोइसगणराय पण्णत्तिं" वाक्य में "जोइसगणराय" पद चन्द्र का बोधक है। पन्नत्ति प्रज्ञप्ति का प्राकृत रूप है। इसका आशय यह है कि चन्द्रप्रज्ञप्ति के विषय में गौतम भगवान् से प्रश्न करते हैं।

इन गाथाओं के पश्चात् निम्नांकित रूप में प्रस्तुत आगम का प्रारंभ होता है—

"तेणं कालेणं तेणं समएणं मिहिलाए णामं णयरीए होत्था, वण्णओ। तीसे णं मिहिलाए णामं णयरीए बहिया उत्तर पुरत्थिमे दिसीभाए एत्थणं मणिभद्दं नामं चेईए होत्था, चिराइए—वण्णओ। तीसे णं मिहिलाए णयरीए जियसत्तू नामं राया, धारिणिदेवी, वण्णओ। तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे, परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ, परिसा पडिगया।।"

अन्यान्य आगमों की शैली में यहाँ मिथिला नगरी, मणिभद्र चैत्त्य, जितशत्रु राजा, धारिणी रानी आदि का तथा भगवान महावीर के वहां पदार्पण का एवं भगवान द्वारा धर्म परिषद् को संबोधित करने का संकेत है।

आगे भगवान महावीर के प्रमुख गणधर इन्द्रभूति गौतम द्वारा किये गये प्रश्न और भ. महावीर द्वारा किये गये समाधान का आख्यान है। यह पहले से बीसवें प्राभृत तक चलता है।

बीसवें प्राभृत के अन्त में छः गाथाओं के साथ प्रस्तुत आगम का परिसमापन होता है। गाथाएँ निम्नांकित हैं—

"इति एस पागडच्छा, अभव्वजण हियय दुल्लहा होइ णमो।
उक्कतिया भगवती, जोतिस्स रायस्स पण्णत्ति।।1।।
एस गहिय विसतीथद्धे, गारवियमाणीपडिणीए।
अबहुस्सुए न देया, तव्वीवरिए भवे देवा।।2।।
सद्धाधिइ उट्ठाणुच्छाह कम्मबलवीरिएपुरिसक्कारेहिं।
जो सिक्खि उवसंतो, अभायणे पक्खिवेज्जाहि।।3।।
सो पवयण कुल-गण-संघ-बहिरो, नाण-विणय-परिहीणो।
अरिहं थेर गणहर मइ किर होंति वालिणो।।4।।
तम्हो धिति उट्ठाणुच्छाह—कम्मबलवीरियसिक्खियनाणं।

धारेयव्वं णियमा, ण य अविणीएसु दायव्वं ।।5।।
वीरवरस्स भगवओ, जर-मर–किलेस दोसरहियस्स।
वंदामि विणयपण्णत्तो, सोक्खं पाइ संपाए।।6।।

पहली पांच गाथाओं में इस आगम के अध्ययन के लिए योग्य, अयोग्य पात्रों की चर्चा की गई है। कहा गया है कि चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र अत्यन्त गूढ अर्थ युक्त है। अभव्य, अयोग्य जनों के लिए यह दुर्लभ है। जिन्हें जाति, कुल आदि का मद हो, जो सत् सिद्धान्तों के प्रत्यनीक विरोधी हों, जो बहुश्रुत नहीं, जो गुरु मुख के विना स्वयं पढ़ लेते हों, बाह्य ऋद्धियाँ प्राप्त कर लेते हों, फलस्वरूप जो नरक आदि गतियां प्राप्त करने वाले हों, ऐसे जनों को इसका ज्ञान नहीं देना चाहिए। ऐसे अनधिकारी, अपात्र जनों को जो साधु इसका ज्ञान देता है, वह प्रवचन, कुल, गण एवं संघ से बहिर्भूत होता है।

जो जिन प्रवचन में श्रद्धाशील हों, सम्यक्त्वी हों, धृति, उत्थान, उत्साह, कर्म, बल एवं वीर्य—आत्मपराक्रम युक्त होते हुए ज्ञान ग्रहण करते हों, वे ही इसके अध्ययन के लिए योग्य पात्र हैं।

छठी गाथा में जरा, मरण, क्लेश, दोषादि वर्जन तथा निराबाध, शाश्वत मोक्ष-सुखाधिगम मूलक विशेषताओं का वर्णन करते हुए भगवान् महावीर को वन्दन किया गया है।

अन्त में "इति चंदपण्णत्तीए वीसमं पाहुडं सम्मत्तं" अर्थात् चन्द्रप्रज्ञप्ति का का बीसवाँ प्राभृत समाप्त हुआ। इस वाक्य के साथ इस आगम का समापन होता है।

यह चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र के कलेवर का विवेचन है। जिसे यहां उपस्थापित करने का एक विशेष प्रयोजन है, जो इस लेख में आगे—सूर्यप्रज्ञप्ति के विश्लेपण में स्वत: स्पष्ट हो जायेगा।

सूर्य प्रज्ञप्ति

सूर्यप्रज्ञप्ति सातवें उपांग के रूप में स्वीकृत है। सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति के संबंध में एक बहुत बड़ी समस्या है, जिसका विद्वज्जगत् में अब तक समाधान हो नहीं पाया है। वर्तमान में सूर्यप्रज्ञप्ति के नाम से जो आगम उपलब्ध है, उसका समग्र पाठ चन्द्रप्रज्ञप्ति के सदृश है।

सबसे पहले सन् १९२० में परम पूज्य स्व. श्री अमोलकऋषि जी म. सा. द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद के साथ सिकन्द्राबाद में बत्तीसों आगमों का प्रकाशन हुआ। वहाँ सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति दोनों आगम दो अलग—अलग पुस्तकों के रूप में छपे हैं। विषयानुक्रम एवं पाठ दोनों के एक समान हैं।

जब एक ही पाठ हैं तो फिर इन्हें दो आगमों के रूप में क्यों माना जाता रहा है। इस संबंध में अब तक कोई ठोस आधार प्राप्त हो नहीं सका है।

दोनों के संदर्भ में यहां कुछ विश्लेपण करना अपेक्षित है। चन्द्रप्रज्ञप्ति

के प्रारंभ में जो अठारह गाथाएँ आई हैं, सूर्यप्रज्ञप्ति में वे नहीं हैं। वहाँ "तेणं कालेणं तेणं समएणं मिहिलाए णामं णयरीए होत्था" इत्यादि ठीक उन्हीं वाक्यों के साथ पाठ प्रारंभ होता है और अन्त तक अविकल रूप में वैसा ही पाठ चलता है, जैसा चन्द्रप्रज्ञप्ति में है।

इसके प्रथम प्राभृत के अन्तर्गत आठ अन्तर प्राभृत हैं। पहले अन्तर प्राभृत की समाप्ति पर "सूरियपण्णत्तीए पढमं पाहुडं सम्मत्तं" ऐसा उल्लेख है। दूसरे अन्तर प्राभृत के अन्त में 'सूरिय पण्णत्तिस्स पढमस्य बीयं पाहुडं समत्तं" पाठ है। आगे इसी प्रकार आठवें अन्तर प्राभृत तक उल्लेख है। पहले अन्तर प्राभृत में 'सूरियपण्णत्ति' के षष्ठी विभक्ति के रूप में 'सूरियपण्णत्तीए' आया है, जबकि दूसरे से आठवें अन्तर प्राभृत तक "सूरियपण्णत्तिस्स" का प्रयोग हुआ है।

तीसरे, चौथे और पांचवे प्राभृत के अंत में 'ततियं' 'चउत्थं' एवं 'पंचमं' पाहुडं समत्तं—ऐसा उल्लेख है।

बड़ा आश्चर्य है, छठे प्राभृत के अंत में "चंदपण्णत्तिस्स छट्ठं पाहुडं सम्मत्तं" तथा सातवें प्राभृत के अन्त में "चंदपण्णत्तीए सत्तमं पाहुडं सम्मत्तं" ऐसा उल्लेख है।

आठवें और नौवें प्राभृत के अन्त में सूर्य प्रज्ञप्ति का नामोल्लेख है।

दसवें से उन्नीसवें प्राभृत तक केवल पाहुड़ों की संख्या का सूचन किया गया है।

बीसवें प्राभृत के अन्त में वही छः गाथाएँ सूर्यप्रज्ञप्ति में हैं, जो चन्द्रप्रज्ञप्ति में हैं।

आगम सूर्यप्रज्ञप्ति के नाम से चल रहा है और इन गाथाओं के पश्चात् "इति चंदपण्णत्तीए वीसमं पाहुडं सम्मत्तं" ऐसा लिखा है।

उपर्युक्त विवेचन से जो विसगतियाँ प्रकट होती हैं, उन पर विचार करना अपेक्षित है।

तथ्यात्मक गवेषणोपक्रम

प्राकृत मेरे अध्ययन का मुख्य विषय रहा है। देश के सर्वाग्रणी प्राकृत– विद्वान्, षट्खण्डागम के यशस्वी संपादक, नागपुर एवं जबलपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत, प्राकृत एवं पालि विभाग के अध्यक्ष, तत्पश्चात् प्राकृत जैन रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वैशाली के निदेशक डॉ. एच. एल. जैन से मुझे अनवरत दो वर्ष पर्यन्त प्राकृत पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कोल्हापुर विश्वविद्यालय एवं मैसूर विश्वविद्यालय के प्राकृत जैनोलोजी विभाग के अध्यक्ष, प्राकृत के महान् विद्वान डॉ. ए.एन. उपाध्ये के संपर्क में रहने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ, वैशाली में मैं प्रोफेसर भी रहा। आगे सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रोफेसर दलसुखभाई मालवणिया आदि का साहचर्य मुझे प्राप्त होता रहा। प्राकृत से संबद्ध विविधविषयों, विवादास्पद पक्षों पर चर्चाएँ होती रहती।

सूर्यप्रज्ञप्ति चन्द्रप्रज्ञप्ति का विवादास्पद प्रसंग भी उनमें था। देश के अनेक अन्य जैन विद्वानों, मुनियों एवं आचार्यों के समक्ष भी मैंने सूर्यप्रज्ञप्ति तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति से जुड़ी समस्या उपस्थापित की, किन्तु अद्यावधि वह समाहित नहीं हो पाई।

इस संबंध में यहां एक प्रसंग का और उल्लेख करना चाहूंगा। विक्रम संवत् २०३१, सरदारशहर (राज.) में, जो मेरा जन्म स्थान है, साधुमार्गी जैन संघ के अधिनायक स्वनाम धन्य, विद्वन्मूर्धन्य अष्टम आचार्य श्री नानालाल जी म.सा. का चातुर्मासिक प्रवास था। तब समय.समय पर उनके सम्पर्क में आने तथा अनेक तात्त्विक एवं आगमिक विषयों पर चर्चा—वार्ता, विचार—विमर्श करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त होता रहा था। मैंने आचार्यप्रवर के समक्ष सूर्यप्रज्ञप्ति एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति विषयक प्रश्न भी रखा, जब दोनों के पाठ सर्वथा ऐक्य लिये हुए हैं, फिर इन्हें दो आगम स्वीकार करने की मान्यता कैसे स्थापित हुई?

आचार्यप्रवर का संभवतः चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र के अन्त में आई हुई छः गाथाओं में से, जो वर्तमान में उपलब्ध सूर्यप्रज्ञप्ति में यथावत् रूप में हैं, उस गाथा की ओर ध्यान रहा हो, जिसमें यह कहा गया है कि यह आगम अति गूढार्थ लिये हुए है, किसी अयोग्य अनधिकारी व्यक्ति को इसका ज्ञान नहीं दिया जाना चाहिए, इसीलिए आचार्यप्रवर ने इस संदर्भ में एक संभावना का प्रतिपादन किया। उन्होंने फरमाया— दोनों आगमों की शब्दावली एक होते हुए भी शब्दों की विविधार्थकता के कारण दोनों के अर्थ भिन्न रहे हों। गूढता के कारण रहस्यभूत भिन्न अर्थ किन्हीं बहुश्रुत, मर्मज्ञ आचार्यों या विद्यानिष्णात मुनियों को ही परिज्ञात रहे हों। गूढार्थकता, रहस्यात्मकता के कारण वे विज्ञ मनीषी ही किन्हीं योग्य पात्रों को इनका अर्थ बोध देते रहे हों, आगे चलकर साधारण पाठकों, अध्येताओं के ज्ञान की सीमा से दूरवर्ती होने से पाठ—सादृश्य के कारण लोगों में इनके एक होने की शंका बनी हो।

उक्त आधार पर दोनों को दो भिन्न-भिन्न आगमों के रूप में माना जाना संभावित है। यह एक मननीय चिन्तन है।

यहां एक बात और विचारणीय है, शब्दों के अर्थ वैविध्य के सूचक अनेकानेक कोश—ग्रन्थ विद्यमान हैं, जो शब्दों के सामान्य, असामान्य—गूढ़, दोनों ही प्रकार के अर्थों का बोध कराते हैं, किन्तु सूर्यप्रज्ञप्ति एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति विषयक उन गूढ अर्थों को, जिन्हें तज्ञ विशिष्ट विद्वान ही ज्ञापित कर पाते थे, अवगत करने में आज नैराश्य आच्छन्न है।

एक संभाव्य संयोग

प्रस्तुत विषय पर मेरा विचार मन्थन चलता रहा। मैं समझता हूँ सूर्य- प्रज्ञप्ति निःसन्देह एक पृथक् स्वतन्त्र आगम रहा हो। यदि वैसा नहीं होता तो सप्तम उपांग के रूप में वह क्यों गृहीत होता। जैसा पहले कहा

गया, संभवत: काल-क्रम से वह लुप्त हो गया हो। लुप्त हो जाने के पश्चात् ऐसा घटित हुआ हो— हस्तलिखित पांडुलिपियों का कोई विशाल ग्रन्थ भंडार रहा हो, जैन आगम, शास्त्र एवं अनेकानेक विषयों के ग्रन्थ उसमें संगृहीत हों, ग्रन्थपाल या पुस्तकाध्यक्ष कभी आगमों का पर्यवेक्षण कर रहा हो, उन्हें यथावत् रूप में व्यवस्थित कर रहा हो। जैसा कि आम तौर पर होता है, वह सामान्य पढ़ा लिखा हो, आगमों के अंग, उपांग, भेद, प्रभेद, इत्यादि के विषय में कोई विशेष जानकारी उसे न रही हो। अंगों के अनन्तर उपांगों की देखभाल करते समय यथाक्रम छठा उपांग चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र उसके हाथ में आया हो, इस सूत्र की वहाँ दो प्रतियाँ रही हों, पहली प्रति नामयुक्त मुखपृष्ठ, मंगलाचरण आदि सहित हो, उसी आगम की दूसरी प्रति में मुख पृष्ठ एवं मंगलाचरण तथा विषयसूचक अठारह गाथाओं वाला पृष्ठ विद्यमान न रहा हो। उस प्रति के पश्चात् सीधे उसके हाथ में आठवें उपांग निरयावलिका की प्रति आई हो, चन्द्रप्रज्ञप्ति की दूसरी प्रति को, जिसमें मुखपृष्ठ और प्रारंभ का मंगलाचरण आदिवाला पृष्ठ न होकर सीधा पाठ का प्रारंभ हो, आगमों के कलेवर, विषय—वस्तु आदि का परिचय न होने से ग्रन्थपाल ने सातवाँ उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति समझ लिया हो और उस प्रति के ऊपर दूसरा कागज लगाकर उस पर सूर्यप्रज्ञप्ति नाम लिख दिया हो, क्योंकि शायद उसने समझा हो कि जब उपांग बारह हैं, उसी क्रम में उनमें यह बिना नाम की प्रति है तो छठे और आठवें उपांग के बीच यह सातवां उपांग ही होना चाहिए। अज्ञता के कारण इस प्रकार की भूल होना असंभव नहीं है।

आगे चलकर उसी प्रति को आदर्श मानकर उसकी प्रतिलिपियाँ होती रही हों, क्रमश: यह भावना संस्कारगत होती रही हो कि यही सातवाँ उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र है।

जब उत्तरवर्ती काल में विद्वानों का ध्यान पाठ की ओर गया हो, तब संभव है, उनके मन में ऐसी शंका उठी हो कि एक ही पाठ और नाम से दो पृथक् पृथक् आगम, यह कैसे? किन्तु जो परंपरा चल पड़ी, बद्धमूल हो गई, उसे नकारना उनके लिए कठिन हुआ हो, फलत: उसे ज्यों का त्यों चलने दिया जाता रहा हो।

किसी तज्ञ पुरुष द्वारा चन्द्रप्रज्ञप्ति की इस दूसरी प्रति पर सातवें उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति के रूप में संगत बनाने हेतु कतिपय पाहुड़ों की समाप्ति पर चन्द्रप्रज्ञप्ति के बदले सूर्यप्रज्ञप्ति शब्द का उल्लेख कर दिया गया हो। संगति बिठाने का यह कल्पनाप्रसूत क्रम जैसा पूर्वकृत विवेचन से स्पष्ट है, सभी पाहुड़ों के अंत में नहीं चलता, जिससे विसंगति और अधिक वृद्धिगत हो जाती है।

अस्तु—साररूप में यही कथनीय है कि सूर्यप्रज्ञप्ति तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति की विवादास्पदता का समाधान अब तक तो यथार्थत: प्राप्त हो नहीं सका है,

कल्पनोपक्रम ही गतिशील रहे हैं, जिनका प्रामाण्य सन्दिग्धता से परे नहीं होता।

प्राकृत विद्या एवं आर्हत-श्रुत क्षेत्र के प्रबुद्ध, उत्साही, अन्तःस्पर्शी प्रज्ञा के धनी मनीषी प्राचीन एवं अर्वाचीन वाङ्मय के आलोक में समाधान खोजने का अविश्रान्त प्रयास करें, यह वांछित है। महाकवि भवभूति के शब्दों में—

"संपत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा,

कालो ह्ययं निरवधि र्विपुला च पृथ्वी।।"[४]

समाधान प्राप्त करने की दिशा में सदा आशावान रहना ही चाहिए।

संदर्भ

१. इह पुरुषस्य द्वादश अंगानि भवन्ति, तद्यथा—
द्वौ पादौ, द्वे जंघे, द्वे अरुणी, द्वे गात्रार्द्धे, द्वौ बाहू, ग्रीवा, शिरश्च। एवं श्रुतपुरुषस्यापि परमपुरुषस्याचारादीनि द्वादशांगानि क्रमेण वेदितव्यानि तथा चोक्तम्—
पायदुगं जंघोरू, गायदुगद्धं तु दोय वाहू य।
गीवा सिरं च पुरिसो, बारस अंगेसु य पविट्ठो।।
श्रुतपुरुषस्यांगेपु प्रविष्ट्म्—अंगप्रविष्टम्।
अंगभावेन व्यवस्थिते श्रुतभेद........।।—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग १, पृष्ठ ३८

२. छन्दः पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिपामयनं चक्षुः, निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् सांगमधीत्यैव, ब्रह्मलोके महीयते।।— पाणिनीय शिक्षा, ४१—४२

३. पुराण—न्याय—मीमांसा—धर्मशास्त्रांग मिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां, धर्मस्य च चतुर्दश।।— याज्ञवल्क्य, स्मृति १.३

४. उत्तररामचरितम्, प्रस्तावना

—शारदा पुस्तक मन्दिर,, सरदारशहर—331403, जिला— चुरु(राज.)

निरयावलिका आदि सूत्रत्रय

श्री धर्मचन्द जैन

अपने पापकर्मों के कारण नरक में जाने वाले जीवों का वर्णन निरयावलिका में किया गया है। इसमें ५ उपांग हैं, जिनमें से प्रथम ३ कल्पिका (निरयावलिया), कल्पावतंसिका एवं पुष्पिका का परिचय इस आलेख में आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड के रजिस्ट्रार एवं तत्त्वज्ञ श्री धर्मचन्द जी द्वारा दिया गया है। —सम्पादक

जैन धर्म में आगम अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के भेद से दो प्रकार के हैं। तीर्थंकरों से अर्थ रूप उपदेश सुनकर गणधर जिन्हें सूत्र रूप में ग्रथित करते हैं, उन्हें अंगप्रविष्ट आगम कहते हैं। भगवान के उपदेश के आधार पर बाद के आचार्यों ने जिन आगमों की रचना की, उन्हें अंगबाह्य आगम कहते हैं। सभी उपांग अंग बाह्य कहलाते हैं। उनमें एक उपांग है— निरयावलिका सूत्र।

नाम

इस आगम में नरक में जाने वाले जीवों का पंक्तिबद्ध वर्णन होने से इसे 'निरयावलिका' कहते हैं। इसमें पाँच उपांग समाविष्ट हैं—
१. निरयावलिका अथवा कल्पिका २. कल्पावतंसिका ३. पुष्पिका ४. पुष्पचूलिका और ५. वृष्णिदशा

परिचय

निरयावलिका सूत्र में एक श्रुतस्कन्ध, बावन अध्ययन, पाँच वर्ग और ११०० श्लोक प्रमाण मूल पाठ है। इसके प्रथम वर्ग में दस अध्ययनों में काल, सुकाल, महाकाल, कृष्ण, सुकृष्ण, महाकृष्ण, वीरकृष्ण, रामकृष्ण, पितृसेनकृष्ण और महासेनकृष्ण का जीवन चरित्र वर्णित है।

निरयावलिका (कल्पिका)

प्रथम वर्ग में मगध देश के सम्राट् श्रेणिक के दस पुत्रों का नरक में जाने का वर्णन किया गया है। श्रेणिक की महारानी चेलना से कूणिक का जन्म हुआ। कूणिक राज्य लिप्सा का इच्छुक बनकर अपने लघु भ्राता काल, सुकाल कुमार आदि के सहयोग से अपने पिता को बन्दीगृह में डाल देता है तथा स्वयं राजा बनकर जब माता के चरण वन्दन को जाता है तो माता मुँह फेर लेती है तथा कूणिक से कहती है कि तुम्हारे पिता तुम्हें कितना अधिक चाहते थे। गर्भ अवस्था के दोहद की घटना तथा उत्पन्न होने के बाद उकरड़ी में फैंकने, मुर्गे द्वारा अंगुली नौंच देना, मवाद निकलना, मवाद को मुँह में चूसते—चूसते बाहर निकालना, तुम्हें सुख उपजाना आदि की सारी घटना विस्तार से बतलाती है। घटना सुनकर कूणिक अपने पिता के बन्धन काटने हेतु कुल्हाड़ी हाथ में लिये कारागृह की ओर जाता है, किन्तु उसके पिता श्रेणिक सोचते हैं कि अब यह मुझे न जाने किस तरह तड़फा—तडफा कर

मारेगा, ऐसा सोचकर वह स्वयं कालकूट विष जो कि मुद्रिका में था, उसे खाकर अपने प्राणों का अंत कर लेते हैं। कूणिक अपनी राजधानी राजगृह से बदलकर चम्पानगरी कर लेते हैं,वहाँ पर भगवान महावीर का पदार्पण होता है तथा राजा श्रेणिक की रानियाँ एवं कूणिक की छोटी माताएँ अपने पुत्र काल, सुकाल आदि कुमारों का युद्ध में प्राणान्त हो जाने के समाचार भ. महावीर के श्रीमुख से सुनती हैं, तथा संसार की असारता एवं क्षणभंगुरता को जानकर वे माताएँ दीक्षित हो जाती हैं। कर्मों को काटकर मुक्त हो जाती हैं, इन सब बातों का बहुत ही मार्मिक ढंग से सरल भाषा में विवरण प्रथम वर्ग में प्रस्तुत किया गया है।

राजा श्रेणिक के छत्तीस पुत्र होने का जैन साहित्य में उल्लेख मिलता है। उनमें से जाली, मयाली, उवयाली, पुरिससेण, वारिसेण आदि २३ राजकुमारों के साथ मेघकुमार और नन्दीसेन ने भी श्रमण दीक्षा अंगीकार की। ग्यारह राजकुमारों ने साधना पथ स्वीकार नहीं किया और वे मृत्यु को प्राप्त कर नरक में उत्पन्न हुए।

महाशिला कण्टक संग्राम

निरयावलिका के प्रथम वर्ग में महाशिला कण्टक संग्राम नामक युद्ध का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। पिता की मृत्यृ के पश्चात् कूणिक चम्पानगरी का राजा बन गया। अपने लघु भ्राता हल्ल–वेहल्ल कुमार को सेचनक हाथी और अठारहसरा हार राजा श्रेणिक ने ही दे दिये थे , जिनकी कीमत आधे राज्य के बराबर मानी जाती थी। दोनों भाई हाथी और हार से आनन्दक्रीड़ा का अनुभव कर रहे थे। इसके अनन्तर कूणिक की महारानी पद्मावती के मन में ईर्ष्या व लोभ जागना, कूणिक को हार–हाथी लेने के लिये बार–बार प्रेरित करना, हल्ल–वेहल्ल कुमार का डर के मारे अपने नाना चेटक की शरण में जाना, कूणिक द्वारा युद्ध की चेतावनी देना, चेटक द्वारा शरणागत की रक्षा एवं न्याय की रक्षा करने की प्रतिज्ञा दोहराना, अन्तिम परिणाम महाशिला कण्टक संग्राम होना, इस युद्ध में कूणिक के दसों लघु भ्राता काल कुमार, सुकाल कुमार आदि का महाराजा चेटक के अचूक बाणों से प्राणान्त होकर चौथी नरक में गमन करना, वहाँ से आयु पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष में जाने का वर्णन किया गया है।

कल्पावतंसिका (कप्पवडंसिया)

इस सूत्र में राजा श्रेणिक के दस पौत्रों अथवा काल, सुकाल कुमार आदि दस राजकुमारों के दस पुत्रों का वर्णन किया गया है। इस सूत्र में ऐसे दस राजकुमारों का वर्णन है जो कल्प देवलोकों में जाकर उत्पन्न हुए, इसी कारण इस सूत्र का नाम कल्प+अवतंसिका= कल्पावतंसिका रखा गया है।

इस उपांग में कुल दस अध्ययनों में पद्म, महापद्म, भद्र, सुभद्र, पद्मभद्र, पद्मसेन, पद्मगुल्म, नलिनीगुल्म, आनन्द और नन्दन इन दस

राजकुमारों का जीवन चरित्र वर्णित किया गया है। ये दसों ही राजकुमार श्रमण भगवान महावीर स्वामी के अमृतमय प्रवचन को सुनते हैं, संसार के भोगों से उदासीन बन साधु बन जाते हैं। अंग—साहित्य का अध्ययन कर, उग्र तप करते हुए जीवन का अन्तिम समय निकट जान कर, संथारा—संलेखना पूर्वक समाधि मरण को प्राप्त कर सौधर्मादि देवलोकों में देव रूप मे उत्पन्न हो जाते हैं। ये सभी राजकुमार देवलोक से आयु पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य के रूप में जन्म लेंगे तथा दीक्षित होकर सभी कर्मों का क्षय कर सिद्ध—बुद्ध—मुक्त होंगे।

इस प्रकार इस कल्पावतंसिका उपांग में महाव्रतों के पालन से आत्मशुद्धि की प्रक्रिया बतलायी है। जहाँ दस राजकुमारों के पिता कषाय के वशीभूत होकर चौथी नरक में जाते हैं वहीं ये राजकुमार रत्नत्रय धर्म की सम्यग् आराधना करके देवलोकों में उत्पन्न होते हैं। साधना से मानव महामानव बन सकता है तथा विराधना से नरक के दु:खों का भोक्ता भी बन सकता है, यह प्रेरणा इस उपांग से प्राप्त की जा सकती है।

पुष्पिका (पुप्फिया)

यह निरयावलिका का तीसरा उपांग है। इसमें चन्द्र, सूर्य, शुक्र, बहुपुत्रिक, पूर्णभद्र, मणिभद्र, दत्त, शिव, बल और अनादृत ये दस अध्ययन हैं।

प्रथम अध्ययन में भ० महावीर का राजगृह में पदार्पण, चन्द्र देव का दर्शन हेतु आगमन, विविध नाट्यों का प्रदर्शन, गणधर गौतम द्वारा जिज्ञासा, भगवान द्वारा चन्द्र देव के पूर्वभव का कथन—पूर्वभव में प्रभु पार्श्वनाथ के चरणों में अगंजित अनगार बनना, चन्द्र देव बनना आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। चन्द्र देव का भावीं जन्म बतलाते हुए कहा है कि वह देव भव पूर्ण होने पर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य के रूप में जन्म लेकर सिद्धि को प्राप्त करेगा, इसी प्रकार का वर्णन दूसरे अध्याय में सूर्य देव का किया गया है।

तीसरे अध्याय में शुक्र देव का वर्णन है, इसने भी भगवान के चरणों में उपस्थित होकर नाटक प्रदर्शित किये। गणधर गौतम की जिज्ञासा पर भगवान ने शुक्र देव का पूर्वभव बतलाया। पूर्वभव के वर्णन में सोमिल ब्राह्मण का वेदों में निष्णात होना, भ. पार्श्वनाथ का वाराणसी पधारना, सोमिल द्वारा यात्रा, यापनीय, सरिसव, मास, कुलत्थ आदि के बारे में जटिल प्रश्न पूछना, भ. पार्श्वनाथ द्वारा स्याद्वाद शैली में सटीक समाधान देना, कुसंगति के कारण सोमिल का पुन: मिथ्यात्वी बन जाना, दिशाप्रोक्षक अर्थात् जल सींचकर चारों दिशाओं के लोकपाल देवों की पूजा करने वाला, बेले—बेले दिशा चक्रवात तपस्या करना, सूर्य के सम्मुख आतापना लेना आदि का वर्णन है। इस अध्याय में चालीस प्रकार के तापसों का वर्णन भी मिलता है।

सोमिल तापस द्वारा काष्ठमुद्रा से मुख को बांधकर उत्तराभिमुख हो उत्तर दिशा में महाप्रस्थान (मरण के लिये गमन) का वर्णन इस बात को सूचित करता है कि उस समय जैन साधुओं के अलावा अन्य तापस भी खुले मुँह नहीं रहते होंगे। यह प्रसंग मुखवस्त्रिका को हाथ में न रखकर मुख पर बांधना सिद्ध करता है।

देव द्वारा सोमिल को प्रतिबोध देना, दुष्प्रव्रज्या बतलाना, सोमिल द्वारा पुन: श्रावक के पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रतों को स्वीकार करने का रोचक प्रसंग भी पठनीय है। यह शुक्र देव भी चन्द्र, सूर्य देवों के समान महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य के रूप में उत्पन्न हो यावत् सिद्धि को प्राप्त करेगा।

चतुर्थ अध्ययन में बहुपुत्रिका देवी का वर्णन है। बहुपुत्रिका देवी की कथा बहुत ही सरस एवं मनोहारी है। बहुपुत्रिका देवी का भ. महावीर के समवशरण में उपस्थित होना, दाहिनी भुजा से १०८ देवकुमारों तथा बांयी भुजा से १०८ देवकुमारियों की विकुर्वणा करना, नाटक करना, गणधर गौतम द्वारा जिज्ञासा करने पर भ. महावीर द्वारा पूर्वभव का कथन करना, पूर्वभव में बहुपुत्रिका देवी भद्रा सार्थवाह की पत्नी होना, वन्ध्या (पुत्र रहित) होना, बच्चों से प्रगाढ स्नेह होना, साध्वी बन जाना, श्रमणाचार के विपरीत बच्चों को शृंगारित करना, संघ से निष्कासित अकेली रहना तथा आलोचना किये बिना सौधर्म कल्प में बहुपुत्रिका देवी होने की कथा विस्तार से दी गयी है।

बहुपुत्रिका देवी का आगामी भव बतलाते हुए कहा है कि वह सोमा नामक ब्राह्मणी होगी। सोलह वर्ष के वैवाहिक जीवन में बत्तीस सन्तान होगी, जिनके लालन–पालन–अशुचि-निवारण आदि से बहुत परेशान होगी। अन्त में संसार से विरक्त हो साध्वी बनेगी, मृत्यु के उपरान्त देव भव प्राप्त करेगी और वहाँ से निकलकर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य के रूप में उत्पन्न होकर यावत् सिद्धि को प्राप्त करेगी।

इस प्रकार निरयावलिका, कल्पावंतसिका व पुष्पिका सूत्र में तथा इसी प्रकार पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा में भी सत्य कथाओं के माध्यम से जैन धर्म के सिद्धान्तों एवं श्रमणाचार, श्रावकाचार की अद्वितीय प्रेरणा प्रदान की गयी है। कृतपापों की आलोचना और प्रायश्चित्त आराधना का यह प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण सूत्र है। अत: साधकों को चाहिये कि जैसे ही उन्हें अपने आप अथवा दूसरों के द्वारा जाने–अनजाने में हो रही भूलों की जानकारी प्राप्त हो, तुरन्त उनकी आलोचना, प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धिकरण कर लेना चाहिये तभी वे आराधक बन अपने चरम लक्ष्य–मोक्ष को प्राप्त कर सकेंगे।

–रजिस्ट्रार
अ.भा. श्री जैन रत्न आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड, जोधपुर

पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा

अर्चनाशिष्या साध्वी डॉ. हेमप्रभा 'हिमांशु'

पुष्पचूलिका एवं वृष्णिदशा में धर्मकथानक हैं, अतः इन दोनों उपांगों का समावेश धर्मकथानुयोग में किया जा सकता है। पुष्पचूलिका में भगवान पार्श्वनाथ कालीन दश श्रमणियों का वर्णन है जो आर्या पुष्पचूलिका के समक्ष दीक्षित हुईं। वृष्णिदशा में वृष्णिवंशीय (यदुवंशीय) १२ राजकुमारों का वर्णन है। पुष्पचूलिका एवं वृष्णिदशा के सभी साधक महाविदेह क्षेत्र से मोक्ष प्राप्त करेंगे। साध्वी डॉ. हेमप्रभा जी ने दोनों आगमों की विषयवस्तु का संक्षिप्त एवं सारगर्भित परिचय दिया है।—**सम्पादक**

आर्हत परम्परा में भगवान महावीर इस युग के अन्तिम तीर्थंकर हुए। उन्होंने जो धर्मदेशना दी तथा उनके प्रमुख अन्तेवासी गणधरों ने जिसे सूत्र रूप में संग्रथित किया, वह आज 'शास्त्र' या 'आगम' के रूप में विश्रुत है।

आचार्य देववाचक ने आगम-साहित्य को दो भागों में विभक्त किया है— १. अंग प्रविष्ट और २. अंग बाह्य। अंग प्रविष्ट आगम भगवान महावीर के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों का गणधरों द्वारा सूत्रबद्ध संकलन है। ये संख्या में बारह होने से द्वादशांग या द्वादशांगी कहे जाते हैं। द्वादशांगी का दूसरा नाम 'गणिपिटक' भी है। 'गणि'—गणनायक आचार्य के 'पिटक'—पेटी अथवा अधिकार में रहने से संभवतः ये गणिपिटक के नाम से अभिहित हुए हों।

देश, काल की विषम परिस्थिति के कारण बारहवें अंग सूत्र 'दृष्टिवाद' के पूर्ण रूप से विलुप्त हो जाने के कारण वर्तमान में ग्यारह अंग सूत्र ही उपलब्ध हैं।

अंग बाह्य आगमों का कालिक एवं उत्कालिक के रूप में विवेचन किया गया है। वर्तमान में उपलब्ध बारह उपांग सूत्रों का समावेश अंग बाह्य में किया जा सकता है।

'पुष्पचूलिका' एवं 'वृष्णिदशा'—ये अन्तिम दो उपांग सूत्र हैं, जिनका समावेश 'निरयावलिका' श्रुतस्कंध में किया गया है। विद्वत् मनीषियों का मन्तव्य है कि १. निरयावलिका या कल्पिका २. कल्पावतंसिका ३. पुष्पिका ४. पुष्पचूलिका और ५. वृष्णिदशा या वण्हिदशा— ये पाँचों उपांग सूत्र पहले निरयावलिका के नाम से ही प्रचलित थे, किन्तु बारह उपांगों का जब बारह अंगों से संबंध स्थापित किया गया तब इन्हें पृथक्—पृथक् परिगणित किया गया।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि यद्यपि प्रत्येक उपांग, प्रत्येग अंग सूत्र से संबंद्ध माने गए हैं, किन्तु विषयवस्तु, विवेचन आदि की दृष्टि से अंग, उपांगों से भिन्न हैं। एक दूसरे के वास्तविक पूरक भी नहीं हैं। फिर भी इनकी प्रतिष्ठापना किस दृष्टि से की गई है, यह एक अन्वेषणीय विषय है। अस्तु...

विषय व्याख्या, विवेचन, विश्लेषण की दृष्टि से आर्यरक्षित सूरि ने

आगमों को चार भागों में वर्गीकृत किया, जो अनुयोग कहलाते हैं। वे इस प्रकार हैं–

1. **चरणकरणानुयोग**–संयम की आराधना में सहयोगी/उपयोगी तत्त्वों का इस अनुयोग में विवेचन है।
2. **धर्मकथानुयोग**–इसमें कथानकों या आख्यानकों के माध्यम से धर्म के अंगों का विवेचन किया गया है।
3. **गणितानुयोग**– विभिन्न ज्योतिष ग्रहों का विवेचन इसमें है।
4. **द्रव्यानुयोग**– षट् द्रव्यों का विश्लेषण इस अनुयोग में है।

पुष्पचूलिका एवं वृष्णिदशा की गणना धर्मकथानुयोग में की गई है। इनमें कथाओं के माध्यम से तत्कालीन तद्युगीन महान् चारित्रात्माओं के जीवन प्रसंग पर प्रकाश डाला गया है। दोनों उपांग आगमों का संक्षिप्त सार रूप आगे दिया जा रहा है–

पुष्पचूलिका

ऐतिहासिक दृष्टि से इस आगम का अत्यधिक महत्त्व है। इसके दस अध्ययन हैं। उनमें भगवान पार्श्वनाथ के शासन में दीक्षित होने वाली दस श्रमणियों की चर्चा कथा रूप में की गई है तथा इन कथाओं का प्रेरणातत्त्व शुद्ध श्रमणाचार है।

भगवान महावीर के उत्तराधिकारी आर्य सुधर्मा थे। आर्य सुधर्मा के प्रमुख शिष्य जम्बू थे। वे जिज्ञासु भाव से, लोकोपकार की वृत्ति से आर्य सुधर्मा से प्रश्न करते हैं। आर्य सुधर्मा शिष्य जम्बू की जिज्ञासा के अनुसार मोक्षप्राप्त भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित पुष्पचूलिका के दस अध्ययनों का कथानक शैली में वर्णन करते हैं।

आख्यानक या कथा के माध्यम से आर्य सुधर्मा ने प्रतिपाद्य विषय को जन–जन के लिए बोधगम्य बना दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिज्ञासु और समाधाता के माध्यम से जिज्ञास्य विषय मानो साक्षात् उपस्थित हो गया है।

पुष्पचूलिका के प्रथम अध्ययन में वर्णित कथा का सारांश इस प्रकार है–एक बार राजगृह नगर के गुणशीलक चैत्य में श्रमण भगवान महावीर स्वामी का पदार्पण हुआ। दर्शन,वंदन, धर्मश्रवणके लिए परिषद् आई। उसी समय सौधर्मकल्प नामक प्रथम देवलोक से श्रीदेवी भी भक्तिवश प्रभु के दर्शनार्थ पहुँची।

भगवान की धर्मदेशना की समाप्ति के पश्चात् श्रीदेवी दिव्य नाट्य विधि को प्रदर्शित कर वापिस स्वस्थान चली गई। उसके लौट जाने के पश्चात् गौतम स्वामी द्वारा उसकी ऋद्धि–समृद्धि संबंधी की गई जिज्ञासा पर भगवान महावीर ने कहा– गौतम! पूर्वभव में यह राजगृह नगर के धनाढ्य सुदर्शन गाथापति की 'भूता' नाम की पुत्री थी। वह युवावस्था में ही वृद्धा

दिखाई देती थी, अतः उसका विवाह नहीं हो सका। एक बार पुरुषादानी अर्हत् पार्श्व प्रभु का आगमन हुआ। उनकी धर्मदेशना श्रवण कर भूता दारिका अति प्रसन्न हुई तथा अपने माता--पिता की आज्ञा-अनुमति लेकर आर्या पुष्पचूलिका के समक्ष श्रमणी दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षापोरान्त कुछ समय के पश्चात् वह भूता आर्यिका शरीर बकुशिका हो गई अर्थात् शरीर की सेवा सुश्रूषा में लग गई। बार--बार शरीर को धोती, स्वच्छ करती। साध्वाचार के विरुद्ध ऐसे कृत्य को देखकर आर्या पुष्पचूलिका ने भूता आर्यिका को समझाया तथा श्रमणाचार का महत्त्व बताते हुए उसे पापों की आलोचना कर शुद्धीकरण करने की प्रेरणा/आज्ञा दी। किन्तु गुरुवर्या की आज्ञा अवहेलना कर वह स्वच्छन्द-मति होकर स्वतंत्र रहने लगी। पूर्ववत् आचार-व्यवहार रखते हुए उस भूता आर्या ने विविध तपश्चर्या करके अनेक वर्षों तक श्रमणी पर्याय का पालन किया। अन्त में बिना आलोचना किए ही मरकर सौधर्मकल्प नामक प्रथम देवलोक में श्रीदेवी के रूप में उत्पन्न हुई। वहाँ की एक पल्योपम की आयु स्थिति पूर्ण कर वह महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगी एवं वहाँ से सिद्धि प्राप्त करेंगी।

इसी प्रकार शेष नौ अध्ययनों में क्रमशः ह्रीदेवी, धृतिदेवी, कीर्तिदेवी, बुद्धिदेवी, लक्ष्मीदेवी, इलादेवी, सुरादेवी, रसदेवी, गन्धदेवी का वर्णन है। सभी श्रीदेवी के समान सौधर्मकल्प में निवास करने वाली थी। सभी पूर्वभव में भगवान पार्श्वनाथ के शासन में आर्या पुष्पचूलिका के समक्ष दीक्षित हुई और भूता आर्या की भांति सभी का शरीर--शुद्धि पर विशेष लक्ष्य था। अन्ततः सभी देवियां देवलोक से च्यवन करके महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होंगी।

कहा जाता है कि श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी आदि जितनी भी विशिष्ट शक्तियाँ हैं, उनकी ये अधिष्ठात्री देवियाँ है।

इस प्रकार प्रस्तुत उपांग सूत्र में प्रभु पार्श्व के युगकालीन साध्वियों की जीवन कथाएँ हैं। कथाओं के माध्यम से साध्वियों का पूर्वभव एवं परभव प्रतिपादित हुआ है। तत्कालीन जीवन का चित्रण कम हुआ है तथापि तद्युगीन साध्वियों का संक्षिप्त जीवन-चरित्र मिलना भी अपने आप में महत्त्वपूर्ण है।

यहां एक बात ध्वनित होती है कि भगवान पार्श्वनाथ के शासनकाल के साधु-साध्वी ऋजुप्राज्ञ होते थे, अतः वे बहुमूल्य रंगीन वस्त्रादि धारण करते थे, किन्तु श्रमणाचार में शिथिलता क्षम्य नहीं थी, शरीर शुद्धि पर पूर्ण प्रतिबन्ध था।

प्रस्तुत आगम का नामकरण संभवतः आर्यिका पुष्पचूलिका के आधार पर किया गया हो, ऐसा प्रतीत होता है। इसमें वर्णित सभी देवियों ने

पूर्वभव में आर्या पुष्पचूलिका के समक्ष ही चारित्र धर्म स्वीकार कर ज्ञान प्राप्त किया था।

वण्हिदशा (वृष्णिदशा)

यह अन्तिम उपांग सूत्र है। इसमें निषधकुमार आदि वृष्णिवंशीय बारह राजकुमारों का वर्णन बारह अध्ययनों में किया गया है। नन्दीचूर्णि के अनुसार प्रस्तुत उपांग का नाम अंधकवृष्णिदशा था। कालान्तर में उसमें से 'अंधक' शब्द के लुप्त हो जाने से केवल 'वृष्णिदशा' ही अवशेष रहा। वर्तमान में यह इसी नाम से विख्यात है। वंश के आधार पर यह नामकरण होना, सिद्ध होता है।

पुष्पचूलिका आगम की भांति इसमें भी शिष्य जम्बू की जिज्ञासा पर आर्य सुधर्मा स्वामी बारह अध्ययनों में क्रमशः निषधकुमार, मातली कुमार, वहकुमार, वहेकुमार, प्रगति(पगय) कुमार, ज्योति (युक्ति) कुमार, दशरथ कुमार, दृढरथ कुमार, महाधनुकुमार, सप्तधनुकुमार, दशधनुकुमार, शतधनुकुमार का वर्णन करते हैं। प्रथम अध्ययन में फरमाते हैं–

द्वारिका नगरी में वासुदेव कृष्ण राज्य करते थे। उनके ज्येष्ठ भ्राता बलदेव राजा की रानी रेवती ने 'निषध' नामक पुत्र को जन्म दिया। यथासमय उसका पचास उत्तम राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ एवं आनन्दपूर्वक रहने लगा। ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए अर्हन्त अरिष्टनेमी का द्वारिका नगरी में पदार्पण हुआ। श्रीकृष्ण सपरिवार दल—बल सहित प्रभु के दर्शनार्थ गए। निषध कुमार भी भगवान को वन्दन करने पहुँचा। कुमार के दिव्य रूप-सौन्दर्य को देखकर प्रभु के प्रधान शिष्य वरदत्त अणगार को जिज्ञासा उत्पन्न हुई। तब अर्हन्त अरिष्टनेमी समाधान करते हैं कि रोहीतक नगर के महाबल राजा एवं रानी पद्मावती के वीरांगद नामक पुत्र था। युवावस्था में उसका बत्तीस श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ। मानवीय कामभोगों को भोगते हुए समय बीत रहा था। एक दिन आचार्य सिद्धार्थ का नगर में पदार्पण हुआ। अन्य परिषदा के साथ वीरांगद भी दर्शनार्थ पहुँचा। धर्मदेशना श्रवण कर जाग्रत हुआ तथा माता—पिता की अनुमति से श्रमण दीक्षा अंगीकार की। अनेक प्रकार के तपादि अनुष्ठान किए, ग्यारह अंगों का अध्ययन करते हुए ४५ वर्ष तक श्रमणपर्याय का पालन किया। अन्त में दो माह की संलेखना कर समाधिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त होकर ब्रह्म नामक पांचवें देवलोक में देव बना। वहां से देवायु पूर्ण करके यहाँ निषधकुमार के रूप में ऐसा कमनीय रूप एवं मानवीय ऋद्धि प्राप्त की है। निषध कुमार का यह पूर्वभव सुनकर वरदत्त अणगार को उसके भावी जीवन के प्रति जिज्ञासा हुई, तब भगवान ने फरमाया— यह मेरे समीप दीक्षित होकर, नौ वर्ष तक श्रमण पर्याय का पालन कर, अन्त में अनशन करके सर्वार्थसिद्ध विमान में देवरूप में उत्पन्न होगा। वहाँ से आयु पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र से मुक्त होगा।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र के प्रथम अध्ययन में निषधकुमार के पाँच भवों का संक्षिप्त उल्लेख मिलता है, जिसमें तीन भव मनुष्य के एवं दो भव देवता के हैं। प्रथम भव वीरांगद का, द्वितीय भव ब्रह्मलोकवासी देव का, तृतीय भव निषधकुमार का, चतुर्थभव सर्वार्थसिद्ध देव का, पांचवा भव महाविदेह क्षेत्र के राजकुमार का, जहां से मोक्ष प्राप्त करेगा।

इसके शेष ग्यारह अध्ययनों में मातलीकुमार आदि ग्यारह कुमारों का वर्णन है। सभी का जीवन प्रसंग निषधकुमार की भांति ही समझना चाहिए। किन्तु इन कुमारों के पूर्वभव के नामोल्लेख प्राप्त नहीं होते। सभी कुमार अन्ततः मोक्षगामी हुए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत वण्हिदशा (वृष्णिदशा) उपांग सूत्र में यदुवंशीय राजकुमारों का वर्णन है। इसमें कथातत्त्वों की अपेक्षा पौराणिक तत्त्वों का प्राधान्य है।

पुष्पचूलिका उपांग सूत्र में जहां भगवान पार्श्वनाथ के शासनकाल की साध्वियों का वर्णन है, वहाँ वृष्णिदशा सूत्र में अर्हन्त अरिष्टनेमिनाथ के शासनकाल में दीक्षित अणगारों का। इससे श्रमण भगवान महावीर के विशाल उदार दृष्टिकोण का परिचय मिलता है साथ ही साध्वियों के संप्राप्त इतिहास से साध्वी समाज का महत्त्व सहज ही आंका जा सकता है।

— द्वारा, आगम प्रकाशल समिति, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राज.)

उत्तराध्ययन सूत्र

●श्री श्रीकृष्णमल लोढ़ा

उत्तराध्ययनसूत्र प्राचीन आगम है। इसकी गणना मूलसूत्रों में प्रथमतया की जाती है। इसके ३६ अध्ययनों में धर्मकथानुयोग, द्रव्यानुयोग एवं चरणानुयोग से संबंधित विभिन्न विषयों का रोचक विवेचन हुआ है। न्यायाधिपति श्री श्रीकृष्णमल जी लोढ़ा ने समस्त अध्ययनों को चार भागों —१.उपदेशात्मक २. धर्मकथात्मक ३. आचारात्मक एवं ४. सैद्धान्तिक में विभक्त कर प्रत्येक अध्ययन का प्रेरक परिचय दिया है। **—सम्पादक**

ऐसी मान्यता है कि श्रमणसम्राट् भगवान महावीर ने पावापुरी में निर्वाण प्राप्त करते समय अन्तिम प्रवचन के रूप में उत्तराध्ययन सूत्र का उपदेश किया था। इसके नाम से ही इसकी विशिष्टता ज्ञात होती है— उत्तराध्ययन अर्थात् अध्ययन करने योग्य उत्तमोत्तम प्रकरणों का संग्रह। भवसिद्धिक और परिमित संसारी जीव ही उत्तराध्ययन का भावपूर्वक स्वाध्याय करते हैं।

भाषाशास्त्रियों के मत में सर्वाधिक प्राचीन भाषा के तीन सूत्र हैं— १. आचारांग २. सूत्रकृतांग और ३. उत्तराध्ययन। मूलसूत्रों के संबंध में अनेक मान्यताएँ होने पर भी 'उत्तराध्ययन' को सभी विद्वानों ने एक स्वर से मूलसूत्र माना है। स्थानकवासी सम्प्रदाय में १. उत्तराध्ययन २. दशवैकालिक ३. नन्दीसूत्र और ४. अनुयोगद्वार को मूल सूत्र में गिना जाता है। यहाँ उत्तराध्ययन सूत्र का क्रम पहले होते हुए भी साधकों द्वारा पहले दशवैकालिक और फिर उत्तराध्ययन सूत्र पढा जाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में ३६ अध्ययन हैं, जिन्हें निम्न चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. **उपदेशात्मक**— अध्ययन १,३,४,५,६ और १०
२. **धर्मकथात्मक**— अध्ययन ७, ८, ९,१२,१३,१४,१८,१९, २०, २१, २२, २३, २५ और २७
३. **आचरणात्मक**— अध्ययन २,११,१५,१६,१७,२४,२६,३२ और ३५
४. **सैद्धान्तिक**— अध्ययन २८,२९,३०,३१,३३,३४ और ३६

डॉ.सुदर्शनलाल जैन के अनुसार उत्तराध्ययन सूत्र का विषय वर्गीकरण निम्नानुसार किया गया है—

1. **शुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादक अध्ययन**— २४ (समितीय), २६ (समाचारी), २८(मोक्षमार्ग गति), २९(सम्यक्त्व पराक्रम), ३०(तपोमार्ग), ३१(चरणविधि), ३३(लेश्या), ३६(जीवाजीवविभक्ति) और दूसरे एवं १६वें अध्ययन का गद्य भाग।
2. **नीति एवं उपदेश प्रधान अध्ययन**— १(विनय), २(परीषह),

३(चतुरंगीय) ४(असंस्कृत), ५(अकाममरण), ६(क्षुल्लक—निर्ग्रन्थीय), ७(एलय), ८(कापिलीय), १०(द्रुम पत्रक), ११(बहुश्रुत पूजा), १६(ब्रह्मचर्य समाधिस्थान का पद्य भाग), १७(पापश्रमणीय), ३२(प्रमादस्थानीय) और ३५(अनगार)

3. **आख्यानात्मक अध्ययन**— ९(नमिप्रव्रज्या), १२(हरिकेशीय), १३(चित्तसंभूतीय), १४(इषुकारीय), १८(संजय—संयतीय), १९(मृगापुत्रीय), २०(महानिर्ग्रन्थीय), २१(समुद्रपालीय), २२(रथनेमीय), २३(केशीगौतमीय) और २५(यज्ञीय)

उत्तराध्ययन सूत्र पूर्ण रूप से अध्यात्म शास्त्र है। दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ इसमें बहुत से आख्यानों का संकलन है। इसमें साध्वाचार, उपदेश-नीति, सदाचार, उस समय की प्रचलित सामाजिक, राजनैतिक परम्पराओं का समावेश है। भारतवर्ष में प्रचलित दूसरी परम्पराएँ भी इससे प्रभावित हुई हैं। उदाहरणार्थ— वैदिक परम्परा, महाभारत, गीता, मनुस्मृति आदि और बौद्ध धर्म के धम्मपद, सुत्तनिपात आदि ग्रन्थों पर भी स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। इसलिए उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित भाव अन्य परम्पराओं के ग्रन्थों से मिलते हैं। ध्यानपूर्वक पढ़ने से पता चलता है कि कहीं—कहीं तो शब्द भी एक से मिल जाते हैं। उनमें बहुत सी गाथा और पद भी ज्यों के त्यों मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ—

उत्तराध्ययन में	**जैनेतर ग्रन्थों में**
१. अध्ययन १३/२२	महाभारत शान्ति पर्व १७५/१८,१९
जहेह सीहो व मियं गहाय मच्चू नरं नेइ हु अंतकाले। न तस्स माया व पिया व भाया कालम्मि तम्मिंसहरा भवंति।।	तं पुत्रपशुसंपन्नं, व्यासक्तमनसं नरं। सुप्तं व्याघ्रो मृगमिव, मृत्युरादाय गच्छति।। सचिन्वानकमेवैनं, कामानामवितृप्तकं। व्याघ्रः पशुमिवादाय, मृत्युरादाय गच्छति।।
२. अध्ययन २०/३५	धम्मपद १२/१४
तत्तोऽहं नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य।	अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।
३. अध्ययन २०/३७	गीता ६/५
अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ।।	उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।
४. अध्ययन १/१४	शान्तिपर्व २८७/३५
५. अध्ययन १/१५	धम्मपद १२/१३
६. अध्ययन २/१०	धम्मपद गाथा ३४,२४७,६८६
७. अध्ययन ३/१७	सूत्र व. ८.१/४
८. अध्ययन ९/४०	शान्ति पर्व १९८/५
९. अध्ययन ९/४९	अनुशासन पर्व ९३/४० विष्णुपुराण ४/१०/१०
१०. अध्ययन २५/२९	धम्मपद १९/९
११. अध्ययन ३२/१००	गीता २/६४

उत्तराध्ययन की उच्च आध्यात्मिक दृष्टि का प्रभाव सभी धर्म-परम्पराओं के साथ–साथ सामाजिक जीवन पर भी पड़ा है।

उत्तराध्ययन सूत्र के उपदेशात्मक, धर्मकथात्मक, आचारगत और सैद्धान्तिक अध्ययनों का संक्षिप्त में वर्णन इस प्रकार है–

(अ) उपदेशात्मक अध्ययन

1. विनय (विणयसुयं–प्रथम अध्ययन)

उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन में विनय का विवेचन किया गया है। विनय से सभी क्लेश और कष्टों के मूल आठ प्रकार के कर्मों का नाश होता है।

विनयति नाशयति सकलक्लेशकारकमष्टप्रकारं कर्म स विनयः।

प्रस्तुत अध्ययन में विनीत शिष्य के व्यवहार एवं आचरण से विनय के अनेक रूप प्रकट हुए हैं, यथा– गुरु-आज्ञापालन, गुरु की सेवासुश्रूषा, इंगिताकारसंप्रज्ञता, अनुशासनशीलता, मानसिक-वाचिक-कायिक नम्रता, आत्मदमन आदि। विनय को धर्म का मूल तथा दूसरा आभ्यन्तर तप कहा है। इसके अन्तर्गत आत्मा का अनुशासन आवश्यक हैं और शिष्य का गुरु के प्रति भक्तियुक्त व्यवहार और शिष्टता भी अपेक्षित है।

विनय का प्रथम पाठ अहंकार मुक्ति से प्रारंभ होता है। जिसको अहंकार होता है, वह ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है। गुरुजनों के प्रति छोटे–बड़े सभी के प्रति नम्र, मधुर व्यवहार आवश्यक है।

मनुष्य को अपने जीवन में उन्नति के लिए गुरुजनों के अनुशासन में रहना, नम्रता, भक्ति, सेवा, बैठने–बोलने की शिष्टता, सद्व्यवहार आदि की जानकारी एवं अनुपालना आवश्यक है– उक्त सभी पहलुओं पर इस अध्ययन में विस्तार से वर्णन किया गया है। आत्मानुशासन के लिए विनय आवश्यक है, ये भाव गाथा के रूप में इस प्रकार प्रकट किए गए हैं–

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य।।1.15।।

विनय समस्त मानव जीवन की सफलता के लिए आवश्यक है। इसे श्रमण-वर्ग तक सीमित करना उचित नहीं। यह साधु व गृहस्थ दोनों के लिए एक निर्देशक है।

2. जीवन का मूल्यांकन (चउरंगीय–तृतीय अध्ययन)

इस अध्ययन में दुर्लभ तत्त्व, कर्म की विचित्रता एवं जन्म–मरण के कारण बताकर धर्मपालन करने का उपदेश दिया गया है। मानव जीवन के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है–

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं।।3.1।।

अर्थात् मानव जन्म, शास्त्र का श्रवण करना अर्थात् धर्म को सुनना,

सम्यक् श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ, ये चार बातें अत्यन्त दुर्लभ हैं।

सद्धा परमदुल्लहा।।3.9।।

धर्म में श्रद्धा प्राप्त होना परम दुर्लभ है।

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।।3.12।।

सरल आत्मा की विशुद्धि होती है और विशुद्ध आत्मा में धर्म ठहरता है व विकसित होता है।

इस अध्ययन में मनुष्य भव प्राप्त करके धर्म श्रवण करने, उस पर श्रद्धा रखने एवं फिर तदनुरूप आचरण करने की प्रेरणा की गई है।

3. जागृति का संदेश (असंखयं–चतुर्थ अध्ययन)

इस अध्ययन में अग्रांकित उपदेश दिए गए हैं– (१)हर समय जाग्रत रहना चाहिए (२)जीवन की क्षण भंगुरता (३) गया समय फिर नहीं आता (४)पाप कर्म भुगतने पड़ते हैं (५) धन परिवार हमें पाप से मुक्त नहीं करा सकते और (६) प्रमाद गुप्तशत्रु है। प्रमादी नहीं बनने का संदेश देते हुए भगवान ने कहा–

असंखयं जीविय मा पमायए।।4.1।।

अर्थात् जीवन क्षणभंगुर है और चंचल भी है, इसलिए क्षण भर भी प्रमाद मत करो।

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते।।4.5।।

मनुष्य का धन उसकी रक्षा नहीं कर सकता। बुढापे, रोग और मृत्यु की अवस्था में धन उसे बचाने में असमर्थ है।

घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारंडपक्खी व चरेऽपमत्ते।।4.6।।

समय भयंकर है, शरीर प्रतिक्षण जीर्ण–शीर्ण होता जा रहा है। साधक को अप्रमत्त रहना चाहिए। भारंड पक्षी (पौराणिक सतत सतर्क रहने वाला पक्षी) की तरह विचरण करना चाहिए। जागृति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आवश्यक ही नहीं, उपयोगी भी है। आध्यात्मिक उन्नति के लिए जागृति महत्त्वपूर्ण है।

छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं।।4.8।।

इच्छाओं के रोकने से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

4. मृत्यु की कला : निर्भय और अप्रमत्त जीवन (अकाममरणिज्जं–पंचम अध्ययन)

जीवन जीना एक कला है, परन्तु मरना उससे भी बड़ी कला है। जिस मनुष्य को मृत्यु की कला आती है– उसके लिए जीवन और मृत्यु दोनों ही आनन्द और उल्लासमय बन जाते हैं। इस अध्ययन में मृत्यु बिगाड़ने और सुधारने के कारणों का निर्देश करने के साथ परलोक व जीवन सुधारने का उपदेश दिया गया है।

भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं।।5.22।।

भिक्षु हो चाहे गृहस्थ हो, जो सुव्रती(सदाचारी) है, वह दिव्य गति को

प्राप्त करता है।

गिहिवासे वि सुव्वए।।5.24।।

गृहस्थ में भी सुव्रती बना जा सकता है।

न संतसंति मरणंते, सीलवंता बहुस्सुया।।5.29।।

ज्ञानी और सदाचारी आत्माएँ मरणकाल में भी त्रस्त अर्थात् भयाक्रांत नहीं होती।

5. ज्ञान और आचार का सम्मिलन (खुड्डागनियंठियं–छठा अध्ययन)

अज्ञान और अनाचार को त्याग कर सम्यग्ज्ञान और शुद्धाचार पालने का उपदेश दिया गया है।

जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए।।6.1।।

अज्ञानी और अविद्यावान् स्वयं अपने दुःखों का कारण हैं। अज्ञान कष्ट देता है और दुःख का उत्पादक है। ज्ञानी दुःख का कारण खोजता है और उसका निवारण करता है। मूढ प्राणी बार–बार विनाश को प्राप्त होते रहते हैं।

अप्पणा सच्चमेसेज्जा।।6.2।।

स्वयं ही सत्य की खोज करो। दुःखों से छुटकारा पाने के लिए ज्ञान प्राप्त करो और ज्ञान का जीवन में आचरण करो।

मित्तिं भूएहिं कप्पए।।6.2।।

समस्त प्राणियों पर मित्रता का भाव रखो।

भणंता अकरिंता य बंधमोक्खपइण्णिणो।
वाया वीरियमित्तेणं, समासासेंति अप्पयं।।6.10।।

जो मनुष्य केवल बोलते हैं, करते कुछ नहीं, वे बन्ध मोक्ष की बातें करने वाले दार्शनिक केवल वाणी के बल पर ही अपने आपको आश्वस्त किए रहते हैं।

पुव्वकम्मखयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे।।6.14।।

किए हुए कर्मों को नष्ट करने में ही इस देह की उपयोगिता है।

छठा अध्ययन उपदेश देता है कि अज्ञान, अविद्या, मोह, आसक्ति से छुटकारा पाने का प्रयत्न करना चाहिए और स्वयं को सत्य और ज्ञान की खोज के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

6. जीवन बोध (दुमपत्तयं–दसवाँ अध्ययन)

इस अध्ययन में जीवन की क्षणभंगुरता, प्रमाद की भयंकरता आदि का उपदेश दिया गया है। जब तक शरीर स्वस्थ और सबल है, इन्द्रियाँ सक्रिय हैं तब तक प्रमाद छोड़कर धर्म आराधना करनी चाहिए। दसवाँ अध्ययन मनुष्य जीवन की वास्तविकता का उद्घाटन करता है तथा मानव को सदा अप्रमत्त, जाग्रत, कर्मशील और धर्मशील बने रहने की प्रेरणा देता है–

विहुणाहि रयं पुरे कडं।।10.1।।

पूर्व संचित कर्म रूपी रज को साफ कर।

दुल्लहे खलु माणुसे भवे।।10.4।।

मनुष्य जन्म निश्चय ही बड़ा दुर्लभ है।

परिजुरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवन्ति ते।
से सव्वबले य हायइ, समयं गोयम! मा पमायए।।10.26।।

तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, केश पककर सफेद हो रहे हैं। शरीर का सब बल क्षीण होता जा रहा है, अतएव है गौतम! क्षण भर के लिए भी प्रमाद मत कर। इस अध्ययन में गणधर गौतम स्वामी के जीवन की प्रेरक घटना का भी वर्णन है।

''समयं गोयम! मा पमायए'' का संदेश इस अध्ययन में ३६ बार दुहराया गया है। गौतम के माध्यम से संसार के प्राणी मात्र को यह उपदेश दिया गया है कि जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए क्षण भर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए, प्रत्येक क्षण प्रयत्नशील रहना चाहिए।

(आ) धर्मकथात्मक अध्ययन

1. आसक्ति ही दुःख का कारण है (एलयं—सातवाँ अध्ययन)

सप्तम अध्ययन में बकरे और मूलधन को गंवा देने वाले व्यापारी के उदाहरणों से अधर्मी और कामभोग में आसक्त जीवों की होने वाली दुर्दशा का दिग्दर्शन करा कर धर्माचरंण से होने वाले सुन्दर फल का परिचय दिया गया है। एडक (मेंढा) कांकिणी, तीन वणिक् पुत्र और अपथ्य भोजी राजा के दृष्टान्तों द्वारा यह समझाया गया है कि जो खाने—पीने, भोग—विलास में आसक्ति रखता है, वह संसार में मारा जाता है। दृष्टान्त और उपमाओं द्वारा बताया गया है कि सर्वप्रथम मन की आसक्ति को तोड़ो, भोगों का आकर्षण छोड़ो और परलोक को सुखी बनाना हो तो त्याग एवं अनासक्तिमय जीवन की शैली अपनाओ।

माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे।
मुलच्छेएण जीवाणं, णरगतिरिक्खत्तणं धुवं।।7.16।।

मनुष्य जीवन मूलधन है। देवगति उसमें लाभरूप है। मूलधन के नष्ट होने पर नरक, तिर्यंच गति रूप हानि होती है।

कम्मसच्चा हु पाणिणो।।7.20।।

प्राणियों के कर्म ही सत्य हैं।

धीरस्स पस्स धीरत्तं, सच्चधम्माणुवत्तिणो।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जइ।।7.29।।

क्षमादि सत्य धर्मो को पालन करने वाले मानव की धीरता देखो कि वह अधर्म को त्याग कर धर्मात्मा बनकर देवों में उत्पन्न होता है। अधर्मी नरक में जाता है और धर्मी, त्यागी अनासक्त जीव देवगति में उत्पन्न होता है।

2. शांति का मार्ग संतोष (काविलियं–आठवाँ अध्ययन)

कपिल केवली द्वारा लोभ का परित्याग कर संतोष धारण करने का बोध इस अध्ययन में है। यह अध्ययन मानव जीवन में शांति और संतोष का प्रकाश फैलाता है। जिस प्रकार आकाश असीम है उसी तरह तृष्णा भी असीम है। यह अग्नि की भांति सर्वभक्षी है। धन रूपी ईंधन मिलने पर यह अधिक प्रज्वलित होने लगती है। कपिल दो मासा सोना लेने के लिए उतावला था। परन्तु जब उसे राज्य–वैभव भी मिलने लगा तो उसका मन उसके लिए भी लालायित हो गया। अपार धन, स्वर्ण मुद्राओं से भी उसके दो मासा सोने की तृष्णा नहीं बुझी। व्याकुलता से कपिल का चिन्तन मोड़ खाता है और वह राज्य का विचार छोड़कर संयम जीवन अंगीकार कर लेता है।

इइ दुप्पूरए इमे आया।।8.16।।

लोभवृत्ति को वश में करना दुष्कर है। धन से मन कभी नहीं भरता, इसलिए धन का त्याग करने से मन को शांति मिलती है।

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ।
दो मासकयं कज्जं, कोडीए वि ण णिट्ठियं।।8.17।।

जहाँ लाभ है, वहाँ लोभ है। लाभ से लोभ बढ़ता है, दो मासा सोने से बनने वाला काम करोड़ों से पूरा नहीं हुआ। लाभ से लोभ निरन्तर बढ़ता है, दो मासा सोने से संतुष्ट होने वाला करोड़ों से भी संतुष्ट नहीं हुआ।

आठवाँ अध्ययन संदेश देता है कि शांति का मार्ग सम्पत्ति में नहीं संतोष में है।

3. आत्मगवेषी का संदेश (नमिपवज्जा–नवम अध्ययन)

इस अध्ययन में नमिराजर्षि का परम वैराग्यकारी निष्क्रमण और इन्द्र के साथ संवाद है। संसार के धन–वैभव–पुत्र–परिवार को असहाय मानकर मनुष्य को आत्मगवेषी बनने का इस अध्ययन में संदेश है। अपनी आत्मा के अलावा संसार में सब कुछ पराया है। पराया कभी अपना नहीं होता। 'स्व' के दर्शन के लिए 'पर' का त्याग आवश्यक है। जो मानव 'स्व' की खोज करता है, वह स्व को पाता है और स्व को पहचानने पर सभी 'पर' बन्धन लगते हैं। 'पर' बन्धन से मुक्त होने पर व्यक्ति आत्मगवेषी बन जाता है।

सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मो नत्थि किंचणं।।9.14।।

मनुष्य में ममता और मेरापन नहीं होने पर चिन्ता, शोक, भय और उद्वेग नहीं होता है। ममता एवं मेरापन शोक के निमित्त हैं। ये दोनों नहीं होने पर कोई चिन्ता नहीं होती है। नमिराजर्षि राज्य वैभव, परिवार और अपने शरीर की ममता त्याग कर एकाकी होकर चलते हैं। उनका संदेश है– 'एगो मे सासओ अप्पा, सेसा मे बाहिरा भावा.....।' शाश्वत आत्मा मेरी है बाकी सब बाहरी है। भय, चिन्ता और शोक अन्य से है, आनन्द स्व से है।

सव्वं अप्पे जिए जियं।।9.36।।

अपने विकारों को जीत लेने पर सबको जीत लिया जाता है।

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।।9.48।।

इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं।

कामे पत्थेमाणा अकामा जंति दुग्गइं।।9.53।।

कामभोग की लालसा में लगे रहने से मनुष्य बिना भोग भोगे एक दिन दुर्गति में चला जाता है।

अहे वयइ कोहेणं माणेणं अहमा गई।
माया गइपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं।।9.54।।

जो मनुष्य क्रोध करता है उसकी आत्मा नीचे गिरती है। मान से अधम गति को प्राप्त करता है। माया से सद्गति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इस लोक मे, परलोक में लोभ से भय-कष्ट होता है।

4. धर्म का मंगल (हरिएसिज्जं–बारहवाँ अध्ययन)

इस अध्ययन में हरिकेशी मुनि के ऐतिहासिक प्रसंग से जाति, कुल आदि को गौण रख कर आत्मकल्याण में धर्म की प्रधानता निर्दिष्ट है तथा भावयज्ञ का कल्याणकारी विधान बताया गया है। श्वपाक–चाण्डाल कुल में जन्मे हरिकेशी मुनि की ऐसी अद्भुत ऋद्धि और महिमा देखने को मिलती है, जो बहुत दुर्लभ है।

इस अध्ययन में ब्राह्मणों के जातिमद को निरर्थक और अज्ञान का भण्डार बताया गया है। सच्चा ब्राह्मण तप की ज्योति जलाकर ज्ञान यज्ञ करता है। आत्मा की शुद्धि तप और त्याग में होती है। चाण्डाल हो या शूद्र, जो तप का आचरण करता है, वह धर्म का अधिकारी है। धर्म का मंगल द्वार किसी भी जाति के लिए बन्द नहीं है। शूद्ध आत्मा पूज्य है।

सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो,
न दीसई जाइविसेस कोइ।।12.37।।

तप-चारित्र की विशेषता तो प्रत्यक्ष दिखलाई देती है, किन्तु जाति की तो कोई विशेषता नजर नहीं आती।

धम्मे हरए बंभे सन्ति तित्थे, अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिंसि णाओ विमलो विसुद्धो, सुसीइभूओ पजहामि दोसं।।12.46।।

धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य शांति तीर्थ है, आत्मा की प्रसन्न लेश्या मेरा निर्मल घाट है, जहाँ पर आत्मा स्नान कर कर्म मल से मुक्त हो जाता है।

आज की मानवता के लिए श्रमण सम्राट् भगवान महावीर का यह संदेश समता और शान्तिवादी समाज के लिए आदर्श पथ-प्रदर्शन है।

5. निष्काम साधना का उपदेश (चित्तसंभूइज्जं–तेरहवाँ अध्ययन)

यह अध्ययन मनुष्य को भोगों के दलदल से निकालकर निष्काम साधना का उपदेश देता है। मनुष्य को अपने शुभ या अशुभ कर्मों का फल भोगना पड़ता है। अच्छे कर्म का अच्छा फल होता है तो बुरे कर्म का बुरा फल। धन, शरीर, वैभव, स्त्रियाँ, कामभोग के साधन हैं। मनुष्य को इन सबके प्रति

अनासक्त होना चाहिए। आत्म-साधना करने वाले (चित्र) मुनि चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त (संभूत) को कहते हैं।

सव्व सुचिण्णं सफलं नराणं।।13.10।।

मनुष्य के सभी सुचरित (सत्कर्म) सफल होते हैं।

सव्वे कामा दुहावहा।।13.16।।

सभी कामभोग दु:खावह (दु:खद) होते हैं।

कत्तारमेव अणुजाइ कम्मा।।13.23।।

कर्म सदा कर्त्ता के पीछे-पीछे अर्थात् साथ–साथ चलते हैं।

वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं।।13.26।।

जरा मनुष्य की सुन्दरता को समाप्त कर देती है।

उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी।।13.31।।

वृक्ष के फल क्षीण हो जाने पर पक्षी उसे छोड़कर चले जाते हैं वैसे ही पुरुष का पुण्य क्षीण होने पर भोग-साधन उसे छोड़ देते हैं।

यह अध्ययन निदान रहित तपस्या और साधना का उपदेश देता है।

6. त्याग ही मुक्ति का मार्ग है (उसुयारिज्जं–चौदहवाँ अध्ययन)

इस अध्ययन में मनुष्य को बन्धनों,कष्टों, दु:खों, पीड़ाओं से मुक्ति पाने हेतु समाधान किया गया है। इस अध्ययन के पढ़ने से स्पष्ट होता है कि भोग, प्रपंच, रूढियाँ, अन्य विश्वास और मान्यताएँ सभी संसार के कारण हैं। मुक्ति प्राप्त करने के लिए इन सबका त्याग आवश्यक है। त्यागमार्ग को छ: व्यक्तियों ने अपनाया और मुक्त हुए।

पुरोहित पुत्र अपने पिता भृगु पुरोहित से संसार त्याग कर दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा मांगते हैं तो पिता पुत्र के प्रति मोह के कारण बहुत से तर्क देता है और इसके साथ भोगों का निमन्त्रण भी। तब पुत्र कहता है–

अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो, जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि, सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं।।14.28।।

संसार में ऐसी कोई भी वस्तुएं नहीं हैं, जो इस आत्मा को पहले प्राप्त नहीं हुई हों। इसलिए हम आज से ही इस साधु धर्म को अन्त:करण से स्वीकार करें जिससे कि फिर जन्म नहीं लेना पड़े। राग को त्याग कर श्रद्धा से साधु धर्म की पालना श्रेष्ठ है। धर्म श्रद्धा हमें राग से (आसक्ति) मुक्त कर सकती है।

7. संयति राजर्षि का इतिहास (संजइज्जं–अठारहवाँ अध्ययन)

इस अध्ययन में गर्दभालि ऋषि से प्रेरित होकर संयति राजर्षि द्वारा शिकार छोड़कर संयम धारण करने का वर्णन है। संयति मुनि से क्षत्रिय राजर्षि ने उनके ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की थाह लेने के लिए अनेक प्रश्न किए। संयति मुनि ने क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद एवं अज्ञानवाद के संदर्भ में जानकारी देने के साथ ज्ञान–क्रियावाद का समन्वय स्थापित किया। संयति

मुनि ने १९ महान् आत्माओं का उल्लेख किया जो सभी शूरवीर थे—कर्म के क्षेत्र में भी और धर्म के क्षेत्र में भी। चक्रवर्ती सम्राट् अथवा विशाल समृद्धि के स्वामी राजाओं ने कर्मक्षेत्र में वीरतापूर्वक साधना करते हुए मुक्ति प्राप्त की।

अणिच्चे जीवलोगम्मि किं हिंसाए पसज्जसि? ।।18.11।।

जीवन अनित्य है, क्षणभंगुर है, फिर क्यों हिंसा में आसक्त होते हो?

किरिअं च रोयए धीरो।।18.33।।

धीर पुरुष सदा क्रिया (कर्त्तव्य) में ही रुचि रखते हैं।

8. श्रमण जीवन की कठोर चर्या (मियापुत्तीयं—उन्नीसवाँ अध्ययन)

इस अध्ययन में मृगापुत्र का परम वैराग्योत्पादक इतिहास, माता—पुत्र का असरकारक संवाद और साधुता का सुन्दर रूप बताया गया है। इस अध्ययन का प्रारम्भ मुनिदर्शन से होता है और अन्त श्रमण धर्म के पालन और मोक्ष प्राप्ति में।

मृगापुत्र को जातिस्मरण ज्ञान मुनि-दर्शन से होता है। संसार में उसे दुःख ही दुःख नजर आता है और उसके हृदय में वैराग्य भर जाता है। वह माता—पिता से अनुमति मांगता है और कहता है—

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जन्तवो।।20.16।।

संसार में जन्म का दुःख है, जरा, रोग और मृत्यु का दुःख है। जिधर देखो उधर दुःख ही दुःख है, जिससे वहां प्राणी लगातार निरन्तर कष्ट ही पाते रहते हैं। मृगापुत्र नरकों के कष्ट का वर्णन करता है। श्रमण चर्या बहुत कठोर है। अनेक प्रकार के परीषह हैं। श्रमण को जीवन भर पाँचों व्रतों का पालन करना पड़ता है। शीत—उष्ण परीषह सहन करना पड़ता है और नंगे पैरों, कंकरीले, कांटों भरे रास्ते पर चलना पड़ता है। उसको भोजन आदि के लिए भिक्षाचरी करनी पड़ती है। व्याधि होने पर मृगापुत्र कहते हैं कि मैं मृगचर्या करूंगा। जिस प्रकार मृग बीमार होने पर बिना औषधि के ही नीरोग हो जाता है उसी प्रकार मुझे भी औषधि की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

श्रमण का प्रधान गुण उपशम है— "**उवसमसारं खु सामण्णं**"। मुनि के संबंध में कहा है—

लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निन्दा—पसंसासु, तहा माणावमाणओ।।19.91।।

जो लाभ—अलाभ, सुख—दुःख, जीवन—मरण, निन्दा—प्रशंसा और मान— अपमान में समभाव रखता है, वही वस्तुतः मुनि है।

9. आत्मा ही आत्मा का नाथ (महानियंठिज्जं— बीसवाँ अध्ययन)

इस अध्ययन में नाथ—अनाथ की व्याख्या आध्यात्मिक दृष्टि से की गई है। बहुत से मनुष्यों की यह धारणा है कि धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, सत्ता आदि से व्यक्ति सनाथ होता है। ऐसा भ्रम मगधनरेश राजा श्रेणिक को भी था, परन्तु जब अनाथी मुनि ने नाथ—अनाथ का वास्तविक अर्थ समझाया

तब उनका भ्रम टूट गया और अहंकार समाप्त हो गया। व्यक्ति चाहे कितना भी वैभवशाली और शक्तिशाली क्यों न हो वह पीड़ा, वेदना, व्याधि, मरण आदि से अपनी रक्षा नहीं कर सकता है। दूसरे अन्य प्राणी की भी रक्षा नहीं कर सकता है। अत: वह किसी के लिए शरणदायी नहीं हो सकता है। आत्मा स्वयं अपना नाथ है, जब वह सद्प्रवृत्तियों में दत्त—चित्त रहता है। दुष्प्रवृत्तियों में लगी हुई आत्मा अपनी ही शत्रु है, अपने लिए दु:खों का सृजन करती है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिओ सुप्पट्ठिओ।।20.37।।

आत्मा ही सुख-दु:ख का कर्त्ता और भोक्ता है। सदाचार में प्रवृत्त आत्मा मित्र के समान है और दुराचार में प्रवृत्त होने पर वही शत्रु है। आत्मा ही अपना नाथ है, अन्य के आधार पर उसे नाथ मानना उचित नहीं। धम्मपद में भी कहा गया है—

अत्ता हि अत्तनो नाथो, कोहि नाथो परो सिया (धम्मपद 12.4)

आत्मा स्वयं ही अपना नाथ है—कौन किसी अन्य का नाथ हो सकता है?

इस अध्ययन के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुद्धाचारी सम्पूर्ण संयमी श्रमण ही अपनी आत्मा के नाथ होते हैं। यहां त्रैकालिक सत्य भी प्रकट किए गए हैं, जिनका मानव जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

10.समुद्रपाल श्रेष्ठी का चरित्र और मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन (समुद्दपालीयं—इक्कीसवाँ अध्ययन)

समुद्रपाल ने किसी समय भवन की खिड़की में बैठे हुए एक अपराधी को मृत्यु चिह्नों से युक्त वध—स्थान पर ले जाते हुए देखा। उसे देखकर वे कहने लगे—अहो! अशुभ कर्मों का अंतिम फल प्राप्त रूप ही है—यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। वहां बैठे हुए समुद्रपाल बोध पाकर परम संवेग को प्राप्त हुए और माता—पिता को पूछकर प्रव्रज्या लेकर अनगार हो गए। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतों को स्वीकार कर वे बुद्धिमान मुनि जिनोपदेशित धर्म का पालन करने लगे।

उवेहमाणो उ परिवएज्जा, पियमप्पियं सव्वं तितिक्खएज्जा।
न सव्वं सव्वत्थऽभिरोएज्जा, न यावि पूयं गरहं च संजए।।21.15।।

मुनि उपेक्षापूर्वक संयम में विचरे, प्रिय और अप्रिय सबको सहन करे। सब जगह सभी वस्तुओं की अभिलाषा नहीं करे तथा पूजा और निन्दा को भी नहीं चाहे।

अणुन्नए नावणए महेसी, न यावि, पूयं गरहं च संजए।
स उज्जुभावं पडिवज्ज संजए, निव्वाणमग्गं विरए उवेई।।21.20।।

जो महर्षि पूजा पाकर उन्नत और निन्दा पाकर अवनत नहीं होता तथा ऋजु भाव रखकर विरत होता है वह निर्वाण मार्ग को प्राप्त करता है।

11. नारी नारायणी रूपा (रहनेमिज्जं—बावीसवाँ अध्ययन)

इस अध्ययन में भगवान नेमिनाथ और भगवती राजमती के चरित्र का उल्लेख है। इसमें रथनेमि का विचलित होना और राजमती की फटकार से उसका पुन: संयम में स्थिर होना बताया गया है। नारी का उज्ज्वल पक्ष यह है कि वह दया, प्रेम, करुणा और वात्सल्य की मूर्ति है। वह शक्ति स्वरूपा भी हैं। इसके साथ वह ओज—तेज की स्वामिनी भी है। नारी के नारायणी रूप का दर्शन भी इस अध्ययन में होता है। जब साधक रथनेमि अपनी संयम-साधना में विचलित हुए, तब साध्वी राजमती उनको ओजस्वी शब्दों में उद्‌बोधन देकर कहती है— "**सेयं ते मरणं भवे।**" संयम-साधना से च्युत होने की अपेक्षा मर जाना ही श्रेष्ठ है। साधक रथनेमि पुन: संयम में दृढ़ हो जाते हैं। नारी के कोमल शरीर में संकल्प वज्र के समान कठोर होता है।

राजमती की संकल्पदृढ़ता नारी के लिए आदर्श स्वरूप है। इस अध्ययन के कुछ संदेश यहाँ प्रस्तुत हैं—

कोहं माणं निगिण्हित्ता, मायं लोभं च सव्वसो।
इंदियाइ वसे काउं, अप्पाणं उवसंहरे।।22.48।।

क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतकर और पांचों इन्द्रियों को वश में करके आत्मा को प्रमाद से हटाकर धर्म में स्थिर करे।

एवं करेंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्‌टंति भोगेसु, जहा से पुरिसोत्तमो ।22.5।।त्तिबेमि

पुरुषोत्तम रथनेमी ने आत्मा को वश में करके मोक्ष पाया। इसी तरह तत्त्वज्ञानी, विचक्षण, पंडित जन भोगों से निवृत्त होकर मुक्त हो जाते हैं।

12. समन्वय का शुद्ध मार्ग (केसिगोयमिज्जं—तेवीसवाँ अध्ययन)

भगवान गौतमस्वामी और केशी कुमार श्रमण का सम्मिलन, प्रश्नोत्तर और श्री केशीकुमार श्रमण का वीरशासन में प्रविष्ट होना इस अध्याय का विषय है।

भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर के बीच समय का कोई बहुत बड़ा अन्तराल नहीं था। मात्र २५० वर्षों का ही अन्तर था। इस छोटे से अन्तराल में समय चक्र तेजी से घूमा। भगवान महावीर ने यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाकर श्रमणों के आचार व्यवहार और बाह्य वेशभूषा में कुछ परिवर्तन किए। उस समय भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के शिष्य भी विद्यमान थे।

श्रावस्ती नगरी में ऐसा प्रसंग उपस्थित हुआ कि पार्श्वनाथ की परम्परा के केशीश्रमण अपने शिष्यों सहित पधारे और भगवान महावीर के पट्ट शिष्य गौतम गणधर भी अपने शिष्यों सहित पधार गए। दोनों का लक्ष्य मोक्ष था। पार्श्वनाथ के श्रमण रंग—बिरंगे वस्त्र पहनते और चातुर्याम का

पालन करते, जबकि भगवान महावीर के श्रमण अल्पातिअल्प मूल्य वाले श्वेत वस्त्र धारण करते और पंच महाव्रतों का पालन करते। छोटे-मोटे अन्य भेद भी थे। केशीश्रमण और गौतम गणधर अपने-अपने शिष्यों सहित परस्पर मिले। गौतम गणधर ने केशीश्रमण की सभी शंकाओं का युक्ति संगत समाधान कर दिया। केशीश्रमण अपने शिष्यों के साथ भगवान महावीर की परम्परा में दीक्षित हो गए। दोनों का समन्वय हो गया-

पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं।
जतत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगपओयणं।।23.32।।

नाना प्रकार के उपकरणों का विधान लोगों की प्रतीति के लिए, संयम-निर्वाह के लिए है। साधुत्व के ग्रहण के लिए और लोक में पहिचान के लिए लिंग (वेषादि) की आवश्यकता है।

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसीलतवोजलं।
सुयधाराभिहया संता, भिन्ना हु न डहंति मे।।23.53।।

कषाय अग्नि है। श्रुत, शील और तप जल है। श्रुत रूप जलधारा से अग्नि को शान्त करने पर फिर वह मुझे नहीं जलाती।

जरामरणवेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं।।23.98

जरा और मृत्यु रूप वेग से डूबते हुए प्राणियों के लिए धर्म द्वीप ही उत्तम स्थान और शरण रूप है।

समन्वय का शुद्ध मार्ग इस अध्ययन में दिखाया गया है।

13. सच्चा ब्राह्मण कौन (जन्नइज्जं-पच्चीसवाँ अध्ययन)

सच्चे ब्राह्मण का स्वरूप इस अध्ययन में बताया गया है। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न जयघोष नाम का प्रसिद्ध और महायशस्वी विप्र था। वह यम रूप भावयज्ञ करने वाला था। उसी नगरी में वेदों का ज्ञाता विजयघोष नाम का ब्राह्मण यज्ञ करता था। यज्ञ हिंसक होते थे। भगवान महावीर ने हिंसा-विरोधी श्रमण-परम्परा का विरोध किया। भगवान महावीर ने जाति को जन्म से नहीं, परन्तु कर्म से माना।

समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो।।25.32।।

समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है।

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।।25.33।।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये सब कर्म से होते हैं।

इस अध्ययन में सच्चे ब्राह्मण के गुणों का दिग्दर्शन कराया गया है, जिससे ब्राह्मण जाति से अलग सच्चे ब्राह्मण को पहचाना जा सकता है।

श्री जयघोष मुनि से उत्तम धर्म को सुनकर उनके सामने गृहत्याग कर

विजयघोष दीक्षित हो गए। दोनों मुनि तप-संयम से अपने पूर्व कर्मों का क्षय करके सर्वोत्तम सिद्ध गति को प्राप्त हुए।

14. गर्गाचार्य के कुशिष्यों का वर्णन (खलुकिज्जं–सत्ताईसवाँ अध्ययन)

इस अध्ययन में गर्गाचार्य के कुशिष्यों का वर्णन और आलसी बैल का उदाहरण है।

गर्गाचार्य गुणवान आचार्य थे, जो सतत समाधि भाव में रहते थे। किन्तु उनके शिष्य दुष्ट बैलों की तरह उद्दण्ड, अविनीत और आलसी थे। उनके शिष्य साता में मस्त रहते थे, घमण्डी और अहंकारी बन गये थे तथा भिक्षाचरी में भी आलस करते थे। अयोग्य बैल के समान दुर्बल शिष्यों को धर्मध्यान में जोतने पर सफलता नहीं मिलती है। इस प्रकार अपने दुष्ट शिष्यों से दुःखी हुए वे सारथी आचार्य सोचने लगे कि मुझे इनसे क्या प्रयोजन है। अतः गर्गाचार्य ने शिष्यों को छोड़कर उग्रतप का आचरण करने का निश्चय किया।

मिउ–मद्दवसंपन्ने, गंभीरो सुसमाहिओ।
विहरइ महिं महप्पा, सीलभूएण अप्पणा।।27.17।।

मृदु एवं सरल स्वभाव वाले, गम्भीर और समाधिवन्त वे महात्मा शील सम्पन्न होकर पृथ्वी पर विचरने लगे।

(इ) आचार सम्बन्धी

1. अनगारों के संयमी जीवन के परीषह(परीसह पविभत्ती–द्वितीय अध्ययन)

इस अध्ययन में मानव को धीरता, वीरता, सहिष्णुता, तितिक्षा और समता का पाठ पढाया गया है। सहिष्णुता व धीरता का उपदेश समग्र मानव जीवन के लिए है, इसे साधु जीवन तक सीमित करना उचित नहीं है। दुःख को समभावपूर्वक सहन करना चाहिए। पीड़ा ढोने के लिए नहीं, सहने के लिए आती है। सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी के पूछने पर २२ परीषह बताए हैं– १. क्षुधा परीषह २. प्यास ३. शीत ४. उष्ण ५. डांस मच्छर आदि ६. वस्त्र की कमी या अभाव ७. अरति ८. स्त्री ९. विहार १०. एकान्त में बैठना ११. शय्या १२. कठोर वचन १३. वध १४. याचना १५ अलाभ १६. रोग १७. तृण स्पर्श १८. मैल १९. सत्कार–पुरस्कार २०. प्रज्ञा २१. अज्ञान २२. दर्शन परीषह।

माइन्ने असणपाणस्स...।।2.3।।

साधक को खाने–पीने की मर्यादा का ज्ञान होना चाहिए।

अदीणमणसो चरे....।।2.3।।

संसार में अदीन भाव से रहना चाहिए।

न य वित्तासए परं.....।।2.20।।

किसी भी जीव को त्रास अर्थात् कष्ट नहीं देना चाहिए।

सरिसो होइ बालाणं....।।2.24।।

बुरे के साथ बुरा होना बचकानापन है।

४. प्राणी, बीज और हरी का मर्दन कर स्वयं असंयती होकर भी अपने को संयती मानना।
५. तृणादि का बिछौना, पाट, आसन, स्वाध्याय भूमि, पांव पोंछने का वस्त्र आदि को बिना पूंजे बैठना और उपयोग में लेना।
६. शीघ्रतापूर्वक अयतना से चलना और प्रमादी होकर बालक आदि पर क्रोधित होना।
७. प्रतिलेखन में प्रमाद करना, पात्र और कम्बल आदि इधर—उधर बिखेरना, प्रतिलेखना में उपयोग नहीं रखना।
८. प्रतिलेखना मे प्रमाद करना, विकथा आदि सुनने में मन लगाना, हमेशा शिक्षादाता के सामने बोलना।
९. अतिकपटी, वाचाल, अभिमानी, क्षुब्ध, इन्द्रियों को खुली छोड़ना तथा असंविभागी और अप्रीतिकारी होना।
१०.शान्त हुए विवाद को पुनः जगाना, सदाचार रहित हो आत्मप्रज्ञा को नष्ट करना, लड़ाई और क्लेश करना।
११.अस्थिर आसन वाला होना, कुचेष्टा वाला होना, जहां कहीं भी बैठने वाला होना।
१२.सचित्त रज से भरे हुए पैरों को बिना पूंजे सो जाना, शय्या की प्रतिलेखना नहीं करना और संथारे को अनुपयोगी समझना।
१३.दूध, दही और विगयों का बार—बार आहार करना, तपकार्य में प्रीति नहीं होना।
१४.सूर्य के अस्त होने तक बार—बार खाते रहना, 'ऐसा नहीं करना' कहने पर गुरु के सामने बोलना।
१५.आचार्य को छोड़कर परपाषण्ड में जाना, छह-छह मास से गच्छ बदलना।
१६.अपना घर छोड़कर साधु हुआ फिर भी अन्य गृहस्थ के यहां रस लोलुप होकर फिरना और निमित्त बताकर द्रव्योपार्जन करना।
१७.अपनी जाति के घरों से ही आहार को लेना, किन्तु सामुदानिकी भिक्षा नहीं लेना और गृहस्थ की निषद्या पर बैठना।

पाँच प्रकार के कुशीलों से युक्त होकर संवर रहित वेषधारी यह साधु अन्य श्रेष्ठ मुनियों की अपेक्षा निकृष्ट है और वह इस लोक में विष की तरह निन्दनीय है। उसका न इहलोक सुधरता है और न परलोक ही।

उपर्युक्त दोषों को त्यागकर मुनि सुव्रती हो जाता है।

6. समिति और गुप्ति (समिइओ—चौबीसवाँ अध्ययन)

इस अध्ययन में समिति और गुप्ति रूप आठ प्रवचन माताओं वर्णन है। समितियाँ पाँच और गुप्तियाँ तीन हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान—निक्षेपण और उच्चार परिष्ठापनिका समितियां हैं तथा मन, वचन

और काय गुप्तियाँ हैं। साधु को आलम्बन, काल, मार्ग और यतना रूपी कारणों की शुद्धि के साथ गमन करना चाहिए, यह ईर्या समिति है। ईर्या समिति में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आलम्बन हैं। काल दिन का समय है और कुमार्ग का त्याग करना मार्ग है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सम्यक् पालना—ये चार यतनाएँ है। चलते समय इन्द्रियों के विषयों और वाचना आदि पांच प्रकार के स्वाध्याय को वर्जन करता हुआ चले। ईर्या समिति में तन्मय होकर और उसी में उपयोग रख कर चले। क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, निन्दा और विकथा के प्रति सतत उपयोग युक्त होकर रहे। परिमित और निर्वद्य भाषा बोलना भाषा समिति है। आहार, उपधि और शय्या की गवेषणा, ग्रहणैषणा तथा परिभोगैषणा शुद्धता पूर्वक करना, यह एषणा समिति है। उपकरणों को ग्रहण करते ओर रखते हुए मुनि द्वारा विधि का पालन करना, यह आदान निक्षेपण समिति है। मल—मूत्र, कफ, नाक व शरीर का मैल,पसीना, आहार, उपकरण आदि का विवेकपूर्वक स्थण्डिल भूमि में परित्याग करना परिष्ठापना समिति है। इस अध्ययन में पांचों समितियों का वर्णन संक्षेप में किया गया है।

गुप्तियाँ तीन हैं— १. मनोगुप्ति २. वचनगुप्ति ३. कायगुप्ति। मन गुप्ति के १. सत्य २. असत्य ३. मिश्र और ४.असत्यामृषा, ये चार प्रकार हैं। संयमी साधु को संरम्भ, समारंभ और आरम्भ में प्रवृत्त होते हुए मन को नियन्त्रित रखना आवश्यक है। वचनगुप्ति भी मनोगुप्ति के समान चार प्रकार की है। साधु को संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त वाणी को रोकना चाहिए। काया से संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ की प्रवृत्ति को रोकना कायगुप्ति है।

जो पंडित मुनि पांचों समितियों के पालन में प्रवृत्त होकर और अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्त होकर सम्यक् आचरण करता है, वह समस्त संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

7. मुनि की समाचारी (समाचारी—छब्बीसवाँ अध्ययन)

इस अध्ययन में सभी कर्मों से मुक्त करने वाली समाचारी का वर्णन है। जिसका आचरण करके कई निर्ग्रन्थ संसार सागर से तिर गए। साधुओं की दशांग समाचारी इस प्रकार है— १. आवश्यकी २. नैषेधिकी ३. आपृच्छनी ४. प्रति पृच्छनी ५. छन्दना ६. इच्छाकार ७. मिच्छाकार ८. तथाकार ९. अभ्युत्थान १०. उपसम्पदा। मुनिजीवन की साधारण दैनिक क्रिया का विधान दशांग समाचारी में है। बुद्धिमान मुनि को दिन के चार भाग करके उन चारों भागों में उत्तर गुणों की वृद्धि करनी चाहिए। पहले प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे प्रहर में भिक्षाचरी और चौथे प्रहर में फिर स्वाध्याय करना चाहिए। बुद्धिमान मुनि रात्रि के भी चार भाग करता है— प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे प्रहर में निद्रा और चौथे प्रहर में पुनः

स्वाध्याय करता है।

8. साधक-आत्मा की अनासक्ति (पमायट्ठाणं–बत्तीसवाँ अध्ययन)

इस अध्ययन में प्रमाद की विस्तृत व्याख्या और मोक्ष के उपाय बताए गए हैं। इसका महत्त्वपूर्ण उद्घोष यह है कि शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श आदि का दोष नहीं है, दोष है आत्मा का। आत्मा जब राग–द्वेष आदि परिणामों के द्वारा प्रमादी बनकर किसी पदार्थ के प्रति राग अथवा द्वेष करता है, तभी वह बन्धन में बन्धता है और दुःखों में जकड़ जाता है। अलिप्तता और अनासक्ति इसके मूल स्वर हैं।

वीतराग ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म का क्षय करके कृतकृत्य हो जाते हैं। इस अध्ययन में जीव के साथ लगे हुए समस्त दुःखों से मुक्त होने का मार्ग बताया गया है, जिसे सम्यक् प्रकार से अंगीकार करके जीव अत्यन्त सुखी हो जाते हैं।

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई मरणं वयंति।।32.7।।

राग और द्वेष ये दोनों कर्म के बीज हैं, कर्म मोह से उत्पन्न होते हैं, कर्म ही जन्म-मरण के मूल हैं और जन्म-मरण ही दुःख है।

रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पए भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणी पलासं।।32.34।।

रूप से विरक्त हुआ मनुष्य शोकरहित हो जाता है। जिस प्रकार जल में रहते हुए भी कमल का पत्ता लिप्त नहीं होता उसी प्रकार संसार में रहते हुए भी वह विरक्त पुरुष दुःख समूह से लिप्त नहीं होता।

समो य जो तेसु य वीयरागो।।32.61।।

जो मनुष्य मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दादि विषयों में सम रहता है, वह वीतराग है।

एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं न वीयरागस्स करेन्ति किंचि।।32.100।।

इन्द्रियों और मन के विषय, रागी पुरुषों के लिए ही दुःख के कारण होते हैं। ये विषय वीतरागों को कुछ भी दुःख नहीं दे सकते।

9. मोक्षमार्ग प्राप्त करने का उत्तम मार्ग (अणगार मग्गगई– पैंतीसवाँ अध्ययन)

यह अध्ययन साधु-आचार का प्रतिपादन करता है। साधु हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन एवं परिग्रह की इच्छा और लोभ को त्याग दे। कैसे स्थान में नहीं रहना चाहिए और कैसे स्थान में रहना चाहिए, इसका भी इस अध्ययन में वर्णन किया गया है। भोजन के संबंध में मार्गदर्शन दिया गया है। स्वाद के लिए भोजन नहीं करे, किन्तु संयम-निर्वाह के लिए भोजन करे। क्रय–विक्रय की साधु को इच्छा नहीं करना चाहिए। अर्चना, वन्दना, पूजा, ऋद्धि, सत्कार और सम्मान की मन में इच्छा नहीं करे। मृत्यु का समय आने पर उत्तम साधु

त्यागपूर्वक मनुष्य शरीर को छोड़कर सभी दु:खों से मुक्त हो जाता है।

निम्ममो निरहंकारो, वीयरागो अणासवो।
संपत्तो केवलंनाणं सासयं परिणिव्वुए।।35.21।।

ममत्व व अहंकार रहित वीतरागी निरास्रव होकर और केवलज्ञान को पाकर सदा के लिए सुखी हो जाता है।

(ई) सैद्धान्तिक वर्णन

1. मोक्ष मार्ग का स्वरूप और जैन तत्त्व का ज्ञान (मोक्ख मग्गगई–अट्ठाईसवाँ अध्ययन)

मनुष्य का आध्यात्मिक लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है। इसके लिए उसे तदनुकूल साधनों की आवश्यकता होती है। उन साधनों का वर्णन इस अध्ययन में है। मोक्ष प्राप्ति के साधन– १. ज्ञान २. दर्शन ३. चारित्र और ४. तप हैं।

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई।।28.35।।

आत्मा के सच्चे स्वरूप को जानना ज्ञान है। दर्शन से तात्पर्य आत्मा के सच्चे स्वरूप पर दृढ विश्वास और श्रद्धा है। चारित्र आत्मगुणों के प्रकटीकरण की क्रिया अथवा कर्मास्रव को रोकने तथा कर्म-निर्जरा की प्रक्रिया है। तप आत्मशुद्धि का साधन है।

नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं
सम्मत्तंचरित्ताइं, जुगवं पुव्वं च सम्मत्तं।।28.29।।

सम्यक्त्व के बिना चारित्र नहीं। दर्शन में चारित्र की भजना है अर्थात् सम्यग्दर्शन होने पर चारित्र हो सकता है और नहीं भी। सम्यक्त्व और चारित्र साथ हों तो भी उसमें सम्यक्त्व पहले होता है।

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स णत्थि मोक्खो, णत्थि अमोक्खस्स णिव्वाणं।।28.30।।

सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान प्राप्त नहीं होता, ज्ञान के अभाव में चारित्र के गुण नहीं होते, गुणों के अभाव में मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के अभाव में निर्वाण प्राप्त नहीं होता। सम्यक्त्व का आलोक प्राप्त होने पर भव्यजीव को सर्वप्रथम मोक्ष की अभिलाषा होती है और लक्ष्य मुक्ति प्राप्ति हो जाता है। महर्षि संयम और तप से पूर्व कर्मों को क्षय करके समस्त दु:खों से रहित होकर मोक्ष पाने का प्रयत्न करते हैं।

2. साधक जीवन अथवा मुमुक्षु के सिद्धान्त (सम्मत्तपरक्कमं–उनतीसवाँ अध्ययन)

यह अध्ययन आत्मोत्थानकारी उत्तम प्रश्नोत्तरों से युक्त है। इसे सम्यक्त्व पराक्रम अध्ययन कहा जाता है। प्रश्नोत्तर के रूप में ऐसे सिद्धान्त बताए गए हैं जिनसे साधक जीवन अथवा मुमुक्षु की समस्त जिज्ञासाओं का

समाधान हो जाता है। वह शान्ति और समाधि प्राप्त करता है। मोक्ष की अभिलाषा पूर्ण हो सकती है और जन्म-मरण अर्थात् संसार से सदा के लिए मुक्त हो सकता है। इस अध्ययन का प्रारम्भ संवेग की अभिलाषा से हुआ है और अन्त मोक्ष-प्राप्ति में।

सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ।।29.8।।

सामायिक की साधना करने से पापकारी प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है।

खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ।।29.17।।

क्षमापना से साधक की आत्मा में प्रसन्नता की अनुभूति होती है।

सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।। 29.18।।

स्वाध्याय करने से ज्ञानावरण कर्म का क्षय होता है।

वेयावच्चेणं तित्थयर नाम गोत्तयं कम्मं निबन्धइ।।29.43।।

वैयावृत्य से आत्मा तीर्थकर नाम कर्म की उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति का उपार्जन करता है।

वयगुत्तयाए णं णिव्विकारत्तं जणयइ।।29.54।।

वचन गुप्ति से निर्विकार स्थिति प्राप्त होती है।

कोहविजएणं खंतिं जणयइ।।29.67।।

क्रोध को जीत लेने से क्षमा भाव जाग्रत होता है।

माणविजएणं मद्दवं जणयइ।।29.68।।

अभिमान को जीत लेने से मृदुता जाग्रत होती है।

मायाविजएणं अज्जवं जणयइ।।29.69।।

माया को जीत लेने से सरल भाव की प्राप्ति होती है।

लोभविजएणं संतोसं जणयइ।।29.70।।

लोभ को जीत लेने से संतोष की प्राप्ति होती है।

यह स्पष्ट है कि सम्यक्त्व पराक्रम अध्ययन में दिए गए प्रश्नोत्तर साधना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

3. तपोमार्ग (तवमग्गं–तीसवाँ अध्ययन)

यह अध्ययन तपश्चर्या के स्वरूप और विधि के संबंध में है। इसमें राग-द्वेष से उत्पन्न पाप कर्मों को क्षय करने में अमोघ साधन 'तप' की सम्यक् पद्धति का निरूपण किया गया है। सांसारिक प्राणियों का शरीर के साथ अत्यन्त घनिष्ठ संबंध हो गया है। उसी के कारण अज्ञानवश नाना पाप कर्मों का बंध होता है। विश्व के सारे प्राणी आधिभौतिक, अधिदैविक और आध्यात्मिक दु:खों से पीड़ित हैं और इन त्रिविध दु:खों से सन्तप्त हैं। समस्त अज्ञ जीव आधि–व्याधि–उपाधि से पीड़ित हैं। इस पीड़ा को दूर करने के लिए तप को साधन बताया गया है। तप कर्मों की निर्जरा करने, आत्मा और शरीर के तादात्म्य को तोड़कर आत्मा को शरीर से पृथक मानने की दृष्टि उत्पन्न करता है। सम्यक् तप का मार्ग स्वेच्छा से उत्साहपूर्वक शरीर, इन्द्रियों

और मन को अनुशासित, संयमित और अप्रमत्त करके स्वरूपावस्थित करने का मार्ग है। तप के दो मुख्य भेद किए गए हैं— बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप ६ प्रकार के हैं— अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायाक्लेश और प्रतिसंलीनता। आभ्यन्तर तप के भी ६ भेद हैं— प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग। बाह्य तप का अभिप्राय शरीर के प्रति आत्मा की संलग्नता—देहासक्ति को मिटाना है। साधक को अनशन आदि बाह्य तपों का आचरण उतना ही करना चाहिए, जिससे शरीर निर्बल न हो, इन्द्रियाँ क्षीण न हों और आत्मा में संक्लेश उत्पन्न न हों। आन्तरिक तपों का उद्देश्य आत्मिक विकारों का शोधन और आत्मा का शुद्धिकरण है, जो विवेक पर आधारित है।

जहा महातलागस्स, सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेण सोसणा भवे।।30.5।।
एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे।
भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जई।।30.6।।

बड़े भारी तालाब में पानी आने के मार्ग को रोककर उसका जल उलीचने के बाद सूर्य के ताप से क्रमशः सुखाया जाता है। उसी प्रकार संयमी पुरुष नवीन पाप कर्मों को रोककर तपस्या के द्वारा पूर्व कर्मों को क्षय कर देता है।

एयं तवं तु दुविहं जे सम्मं आयरे मुणी।
से खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पण्डिए।।30.37।।

दोनों तरह के तप का जो मुनि सम्यक् प्रकार से आचरण करता है, वह पंडित शीघ्र ही संसार के सभी बंधनों से छूट जाता है।

4. चारित्र विधि (चरणविहि—इकतीसवाँ अध्ययन)

इस अध्ययन में जीवों को सुख देने वाली चारित्र विधि बतलाई गई है। इसका अर्थ है— चारित्र का ज्ञान करके उसे विवेकपूर्वक धारण करना। इसके आचरण से बहुत से जीव संसार सागर से तिर गए।

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च संजमे य पवत्तणं।।31.2।।

असंयम रूप एक स्थान से निवृत्ति करके संयम रूप एक स्थान में प्रवृत्ति करे। चारित्र के अनेक अंग हैं— पांच महाव्रत, पांच समिति—तीन गुप्ति, दशविध श्रमण धर्म, सम्यक् तप, परीषहजय, कषाय विजय, विषय विरक्ति, त्याग, प्रत्याख्यान आदि। चारित्र के उच्च शिखर पर चढने के लिए भिक्षु प्रतिमा, अवग्रह प्रतिमा, पिण्डावग्रह प्रतिमा आदि अनेक प्रतिमाएँ हैं। जिनसे साधक अपनी आत्मशक्ति को प्रकट करता हुआ आगे से आगे मोक्ष की ओर बढ़ता है। जो भिक्षु राग और द्वेष का सतत निरोध करता है, वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता। इस अध्ययन में असंयम, राग-द्वेष, बन्धन, विराधना, अशुभ लेश्या, मदस्थान, क्रिया स्थान, कषाय, पांच अशुभ

क्रियाएँ, अब्रह्मचर्य, असमाधि स्थान, सबल दोष, पापश्रुत प्रसंग, महामोह स्थान, आशातना आदि कई विघ्नों का नाम निर्देश करके उनमें आत्म रक्षा करने की विधि बताई गई है। १७ प्रकार के असंयम से निवृत्त होना और १७ प्रकार के संयम में प्रवृत्त होना चारित्र विधि है।

5. कर्म प्रकृति (कम्मप्पयडी–तैंतीसवाँ अध्ययन)

इस अध्ययन में कर्मों के भेद, प्रभेद, गति, स्थिति आदि का वर्णन है। कर्मों के विविध स्वभाव, प्रतिसमय कर्मों के परमाणुओं के बन्ध, संख्या, उनके अवगाहन क्षेत्र का परिमाण, कर्मों की जघन्य उत्कृष्ट स्थिति और कर्मों के फल देने की शक्ति के कारणभूत अनुभाग इत्यादि का गहराई से विश्लेषण किया गया है। कर्मबन्ध के चार प्रकार प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग रूप का भी वर्णन है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय आठ कर्म हैं। इनकी उत्तर प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं–

ज्ञानावरण– मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्याय और केवलज्ञान।

दर्शनावरण– निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण।

वेदनीय– साता व असाता।

मोहनीय–दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। अनेक अवान्तर भेद।

आयुष्य– नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव

नाम– शुभ व अशुभ। अनेक अवान्तर भेद।

गोत्र– उच्च और नीच।

अन्तराय– दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, और वीर्यान्तराय।

इस अध्ययन में द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव का स्वरूप भी वर्णित है। कर्म जब तक विद्यमान रहते हैं तब तक जीव नाना गतियों और योनियों में परिभ्रमण करता रहता है। कर्म के कारण व्यक्ति भयंकर कष्ट पाते हैं और नाना दु:ख उठाते हैं। हम जो विश्व में विषमताएँ देखते हैं वे सब कर्मों के कारण हैं।

> **तम्हा एएसि कम्माणं अणुभागे वियाणिया**
> **एएसि संवरे चेव, खवणे य जए बुहे।।।33.25।।**

कर्मों के विपाक को जानकर बुद्धिमान पुरुष इनका निरोध एवं क्षय करने का प्रयत्न करे।

6. लेश्या (लेसज्झयणं–चौंतीसवाँ अध्ययन)

छ: लेश्याओं का स्वरूप, फल, गति, स्थिति आदि का वर्णन इस अध्ययन में है। छ: लेश्याओं के नाम हैं– १. कृष्ण लेश्या २. नील लेश्या ३. कापोत लेश्या ४. तेजो लेश्या ५. पद्म लेश्या ६. शुक्ल लेश्या। ग्यारह

द्वारों के माध्यम से लेश्याओं को व्यवस्थित रूप दिया गया है— १. नाम द्वार २. वर्ण द्वार ३. रस द्वार ४. गन्ध द्वार ५. स्पर्श द्वार ६. परिणाम द्वार ७. लक्षण द्वार ८. स्थान द्वार ९. स्थिति द्वार १०. गति द्वार ११. आयु द्वार।

जैनाचार्यों ने लेश्या की निम्न परिभाषाएँ बताई हैं—

१. कषाय से अनुरंजित आत्म-परिणाम।
२. मन—वचन—काया के योगों का परिणाम या योग प्रवृत्ति।
३. काले आदि रंगों के सान्निध्य से स्फटिक की तरह राग—द्वेष कषाय के संयोग से आत्मा का तदनुरूप परिणमन हो जाना।
४. कर्म के साथ आत्मा को संश्लिष्ट करके कर्म-बंधन की स्थिति बनाने वाली।

किण्हा नीला काऊ तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो दुग्गइं उववज्जइ बहुसो।।34.56।।

कृष्ण, नील और कापोत तीनों अधर्म लेश्याएँ हैं, इनसे जीव दुर्गति में जाता है।

तेऊ पम्हा सुक्का तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो सुग्गइं उववज्जइ बहुसो।।34.57।।

तेजो, पद्म और शुक्ल ये तीन धर्म लेश्याएँ हैं, इनसे जीव सुगति में जाता है।

लेसाहिं सव्वाहिं पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु।
न वि कस्सवि उववाओ परे भवे अत्थि जीवस्स।।34.58।।

सभी लेश्याओं की प्रथम समय की परिणति में किसी भी जीव की परभव में उत्पत्ति नहीं होती।

लेसाहिं सव्वाहिं चरमे समयम्मि परिणयाहिं तु।
न वि कस्सवि उववाओ परे भवे अत्थि जीवस्स।।34.59।।

सभी लेश्याओं की अन्तिम समय की परिणति में किसी भी जीव की परभव में उत्पत्ति नहीं होती।

तम्हा एयाण लेसाणं अणुभागे वियाणिया।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता पसत्थाओ अहिट्ठेज्जासि।।34.61।।

अत: लेश्याओं के अनुभाव रस को जानकर अप्रशस्त लेश्याओं को छोड़कर प्रशस्त लेश्या अंगीकार करनी चाहिए।

7. जीव और अजीव तत्त्व (जीवाजीवविभत्ती—छत्तीसवाँ अध्ययन)

इस अध्ययन में जीव और अजीव का पृथक्करण किया गया है। दूसरे शब्दों में जीव—अजीव को विभक्त करके उनका सम्यक् प्रकार से निरूपण किया गया है। इस अध्ययन के माध्यम से साधक जीव और अजीव का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके संयम में प्रयत्नशील हो सकता है। जीव और अजीव का सम्यक् परिज्ञान होने पर ही वह गति, पुण्य, पाप, संवेग, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष को जान सकता है।

क्रियाएँ, अब्रह्मचर्य, असमाधि स्थान, सबल दोष, पापश्रुत प्रसंग, महामोह स्थान, आशातना आदि कई विघ्नों का नाम निर्देश करके उनमें आत्म रक्षा करने की विधि बताई गई है। १७ प्रकार के असंयम से निवृत्त होना और १७ प्रकार के संयम में प्रवृत्त होना चारित्र विधि है।

5. कर्म प्रकृति (कम्मप्पयडी–तैंतीसवाँ अध्ययन)

इस अध्ययन में कर्मों के भेद, प्रभेद, गति, स्थिति आदि का वर्णन है। कर्मों के विविध स्वभाव, प्रतिसमय कर्मों के परमाणुओं के बन्ध, संख्या, उनके अवगाहन क्षेत्र का परिमाण, कर्मों की जघन्य उत्कृष्ट स्थिति और कर्मों के फल देने की शक्ति के कारणभूत अनुभाग इत्यादि का गहराई से विश्लेषण किया गया है। कर्मबन्ध के चार प्रकार प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग रूप का भी वर्णन है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय आठ कर्म हैं। इनकी उत्तर प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं–

ज्ञानावरण– मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान।

दर्शनावरण– निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण।

वेदनीय– साता व असाता।

मोहनीय–दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। अनेक अवान्तर भेद।

आयुष्य– नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव

नाम– शुभ व अशुभ। अनेक अवान्तर भेद।

गोत्र– उच्च और नीच।

अन्तराय– दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, और वीर्यान्तराय।

इस अध्ययन में द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव का स्वरूप भी वर्णित है। कर्म जब तक विद्यमान रहते हैं तब तक जीव नाना गतियों और योनियों में परिभ्रमण करता रहता है। कर्म के कारण व्यक्ति भयंकर कष्ट पाते हैं और नाना दुःख उठाते हैं। हम जो विश्व में विषमताएँ देखते हैं वे सब कर्मों के कारण हैं।

> तम्हा एएसि कम्माणं अणुभागे वियाणिया
> एएसि संवरे चेव, खवणे य जए बुहे।।33.25।।

कर्मों के विपाक को जानकर बुद्धिमान पुरुष इनका निरोध एवं क्षय करने का प्रयत्न करे।

6. लेश्या (लेसज्झयणं–चौंतीसवाँ अध्ययन)

छः लेश्याओं का स्वरूप, फल, गति, स्थिति आदि का वर्णन इस अध्ययन में है। छः लेश्याओं के नाम हैं– १. कृष्ण लेश्या २. नील लेश्या ३. कापोत लेश्या ४. तेजो लेश्या ५. पद्म लेश्या ६. शुक्ल लेश्या। ग्यारह

मनुष्य 4. देव। नारक जीव का वर्णन 36.156 से 36.169 तक, तिर्यंच का निरूपण 36.170 से 36.194 तक, मनुष्य का वर्णन 36.195 से 36.203 तक और देव का वर्णन 36.204 से 36.247 तक किया गया है।

इह जीवमजीवे य सोच्चा सद्दहिऊण य।
सव्वनयाण अणुमए रमेज्जा संजमे मुणी।।36.250।।

इस प्रकार जीव और अजीव के व्याख्यान को सुनकर और उस पर श्रद्धा करके सभी नयों से अनुमत संयम में मुनि रमण करे।

तओ बहुणि वासाणि सामण्णमणुपालिया।
इमेण कमजोगेण अप्पाणं संलिहे मुणी।।36.251।।

अनेक वर्षों तक श्रामण्य का पालन करके मुनि इस क्रम से आत्मा की संलेखना करे। संलेखना जघन्य ६ महीने की, मध्यम एक वर्ष की और उत्कृष्ट बारह वर्ष की होती है।

पढमे वासचउक्कम्मि विगईनिज्जहणं करे।
बिइए वासचउक्कम्मि विचित्रं तु तवं चरे।।36.252।।

साधक को प्रथम के चार वर्षों में विगय का त्याग करना चाहिए और दूसरे चार वर्षों में विविध प्रकार का तप करना चाहिए।

आयंबिल के पारणे में दो वर्ष तक एकान्तर तप करना चाहिए। इसके पश्चात् छः मास तक अति विकट तप नहीं करना चाहिए। भिन्न—भिन्न तप की अवधि और आयंबिल से पारणा करने की विधि बताई गई है।

कन्दप्पमाभिओगं किब्बिसियं मोहमासुरत्तं च।
एयाओ दुग्गईओ मरणम्मि विराहिया होन्ति।। 36.257।।

कन्दर्प, अभियोग, किल्विष, मोह और आसुरी भावना दुर्गति की हेतु है और मृत्यु समय में इन भावनाओं से जीव विराधक हो जाते हैं।

मिच्छादसंणरत्ता सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरन्ति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही।।36.258।।

जो जीव मिथ्यादर्शन में रत, हिंसक तथा निदानयुक्त करणी करने वाले हैं वे इन भावनाओं में मर कर दुर्लभ बोधि होते हैं।

सम्मदंसणरत्ता अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा सुलहा तेसिं भवे बोही।।36.259

जो जीव सम्यग् दर्शन में अनुरक्त, अतिशुक्ल लेश्या वाले और निदान रहित क्रिया करते हैं, वे मरकर परलोक में सुलभ बोधि होते हैं।

समाधिमरण में बाधक और साधक तत्त्व ३६.२५६ से ३६.२६२ तक वर्णित हैं। मृत्यु के समय साधक के लिए समाधिमरण में छह बातें आवश्यक हैं— १. सम्यग्दर्शन में अनुराग २. अनिदानता ३. शुक्ल लेश्या में लीनता ४. जिनवचन में अनुरक्ति ५. जिनवचनों की भावपूर्वक जीवन में क्रियान्विति ६. आलोचना द्वारा आत्म-शुद्धि।

कान्दर्पी आदि अप्रशस्त भावनाओं का वर्णन ३६.२६३ से ३६.२६७ में किया गया है। कन्दर्प के पांच लक्षण बताए गए हैं— १. अट्टहास

जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए।
अजीवदेसमागासे अलोए से वियाहिए।।36.2।।

यह लोक जीव और अजीवमय कहा गया है और अजीव देश रूप आकाश ही जिसमें है वह अलोक कहा गया है।

दव्वओ खेत्तओ चेव कालओ भावओ तहा।
परूवणा तेसिं भवे जीवाणमजीवाण य।। 36.3।।

जीव और अजीव द्रव्य का प्रतिपादन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार प्रकारों से होता है।

अजीव के दो भेद हैं—१. रूपी २. अरूपी। अरूपी अजीव के दस भेद हैं— धर्मास्तिकाय के १. स्कंध २. देश ३. प्रदेश, अधर्मास्तिकाय के १. स्कन्ध २. देश ३.प्रदेश, आकाशास्तिकाय के १. स्कन्ध २. देश ३. प्रदेश और १०. काल। रूपी अजीव के चार भेद हैं— स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को लोक प्रमाण कहा गया है। आकाश लोक और अलोक दोनों में है। धर्म, अधर्म और आकाशास्तिकाय, ये तीनों द्रव्य अनादि अनन्त हैं । काल प्रवाह की अपेक्षा अनादि अनन्त है और आदेश की अपेक्षा सादि सान्त है। सन्तति प्रवाह की अपेक्षा से पुद्गल के स्कन्ध अनादि अनन्त हैं तथा स्थिति की अपेक्षा सादि सान्त हैं।

द्रव्य विभाग का वर्णन ३६.११ से ३६.४७ तक किया गया है। जिसके अनुसार रूपी अजीव द्रव्यों का परिणमन वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से पांच प्रकार का है। जीव दो प्रकार हैं— १. संसारी २. सिद्ध। ३६.४९ से ३६.६७ तक सिद्ध जीवों के प्रकार और सिद्धत्व प्राप्ति का वर्णन है।

लोएगदेसे ते सव्वे नाणदंसणसन्निया।
संसारपारनित्थिन्ना सिद्धिं वरगइं गया।। 36.67

सभी सिद्ध भगवान संसार के उस पार पहुंच कर ज्ञान, दर्शन के उपयोग से सर्वोत्तम सिद्धगति को प्राप्त कर एक देश में ही रहे हुए हैं।

संसारी जीव त्रस और स्थावर रूप से दो प्रकार के हैं। स्थावर और त्रस के तीन—तीन भेद बताए गए हैं—

स्थावर— पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पति काय

त्रस— तेजस्काय, वायुकाय और द्वीन्द्रियादि (उदार)।

आगमों में कई स्थानों पर तेजस्काय और वायुकाय को पांच स्थावरों में माना है, किन्तु यहां दोनों को त्रस में परिगणित किया गया है। कारण कि चलन क्रिया देखकर व्यवहार से इन्हें त्रस कह दिया गया है। उत्तराध्ययन का वैशिष्ट्य इस विभाजन से पता चलता है। उदार त्रस चार प्रकार के हैं— द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इन उदार त्रस काय जीवों का वर्णन 36.151 से 36.169 तक है। पंचेन्द्रिय जीव चार प्रकार के हैं— 1. नैरयिक 2. तिर्यंच 3.

उत्तराध्ययनसूत्र में विनय का विवेचन

०आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा.

उत्तराध्ययनसूत्र की महत्ता निर्विवाद है। इसके ३६ अध्ययनों में तत्त्वमीमांसा, आचारमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा का विवेचन प्राप्त है। यह श्रमण एवं श्रमणोपासक दोनों वर्गों में लोकप्रिय है। अर्धमागधी प्राकृत सूत्रों में उत्तराध्ययनसूत्र ही ऐसा है, जिससे संक्षेप में सरलतया आवश्यक बोध हो जाता है। रत्नवंश के अष्टम पट्टधर आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा. उत्तराध्ययन सूत्र को आधार बनाकर कई बार प्रवचन फरमाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के विनय अध्ययन को लेकर भी उन्होंने कई प्रवचन दिए हैं। उन्हीं प्रवचनों में से कुछ अंश यहाँ उनके प्रवचनों की पुस्तक 'हीरा प्रवचन-पीयूष भाग—१' से संकलित कर प्रकाशित किया जा रहा है। **—सम्पादक**

तीर्थंकर भगवान महावीर की अन्तिम अनमोल वाणी 'उत्तराध्ययनसूत्र' का चातुर्मासिक चतुर्दशी के दिन प्रारम्भ किया था, दो दिन की असज्झाय हो जाने से शास्त्र वाचना नहीं करके चातुर्मास में करणीय विशेष कर्त्तव्यों का बोध हो, इस दृष्टि से कल रात्रि-भोजन त्याग की बात सामने रखी गई, आज तीर्थंकर भगवान् महावीर प्रभु की उस अन्तिम वाणी पर विचार किया जा रहा है।

'उत्तर' शब्द के तीन अर्थ

सूत्र का नाम है— उत्तराध्ययन। इसके उत्तर और अध्ययन दो विभाग होते हैं। आचार्य भगवन्तों ने उत्तर शब्द के तीन अर्थ प्रमुखता से किए हैं। एक उत्तर 'पश्चात्' अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा— पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष। पूर्व कथन, उत्तर कथन। अर्थात् किसी सूत्र के बाद कहा जाने वाला सूत्र है उत्तराध्ययन। दूसरा अर्थ है— उत्तर यानी समाधान। प्रश्न और उसका उत्तर, जिसे आप शंका और समाधान के नाम से भी कह सकते हैं। भव-भ्रमण की समस्याओं का समाधान करने के साथ, आत्म-स्वभाव, आत्मचिन्तन, आत्मजागरण और आत्मा-परमात्मा के विषय में किन-किन समस्याओं का किन-किन साधनाओं से किस क्रम में समाधान करना, उत्तराध्ययन सूत्र इसका कथन करता है। 'उत्तर' शब्द का तीसरा अर्थ है— प्रधान, श्रेष्ठ, उत्तम। भगवान महावीर प्रभु की अन्तिम समय में सारभूत, उत्तम, श्रेष्ठ वाणी होने से इस सूत्र को उत्तराध्ययन सूत्र कहा जा रहा है। पश्चात् कहने के अर्थ में यह सूत्र दशवैकालिक के बाद पढ़ा जाता है। आचार्य शय्यंभव द्वारा मनक मुनि हेतु पूर्वों से सार निकालकर दशवैकालिक सूत्र की रचना की गई। उसके बाद इस सूत्र का वाचन, पठन या व्याख्यान किया जाता है। इसलिये नाम की तरह अर्थ का साम्य भी बैठता है।

टीकाकार स्वयं जिज्ञासा करते हैं— उत्तराध्ययन सूत्र उत्तम सूत्र है, श्रेष्ठ और प्रधान सूत्र है। उत्तराध्ययन सूत्र को श्रेष्ठ, उत्तम, प्रधान व सारभूत

पूर्वक हंसना २. गुरु आदि के साथ वक्रोक्ति या व्यंग्यपूर्वक खुलमखुल्ला बोलना या मुँह फट होना ३. काम कथा करना ४. काम का उपदेश देना और ५. काम की प्रशंसा करना। कान्दर्पी भावना, अभियोगी भावना, किल्विषिकी भावना, आसुरी भावना, सम्मोहा भावना इन पांच भावनाओं का आचरण नहीं करना चाहिए।

इय पाउकरे बुद्धे नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए भवसिद्धीयसंमए। ।36.268।।

भवसिद्धिक जीवों के लिए उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों को प्रकट करके भगवान महावीर प्रभु निर्वाण को प्राप्त हुए।

उपसंहार

उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों को पढ़ने से स्पष्ट होता है कि इसकी भाषा और कथन शैली विलक्षण और विशिष्ट है। इसके कुछ अध्ययन प्रश्नोत्तर शैली में, कुछ कथानक के रूप में तो कुछ उपदेशात्मक हैं। इन सभी अध्ययनों में वीतरागवाणी का निर्मल प्रवाह प्रवाहित है। इसकी भाषा शैली में काव्यात्मकता और लालित्य है। स्थान–स्थान पर उपमा अलंकार एवं दृष्टान्तों की भरमार है, जिससे कथन शैली में सरलता व रोचकता के साथ–साथ चमत्कारिता भी पैदा हुई है।

चारों अनुयोगों का सुन्दर समन्वय उत्तराध्ययन में प्राप्त होता है। वैसे इसे धर्मकथानुयोग में परिगणित किया गया है, क्योंकि इसके छत्तीस में से चौदह अध्ययन धर्मकथात्मक हैं। उत्तराध्ययन में जीव, अजीव, कर्मवाद, षड्द्रव्य, नवतत्त्व, पार्श्वनाथ और महावीर की परम्परा प्रभृति सभी विषयों का समुचित रूप से प्रतिपादन हुआ है।

उत्तराध्ययन पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, संस्कृत भाषाओं में अनेक टीकाएँ और उसके पश्चात् विपुल मात्रा में हिन्दी अनुवाद और विवेचन लिखे गए हैं, जो इस आगम की लोकप्रियता का ज्वलन्त उदाहरण है। भवसिद्धिक और परिमित संसारी जीव इसका नित्य स्वाध्याय कर अपने जीवन को आध्यात्मिक आलोक से आलोकित कर सकेंगे, अतः प्रतिदिन इस सूत्र का अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए। प्रत्येक धर्मप्रेमी बन्धु को प्रतिदिन इस सूत्र का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। यह संभव नहीं हो तो कम से कम एक अध्ययन का स्वाध्याय सामायिक के साथ करना आवश्यक है। ऐसा मेरा नम्र निवेदन है।

–पूर्व न्यायाधीश, राजस्थान उच्च न्यायालय,
पूर्व अध्यक्ष, राज्य आयोग उपभोक्ता संरक्षण, राजस्थान
संरक्षक–अ.भा. श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ
"चन्दन" बी–2 रोड, पावटा, जोधपुर

उत्तराध्ययनसूत्र में विनय का विवेचन

०आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा.

उत्तराध्ययनसूत्र की महत्ता निर्विवाद है। इसके ३६ अध्ययनों में तत्त्वमीमांसा, आचारमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा का विवेचन प्राप्त है। यह श्रमण एवं श्रमणोपासक दोनों वर्गों में लोकप्रिय है। अर्धमागधी प्राकृत सूत्रों में उत्तराध्ययनसूत्र ही ऐसा है, जिससे संक्षेप में सरलतया आवश्यक बोध हो जाता है। रत्नवंश के अष्टम पट्टधर आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा. उत्तराध्ययन सूत्र को आधार बनाकर कई बार प्रवचन फरमाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के विनय अध्ययन को लेकर भी उन्होंने कई प्रवचन दिए हैं। उन्हीं प्रवचनों में से कुछ अंश यहाँ उनके प्रवचनों की पुस्तक 'हीरा प्रवचन-पीयूष भाग—१' से संकलित कर प्रकाशित किया जा रहा है। **—सम्पादक**

तीर्थंकर भगवान महावीर की अन्तिम अनमोल वाणी 'उत्तराध्ययनसूत्र' का चातुर्मासिक चतुर्दशी के दिन प्रारम्भ किया था, दो दिन की असज्झाय हो जाने से शास्त्र वाचना नहीं करके चातुर्मास में करणीय विशेष कर्त्तव्यों का बोध हो, इस दृष्टि से कल रात्रि-भोजन त्याग की बात सामने रखी गई, आज तीर्थंकर भगवान् महावीर प्रभु की उस अन्तिम वाणी पर विचार किया जा रहा है।

'उत्तर' शब्द के तीन अर्थ

सूत्र का नाम है— उत्तराध्ययन। इसके उत्तर और अध्ययन दो विभाग होते हैं। आचार्य भगवन्तों ने उत्तर शब्द के तीन अर्थ प्रमुखता से किए हैं। एक उत्तर 'पश्चात्' अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा— पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष। पूर्व कथन, उत्तर कथन। अर्थात् किसी सूत्र के बाद कहा जाने वाला सूत्र है उत्तराध्ययन। दूसरा अर्थ है— उत्तर यानी समाधान। प्रश्न और उसका उत्तर, जिसे आप शंका और समाधान के नाम से भी कह सकते हैं। भव-भ्रमण की समस्याओं का समाधान करने के साथ, आत्म-स्वभाव, आत्मचिन्तन, आत्मजागरण और आत्मा-परमात्मा के विषय में किन-किन समस्याओं का किन-किन साधनाओं से किस क्रम में समाधान करना, उत्तराध्ययन सूत्र इसका कथन करता है। 'उत्तर' शब्द का तीसरा अर्थ है— प्रधान, श्रेष्ठ, उत्तम। भगवान महावीर प्रभु की अन्तिम समय में सारभूत, उत्तम, श्रेष्ठ वाणी होने से इस सूत्र को उत्तराध्ययन सूत्र कहा जा रहा है। पश्चात् कहने के अर्थ में यह सूत्र दशवैकालिक के बाद पढ़ा जाता है। आचार्य शय्यंभव द्वारा मनक मुनि हेतु पूर्वों से सार निकालकर दशवैकालिक सूत्र की रचना की गई। उसके बाद इस सूत्र का वाचन, पठन या व्याख्यान किया जाता है। इसलिये नाम की तरह अर्थ का साम्य भी बैठता है।

टीकाकार स्वयं जिज्ञासा करते हैं— उत्तराध्ययन सूत्र उत्तम सूत्र है, श्रेष्ठ और प्रधान सूत्र है। उत्तराध्ययन सूत्र को श्रेष्ठ, उत्तम, प्रधान व सारभूत

पूर्वक हंसना २. गुरु आदि के साथ वक्रोक्ति या व्यंग्यपूर्वक खुलमखुल्ला बोलना या मुँह फट होना ३. काम कथा करना ४. काम का उपदेश देना और ५. काम की प्रशंसा करना। कान्दर्पी भावना, अभियोगी भावना, किल्विषिकी भावना, आसुरी भावना, सम्मोहा भावना इन पांच भावनाओं का आचरण नहीं करना चाहिए।

इय पाउकरे बुद्धे नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए भवसिद्धीयसंमए।।36.268।।

भवसिद्धिक जीवों के लिए उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों को प्रकट करके भगवान महावीर प्रभु निर्वाण को प्राप्त हुए।

उपसंहार

उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों को पढ़ने से स्पष्ट होता है कि इसकी भाषा और कथन शैली विलक्षण और विशिष्ट है। इसके कुछ अध्ययन प्रश्नोत्तर शैली में, कुछ कथानक के रूप में तो कुछ उपदेशात्मक हैं। इन सभी अध्ययनों में वीतरागवाणी का निर्मल प्रवाह प्रवाहित है। इसकी भाषा शैली में काव्यात्मकता और लालित्य है। स्थान–स्थान पर उपमा अलंकार एवं दृष्टान्तों की भरमार है, जिससे कथन शैली में सरलता व रोचकता के साथ–साथ चमत्कारिता भी पैदा हुई है।

चारों अनुयोगों का सुन्दर समन्वय उत्तराध्ययन में प्राप्त होता है। वैसे इसे धर्मकथानुयोग में परिगणित किया गया है, क्योंकि इसके छत्तीस में से चौदह अध्ययन धर्मकथात्मक हैं। उत्तराध्ययन में जीव, अजीव, कर्मवाद, षड्द्रव्य, नवतत्त्व, पार्श्वनाथ और महावीर की परम्परा प्रभृति सभी विषयों का समुचित रूप से प्रतिपादन हुआ है।

उत्तराध्ययन पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, संस्कृत भाषाओं में अनेक टीकाएँ और उसके पश्चात् विपुल मात्रा में हिन्दी अनुवाद और विवेचन लिखे गए हैं, जो इस आगम की लोकप्रियता का ज्वलन्त उदाहरण है। भवसिद्धिक और परिमित संसारी जीव इसका नित्य स्वाध्याय कर अपने जीवन को आध्यात्मिक आलोक से आलोकित कर सकेंगे, अतः प्रतिदिन इस सूत्र का अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए। प्रत्येक धर्मप्रेमी बन्धु को प्रतिदिन इस सूत्र का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। यह संभव नहीं हो तो कम से कम एक अध्ययन का स्वाध्याय सामायिक के साथ करना आवश्यक है। ऐसा मेरा नम्र निवेदन है।

–पूर्व न्यायाधीश, राजस्थान उच्च न्यायालय,
पूर्व अध्यक्ष, राज्य आयोग उपभोक्ता संरक्षण, राजस्थान
संरक्षक–अ.भा. श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ
"चन्दन" बी–2 रोड, पावटा, जोधपुर

उत्तराध्ययन की 'मूल' संज्ञा

अंगशास्त्र की सारगर्भित वाणी का कथन करने के बाद प्रभु महावीर ने मोक्ष जाने के पूर्व उत्तराध्ययन सूत्र के अन्तर्गत पचपन पाप–विपाक, पचपन पुण्यविपाकों का वर्णन करते हुए छत्तीसवें अध्ययन में मरुदेवी माता का उल्लेख करते हुए परिनिर्वाण प्राप्त किया है। उत्तराध्ययन सूत्र प्रभु महावीर की अन्तिम वाणी है. इसलिए इस सूत्र में सारभूत चार अनुयोगों का कथन है, मात्र धर्मकथानुयोग का ही नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र की बारह सौ वर्षों तक मूल सूत्र में गणना नहीं की जाती थी। इसके पश्चात् इसे मूल सूत्र में गिना जाने लगा। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वार– ये चार सूत्र ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप रूप मूलगुण–साधना का वर्णन करने वाले हैं। इस दृष्टि से आचार्यों ने इन्हें मूल रूप में मूलसूत्र की संज्ञा दी हो, ऐसा लगता है।

आचार्य भगवन्त (श्री हस्तीमल जी म.सा.) की भाषा में कहूँ तो उत्तराध्ययन सूत्र जैन धर्म की गीता है। वैदिक परम्परा में जो स्थान गीता का है, इस्लाम परम्परा में जो स्थान कुरान का है, ईसाई मत में जो स्थान बाइबल का है, बौद्ध परम्परा में जो स्थान धम्मपद का है, वही स्थान जैन धर्म में उत्तराध्ययन सूत्र का है। इस सूत्र में जीवन के आदिकाल से अन्तकाल तक, विनय से लेकर जीव-अजीव का भेदकर मोक्ष जाने तक का सरल सुबोध शैली में वर्णन उपलब्ध है। अत: इसे जैन धर्म की गीता के नाम से कहा जा रहा है। इसका एक-एक सूत्र जीवन में उतारने लायक है। उत्तराध्ययन सूत्र संजीवनी बूटी है। संजीवनी जैसे सम्पूर्ण रोगों का निकन्दन कर सकती है, ऐसे ही विकारों के शमन के लिए उत्तराध्ययन संजीवनी है।

भगवान की इस अनमोल वाणी उत्तराध्ययन सूत्र का आदि अध्ययन 'विनय' है। शास्त्र के मूल शब्द सामने रख रहा हूँ–

संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।
विणयं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे।।

अर्थात् जो संयोग से मुक्त एवं अनगार है, उस भिक्षाजीवी साधु के विनय को प्रकट करूँगा।

तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा आगम की अर्थरूप में वागरणा की गई। उस वाणी को गणधरों ने सूत्र रूप में गुम्फित किया। सूत्र कहलाता ही वह है जिसमें सार भाग अधिक होता है। शब्द थोड़े, अर्थ अधिक।

विनय का महत्त्व

भगवान महावीर मोक्ष के साधनरूप ज्ञान-दर्शन-चारित्र का प्रथम कथन करने की बजाय पहले विनय का कथन करने की बात कह रहे हैं। ऐसा क्यों? शास्त्र कहता है– विनय गुणों का आधार है। विनय ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र की प्राप्ति का आधारभूत गुण कहा गया है। एक शब्द में कहें

सूत्र कहने के पीछे क्या यह तात्पर्य है कि जीवन भर तीर्थंकर महावीर प्रभु ने जिन अंग सूत्रों का कथन किया वे कम श्रेष्ठ थे? क्या दूसरे अंगसूत्रों में कोई कमी थी? अथवा वे सूत्र आत्म-परमात्म तत्त्व से जोड़ने में कुछ न्यूनता वाले थे? यदि नहीं, तो उत्तराध्ययन सूत्र को उत्तम, श्रेष्ठ और प्रधान किस हेतु से कहा जा रहा है? समाधान है— जीवन के अन्तिम समय में निचोड़ रूप कही गयी वाणी सारभूत कहलाती है।

प्रभु महावीर ने साधना के क्षेत्र में कदम बढ़ाकर घनघाती कर्मों को क्षय करने के बाद चार तीर्थों की स्थापना की और वाणी का वागरण किया। तीर्थंकर भगवान् महावीर की वाणी की 'त्रिपदी' से गणधर भगवन्तों ने अपने क्षयोपशम के अनुसार चौदह पूर्वों की रचना की और भगवन्त की वाणी के अर्थों को सूत्र रूप में गुंफित किया। आचारांग सूत्र पाँच आचारों का, महाव्रतों का, समितिगुप्ति का, कषायों से हटने का और वीतराग भाव की ओर बढ़ने का कथन करता है। सूयगडांग सूत्र स्व-सिद्धान्तों के मंडन और पर दर्शनों की मान्यताओं का अनेकान्त दृष्टि से प्रतिपादन करने की स्थिति से खण्डन-मण्डन करता है। ठाणांग सूत्र में, यह वस्तु है तो किस अपेक्षा से कौन से नय से हैं, इसका एक-दो-तीन इस तरह भेद-प्रभेद करते-करते दस ठाणों में वर्णन है। समवायांग सूत्र में द्रव्यानुयोग, जीव, कर्म, आस्रव, संवर, मोक्ष आदि विषयों का भेद-प्रभेद सहित विभिन्न समवायों में वर्णन है। समवायों के माध्यम से इसमें विशिष्ट ज्ञानसामग्री संकलित है।

भगवती सूत्र में अनेकानेक जिज्ञासाओं का समाधान है। छत्तीस हजार जिज्ञासाएँ और उनका समाधान भगवती सूत्र में है। ज्ञाताधर्मकथा 'ज्ञात' अर्थात् उदाहरण या दृष्टान्तों के माध्यम से और उपमाओं के माध्यम से अवगुण छोड़ने की बात रखता है। उपासकदशांग में दस श्रावकों का वर्णन है। अन्यान्य गणधरों ने इसी तरह दस-दस श्रावकों का अलग-अलग वर्णन किया है। अन्तगडदसा सूत्र में जीवन के अन्तिम समय में कर्मों का अन्त कर समाधि प्राप्त करने वाले, परिनिर्वाण और मोक्ष प्राप्त करने वाले नब्बे जीवों का वर्णन है। अणुत्तरोववाइ में अल्पकाल में अधिक निर्जरा कर अनुत्तर विमान में उत्पन्न होने वाले जीवों का वर्णन है। प्रश्नव्याकरण अनेक प्रकार की लब्धियों-सिद्धियों का वर्णन करने वाला सूत्र था। वर्तमान में उसमें ५ आस्रव एवं ५ संवर का वर्णन मिलता है। विपाकसूत्र सुख-दुःख का वर्णन करता है। साथ ही किस तरह दुःख देने से, असाता पहुँचाने से जीवन में कष्टानुभूति होती है और उसमें समभाव रखने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसका वर्णन है। सुखविपाक में जन्म से सुख-समाधिपूर्वक पुण्य फल भोगते हुए मोक्ष जाने वालों का कथन है।

उत्तराध्ययन की 'मूल' संज्ञा

अंगशास्त्र की सारगर्भित वाणी का कथन करने के बाद प्रभु महावीर ने मोक्ष जाने के पूर्व उत्तराध्ययन सूत्र के अन्तर्गत पचपन पाप–विपाक, पचपन पुण्यविपाकों का वर्णन करते हुए छत्तीसवें अध्ययन में मरुदेवी माता का उल्लेख करते हुए परिनिर्वाण प्राप्त किया है। उत्तराध्ययन सूत्र प्रभु महावीर की अन्तिम वाणी है. इसलिए इस सूत्र में सारभूत चार अनुयोगों का कथन है, मात्र धर्मकथानुयोग का ही नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र की बारह सौ वर्षों तक मूल सूत्र में गणना नहीं की जाती थी। इसके पश्चात् इसे मूल सूत्र में गिना जाने लगा। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वार— ये चार सूत्र ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप रूप मूलगुण—साधना का वर्णन करने वाले हैं। इस दृष्टि से आचार्यों ने इन्हें मूल रूप में मूलसूत्र की संज्ञा दी हो, ऐसा लगता है।

आचार्य भगवन्त (श्री हस्तीमल जी म.सा.) की भाषा में कहूँ तो उत्तराध्ययन सूत्र जैन धर्म की गीता है। वैदिक परम्परा में जो स्थान गीता का है, इस्लाम परम्परा में जो स्थान कुरान का है, ईसाई मत में जो स्थान बाइबल का है, बौद्ध परम्परा में जो स्थान धम्मपद का है, वही स्थान जैन धर्म में उत्तराध्ययन सूत्र का है। इस सूत्र में जीवन के आदिकाल से अन्तकाल तक, विनय से लेकर जीव-अजीव का भेदकर मोक्ष जाने तक का सरल सुबोध शैली में वर्णन उपलब्ध है। अत: इसे जैन धर्म की गीता के नाम से कहा जा रहा है। इसका एक-एक सूत्र जीवन में उतारने लायक है। उत्तराध्ययन सूत्र संजीवनी बूटी है। संजीवनी जैसे सम्पूर्ण रोगों का निकन्दन कर सकती है, ऐसे ही विकारों के शमन के लिए उत्तराध्ययन संजीवनी है।

भगवान की इस अनमोल वाणी उत्तराध्ययन सूत्र का आदि अध्ययन 'विनय' है। शास्त्र के मूल शब्द सामने रख रहा हूँ—

संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।
विणयं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे।।

अर्थात् जो संयोग से मुक्त एवं अनगार है, उस भिक्षाजीवी साधु के विनय को प्रकट करूँगा।

तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा आगम की अर्थरूप में वागरणा की गई। उस वाणी को गणधरों ने सूत्र रूप में गुम्फित किया। सूत्र कहलाता ही वह है जिसमें सार भाग अधिक होता है। शब्द थोड़े, अर्थ अधिक।

विनय का महत्त्व

भगवान महावीर मोक्ष के साधनरूप ज्ञान-दर्शन-चारित्र का प्रथम कथन करने की बजाय पहले विनय का कथन करने की बात कह रहे हैं। ऐसा क्यों? शास्त्र कहता है— विनय गुणों का आधार है। विनय ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र की प्राप्ति का आधारभूत गुण कहा गया है। एक शब्द में कहें

तो गुणों को दूषित करने वाला दुर्गुण है अहंकार। अवगुणों में गुणों की सुगन्ध डालने वाला कलारूप साधन है 'विनय'। सम्पूर्ण श्रेष्ठताओं को विकारी भाव देने का दोष अहंकार में है। जैसे दूध में डाली गई काचरी, हलवे में पड़ा हुआ जहर वस्तु को विषाक्त बनाकर उन्हें अखाद्य-अपेय बना देता है, उसी तरह मोक्षमार्ग में चरण बढ़ाने वाले ज्ञान, दर्शन, चारित्र के गुणों को भी अहंकार विषाक्त बना देता है। इसीलिए नीतिकार कहते हैं– नगर में प्रवेश करने के जैसे दरवाजे होते हैं, नदी-तालाब में उतरने के लिए जैसे घाट बनाये जाते हैं, जंगल में प्रवेश हेतु जैसे पगडण्डी होती है उसी तरह ज्ञान, दर्शन, चारित्र की योग्यता-पात्रता लाने के लिए विनय दरवाजा है, घाट है, पगडण्डी है। इसलिए अर्थ किया जाता है– **'विशेषेण नयति प्रापयति ज्ञानादिगुणमसौ विनयः।'**

अर्थात् जो जीवन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र के गुणों को विशेष रूप से खींचकर लाये, उसे विनय कहते हैं।

विनय का सामान्य, सरल, बोधात्मक अर्थ भी समाधान के रूप में कहा जा रहा है– **'विशिष्टो विविधो वा नयो नीतिर्वा विनयः।'** विविध प्रकार के या विशिष्ट नय अर्थात् नीति मार्ग को भी विनय कहते हैं। यह विनय किनका करना चाहिये? इस विनय के कौन अधिकारी हैं? इसके ज्ञान विनय,दर्शन विनय, चारित्र विनय और तप विनय के रूप में चार भेद किये जाते हैं। पाँच भेद रूप भी कथन किया जाता है। अनुवर्तन, प्रवर्तन, अनुशासन, सुश्रूषा और शिष्टाचार, ये विनय के पाँच भेद किये गये हैं।

एक विनयवाद है। तीर्थंकर प्रभु महावीर के समय में ३६३ वाद कहे जाते थे। उनमें एक वाद का नाम विनयवाद था। क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद– ये चार भेद अन्य मतों में किये गए हैं, जिनमें एक मत है 'विनयवाद'। उस मत में चाहे कोई ज्ञानी है, गुणी है, अवगुणी है, श्रेष्ठ है, हीन है, दीन है, निर्धन है, प्रत्येक प्राणी का विनय करना चाहिए। राजाधिराज को, महामंत्री को, शीलवान सज्जन पुरुषों को और श्रेष्ठिवर्यों को नमस्कार करने के साथ वहाँ कुत्ते-बिल्ली को भी नमस्कार किया गया है। उनके अनुसार जो भी आत्मा है, वह परमात्मा है। इस मत के अनुसार देवता, राजा, साधु, ज्ञाति, वृद्ध, अधम, माता तथा पिता को मन, वचन व काया से देशकालानुसार विनय किया जाता है। किन्तु यह विनय ज्ञानपूर्वक नहीं होता है।

विनय के सात भेद

विनय को लेकर प्रभु महावीर ने सात भेद किये हैं– ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, मन विनय, वचन विनय, काया विनय और लोकोपचार विनय।

विनय किनका करना चाहिए, इस संबंध को लेकर उन्होंने तीन सूत्र

रखे हैं—ज्ञानियों का, श्रद्धावानों का और चारित्र आत्माओं का विनय करो। इन तीनों का आदर, सम्मान और विनय करना आवश्यक बताया। विनय के तीन साधन हैं— मन, वचन और काया। उनके आधार पर मन विनय, वचन विनय एवं काया विनय नाम दिए गए। लोक-व्यवहार की दृष्टि से जो विनय किया जाता है वह लोकोपचार विनय है। यह शिष्टाचार अथवा दूसरों की इच्छा की पूर्ति के लिए भी किया जाता है।

संसार में प्रत्येक प्राणी विनय करते देखा जाता है, इसलिए विनय के भेद करते समय कहा गया— अर्थ विनय भी है, काम विनय भी है, भय विनय भी है। अर्थ की प्राप्ति हेतु एक पुत्र अपने पिता का, एक बहू अपनी सास का, एक नौकर अपने स्वामी का, एक सामान्य सा क्लर्क अपने अधिकारी का विनय करते देखा जाता है। यह विनय स्वार्थ से है। कामना के वशीभूत होकर भी व्यक्ति को विनय करते हुए देखा जाता है। गुण लेने हैं, कलाएँ सीखनी हैं, सामने वाले की सम्पदा को लेना है, ऐसी स्थिति में नम्रता एवं विनय करने वाला झुकता है,आदर सम्मान देता है। कभी भय से भी विनय किया जाता है। गलती हो गई, कुछ खो गया, नुकसान हो गया, ऐसी स्थिति में भय के मारे विनय करने वाले भी होते हैं। ये अर्थ, काम, भयादि विनय स्वार्थ के वशीभूत किए जाते हैं। यहाँ इस प्रकार के विनय का वर्णन नहीं किया जा रहा है। यहाँ जिस 'विनय' का वर्णन किया जा रहा है वह अहंकार को गलाने वाला है।

विनय : समस्त गुणों का मूल

अहंकार, माया आदि से रहित विनय धर्म का मूल है। वह विनय आभ्यन्तर तप है। प्रभु महावीर कह रहे हैं— मैं संयोगमुक्त भिक्षाजीवी अणगार का विनय गुण प्रकट करूँगा। इसलिए करूँगा कि यह विनय जिसके जीवन में है, उसके गुण विकसित होते हैं, शोभित होते हैं। इसलिए अन्यत्र भी कहा गया है—

> **नभोभूषा पूषा कमलवनभूषा मधुकरो,**
> **वचोभूषा सत्यं वरविभवभूषा वितरणं।**
> **मनोभूषा मैत्री मधुसमयभूषा मनसिजः,**
> **सदो भूषा सूक्तिः सकलगुणभूषा च विनयः।।**

विनय सभी गुणों का भूषण है। जैसे आकाश का भूषण सूर्य है, कमलवन का भूषण भ्रमर है, वाणी का भूषण सत्य है, वैभव का भूषण दान है, मन का भूषण मित्रता है, सज्जन का भूषण उसका सुभाषित वचन है, इसी तरह सब गुणों का भूषण विनय है।

शास्त्र का कथन है— विनयी मधुरभाषी। विनयशील व्यक्ति कुछ नहीं देकर भी प्रेम और विश्वास अर्जित कर लेता है और विशिष्ट पदार्थों को देकर भी विनयहीन व्यक्ति प्रेम तोड़ देता है। राबड़ी खिलाकर भी 'फूल और

फूल की पांखुड़ी ' के अलावा मुझ गरीब के पास क्या मिल सकता है, इस बात को कहकर विनयी प्रेम अर्जित कर लेता है और पाँच पकवान खिलाकर मन में अहंकार रखने वाला एक बात कह देता है कि– जीवन में कभी ऐसे पदार्थ कहीं सेवन किये हैं क्या? तो वह विद्वेष बांध लेता है। शास्त्रकार कह रहे हैं– व्यवहार जगत् में जो लोग स्वार्थ के वशीभूत होकर विनय करते हैं, मोक्ष मार्ग में उसका कथन नहीं किया जा रहा है। जिसके जीवन का यह अंतरंग गुण बना हुआ है, सहज बाहर और अन्तर का एक रूप रखकर जो प्रमोदभाव से सम्मान-सत्कार किया जा रहा है उस विनय का यहाँ वर्णन है और उसी विनय को धर्म का मूल कहा जा रहा है। दशवैकालिक सूत्र के नौवें अध्ययन में विनय को धर्म के मूल के रूप में कहा गया–

मूलाओ खंधप्पभवो दुम्मस्स, खंधाओ पच्छा समुवेंति साहा।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता, तओ सि पुप्फं च फलं रसो य।।
एवं धम्मस्स विणओ मूलं, परमो से मोक्खो।
जेण कित्तिं सुअं सिग्घं, णिस्सेसं चाभिगच्छइ।।दशवै.9.1.2।।

अर्थात् जैसे वृक्ष के मूल में शाखा-प्रशाखा पुष्प फल उत्पन्न होते हैं उसी तरह धर्म का मूल विनय है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुण शाखा-प्रशाखा-पुष्प के रूप में हैं और मोक्ष उसका फल कहा गया है। विनयायत्ताः गुणाः सर्वे...। जिनके जीवन में विनय है, वे सभी गुण प्राप्त कर सकते हैं। विनय अर्थात् काया से झुकना, वचन से मधुर बोलना और मन से सम्मान की भावना होना।

चार भंग

भगवंत (आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा.) इसे चार भागों में बांटते थे। कहीं काया का विनय है, मन का नहीं। कहीं मन में विनय है, काया में नहीं। कहीं मन और काया दोनों में विनय है, तो कहीं मन और काया दोनों में विनय नहीं है। प्राचीन परम्परा में कभी घर का कोई बड़ा बुजुर्ग घर में प्रवेश कर जाता तो आज की तरह जैसे नई वधू खुले मुँह, बिखरे बाल सामने आकर बोल जाती है, पहले ऐसा नहीं था। बुजुर्गों के प्रवेश करने के साथ बहू दुबक कर बैठ जाती, अंग–प्रत्यंग का संकोच कर लेती। क्रिया से वह बहू चरण नहीं छूती थी, पर मन में सम्मान की भावना थी।

एक बच्चा जो पाठशाला में अध्ययन कर रहा है, शिक्षक के आने पर क्रिया से खड़ा होता है, नमस्कार करता है, शब्दों में सम्मान करता है, पर उसके मन में विनय नहीं है। 'यह मास्टर पीटता बहुत है' मन की भावना है कि इसकी बदली शीघ्र हो जाय और यह चला जाय, बदली न हो तो पीरियड तो खत्म हो। बच्चा काया से तो झुक रहा है, पर मन से नहीं।

विनय का सर्वोत्कृष्ट रूप है तन, वचन और मन तीनों से विनय का होना। विनय के इस रूप से सम्पन्न व्यक्ति सद्गुणी को देखकर हाथ

जोड़ेगा, नमस्कार करेगा, पधारो करके उच्चारण भी करेगा एवं मन से भी आदर देगा। कुछ ऐसे उदाहरण हैं जिनके न तन में विनय है, न मन में। पुत्र है, शिष्य है, पर विपरीत आचरण करने वाला है।

शास्त्र कह रहा है– गृहस्थ को विनय करना पड़ता है, व्यवहार की गाड़ी चलाने के लिए। एक गृहस्थ के यहाँ दूसरा गृहस्थ जन्म, शादी और मृत्यु जैसे प्रसंगों में इसलिए जाता है कि 'मैं जाऊँगा तो वह भी आएगा। मैं नहीं गया तो वह भी नहीं आएगा।' परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से जो स्वावलम्बी है, कार्य करने न करने की जिसे स्वतन्त्रता है, किसी के अनुशासन की जिसे आवश्यकता नहीं, ऐसे व्यक्ति विनय क्यों करें?

शास्त्र कह रहा है– यदि श्रुतज्ञान पाना चाहते हो, जीवन में सुख एवं शांति पाना चाहते हो तो विनय का आचरण करो।

विशेषता जीवन चलाने में नहीं, जीवन का निर्माण करने में है। अज्ञान रूप अंधकार को हटाकर नीति और धर्म के माध्यम से जीव का निर्माण कर आत्मोन्मुखी बनना हर व्यक्ति के वश की बात नहीं है। सूत्रों का पठन-पाठन और आगमिक-ज्ञान जीवन चलाने के लिए नहीं, अपितु जीवन निर्माण के लिए उपयोगी है।

विनय से जीवन निर्माण

वाणी वह जो जीवन का निर्माण करे, जिसमें कोमलता, मधुरता, विनम्रता हो, जो ईर्ष्या-द्वेष की दीवारों को तोड़े और स्नेह-प्रेम की धारा प्रवाहित करे। वाणी एक दूसरे के ज्ञान में सहायक बन सकती है, मुक्ति से जोड़ सकती है। वाणी में, व्यवहार में विनय धर्म आवश्यक है, अन्यथा सड़े कान वाली कुतिया की भांति जहां भी जाएंगे, दुत्कारे जाएंगे-निकाल दिए जाएंगे।

उत्तराध्ययन सूत्र में प्रभु ने विनय धर्म को जीवन निर्माण का, आत्म विकास का सूत्र बताया है। विनय धर्म का संदेश उस दिव्यात्मा के समय में जितना उपयोगी था, आज के प्रति भौतिकवादी युग में उसकी उपयोगिता और भी अधिक है। आज विश्व भर में अनुशासनहीनता, अशांति, उच्छृंखलता, अनैतिकता और चारित्रिक कमियाँ बढ़ गई हैं। इन्हें दूर करना है तो महावीर की वाणी को, उनके सूत्रों को जीवन में उतारना होगा। अन्यथा वही होगा जो प्रभु ने उत्तराध्ययन सूत्र के पहले अध्याय की चौथी गाथा में फरमाया है–

जहा सुणी पूईकण्णी, णिक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरी णिक्कसिज्जइ।।

गाथा में सड़े कान वाली कुतिया से दुष्ट स्वभाव वाले, दुर्विनीत, दुराचारी व्यक्ति की तुलना करते हुए कहा गया है कि जैसे सड़े कानवाली कुतिया को, कान में पीप-रस्सी पड़ जाने या कीड़े पड़ जाने के कारण सभी

फूल की पांखुड़ी ' के अलावा मुझ गरीब के पास क्या मिल सकता है, इस बात को कहकर विनयी प्रेम अर्जित कर लेता है और पाँच पकवान खिलाकर मन में अहंकार रखने वाला एक बात कह देता है कि— जीवन में कभी ऐसे पदार्थ कहीं सेवन किये हैं क्या? तो वह विद्वेष बांध लेता है। शास्त्रकार कह रहे हैं— व्यवहार जगत् में जो लोग स्वार्थ के वशीभूत होकर विनय करते हैं, मोक्ष मार्ग में उसका कथन नहीं किया जा रहा है। जिसके जीवन का यह अंतरंग गुण बना हुआ है, सहज बाहर और अन्तर का एक रूप रखकर जो प्रमोदभाव से सम्मान-सत्कार किया जा रहा है उस विनय का यहाँ वर्णन है और उसी विनय को धर्म का मूल कहा जा रहा है। दशवैकालिक सूत्र के नौवें अध्ययन में विनय को धर्म के मूल के रूप में कहा गया—

> **मूलाओ खंधप्पभवो दुम्मस्स, खंधाओ पच्छा समुवेंति साहा।**
> **साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता, तओ सि पुप्फं च फलं रसो य।।**
> **एवं धम्मस्स विणओ मूलं, परमो से मोक्खो।**
> **जेण कित्तिं सुअं सिग्घं, णिस्सेसं चाभिगच्छइ।।दशवै.9.1.2।।**

अर्थात् जैसे वृक्ष के मूल में शाखा-प्रशाखा पुष्प फल उत्पन्न होते हैं उसी तरह धर्म का मूल विनय है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुण शाखा-प्रशाखा-पुष्प के रूप में हैं और मोक्ष उसका फल कहा गया है। विनयायत्ता: गुणा: सर्वे...। जिनके जीवन में विनय है, वे सभी गुण प्राप्त कर सकते हैं। विनय अर्थात् काया से झुकना, वचन से मधुर बोलना और मन से सम्मान की भावना होना।

चार भंग

भगवंत (आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा.) इसे चार भागों में बांटते थे। कहीं काया का विनय है, मन का नहीं। कहीं मन में विनय है, काया में नहीं। कहीं मन और काया दोनों में विनय है, तो कहीं मन और काया दोनों में विनय नहीं है। प्राचीन परम्परा में कभी घर का कोई बड़ा बुजुर्ग घर में प्रवेश कर जाता तो आज की तरह जैसे नई वधू खुले मुँह, बिखरे बाल सामने आकर बोल जाती है, पहले ऐसा नहीं था। बुजुर्गों के प्रवेश करने के साथ बहू दुबक कर बैठ जाती, अंग—प्रत्यंग का संकोच कर लेती। क्रिया से वह बहू चरण नहीं छूती थी, पर मन में सम्मान की भावना थी।

एक बच्चा जो पाठशाला में अध्ययन कर रहा है, शिक्षक के आने पर क्रिया से खड़ा होता है, नमस्कार करता है, शब्दों में सम्मान करता है, पर उसके मन में विनय नहीं है। 'यह मास्टर पीटता बहुत है' मन की भावना है कि इसकी बदली शीघ्र हो जाय और यह चला जाय, बदली न हो तो पीरियड तो खत्म हो। बच्चा काया से तो झुक रहा है, पर मन से नहीं।

विनय का सर्वोत्कृष्ट रूप है तन, वचन और मन तीनों से विनय का होना। विनय के इस रूप से सम्पन्न व्यक्ति सद्गुणी को देखकर हाथ

जोड़ेगा, नमस्कार करेगा, पधारो करके उच्चारण भी करेगा एवं मन से भी आदर देगा। कुछ ऐसे उदाहरण हैं जिनके न तन में विनय है, न मन में। पुत्र है, शिष्य है, पर विपरीत आचरण करने वाला है।

शास्त्र कह रहा है— गृहस्थ को विनय करना पड़ता है, व्यवहार की गाड़ी चलाने के लिए। एक गृहस्थ के यहाँ दूसरा गृहस्थ जन्म, शादी और मृत्यु जैसे प्रसंगों में इसलिए जाता है कि 'मैं जाऊँगा तो वह भी आएगा। मैं नहीं गया तो वह भी नहीं आएगा।' परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से जो स्वावलम्बी है, कार्य करने न करने की जिसे स्वतन्त्रता है, किसी के अनुशासन की जिसे आवश्यकता नहीं, ऐसे व्यक्ति विनय क्यों करें?

शास्त्र कह रहा है— यदि श्रुतज्ञान पाना चाहते हो, जीवन में सुख एवं शांति पाना चाहते हो तो विनय का आचरण करो।

विशेषता जीवन चलाने में नहीं, जीवन का निर्माण करने में है। अज्ञान रूप अंधकार को हटाकर नीति और धर्म के माध्यम से जीव का निर्माण कर आत्मोन्मुखी बनना हर व्यक्ति के वश की बात नहीं है। सूत्रों का पठन-पाठन और आगमिक-ज्ञान जीवन चलाने के लिए नहीं, अपितु जीवन निर्माण के लिए उपयोगी है।

विनय से जीवन निर्माण

वाणी वह जो जीवन का निर्माण करे, जिसमें कोमलता, मधुरता, विनम्रता हो, जो ईर्ष्या-द्वेष की दीवारों को तोड़े और स्नेह-प्रेम की धारा प्रवाहित करे। वाणी एक दूसरे के ज्ञान में सहायक बन सकती है, मुक्ति से जोड़ सकती है। वाणी में, व्यवहार में विनय धर्म आवश्यक है, अन्यथा सड़े कान वाली कुतिया की भांति जहां भी जाएंगे, दुत्कारे जाएंगे-निकाल दिए जाएंगे।

उत्तराध्ययन सूत्र में प्रभु ने विनय धर्म को जीवन निर्माण का, आत्म विकास का सूत्र बताया है। विनय धर्म का संदेश उस दिव्यात्मा के समय में जितना उपयोगी था, आज के प्रति भौतिकवादी युग में उसकी उपयोगिता और भी अधिक है। आज विश्व भर में अनुशासनहीनता, अशांति, उच्छृंखलता, अनैतिकता और चारित्रिक कमियाँ बढ़ गई हैं। इन्हें दूर करना है तो महावीर की वाणी को, उनके सूत्रों को जीवन में उतारना होगा। अन्यथा वही होगा जो प्रभु ने उत्तराध्ययन सूत्र के पहले अध्याय की चौथी गाथा में फरमाया है—

> **जहा सुणी पूईकण्णी, णिक्कसिज्जइ सव्वसो।**
> **एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरी णिक्कसिज्जइ।।**

गाथा में सड़े कान वाली कुतिया से दुष्ट स्वभाव वाले, दुर्विनीत, दुराचारी व्यक्ति की तुलना करते हुए कहा गया है कि जैसे सड़े कानवाली कुतिया को, कान में पीप-रस्सी पड़ जाने या कीड़े पड़ जाने के कारण सभी

जगह से निकाल दिया जाता है, दुत्कार कर भगा दिया जाता है, ठीक वैसे ही जो व्यक्ति दुराचारी हैं, प्रत्यनीक (कृतघ्न) हैं, मुखरी (वाचाल) हैं– उन्हें भी सभी स्थानों से निकाल दिया जाता है।

दुर्विनीत का पहला अवगुण : दुःशीलता

दुर्विनीत व्यक्ति के इस गाथा में तीन अवगुण या लक्षण बताए गए हैं। पहला अवगुण है उसका दुश्शील होना, दुराचारी होना, सदाचार-रहित होना। शील जीवन का शृंगार है,समाज में प्रतिष्ठा दिलाने वाला है, जीवन को ऊँचा उठाने वाला है। अविनीत व्यक्ति सदाचार और शील के महत्त्व को जानते बूझते हुए भी अवगुण-आराधक बन कर दुराचार व दुःशील में प्रवृत्त होता है।

दुराचारी व्यक्ति 'शील' को समझ कर भी विपरीत आचरण में खुश होता हुआ निरन्तर अधःपतन को प्राप्त होता है। अहिंसा,सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि गुणों के महत्त्व को जान कर भी हिंसा आदि में अपने-आपको झौंक देता है। उसे बताया जाता है कि हिंसा अवगुण है, अहिंसा सद्गुण है। झूठ प्रतीति को घटाने वाला है, सत्य विश्वास को बढ़ाने वाला है। चोरी अस्थिरता देती है, पर अचौर्य स्थिरता प्रदान करता है। मैथुन जीवन-विनाश का क्षण है तो ब्रह्मचर्य जीवन-विकास का कारण। परिग्रह असंतोष व अशांति दाता है, जबकि अपरिग्रह से संतोष, शांति व सुख मिलता है। शीलवान् ही संसार में शोभा पाते हैं, दुश्शील व्यक्ति अपयश व निन्दा के भागी होते हैं। दुराचार समस्त पद-प्रतिष्ठा को धूल में मिलाने वाला होता है। हजारों-लाखों व्यक्ति इन हितोपदेशों को, जीवन निर्माणकारी सूत्रों को सुनते हैं, पर अज्ञानी जीव शीलरूप सदाचरण का त्याग कर कुशीलसेवन में निरत हो जाते हैं।

दूसरा अवगुण : कृतघ्नता

दुर्विनीत का दूसरा लक्षण बताया है प्रत्यनीकता अर्थात् विरोधी आचरण रूप कृतघ्नता। दो तरह के व्यक्ति होते हैं एक कृतज्ञ और दूसरे कृतघ्न। कृतज्ञ का अर्थ है कृत अर्थात् किए गए को 'ज्ञ' अर्थात् जानने-मानने वाला। कृतघ्न इसके ठीक विपरीत होता है, अर्थात् वह अपने प्रति किए गए उपकारादि को भुला देता है, उसकी स्मृति तक को मिटा देता है, याद दिलाओ तो विपरीत भाषण, आचरण करता है।

दूसरों के किए गए उपकार पर पानी फिरा देने वाले कृतघ्न व्यक्ति कहीं टिकते नहीं। कोई उनको आदर नहीं देता। सभी उनसे दूर रहना, उनको दूर रखना पसन्द करते हैं। वे घर से निकाल दिए जाते हैं और जन-जन से तिरस्कृत होते हैं। आज के युग में कृतज्ञ कम हैं और कृतघ्न व्यक्तियों की भरमार है। परिवार से ही चलिए। परिवार में माँ का दर्जा सर्वश्रेष्ठ माना जाता

है, पर उसी माँ से संबंध तोड़ने में पुत्र को तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होती।

आप श्रावकों में ही नहीं, यहाँ हम श्रमणों की श्रेणी में भी इस तरह के कृतघ्न हो सकते हैं। सं. २०२० में अजमेर में साधु-सम्मेलन का आयोजन हुआ। अनेकानेक श्रमण संघ पदाधिकारी पधारे, अन्य विद्वान-ज्ञानी श्रमण भी पधारे। आचार्य भगवंत के साथ मैं भी वहाँ था। एक बार एक संत से वार्ता का अवसर आया। उन महानुभाव ने अपने गुरु भगवंत का साथ छोड़ दिया था। मैंने उनसे पूछा— "तुमने अपने गुरुजी का साथ क्यों छोड़ दिया? जब तुम दीक्षा लेने आए तब श्रमण-धर्म का, आगम-ज्ञान 'अ' 'ब' भी नहीं जानते थे, तुम्हारे गुरुदेव ने न जाने कितनी मेहनत कर तुमको सिखाया, पढ़ाया और तैयार किया। तुम्हें योग्य बनाने के लिए उन्होंने अपनी साधना, अपना स्वाध्याय, अपना ज्ञान-ध्यान छोड़कर समय निकाला, ऐसे उपकारी गुरु से तुम अलग कैसे हो गए?"

जानते हैं आप, क्या जवाब दिया उस श्रमण ने? उसने कहा—"म्हारा गुरुजी यूं तो सगला काम म्हारे वास्ते करिया पण म्हारा सूं बखाण नी दिरावता, इण वास्ते आगो वेगो। आवे जिणां सूं एहीज बोले, म्हनें तो बोलणादे कोनी, जरे पछे कांई फायदो?" ऐसे अन्य बीसियों दृष्टान्त हमें अपने आस-पास के समाज में मिलेंगे।

तीसरा अवगुण : मुखरी वचन

दुर्विनीत का तीसरा लक्षण बताया है— मुखरी अर्थात् वाचाल। "मुखरी" शब्द के तीन अर्थ लिए जाते हैं। एक बिना मतलब बोलने वाला, दूसरा जिनका मुख शत्रु है अर्थात् जिन्हें ढंग से बोलना नहीं आता। मारवाड़ी में कहूँ तो- - "बाई केवता रांड आवे।" तीसरा— जिन्हें सीधी बात कहने की आदत नहीं, जो हर बात में आड़ा—टेढ़ा ही बोलते हैं। बिना मतलब बोलने वाले कभी चुप नहीं बैठते। जैसे रेडियो का बटन ऑन करने पर रेडियो बोलने लगता है वैसे ही इन लोगों से कुछ पूछ लो, थोड़ा छेड़ लो फिर ये बोलते ही चले जाते हैं। स्थिति ऐसी आती है कि सुनने वालों को इन्हें हाथ जोड़कर वहाँ से उठना पड़ता है। लोग उन्हें देखकर अपना रास्ता तक बदल देते हैं, उनसे बचने के लिए।

मुखरी (मुख+ अरी) प्रकृति की एक तपस्वी बाई ने तपाराधन किया। आप उसकी साता पूछने चले गए। अपनी प्रकृति के अनुसार वह कहेगी— 'अब आया हो म्हारी साता पूछण ने, तपस्या पूरी हूगी अबे तो काले म्हारे पारणो है।' पूछने आए थे साता, पाँच बात सुननी पड़ी।

किसी ने भण्डारी सा से पूछा— "कीकर भण्डारी सा, बैठा हो!"

फटाक से जवाब मिल जाएगा— "सुहावे कोनी तो गुड़ाय दे भाई।"

और यदि बिना उनको बतलाए आगे निकल गए तो भी सुनना तो

पड़ेगा ही काल रा जाया—जनमिया, थोड़ी पढाई कई कर लीवी, ऐडी अकड़ाई। देखो तो राम-राम करणां सू ही गया।'' ऐसे व्यक्ति हर बात में लड़ने को तत्पर रहते हैं। ऐसे अनेक अविनीत-दुर्विनीत कदम-कदम पर यहाँ मिल जाएंगे।

बन्धुओं! दुर्गुणों को छोड़ो। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि आत्मगुणों के साधन विनय से प्रीति करो। विनय तप है, विनय धर्म है, विनय ही जीवन निर्माण की कला है। विनयवान बनो, धर्म की आराधना करो, तप की साधना करो तभी सुख, शांति व आनन्द की प्राप्ति हो सकेगी।

विनय सर्वत्र आवश्यक

विनय का व्यवहार श्रमण और श्रावक सभी के लिए आवश्यक है। घर, परिवार, मुहल्ले, समाज सर्वत्र ही विनय जरूरी है। कई व्यक्ति आते हैं जो अनुभव सुनाते हैं कि जिनको आप लोगों ने अध्यक्ष बनाया है, मंत्री बनाया है— वे जब कार्यकारिणी आदि की बैठकें बुलाते हैं तो जो कुछ और जैसा कुछ वहाँ होता है, सुनकर अचम्भित रह जाते हैं। सोचता हूँ यह ओसवालों की, जैन समाज की मीटिंग है या और कुछ।

संस्कार निर्माण और विनय

विनय जितना भूतकाल में आवश्यक था, उससे भी अधिक उसकी वर्तमान में आवश्यकता है। पहले तो पूर्वजों से, बड़े—बूढ़ों से घर में, गुरुजनों से शाला में संस्कार मिल जाते थे पर आज....?

आज समाज शनैः शनैः संस्कारहीन बनता जा रहा है। शिशु थोड़ा सा बड़ा हुआ और ढाई तीन वर्ष की उम्र में ही उसे स्कूल भेज दिया जाता है। बहनें खुश कि चलो झंझट मिटी, तीन-चार घण्टे तो आराम से बीतेंगे। आप लोग भी खुश कि बच्चा स्कूल जा रहा है, पढ़ रहा है, सीख रहा है। जिस उम्र में बच्चे की मां की गोद में स्नेह-ममता प्राप्त होनी चाहिए, पिता की छत्र-छाया, प्यार-दुलार संस्कार मिलना चाहिए, आज उस बच्चे को स्कूल भेजकर भारी-बोझ से दबा दिया जाता है। भारभूत बना वह ऐसी शिक्षा प्राप्त कर रहा है, जो उसके जीवन में शायद ही काम आए। संस्कार निर्माण का तो वहाँ प्रश्न ही कहाँ है? अब सोचिए बच्चों में संस्कार कहां से आएंगे, कहाँ से सीखेगा जीवन-निर्माण की कला वह बच्चा? क्या यही बच्चे की समुचित व्यवस्था है?

विनय-शिष्टाचार

उत्तराध्ययन सूत्र में शिष्टाचार रूप विनय का वर्णन करते हुए प्रभु महावीर ने बताया है कि विनयशील साधक को अपने गुरु के समक्ष कैसे बैठना चाहिए? सूत्र का कथन जितना श्रमण जीवन के लिए उपयोगी है, उतना ही आप श्रावकों के जीवन के लिए भी हितकर है। कहा है—

न पक्खओ न पुरओ नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न जुंजे उरुणा उरुं, सयणे नो पडिस्सुणे।। उत्तरा. 1.18।।
गुरुजन के आगे-पीछे, ना बाजू में अड़कर बैठें।
ना शय्या पर से उत्तर दें, ना जांघ सटा कर ही बैठें।।

अर्थात् शिष्य को चाहिए कि वह गुरु से कन्धा भिड़ाकर नहीं बैठे, उनके आगे नहीं बैठे, उनके पीछे अविनीतता से नहीं बैठे। इतना निकट भी नहीं बैठे कि उसके घुटने से गुरु का घुटना स्पर्श हो जाय। शय्या पर लेटे हुए उत्तर नहीं दे।

यह गुरु शिष्य की बात है। शिष्य गुरु से ज्ञान सीखता है। ज्ञान मिलता है विनयवान शिष्य को। अनेक बातें हैं विनय की। ज्ञान प्राप्त करते समय गुरु के सामने सीने पर हाथ बांध कर नहीं बैठे, पैर पर पैर रखकर नहीं बैठे। यह अभिमानसूचक मुद्रा है, अंग से अंग स्पर्श करके नहीं बैठे– यह अविनय है। मुनि ब्रह्मचारी है, उसने तीन करण, तीन योग से ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर रखा है। ब्रह्मचारियों को अपने अंग का कोई हिस्सा दूसरे के अंग से भिड़ा कर वैसे भी नहीं बैठना चाहिए।

विनय के साथ बैठना शिष्टाचार है। बैठना ऐसा भी होता है, जिससे विकार वृद्धि हो। बैठने का एक ढंग ऐसा भी हो सकता है जिससे राग बढ़े। बैठने का ढंग कभी-कभी शरीर की चंचलता को बढ़ाने वाला भी हो सकता है। बैठने का ढंग व्रत-नियम, चारित्र से गिराने वाला भी बन सकता है। भगवान भी कहते हैं–

णेव पल्हत्थियं कुज्जा, पक्खपिंड च संजए।
पाए पसारिए वावि, ण चिट्ठे गुरूणंतिए।। उत्तरा. 1.19।।
बैठे नहीं बांधकर पलथी, पक्षपिण्ड से भी न कहीं।
गुरुजन के सम्मुख अविनय से, मुनि पाद-प्रसारण करे नहीं।।

जहाँ गुरुजन या बड़े लोग विराजमान हों तो उनके सम्मुख पांव पर पांव चढाकर नहीं बैठें, घुटने छाती के लगाकर नहीं बैठें, पांव पसार कर नहीं बैठें।

प्रश्न कैसे करें गुरु से ?

गुरुजनों से या अपनों से बड़े हों उनसे कभी कुछ प्रश्न पूछने का प्रसंग उपस्थित हो तो अपने आसन पर बैठे-बैठे ही प्रश्न नहीं करें। शिक्षा और उपदेश का उद्देश्य होता है, संस्कार धारण करना। जिज्ञासु शिष्य को प्रश्न करना है तो गुरु के समीप जाकर खड़े होकर विनयपूर्वक प्रश्न करे।

जीवन में जितना विनय होगा, ज्ञान देने वाला गुरु का मन उतना ही ज्ञान-दान के लिए उमड़ेगा। गलियार घोड़े और जातिवान् अश्व में अन्तर होता है। वही स्थिति ज्ञानार्जन करने वाले ज्ञानेच्छुओं की है। प्रवचन के समय कोई आगे आकर तो बैठ जाएगा, पर गर्दन झुकाकर नींद लेने लगेगा। यदि

ऐसा हो तो ज्ञान वाले, सुनाने वाले, उद्बोधन देने वाले के दिल पर क्या बीतेगी? उसका उत्साह मुरझा जायेगा। उसका मन तो तभी उत्साहित होगा जबकि आपको सुनने की सजग जिज्ञासा हो।

शास्त्रकार कहते हैं—"जो विनय बाहर में है, उसे आचरण में लाने की भावना होनी चाहिए।" यहाँ कई लोग ऐसे भी हैं जो हम संतों की परीक्षा लेने की भावना से आते हैं। महाराज हमारे शहर में पधारे हैं, चलो देखा जाए कि वे कैसा प्रवचन करते हैं, क्या कहते हैं, किस ढंग से समझाते हैं? यह धर्मस्थान है, कोई परीक्षा का स्थान नहीं है। यहाँ सैंकड़ों अच्छी बातें सुनने, समझने को मिलेंगी। आप को जो भी अच्छी लगे, जीवन में ग्रहण कर लीजिए यह विनय है, यही शिष्टाचार है।

अनुशासन रूप विनय

अनुशासन ही विनय है। गुरुदेव ने पुकारा— भाई कहाँ हो? शिष्य ने, आपके जोधपुर की भाषा में जैसा कहते हैं, कहा— आयोसा। गुरु पुकारते रहे और शिष्य— "आयोसा, आयोसा" कहता रहा। सुनना और सुने का अनसुना करना, यह आज्ञा का उल्लंघन है, अनुशासनहीनता है, अविनय है। समय का उल्लंघन करने वाला, समय को टालकर काम करने वाला भी शास्त्रों की दृष्टि में विनय नहीं कहलाता। गुरुवर को प्यास अभी लगी है और शिष्य जी कहें कि दस गाथा पूरी करके आऊं। दवा की जरूरत अभी है और वह बाद में दी जाए तो....! धर्म की आराधना की जरूरत आज है और आज नहीं कर पाए तो कल किसने देखा है? एक पल की भी किसे खबर है? पता नहीं आने वाले क्षण में स्थिति क्या होगी?

कृतघ्नता त्यागें

अनुशासनहीनता का एक रूप है— कृतघ्नता । नीतिकार कहते हैं— "बुराइयों का मूल कारण मनुष्य की कृतघ्नता है।"

शास्त्र कह रहा है— मानव! विनय धर्म का मूल है। यदि तेरे जीवन में शिष्टाचार, अनुशासन, कृतज्ञता आदि विनय रूप गुण नहीं आए तो कितना ही पद-सम्मान प्राप्त कर ले, तेरी गति सुधरने वाली नहीं है। आपने पचासों दृष्टांत देखे-सुने-भोगे हैं और घर-गृहस्थी छोड़ने के बाद हम भी सुनते हैं। एक मामूली सी बात को लेकर सन्तान माता-पिता से बोलना बंद कर देती है। उन्हें दुःख पहुँचाने की बातें भी कानों में आती हैं। लड़कों के पास लाखों की माया है, पर माता-पिता के नसीब में दो समय का पूरा खाना भी नहीं है।

सुणिया भावं साणस्स, सूयरस्स नरस्स य।
विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो ।। उत्तरा.1.6 ।।
कुत्ती सूअर नर-दुर्गति सुन, विज्ञ विचारो निज मन में।
अपने हित की इच्छा हो तो, तुम धरो विनय इस जीवन में।।

"सड़े कान वाली कुतिया तथा चावल को छोड़कर भिष्टा खाने वाले शूकर की तरह अविनीत व्यक्ति सर्वत्र दुत्कारा जाता है, तिरस्कृत होता है, ऐसा दुष्परिणाम जानकर अपनी आत्मा का हित चाहने वाला अपने आप को विनय में स्थित करे।" इसके विपरीत कुछ लोग हस्ती स्नान की तरह पहले जल में नहाकर शरीर स्वच्छ करते हैं और उसके बाद अपने पर रेत डाल लेते हैं अर्थात् पहले तो धर्माचरण कर आत्मशुद्धि की ओर बढ़ते हैं पर बाद में....! ऐसे सैंकड़ों दृष्टान्त हो सकते हैं।

विनय से सुख, शांति और आनन्द

आप जप कर लें, तप कर लें, व्रत कर लें, पर यदि आप में कृतज्ञता नहीं, विनय नहीं तो सारे जप-तप व्यर्थ हैं। भगवन्त (पूज्य गुरुदेव स्व. आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा.) फरमाते थे कि बारह महीने तक लड़का हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू सीखता है पर परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाता है....! कारण यही है कि वह गुरु, माता-पिता का अहसान नहीं मानता। आप अपने माता-पिता और सम्माननीय गुरुजनों को, सज्जनों को पीड़ा देते हैं तो आपका तप-त्याग, शिक्षा-दीक्षा कोई काम की नहीं। आप जप-तप करने के साथ विनयी बनिये, कृतज्ञ बनिये, उपकारी के उपकार को ब्याज सहित चुकाना सीखिए। इससे आपको शान्ति मिलेगी, आप आगे बढ़ सकेंगे और आपका जीवनदर्शन भावी पीढ़ी को रोशन कर सकेगा। आप विनय धर्म को स्वीकार कर चलेंगे तो जीवन में सुख, शांति व आनन्द प्राप्त कर सकेंगे।

भगवान ने दु:खों के निवारण, समस्याओं के समाधान और सुख-प्राप्ति का मन्त्र देते हुए कहा है—

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य।। उत्तरा. 1.15।।
आत्मा को वश में है करना, कारण आत्मा ही दुर्दम है।
इस भव परभव में सुख पाता, जो दान्त आत्मा सक्षम है।।

सुख प्राप्ति एवं दु:खों के नाश के लिए अपना दमन करो, स्व को वश में करो, अपनी आत्मा को नियन्त्रित एवं अनुशासित करो। अपनी आत्मा का, अपने अहं का दमन करना ही दुष्कर है। जो प्राणी जितेन्द्रिय बन दान्त बन जाता है, वह दान्त आत्मा ही इस लोक व परलोक में सुखी बनता है।

दु:खों का कारण 'अहंभाव'

दु:खों का एकमात्र कारण है अपने आप पर नियन्त्रण नहीं रखना। जिसने अपनी आत्म-शक्ति पर, स्व-सामर्थ्य पर, अन्तर्निहित कोष पर नियन्त्रण नहीं रखा, वह स्वयं तो दु:खी बनता ही है, साथ ही उसने अपने परिवार, समाज और विश्व तक को भी दु:खी किया है। विश्व की जितनी भी समस्याएँ आपके समक्ष हैं, उन सबका मूल कारण है— प्राणी का

'अहंभाव'। अपने नाम, यश, कीर्ति के लिए प्राणी अपना भान खो देता है और 'अहं' में भर कर स्वयं समस्या बन जाता है।

अगर व्यक्ति अपने आपको इस समाज का,इस राष्ट्र का और समस्त जनता का एक पुर्जा मानकर, एक अंग समझकर चले तो कोई समस्या ही नहीं रहेगी। ऐसे व्यक्ति का हर कदम, हर कार्य, प्रत्येक वचन नपा-तुला, आत्म-चिन्तन से जुडा तथा परहित चिन्तन से युक्त होगा। मुझे कितना चलना है, कैसी हरकत करनी है, कितनी गति और प्रगति करनी है— इन सब बातों का सोच अर्थात् अपना स्वयं का आकलन समाज के सामने रखकर करना ही समस्याओं का सही निदान है। जब प्राणी का चिन्तन इस दिशा में बढ़ेगा और जीवन-शैली इसी विचार में चलेगी तो समाज में प्रदर्शन की भावना समाप्त हो जाएगी। न बाह्य आडम्बर रहेंगे और न परेशानियाँ पैदा होंगी।

आपके भीतर में जो भी बुराइयाँ हैं, अहंकार का भाव है, माया-लोभ, क्रोध-मान है उसे आप खुद ही दूर करें, इससे बढ़कर और कोई अच्छा रास्ता नहीं है। जो विनय करेगा, अनुशासन में रहेगा वह सुख, शांति और आनन्द का भागी होगा।

दशवैकालिक सूत्र

डॉ. यशोधरा वाधवाणी शाह

आचार्य शय्यंभवसूरि द्वारा अपने नवदीक्षित अल्पायुष्क लघुशिष्य के लिए दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहण किया गया था। दशवैकालिक के दश अध्ययनों में श्रमणाचार की आवश्यक जानने योग्य बातों का सुन्दर संयोजन है। दशवैकालिक के महत्त्व का आकलन इसी से किया जा सकता है कि अब साध्वाचार में दीक्षित करते समय आचारांग के स्थान पर दशवैकालिक सूत्र के पाठ का उपयोग किया जाता है तथा नवदीक्षित श्रमण-श्रमणी को प्रतिक्रमण आदि के पश्चात् सर्वप्रथम दशवैकालिक पढाया/स्मरण कराया जाता है। डेक्कन कॉलेज, पुणे की विदुषी डॉ. यशोधरा जी ने इस सूत्र पर समीक्षात्मक लेख प्रस्तुत किया है।**–सम्पादक**

दसवेयालिय– (या क्वचित् दसकालिय) सुत्त इस प्राकृत नाम से प्रसिद्ध इस जैन आगम का कर्ता सिजंभव या सेज्जंभव सूरि को बताया जाता है और इसे अनंगश्रुत का भाग माना जाता है।

दिगंबर परंपरा के अनुसार, भगवान महावीर की कैवल्यप्राप्ति के बाद तीन अनुबद्धकेवली और पाँच श्रुतकेवली हुए हैं, जिनमें से अंतिम श्रुतकेवली थे आचार्य भद्रबाहु, जिन तक १२ अंगों वाला अंगश्रुत आगम अपने मूल रूप में जारी रहा था। तत्पश्चात् उत्तरोत्तर धारणाशक्ति क्षीण होती जाने से तथा पुस्तकारूढ करने की परिपाटी अभी रूढ न होने से अंगश्रुत क्रमशः विलुप्त होता गया। परंतु परंपरा को अविछिन्न बनाए रखने हेतु बाद के मुनियों ने/गणधरों ने ग्रंथरचना जारी रखी, जो **अनंगश्रुत** कहलाई। इसके 'सामायिक' आदि चौदह भेदों में से दो नाम ही पहले संस्कृत सूत्रग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र पर रची गई अपनी सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्ति में आचार्य पूज्यपाद ने निर्दिष्ट किए हैं और वे हैं उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक।

संभवतः यह केवल संयोग की बात न होगी कि दिगंबर परंपरा के चौदह अनंगश्रुत ग्रंथों में से उपर्युक्त दो ही हैं जो श्वेताम्बरों के 'अंगबाह्य' श्रुत में भी महत्त्व का स्थान रखते हैं। ई. सन् ५०३ के आसपास रचे गए नन्दीसूत्र में प्राप्त वर्गीकरण के अनुसार अंगबाह्य श्वेताम्बर श्रुतग्रंथों में एक प्रकार था 'आवश्यक' और दूसरा 'तद्व्यतिरिक्त'। उस दूसरे के उपप्रकार थे कालिक (यानी कालविशेष में पढ़ने योग्य) एवं उत्कालिक(दिन या रात के किसी भी प्रहर में स्वाध्याय योग्य) तथा इनमें सर्वप्रथम उल्लेख था दशवैकालिक का। किन्तु आगे चलकर आगमों का वर्गीकरण कुछ बदल गया और प्रस्तुत ग्रंथ (दशवैकालिक सूत्र) को चार मूलसूत्रों के बीच तीसरा स्थान मिला।

'मूलसूत्र' यह नाम सर्वप्रथम आवश्यक चूर्णि ने प्रयुक्त किया था, उस ग्रंथ के लिए, जिसकी वह एक टीका थी। बाद में भगवान महावीर के

उत्तरगुणा:.....(प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५५२) और यद्यपि शय्यंभव सूरि ने इसे अपने पुत्र के लिए ग्रथित किया था, तथापि महाराज श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार को दीक्षा देकर बोलने–चलने–भिक्षा मांगने आदि के विषय में जैसा उपदेश भगवान महावीर ने दिया था (ज्ञाताधर्मकथा १.३०), उसी प्रकार का आचार-विनय का उद्बोधन यहां प्रशस्त शैली में देखकर महासंघ ने इसे नवदीक्षितों के लिए विशेष उपयोगी माना। अत: आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के बाद तुरंत उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन की प्राचीन परंपरा को बदलकर, बीच में दशवैकालिक सूत्र के अनुशीलन का विधान किया गया। दिगंबर परम्परा ने भी इसे 'साधु के आचार-गोचर की विधि का वर्णन' करने वाले ग्रंथ के रूप में मान्य किया, और यापनीय संप्रदाय के अपराजित सूरि (वि. की ८ वीं शती) ने भी इस पर विजयोदया नामक टीका लिखकर अपनी मान्यता जताई थी। वैसे, इस पर एक अज्ञातकर्ता द्वारा भाष्य लिखे जाने के निर्देश भी हरिभद्र की संस्कृत टीका में अनेक बार मिलते हैं, परन्तु स्थविर अगस्त्यसिंह या जिनदास महत्तर की (वि. की छठी व सातवीं शती की) चूर्णियों में, न जाने क्यों, उसका उल्लेख नहीं हुआ।

इनके अतिरिक्त वि. की १३ वीं से १७वीं शती के दरम्यान दशवैकालिक सूत्र पर संस्कृत में तिलकाचार्य ने भी एक 'टीका' लिखी, तो माणिक्यशेखर ने **निर्युक्ति दीपिका**, समयसुदर गणि ने **दीपिका**, विनयहंस ने **वृत्ति** और रामचन्द्रसूरि ने **वार्त्तिक** लिखा। वि. की १८वीं शती में एक नया प्रयोग हुआ। पायचन्द्रसूरि तथा धर्मसिंह मुनि ने मिलकर, मिश्रित राजस्थानी-गुजराती भाषा में 'टब्बा' नाम से टीका दशवैकालिक सूत्र पर रची, तो २०वीं शती(ई. सन् १९४०)में हस्तीमल जी महाराज ने संस्कृत में **सौभाग्यचंद्रिका**। लेकिन इन सबमें कोई विशेष नया स्पष्टीकरण या चिंतन दृष्टिगोचर नहीं होता। ये सब प्राय: तत्कालीन उपयोगिता की दृष्टि से रची गई प्रतीत होती हैं। कभी उसकी गद्य या पद्य शैली पर टिप्पणी करती हुई, तो कभी भाषा–छंदों–अलंकारों पर। जैसे–

दशवैकालिक सूत्र के उपर्युक्त गद्यांशों में कहीं-कहीं प्रश्नोत्तर शैली का भी प्रयोग मिलता है, बिना संपादकों के नाम निर्देश के। ग्रंथ के पद्यांशों में से ८० प्रतिशत अनुष्टुभ् छंद में निबद्ध हैं। (हालांकि हर चरण में ८ अक्षरों के नियम का पालन यहां चुस्ती से नहीं किया गया, कहीं ७ भी मिलते हैं तो कही ९ भी) परन्तु अध्ययन ६, ७ एवं ८ के अंत में उपजाति वृत्त का प्रयोग अंतिम छन्द वदलने की संस्कृत महाकाव्यों की परिपाटी के अनुसार है।

वाकी के २० प्रतिशत पद्यभाग में इन्द्र/उपेन्द्र/ इंद्रोपेंद्र–वज्रा, जगती, त्रिष्टुभ् तथा जाति या गाथा वृत्त प्रयुक्त हुए हैं, जवकि अंतिम दशम अध्ययन वैतालीय वृत्त में है। भाषा अर्द्धमागधी है और अभिव्यक्ति संक्षिप्त

तथा भारयुक्त, फिर भी मधुर।

विषय के विशदीकरण हेतु उपयुक्त उपमा, दृष्टांत आदि अलंकारों का प्रयोग यत्र—तत्र किया गया है। उदाहरणत: भिक्षा के लिए गृहस्थों के पास जाता हुआ मुनि उन्हें कष्ट न दे, जैसे मधुकर पुष्प को या फलाहारी पक्षी उसकी टहनी को; गुरु की सेवा तथा सविनय आज्ञापालन करने वाले शिष्य का ज्ञान जलसिक्त पादप की तरह बढ़ता जाता है; दुर्विनीत स्त्री-पुरुष जग में वैसे ही दु:खग्रस्त रहते हैं जैसे दंड, शस्त्र आदि के प्रहार से जीर्ण जंगली हाथी—घोड़े।

अब बारी है इस ग्रंथ में निरूपित वर्ण्य विषय पर विचार करने की। १० अध्ययनों तथा २ चूलिकाओं (परिशिष्टों) में से प्रत्येक का संक्षेप देने लगें तो भी बहुत विस्तार हो जाएगा, अत: पहले सबके शीर्षकों को विहंगम दृष्टि से देखें। वैसा करते हुए आचार की पुनरावृत्ति ध्यान खींच लेती है, क्षुद्रकाचार कथा (अ.३), महाचार कथा (अ.६), आचारप्रणिधि(अ.८)। इस आचार में अहिंसा का महत्त्व सर्वाधिक है और उसकी बात 'छह जीवनिकायों' के शीर्षकवाले अ. ४ में भी आती है। {तुलना कीजिए अ.८, श्लोक २—३; पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, बीजयुक्त तृण तथा वृक्ष— ये सभी त्रस (थोड़ा बहुत हिल सकने वाले) जीव हैं। इनका अपने हाथों से क्षय न हो, इस विषय में सदा सजग रहते हुए, भिक्षु को अपने शरीर, वाणी तथा मन में संयत बनना चाहिए।}

वैसे ही विविक्त (या, परिशिष्टपर्वन् की परिपाटी के अनुसार 'विचित्रचर्या') शीर्षक वाली दूसरी व अंतिम चूलिका में भी अकेले विरक्त जीवन बिताने वाले साधु की जीवनचर्या गृहस्थ से कैसे भिन्न होनी चाहिए, यह बताते हुए एक तरह से मुनि के आचार का ही निरूपण हुआ है।

इन तथ्यों की ओर अंगुलिनिर्देश करते हुए, शुब्रिंग महोदय ने लिखा है कि वास्तव में केवल अ.५,७ और ९ में ही अपना-अपना स्वतंत्र वर्ण्य विषय लेकर उसका समग्रता से वर्णन किया गया है। तो क्या, बाकी अध्ययनों में सचमुच ही अंधाधुंध उत्सूत्रता है? आइए देखें—

चूंकि मुनि सेज्जंभव ने इस ग्रंथ का निर्यूहण ही नवदीक्षितों हेतु किया था, अत: मुनिधर्म का महत्त्व एवं उसका स्वरूप सामान्य रूप से समझाना अ.१ में आवश्यक ही था और यही करते हुए उन्होंने रूपक—अलंकार का आश्रय लिया है **"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो"** इस प्रकार आरंभ करते हुए समझाया कि भविष्यत्कालीन/अनागत पापकर्म से बचने (संवर) हेतु संयम तथा भूतकालीन/अर्जित कर्मों के क्षय (निर्जरा) हेतु तप—इन दोनों सहित तीसरा तत्त्व अहिंसा—ये तीनों मिलकर ही (मुनि का) उत्कृष्ट कल्याणकारी धर्म कहलाते हैं, आगे इन्हीं तीनों को धर्म रूपी द्रुम के तीन पुष्प भी कहा है और इसी बात को आश्रय बनाकर पांच श्लोकों वाले इस

यानी गुरु अथवा अपने से बड़े मुनि की उपस्थिति में अदब से कैसे खड़े रहना, हाथ—पांव आदि की हलचल संयत रखना, दृष्टि नीची, बैठना—सोना पड़ ही जाए तो अपना आसन या बिस्तर उनसे नीचे समतल पर रखना, जोर से हंसना या बोलना नहीं, ना ही जल्दी जल्दी बात करना। इस तरह गुरुओं का आदर करने से वे प्रसन्न होकर योग्य मार्गदर्शन करते रहेंगे। उन्हें अनादर से असंतुष्ट किया तो साधना पथ से ही भटक जाओगे।

विनय का एक रूप गुर्वाज्ञा का पूर्णत: पालन भी है, वैसा करने वाला उनका प्रीतिभाजन तो बनता ही है, शीघ्र ज्ञान व कीर्ति संपादन कर स्वयं सम्माननीय/अर्हत् भी बन सकता है। यह विषय है अध्ययन ९.३ का।

९.४ में विनय समाधि के ४ प्रकार बताते हुए, पहले प्रकार को भी वही नाम दिया है। अन्य तीन प्रकार हैं— श्रुत समाधि, तप समाधि एवं आचार समाधि। तत्पश्चात् इनके भी ४—४ यानी समग्रतया १६ प्रभेद बताए गए हैं।

अस्तु। 'स भिक्खू' अर्थात् वहीं सच्चा भिक्षु है ऐसी ध्रुव पंक्तियुक्त २० गाथाओं सहित २१ वीं जोड़कर बनता है दसवां अध्ययन। हालांकि इसकी गाथा ७,८,१० में उत्तराध्ययन १५.१२ एवं ११ की झलक साफ दिखती है, फिर भी प्रस्तुत ग्रंथ के अ. १—९ का सार यहां मौजूद है। सद्भिक्षु के इस स्वरूप का सतत स्मरण—चिंतन नवदीक्षित का आलंबन बनकर उसे संयम मार्ग में स्थिर करता है।

किन्तु फिर भी अगर कोई डिग जाए, तो सम्हाल कर पुन: संयम में स्थिर करने के उद्देश्य से रतिवाक्या शीर्षक वाली प्रथम चूलिका में पथभ्रष्ट साधु की दुर्गतियों का वर्णन किया गया है; जैसे भोगों में आसिक्तवश अनेक असंयत कृत्य करके, मृत्यु के बाद दु:खपूर्ण अनेक जीवगतियों में भटकते रहना, बोधिप्राप्ति से बहुत दूर....।

दूसरी चूलिका एवं दशवैकालिक सूत्र के अंतिम भाग हेतु दो वैकल्पिक शीर्षक मिलते हैं। एक है विवित्तचरिया(विविक्तचर्या) अर्थात् समाज से दूर एकान्त में रहने वाले मुनि की दिनचर्या। दूसरा शीर्षक है विइत्तचरिया (विचित्रचर्या) (आ. हेमचन्द्र का परिशिष्टपर्वन् ९.९८)। जैसा कि इसके श्लोक २ एवं ३ में बताया गया है अनुस्रोत: संसारो प्रतिस्रोतस्तस्योत्तार: (अणुसोओ संसारो पडिसोओ तस्स उत्तारो)। अर्थात् प्रवाह के साथ बहते जाने से जन्म—मरण का चक्र ही चलता रहता है, उससे पार उतरना हो तो प्रवाह के विरुद्ध दिशा में तैरना चाहिए और यही विचित्र (यहां असाधारण) जीवनक्रम नवदीक्षित को भी अपनाना चाहिए। इस प्रकार सजग होकर, इंद्रियजयी बनकर, संयमित जीवन जीनेवाला ही आत्मा का रक्षण करके सब दु:खों से मुक्ति पाता है (अंत के श्लोक १५ एवं १६)।

–Sanskrit Dictionary Project
Daccan College, PUNE

नन्दी सूत्र का वैशिष्ट्य

◇आचार्यप्रवर श्री आत्माराम जी म.सा.

आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज श्री वर्द्धमान श्रमण संघ के प्रथम आचार्य थे। आप तीव्र मेधाशक्ति के धनी एवं श्रुतपारंगत थे। आप जब उपाध्याय पद को सुशोभित कर रहे थे तब आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज द्वारा संशोधित एवं अनूदित नन्दीसूत्र (सन् १९४२ में सातारा से प्रकाशित) में आपने भूमिका लिखी थी। उसी भूमिका को यहां संकलित किया गया है। —सम्पादक

इस अनादि संसारचक्र में आत्मा ने अनेक बार जन्म—मरण किए। किन्तु अपने स्वरूप को भुलाकर परगुणों में रत होने से यह जीव दुःखों का ही अनुभव करता रहा। श्रुत, श्रद्धा और संयम से पराङ्मुख होकर पुद्गल द्रव्यों को अपनाता हुआ मनुष्य अपने गुणों को भूल गया। इसी से अज्ञानवश होकर वह शारीरिक व मानसिक दुःखों का अनुभव कर रहा है। उन दुःखों से छूटने के लिए सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन, सम्यक् चारित्र की आराधना ही एकमात्र उपाय है। गुणमय होने पर भी ज्ञान द्रव्य को मंगलमय बना देता है। जैसे—पुष्पों की प्रतिष्ठा सुगन्धि से होती है, ठीक इसी प्रकार आत्मद्रव्य की पूजा प्रतिष्ठा ज्ञान से होती है।

ज्ञान और नन्दीसूत्र

नन्दीसूत्र में पंचविध ज्ञान का वर्णन किया गया है। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ज्ञान शब्द से नन्दी शब्द का क्या संबंध है? विषय तो इसमें ज्ञान का है फिर इसका नाम नन्दी क्यों पड़ गया? इस प्रश्न पर आचार्य श्री मलयगिरिजी ने जो प्रकाश डाला है, वह यों है—

"अथ नन्दिरिति कः शब्दाऽर्थः? उच्यते—टुनदु समृद्धौ इत्यस्य धातोः "उदितो नम्" इति नमि विहिते नन्दनं नन्दिः—प्रमोदो हर्ष इत्यर्थः। नन्दि हेतुत्वाज ज्ञानपंचकाभिधायकमध्ययनमपि नन्दिः। नन्दन्ति प्राणिनोऽस्मिन् वेति नन्दिः, इदमेव प्रस्तुतमध्ययनम्। आविष्टलिंगत्वाच्चाध्ययनेऽपि प्रवर्तमानस्य नन्दिशब्दस्य पुंस्त्वम्। "इः सर्वधातुभ्यः" इत्यौणादिक इप्रत्ययः। अपरे तु 'नन्दी' इति दीर्घान्तं पठन्ति, ते च "इक् कृष्यादिभ्यः" इति सूत्रादिक्प्रत्ययं समानीय स्त्रीत्वेऽपि वर्तयन्ति।

स च नन्दिश्चतुर्द्धा—नामनन्दिः, स्थापनानन्दिः, द्रव्यनन्दिः, भावनन्दिश्च।

इस प्रकार नन्दीसूत्र की चूर्णि में भी लिखा है, जैसे कि—

"सव्वसुतखंधतादीणं मंगलाधिकारे नंदित्ति वत्तव्वा—णंदणं णंदी, नंदंति वा णेण त्ति नंदी, नंदी—पमोदो—हरिसो कंदप्पो इत्यर्थः। तस्स य चउव्विहो णिक्खेवो, गयाओ णामट्ठवणाओ, दव्वणंदी—जाणगो अणुवउत्तो,

अहवा—जाणग—भविय—सरीर—वतिरित्तो बारसविह तूरसंघातो इमो—

भंभा, मुकुंद, मद्दल, कडम्ब, झल्लरि, हुड्डक्क कंसाला।
काहल, तिलिसा, वंसो, पणवो, संखो य बारसमो।।

भावणंदी—णंदिसद्दोवउत्तभावो, अहवा—"इमं पंचविहणाणपरूवगं णंदित्ति अज्झयणं"।

यहाँ पर श्री हरिभद्रसूरि भी इसी प्रकार लिखते हैं। अतः नन्दी शब्द

आनन्दजनक होने के कारण ज्ञान का वाचक है, न कि साहित्य में आए हुए नन्दी या नान्दी का। भावनन्दी शब्द पंचविध ज्ञान का ही बोधक है, ये पांच ज्ञान क्षयोपशम वा क्षायिकभाव के कारण से उत्पन्न होते हैं। जैसे—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान व मनःपर्यवज्ञान ये चारों ज्ञान क्षयोपशम भाव पर निर्भर हैं, और केवलज्ञान क्षायिक भाव से उत्पन्न होता है। जब ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्मों की प्रकृतियाँ क्षीण हो जाती हैं तब आत्मा केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त अर्थात् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है। इस नन्दीसूत्र में उन पांच ज्ञानों का विषय सविस्तर प्रतिपादित किया गया है।

यह संकलित है या रचित?

आचार्य श्री देववाचक क्षमाश्रमण ने आगमग्रन्थों से मंगलरूप पंच ज्ञानों के प्ररूपक श्री नन्दीसूत्र का उद्धार किया है, जैसे कि उपाध्याय समयसुन्दरजी लिखते हैं—"एकादशांग गणधरभाषित हैं। उन अंगशास्त्रों के आधार पर क्षमाश्रमण ने उत्कालिक आदि आगमों का उद्धार किया है।"(द्रष्टव्य, समाचारीशतक, दूसरा प्रकाश, आगमस्थापनाधिकारपत्र ७७, आगमोदय समिति) नन्दीशास्त्र जिन जिन आगमों से संकलित है, उनकी चर्चा नीचे की जाती है। नन्दीसूत्र के मूल की गवेषणा करते हुए प्रथम स्थानांग सूत्र के द्वितीय स्थान के प्रथम उद्देशक के ७१ वें सूत्र पर दृष्टि जाती है। वहां नन्दीसूत्र के लिये निम्नोक्त आधार मिलता है। देखें वह पाठ—

"दुविहे नाणे पण्णत्ते, तंजहा– पच्चक्खे चेव, परोक्खे चेव। पच्चक्खे नाणे दुविहे पं. तं. केवलनाणे चेव 1, नोकेवलनाणे चेव 2। केवलनाणे दुविहे प. तं. –भवत्थकेवलनाणे चेव, सिद्धकेवलनाणे चेव। भवत्थकेवलनाणे दुविहे पं. तं.– सजोगिभवत्थकेवलनाणे चेव, अजोगिभवत्थकेवलनाणे चेव। सजोगिभवत्थ– केवलनाणे दुविहे पं. तं.–पढमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणे चेव, अपढमसमय– सजोगिभवत्थकेवलनाणे चेव। अहवा–चरिमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणे चेव, अचरिमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणे चेव। एवं अजोगिभवत्थकेवलनाणे वि। सिद्धकेवलनाणे दुविहे पं. तं.–अणंतरसिद्धकेवलनाणे चेव परंपरसिद्धकेवलनाणे चेव। अणंतरसिद्धकेवलनाणे दुविहे पं. तं. एक्काणंतरसिद्धकेवलनाणे चेव, अणेक्काणंतरसिद्धकेवलनाणे चेव।" (पूर्ण पाठ)

इनके व्याख्यास्वरूप सूत्र भी आगम में मिलते हैं। अनुयोगद्वार सूत्र में इन्द्रियप्रत्यक्ष नोइन्द्रियप्रत्यक्ष— ये दोनों भेद प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रतिपादित किए गए हैं। अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और क्षायोपशमिक ये दोनों भेद एवं इनकी व्याख्या भी विस्तार से मिलती है। (जीवगुणप्रत्यक्षाधिकार)। स्थानांग आदि में अवधिज्ञान के छः भेद प्रतिपादित किए गए हैं। इन भेदों के नाम और मध्यगत—अन्तगत आदि विषय प्रज्ञापना सूत्र (पद ३३ सूत्र ३१७) में आते हैं। अवधिज्ञान के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से चार भेदों का सविस्तर वर्णन भी भगवती सूत्र शतक ८, उद्देशक २ सूत्र ३२३ में देखा जाता है।

मन:पर्यवज्ञान के अधिकार का पाठ नन्दीसूत्र और प्रज्ञापना सूत्र (पद २१ सूत्र २७३) में समान रूप से ही आता है। भेद केवल इतना ही है कि यह प्रज्ञापना सूत्र में आहारक शरीर के प्रसंग में वर्णित है। इस सूत्र में मन:पर्यवज्ञान के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से जो चार भेद प्रदर्शित किए गए हैं, इनका संबंध भगवती सूत्र (शतक ८, उद्देशक २)से मिलता है।

केवलज्ञान का वर्णन जिस रूप से हम यहां पाते हैं, वह भी प्रज्ञापना सूत्र (पद १ सूत्र ७०८) से उद्धृत किया ज्ञात होता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल,भावरूप से केवलज्ञान के जो चार भेद प्रतिपादित किए हैं , वे भी भगवती सूत्र (शतक ८, उद्देशक २) से संकलित हैं।

मतिज्ञान के विषय का मूल (बीजरूप) स्थानांग सूत्र स्थान २, उद्देशक १ , सूत्र ७१ में साधारण रूप से आ चुका है, किन्तु उसके अट्ठाईस भेदों का वर्णन समवायांग सूत्र में मिलता है। संभव है कि नन्दीसूत्र में मतिज्ञान का जो सविस्तर वर्णन आया है, वह किसी अन्य (अधुना अप्राप्य) जैन आगम से संगृहीत हुआ हो। मतिज्ञान के भी चारों (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) भेद भगवती सूत्र(शतक ८, उद्देशक २) से उद्धृत किए हुए ज्ञात होते हैं। किन्तु भगवती सूत्र में केवल 'पासइ' है और नन्दी में 'न पासइ' ऐसा पाठ आता है, शेष पाठ समान है।

श्रुतज्ञान का विषय भी यहां भगवतीसूत्र (शतक २५, उद्देशक ३) से उद्धृत किया गया है—

"कइविहे णं भंते! गणिपिडए प. गोयमा! दुवालसंगे गणिपिडए प. तं. —आयारो जाव दिट्ठिवाओ। से किं तं आयारो? आयारे णं समणाणं णिग्गंथाणं आयारगोय. एवं अंगपरूवणा भणियव्वा, जहा नंदीए जाव—

सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ।
तइओ य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओगे।।1।।"

इन सबके अतिरिक्त नन्दी सूत्र के कितने ही स्थल स्थानांग सूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र, दशाश्रुतस्कन्धसूत्र आदि अनेक आगमग्रन्थों के कितने ही स्थानों से मिलते हैं। इस प्रकार की समानता से यह बात भलीभांति प्रमाणित हो जाती है कि देववाचक क्षमाश्रमण का यह ग्रन्थ विविध आगमों से संकलित है, निर्मित नहीं है।

नन्दीसूत्र की प्रामाणिकता

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने भगवान महावीर स्वामी के ९८० वर्ष पश्चात् अर्थात् ४५४ ई. (५११ वि.) में वलभी नगरी में साधुसंघ को एकत्र किया। तब तक सारा आगम कण्ठस्थ ही रखा जाता था। देववाचक क्षमाश्रमण के प्रयत्न से साधु संघ के उस महान् अधिवेशन में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि तब तक कण्ठस्थ चले आते आगमों को साधुओं ने लिपिबद्ध कर लिया। एक स्थान पर बैठकर एक ही समय में साधुओं द्वारा लिखे होने के कारण हम आज भी इन विभिन्न अंगों में

सामंजस्य पा रहे हैं और इसीलिये एक ग्रन्थ का प्रामाण्य अथवा निर्देश दूसरे ग्रंथ में पाते हैं। समाचारी शतक, पत्र ७७ में इस विषय को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है-

"साम्प्रतं वर्तमानाः पंचत्वारिंशदप्यागमाः श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणैः श्रीवीरादशीत्यधिकनवशतवर्षे 980 जातेन द्वादशवर्षीयदुर्भिक्षवशात्? (जातया द्वादशवर्षीयदुर्भिक्षतया) वहुतरसाधुव्याप्तौ बहुश्रुतविच्छित्तौ च जातायाम्, यदाहुः-"प्रसह्य श्रीजिनशासनं रक्षणीयम्, तद्रक्षणंच सिद्धान्ताधीनम्" इति भविष्यद्भव्यलोकोपकाराय श्रुतभक्तये च श्रीसंघाऽऽग्रहान्मृताऽवशिष्ट तत्कालीन? (लिक) सर्वसाधून् वल्लभ्यामाकार्य तन्मुखाद् विच्छिन्नाऽवशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमाऽऽलापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या संकलय्य (ते) पुस्तकाऽऽरूढाः कृताः। ततो मूलतो गणधरभाषितानामपि तत्संकलनाऽनन्तरं सर्वेषां पंचचत्वारिंशन्मितानामप्यागमानां कर्ता श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण एव जातः। तज् ज्ञापकमपीदम्- 'यथा श्रीभगवतीसूत्रं श्रीसुधर्मस्वामिकृतम्। प्रज्ञापनासूत्रं च वीरात् पंचत्रिंशदधिकत्रिशतमिते वर्षे जातं श्रीश्यामाचार्यकृतम्। श्री भगवत्यां च बहुषु स्थानेषु साक्षिः? लिखितास्ति-'जहा पन्नवणाए' एवमन्येष्वप्यंङ्गेषु-उपाङ्गसाक्षिः? लिखिता, (साक्ष्यं लिखितम्) तद्वचने त्वया उपयोगो देयः।"

इस कथन से यह भलीभांति सिद्ध हो गया कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण संकलयिता थे। एक आगम में दूसरे आगम के निर्देश का कारण भी इसी से समझ में आ जाता है। नन्दीसूत्र का निर्देश अन्य आगमों में मिलता है-

जहा नंदीए(भगवती सूत्र शतक ८, उद्देशक २, सूत्र ३२३)। जहा नंदीए(भगवतीसूत्र शतक ८, उद्देशक २, सूत्र ३२३)। जहा नंदीए (समवायांग, समवाय ८८)। जहा नंदीए (राजप्रश्नीय, पत्र ३०५)।

इस प्रकार अन्यान्य आगमों में भी नन्दीसूत्र का उल्लेख पाया जाता है। इससे नन्दीसूत्र की पूर्ण प्रामाणिकता व प्राचीनता सिद्ध होती है।

नन्दीसूत्र में अवतरणनिर्देश की शैली

आगमों की प्राचीन शैली से पता चलता है कि प्रस्तुत आगम का प्रस्तुत आगम में भी निर्देश किया जाता था, जैसे कि समवायांग सूत्र में द्वादशांग के वर्णन प्रसंग में खुद समवायांग का भी नाम आया है। ऐसे ही व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में द्वादशांग का उल्लेख करते समय खुद व्याख्याप्रज्ञप्ति का भी नाम आया है। यही क्रम अन्य आगमों में भी मिलता है। यह प्राचीन परम्परा वेदों में भी पाई जाती है, जैसे कि-

"सुपर्णोऽसि गरुत्माँ स्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ स्तोम आत्मा छन्दांस्यंगानि यजूंषि नाम।" (यजुर्वेद अध्याय 12, मन्त्र 4)

इसी प्राचीन शैली को नन्दीसूत्र में भी स्वीकार किया है। अतएव उत्कालिक सूत्र की गणना में नन्दी सूत्र का नाम मिलता है।

अश्रुतनिश्रितज्ञान की विशेषता

मतिज्ञान के श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित ये दो भेद प्रतिपादित किये गए हैं। श्रुतनिश्रित का जो विषय नन्दीसूत्र में प्रतिपादित किया गया है वह

अन्य आगमों में विद्यमान है। किन्तु अश्रुतनिश्रित के विषय में जो गाथायें यहां दी गई हैं, वे अन्यत्र नहीं मिलती। संभव है देववाचक क्षमाश्रमण ने उदाहरण के रूप में इन गाथाओं का निर्माण स्वयं किया हो।

नन्दी को सूत्र कहना सार्थक

स्थानांग सूत्र के द्वितीय स्थान प्रथम उद्देशक में श्रुतज्ञान के दो भेद किये गए हैं, जैसे कि अंगप्रविष्टश्रुत और अंगबाह्यश्रुत। अंगबाह्य के भी आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त ऐसे दो भेद किये गए हैं। आवश्यकव्यतिरिक्त के भी कालिक तथा उत्कालिक ये दो भेद किये गए हैं।

देववचाक क्षमाश्रमण ने स्थानांगसूत्र और व्यवहार सूत्र में आए हुए आगमों के नाम तथा उनके अपने समय में जो आगम विद्यमान थे उनमें जो कालिकश्रुत के अन्तर्गत थे उनका वैसा निर्देश कर दिया और जो उत्कालिक श्रुत थे, उन्हें उत्कालिक निर्दिष्ट कर दिया, जैसे कि चार मूलसूत्रों में से उत्तराध्ययन सूत्र कालिक है और दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार ये तीनों सूत्र उत्कालिक हैं। इसी प्रकार उपांग आदि सूत्रों के संबंध में भी समझ लेना चाहिए। नन्दीसूत्र में अनुक्रमणिका अंश गौण है, सूत्र अंश ही प्रधान है, अत: इसका सूत्र नाम ही सार्थक है।

अक्षर आदि 14 श्रुत का आधार कहां से लिया?—

नन्दीसूत्र में श्रुतज्ञान के १४ भेद वर्णित हैं, जैसे कि—

"से किं तं सुयनाणपरोक्खं? सुयनाणपरोक्खं चोद्दसविहं पन्नत्तं, तंजहा— अक्खरसुयं 1 अणक्खरसुयं 2 सण्णिसुयं 3 असण्णिसुयं 4 सम्मसुयं 5 मिच्छसुयं 6 साइयं 7 अणाइयं 8 सपज्जवसियं 9 अपज्जवसियं 10 गमियं 11 अगमियं 12 अंगपविट्ठं 13 अणंगपविट्ठं14।"

यह प्रसंग भगवतीसूत्र (पत्र ८०६, सूत्र ७३२) से लिया गया है। वहाँ पर नन्दीसूत्र की अन्तिम गाथा पर्यन्त का निर्देश है। नन्दीसूत्र की अन्तिमगाथा ९० वीं गाथा है। किन्तु श्रुतज्ञान के चतुर्दश भेदों का जो वर्णन विस्तारपूर्वक पहले आ चुका है, उसका पुन: संक्षेप से ८६ वीं गाथा में वर्णन किया गया है, जैसे कि—

"अक्खर, सन्नी, सम्मं, साइयं, खलु सपज्जवसियं च।
गमियं अंगपविट्ठं, सत्त वि एए सपडिवक्खा।।"

अन्त में निष्कर्ष यह निकला कि अक्षरश्रुत अनक्षरश्रुत आदि विषय भी आगमबाह्य नहीं हैं।

भारत—रामायण आदि का उल्लेख

श्रमण भगवान महावीर स्वामी के समय में गणधरों ने सूत्ररूप से द्वादशांगी की रचना की। उनके समय में भारत, रामायण आदि ग्रन्थ विद्यमान थे, अत: उनका नाम आना असंगत नहीं है। पश्चात् देववाचक क्षमाश्रमण ने भारत और रामायण के साथ अन्य शास्त्रों का भी उल्लेख अपने नन्दीसूत्र में कर दिया, जैसे कि कोडिल्ल (कौटिल्य चाणक्य) आदि। (नन्दीसूत्र,

जीवका एवोच्यन्ते' हारिभ्रद्रीया वृत्ति पृ.१०७ पं.७। यदि देववाचक को ही नन्दीसूत्र का मूल कर्ता माना होता तो चूर्णि और वृत्ति में 'तेरासिय' पद का अर्थ भी आचार्य त्रैराशिक सम्प्रदाय करते, क्योंकि वी.नि. ५४४ में रोहगुप्त आचार्य से त्रैराशिक सम्प्रदाय का आविर्भाव हो चुका था। फिर भी 'तेरासिय' पद से आजीवक ही कहे जाते हैं, ऐसा आचार्य श्री का निश्चयात्मक वचन यही सिद्ध करता है कि नन्दीसूत्र की मौलिक रचना गणधरकृत है, क्योंकि देववाचक का सत्ता समय दूष्यगणि के बाद माना गया है, वी. नि. ५४४ के पूर्व का नहीं। इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि 'देववाचक' आचार्य नन्दीसूत्र के संकलनकर्ता ही हैं।

देववाचक और देवर्द्धिगणि– नन्दीसूत्र के संकलनकर्ता श्री देववाचक और देवर्द्धिगणि दोनों भिन्न–भिन्न हैं या एक ही आचार्य के ये दो नाम हैं, इस विषय में श्रीमन्नन्दीसूत्र के उपोद्‌घात में इस प्रकार लिखा है– "देववाचक का दूसरा नाम श्री देवर्द्धिगणी है, किन्तु नन्दीसूत्र के संकलनकर्ता देववाचक आगमों को पुस्तकारूढ करने वाले देवर्द्धि से भिन्न हैं।" स्थविरावली की मेरुतुंगिया टीका में भी 'दूसगणिणो य देवड्ढी' लिखकर देववाचक का दूसरा नाम देवर्द्धि माना है। 'गच्छमतप्रबन्ध अने संघ प्रगति' के लेखक बुद्धिसागर सूरी ने पृ. ५२६ की पट्टावली में भी देववाचक और देवर्द्धि को भिन्न–भिन्न माना है।

उपर्युक्त मान्यता में नन्दी व कल्पसूत्र की स्थविरावली प्रमाण समझी जाती है, क्योंकि नन्दीसूत्र के रचयिता देववाचक को वृत्तिकार ने दूष्यगणि का शिष्य कहा है और कल्प की स्थविरावली के निर्माता देवर्द्धिगणी शाण्डिल्य के शिष्य माने गये हैं, देवर्द्धि जो पूर्ववर्ती हैं वे शास्त्रों को पुस्तकारूढ करने वाले माने जायेंगे और दूष्यगणि के शिष्य देववाचक नन्दीसूत्र के लेखक होंगे। अर्थात् शास्त्रलेखन के बाद नन्दीसूत्र का निर्माण मानना होगा, जो सर्वथा विरुद्ध है।

नन्दीसूत्र की विशेषता

श्री नन्दीसूत्र और श्री देवर्द्धिगणी के विषय में संक्षिप्त परिचय देकर हम प्रस्तुत सूत्र की विशेषता पर विचार करते हैं। स्थानांग, समवायांग, भगवती व राजप्रश्नीय आदि अंग और उपांग शास्त्रों में प्रसंगोपात्त ज्ञान का वर्णन मिलता है, किन्तु इस प्रकार विशद रीति से पाँच ज्ञानों का एकत्र वर्णन नन्दीसूत्र में ही उपलब्ध होता है, श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के अवग्रह आदि भेदों को प्रतिबोधक व मल्लक के उदाहरण से समझाना और चार बुद्धिओं का उदाहरण के साथ परिचय देना यह नन्दीसूत्र की खास विशेषता है। पूर्व वर्णित विषय का गाथाओं के द्वारा संक्षेप में उपसंहार कर दिखाना यह इस सूत्र की दूसरी विशेषता है।

नन्दीसूत्र पर टीकाएँ

नन्दीसूत्र पर प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, गुजराती ऐसी चार भाषाओं में टीकाएँ उपलब्ध हैं। इनमें प्रथम टीका जो चूर्णि कहलाती है, वह जिनदासगणि महत्तरकृत प्राकृत भाषा में है। दूसरी टीका श्री हरिभद्रसूरिकृत संस्कृत भाषा में है। यह टीका बहुत अच्छी है। प्रायः चूर्णि के आदर्श पर निर्माण की गई मालूम होती है। तीसरी श्रीमलयगिरि टीका है। इसमें मलयगिरि आचार्यकृत विस्तृत विवेचन है। चौथी गुजराती बालावबोध नाम की टीका रायबहादुर धनपतिसिंह जी की तरफ से प्रकाशित है। पाँचवी पूज्य श्री अमोलकऋषिकृत हिन्दी अनुवाद है। सभी मूल के साथ मुद्रित हैं।

शास्त्रान्तर के साथ नन्दीसूत्र का भेद

जब हम नन्दीसूत्र के विषय को अन्य शास्त्रों में देखते हैं, तब उनमें कहीं कहीं भेद भी मिलता है, जिसमें कुछ भेद तो विशेषतादर्शक है और कुछ मतभेदसूचक भी। यहां हम उनका संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हैं—

१. अवधिज्ञान के विषय, संस्थान, आभ्यन्तर और बाह्य तथा देशावधि, सर्वावधि आदि विचार पन्नवणा के ३३ वें पद में मिलते हैं।

२. मतिसम्पदा के नाम से दशाश्रुतस्कन्ध के चतुर्थ अध्ययन में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा को क्षिप्र ग्रहण करना १, एक साथ बहुत ग्रहण करना २, अनेक प्रकार से और निश्चल रूप से ग्रहण करना ३—४, बिना किसी के सहारे तथा सन्देहरहित ग्रहण करना ५—६, ये छः प्रकार हैं, प्रतिपक्ष के ६ प्रकार मिलाने से अवग्रह आदि के १२—१२ भेद होते हैं। ये दोनों भेद विशेषता दर्शक हैं।

३. पाँच ज्ञानों में प्रथम के ३ ज्ञान मिथ्यादृष्टि के लिये मिथ्याज्ञान कहलाते हैं। नन्दीसूत्र में मतिअज्ञान और श्रुतअज्ञान का उल्लेख मिलता है, किन्तु भगवती आदि शास्त्रों में मिथ्यादृष्टि के अवधिज्ञान को भी विभंगज्ञान कहा है। (श.८, उ.२)

४. **मतिज्ञान का विषय**— नन्दीसूत्र में मतिज्ञान का विषय दिखाते हुए कहा है कि मतिज्ञानी सामान्य रूप से सब द्रव्यों को जानता है किन्तु देखता नहीं। परन्तु भगवती सूत्र के श.८ उ.२ और सूत्र १०२ में कहा है कि "मतिज्ञानी सामान्य रूप से सब द्रव्यों को जानता और देखता है।" उपर्युक्त दोनों उल्लेखों में महान् भेद दिखता है। भगवती सूत्र में टीकाकार ने इसको वाचनान्तर माना है, उनका वह उल्लेख इस प्रकार है— "इदं च सूत्रं नन्द्यामिहैव वाचनान्तरे 'न पासइ' इति पाठान्तरेणाधीतम्", दोनों वाचनाओं का टीकाकार ने इस प्रकार समन्वय किया है— 'आदेश' पद का 'श्रुत' अर्थ करके श्रुतज्ञान से उपलब्ध सब द्रव्यों को मतिज्ञानी जानता है, यह भगवती सूत्र का आशय है। नन्दीसूत्र में 'न पासइ' कहने का आशय इस प्रकार है—

आदेश का मतलब है प्रकार। वह सामान्य और विशेष ऐसे दो प्रकार

का है, उनमें द्रव्यजाति इस सामान्य प्रकार से धर्मास्तिकाय आदि सब द्रव्यों को मतिज्ञानी जानता है और धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकाय का देश इस विशेष रूप से भी जानता है, किन्तु धर्मास्तिकाय आदि सब द्रव्यों को नहीं देखता, केवल योग्य देश में स्थित शब्दरूप आदि को देखता है, देखें– वह टीका का अंश– "आदेशः प्रकारः, स च सामान्यतो विशेषतश्च। तत्र द्रव्यजातिसामान्यदेशेन सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि जानाति, विशेषतोऽपि यथा धर्मास्तिकायो धर्मास्तिकायस्य देश इत्यादि न पश्यति सर्वान् धर्मास्तिकायादीन्, शब्दादींस्तु योग्यदेशावस्थितान् पश्यत्यपीति।"

श्रुतज्ञान द्वादशांगी का परिचय समवायांग सूत्र में नन्दीसूत्र से कुछ भिन्न मिलता है। परिशिष्ट में समवायांग का पाठ दिया है, जिसको पढ़कर पाठक सहज में भिन्न अंश को समझ सकते हैं। उसमें बहुत सा अंश विशिष्टतासूचक है, किन्तु आठवें, नववें और दशवें अंग के परिचय में जो भेद है वह विशेष विचारणीय है।

आठवें अंग के ८ वर्ग और उद्देशन काल हैं, परन्तु समवायांग में दस अध्ययन, सात वर्ग और १० उद्देशनकाल, समुद्देशनकाल कहे हैं। टीकाकार ने इसका समाधान ऐसा किया है– १ प्रथम वर्ग की अपेक्षा ही दश अध्ययन घटित होते हैं, २ प्रथमवर्ग से इतर की अपेक्षा ७ वर्ग होते हैं। उद्देशनकाल के लिये लिखते हैं कि– 'नास्याभिप्रायमवगच्छामः अर्थात् इसका अभिप्राय हम नहीं समझते। सम्भव है यह वाचनान्तर की दृष्टि से लिखा गया हो।

नवम अंग के तीन वर्ग और तीन उद्देशनकाल हैं, किन्तु समवायांग में दश अध्ययन, तीन वर्ग और उद्देशनकाल व समुद्देशनकाल १० लिखे हैं। टीकाकार श्रीअभयदेवसूरि इसके विवेचन में लिखते हैं कि– 'वर्गश्च युगपदेवोद्दिश्यते, इत्यतस्त्रय एव उद्देशनकाला भवन्तीत्येवमेव च नन्द्यामभिधीयन्ते, इह तु दृश्यन्ते दशेत्यत्राभिप्रायो न ज्ञायत इति"–सम.।

अर्थात् वर्ग का एक साथ ही उद्देशन होता है, इसलिये तीन ही उद्देशनकाल होते हैं और ऐसा ही नन्दीसूत्र में कहा जाता है। यहां दश उद्देशनकाल दिखते हैं, किन्तु इसमें अभिप्राय क्या? वह मालुम नहीं होता।

प्रश्नव्याकरण के ४५ उद्देशनकाल के लिये भी टीकाकार श्रीअभयदेवसूरि 'वाचनान्तर की अपेक्षा' ऐसा उत्तर देते हैं।

उपर्युक्त भेदों के सिवाय भी जो भेद हों, उनके लिये वाचना भेद को कारण समझना चाहिये।

मलयगिरि आचार्य ने अपनी टीका में यही कारण दिखाया है, यथा– "इह हि स्कन्दिलाचार्य–प्रवृत्तौ दुष्षमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पठनगुणनादिकं सर्वमप्यनेशत्। ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः संघयोर्मेलापकोऽभवत्, तद्यथा एको वलभ्यामेको मथुरायाम्। तत्र च सूत्रार्थ–संघटने परस्परवाचनाभेदो जातः। विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा संघटने भवत्यवश्यं वाचनाभेदो न काचिदनुपपत्तिः।"

समयसुन्दर उपाध्याय ने अपने समाचारी शतक में भी लिखा है—

"तर्हि कथमेतावन्तो विसंवादा लिखितास्तेन? उच्यते—एकं तु कारणमिदं यथा—यथा यस्मिन्—यस्मिन् आगमे मृतावशिष्टसाधुभिर्यद् यदुक्तम् तथा—तथा तस्मिन्—तस्मिन आगमे श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणेनाऽपि पुस्तकारूढीकृतम्, न हि पापभीरवो महान्त 'इदं सत्यम्' 'इदं तु असत्यमिति' एकान्तेन प्ररूपयन्तीति, द्वितीयं तु कारणमिदं यथा वलभ्यां यस्मिन्काले देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणतो वाचना प्रवृत्ता तथा तस्मिन्नेव काले मथुरानगर्यामपि स्कन्दिलाचार्यतोऽपि द्वितीया वाचना प्रवृत्ता, तदा तत्कालीनमृतावशिष्टछद्मस्थसाधुमुखविनिर्गताऽऽगमालापकेषु संकलनायां विस्मृतत्वादिदोष एव वाचनाविसंवादकारको जातः"— पृ. ८०

दुर्भिक्ष के बाद बचे हुए साधुओं ने जिस—जिस आगम में जैसा कहा वैसा देवर्द्धिगणी ने पुस्तकारूढ कर लिया, क्योंकि पापभीरु आचार्य यह सत्य, यह असत्य ऐसा एकान्त से प्ररूपण नहीं करते। दूसरा वलभी और मथुरा में एक समय दो वाचनाएँ हुई थी, जिसमें मृतावशिष्ट साधुओं के मुख से निकले हुए आलापकों की संकलना में विस्मृतत्व आदि दोष ही वाचना के विसंवाद का कारण हुआ। उपर्युक्त उल्लेख से वाचनाभेद व मतभेद का कारण स्पष्ट हो जाता है, इसलिये शंका करने की आवश्यकता नहीं रहती।

अनुयोगद्वार सूत्र

डॉ. प्रिया जैन

अनुयोगद्वारसूत्र की गणना मूल सूत्रों में होती है। इसे चूलिका सूत्र भी कहा गया है, जिसे आधुनिक भाषा में परिशिष्ट कहा जा सकता है। आर्यरक्षित द्वारा निर्मित यह आगम आगमों एवं टीकाग्रन्थों की शैली का प्रतिपादन करता है। इस शैली का उपयोग दिगम्बर ग्रन्थ षट्खण्डागम की धवला टीका में भी दृष्टिगोचर होता है। मद्रास विश्वविद्यालय में जैन धर्म–दर्शन की अतिथि प्राध्यापक डॉ. प्रिया जैन ने अनुयोगद्वार सूत्र की विषयवस्तु को संक्षेप में प्रस्तुत किया है।– **सम्पादक**

जिनत्व का प्रकाश और जैनत्व का आधार स्रोत है जैनागम।
सद्धर्म, दर्शन, संस्कार और संस्कृति का निर्झर है जैनागम।
अज्ञान तिमिर दूर हटा, ज्ञान का आलोक फैलाता है जैनागम।
श्रुतज्ञान की अक्षुण्ण धारा का अपर नाम है जैनागम।
सभ्यता एवं आध्यात्मिकता की अनुपम निधि है जैनागम।
स्व का परिचय, पर का विवेक कराता है जैनागम।
सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का साकार रूप है जैनागम।
सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग प्रभु के हस्ताक्षर है जैनागम।
आत्मज्ञान, वीतराग विज्ञान का अक्षुण्ण भंडार है जैनागम।
श्रुतगागर में मोक्षसागर को समेटे है जैनागम।
अनन्त काल तक आनन्द बरसाता है जैनागम।
जन्म, जरा, मरण के महासिन्धु से पार उतारता है जैनागम।
अणु और ब्रह्माण्ड के रहस्य खोलता है जैनागम।
आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, आत्मरमण का प्रेरणा-स्रोत है जैनागम।

जैनागम सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग प्रभु की वाणी है जो कि भारतीय साहित्य की अनुपम एवं अमूल्य धरोहर है। इनके अध्ययन के बिना भारतीय इतिहास का सही चित्रण व संस्कृति का सम्यक् मूल्यांकन असंभव है। तत्त्वद्रष्टा, आत्मविजेता वीतराग प्रभु ने आगमों में आत्मा की शाश्वत सत्ता का उद्घोष किया है, अनमोल मनुष्य जन्म को सार्थक करने की प्रेरणा व आत्मशुद्धि का महापथ प्रकाशित किया है। तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत, गणधरों द्वारा सूत्रबद्ध आगम गणिपिटक या द्वादशांगी के नाम से अभिहित हैं और अंग बाह्य आगमों में उपांग, मूल, छेद आदि सूत्र समाहित हैं। भगवान महावीर के अंतिम उपदेश रूप उत्तराध्ययन सूत्र, पुत्र मनक के लिये शय्यंभव द्वारा कृत दशवैकालिक सूत्र, देववाचक कृत नन्दीसूत्र एवं आर्य रक्षित द्वारा रचित अनुयोगद्वार सूत्र ये चार मूल सूत्र कहे जाते हैं। अनुयोग द्वार सूत्र को चूलिका सूत्र होने से आगम परिशिष्ट भी कहा जा सकता है। सूत्रकृतांग, प्रज्ञापना, स्थानांग, समवायांग की तरह अनुयोगद्वार सूत्र में दार्शनिक विषयों का तलस्पर्शी विवेचन मिलता है। जैसे पांच ज्ञानरूप नन्दी मंगलस्वरूप है वैसे ही अनुयोगद्वार सूत्र समस्त आगमों और उनकी व्याख्याओं को समझने में कुंजी सदृश है। जैसे एक भव्य मंदिर शिखर से अधिक शोभा प्राप्त करता

है वैसे ही आगम मंदिर भी नन्दी और अनुयोगद्वार रूप शिखर से अधिक जमगाता है[1]। नन्दी और समवायांग में जो आगमों का परिचय दिया है उसमें आचारांग आदि आगमों के संख्येय अनुयोगद्वार हैं, यह उल्लेख है। भगवती सूत्र में अनुयोगद्वार सूत्रगत अनुयोगद्वार के चार मूलद्वारों में से नयविचारणा का विस्तृत वर्णन किया है। इस संक्षिप्त संकेत से यह कहा जा सकता है कि भगवान महावीर के समय में सूत्र की व्याख्या करने की जो विद्या थी, उसका समावेश करने वाला सूत्र अनुयोगद्वार है। प्रस्तुत आगम में व्याख्येय शब्द का निक्षेप करके, उसके अनेक अर्थों का निर्देश कर, उस शब्द का प्रस्तुत में कौनसा अर्थ ग्राह्य है, यह शैली अपनायी गई है। इसी शैली का अनुसरण वैदिक और बौद्ध साहित्य में भी किया गया है[2]।

अनुयोग और अनुयोगद्वार एक चिन्तन

शब्द तथा अर्थ के योग को अनुयोग कहते हैं। 'अनु' उपसर्ग और 'योग' शब्द से 'अनुयोग' बना है। सूत्र या शब्द के अनुकूल, अनुरूप या सुसंगत संयोग अनुयोग है[3]। अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वार्तिक ये पांचों पर्यायवाची और अनुयोग के एकार्थवाची नाम हैं। अनुयोग की निरुक्ति में सूची, मुद्रा, प्रतिघ सम्भवदल और वर्तिका—ये पाँच दृष्टान्त गिनाये हैं। लकड़ी से किसी वस्तु को तैयार करने के लिए पहले लकड़ी के निरुपयोगी भाग को निकालने के लिए उसके ऊपर एक रेखा में जो डोरा डाला जाता है, वह सूची कर्म है। उस डोरे से लकड़ी के ऊपर जो चिह्न किया जाता है वह मुद्रा कर्म है। इसके बाद उसके निरुपयोगी भाग को छांटकर निकाल दिया जाता है— इसे प्रतिघ कर्म कहते हैं। फिर इस लकड़ी के आवश्यकतानुसार जो भाग कर दिये जाते हैं वह सम्भवदल कर्म है और अन्त में वस्तु तैयार करके उस पर पालिश आदि कर दी जाती है, वह वर्तिका कर्म है। इस प्रकार इन पांच कर्मों से जैसे विवक्षित वस्तु तैयार हो जाती है, उसी प्रकार अनुयोग शब्द से भी आगमानुकूल सम्पूर्ण अर्थ का ग्रहण होता है[4]। द्रव्यसंग्रह[5] में अनुयोग, अधिकार, परिच्छेद, प्रकरण इत्यादि एकार्थवाची शब्द गिनाये हैं और कसायपाहुड़[6] में अनुयोगद्वार पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि अर्थ के जानने के उपायभूत अधिकार को अनुयोगद्वार कहते हैं। पंडित सुखलाल जी[7] अनुयोग का अर्थ व्याख्या या विवरण करते हैं और द्वार का अर्थ प्रश्न करते हैं। इस प्रकार प्रश्न या प्रश्नों के माध्यम से विचारणा द्वारा वस्तु के तह तक पहुंचने को अनुयोगद्वार कहते हैं। स्याद्वादमंजरी[8] में प्रवचन-अनुयोग रूपी महानगर के चार द्वार बताये हैं— उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र[9] में तत्त्वों के विस्तृत ज्ञान के लिए निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण आदि चौदह अनुयोगों या विचारणा द्वारों का निर्देश किया है। तत्त्वार्थ सूत्र[10] में ही नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से तत्त्वों का न्यास

अर्थात् निक्षेप होने का निर्देश मिलता है और इसी का अनुयोगद्वार सूत्र में यत्र–तत्र–सर्वत्र प्रयोग हुआ है। धवला[११] में अनुयोगों का प्रयोजन पदार्थों का स्पष्टीकरण है। भगवान महावीर ने पहले अर्थ का उपदेश दिया और बाद में गणधरों ने सूत्र की रचना की। सूत्र, अर्थ के बाद में है इसलिए 'अनु' कहलाता है। इस अनु का 'अर्थ' के साथ योग 'अनुयोग' है। सारांश यह है कि शब्दों की व्याख्या करने की प्रक्रिया अनुयोग है[१२]। इस प्रकार अनुयोगद्वार सूत्र एक महाकोशसे कम नहीं है जो आगम वर्णित तथ्यों, सिद्धान्तों, तत्त्वों को समझने हेतु सम्यक् दिग्दर्शन करता एक अनूठा आगम है।

जैन आगम साहित्य को अनेक अनुयोगों में विभक्त किया गया है। बारहवें अंग दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, पूवर्गत, अनुयोग और चूलिका ये पांच भेद किये गये हैं[१३]। दिगंबर परम्परा[१४] में प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग तथा श्वेताम्बर परम्परा[१५] में चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग इस प्रकार चार अनुयोग हैं। नाम और क्रम भेद से दोनों परम्पराओं में अनुयोग के माध्यम से तत्त्वज्ञान, इतिहास, जैन आचार, कर्म-सिद्धान्त आदि का सुन्दर विवेचन विश्लेषण मिलता है। समग्र आगम साहित्य में अनुयोगों का वर्णन पृथक् एवं अपृथक् रूप से दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन काल में प्रत्येक सूत्र की चारों अनुयोगों द्वारा व्याख्या की जाती थी[१६]। अनुयोगद्वारसूत्र के रचनाकार आर्यरक्षित से पूर्व श्रुतज्ञान प्रदान करने की परम्परा यह थी कि पूर्वधर व श्रुतधर आचार्य अपने प्रतिभाशाली मेधावी शिष्यों को सूत्रों की वाचना देते समय चारों अनुयोगों का सहज रूप से बोध करा देते थे, अर्थात् द्वादशांगी सूत्र ज्ञान के साथ–साथ अविभक्त रूप से अनुयोग की दृष्टि से व्याख्या कर देते थे[१७]। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण से लिखा है कि आर्य वज्र तक जब अनुयोग अपृथक् थे तब एक ही सूत्र की चारों अनुयोगों के रूप में व्याख्या होती थी।

अनुयोगद्वार के रचनाकार

आर्यरक्षित अनुयोगद्वार नामक चतुर्थ मूलसूत्र के संकलनकर्ता व रचनाकार माने जाते हैं। आर्य रक्षित के पूर्व आगमों के अनुयोगों के अपृथक् रूप से चली आ रही वाचना परम्परा पृथक् अनुयोग की व्यवस्था के रूप में उभर कर आई। आर्यरक्षित के अनेकानेक ज्ञानी, ध्यानी, शिष्य समुदाय में चार प्रमुख शिष्य थे– दुर्बलिकापुष्यमित्र, फल्गुरक्षित, विन्ध्य और गोष्ठामाहिल। दुर्बलिकापुष्यमित्र अविरत रूप से स्वाध्याय में लीन रहते थे। अन्य तीन प्रतिभासम्पन्न शिष्यों की प्रार्थना पर पृथक् वाचनाचार्य के रूप में दुर्बलिका पुष्यमित्र को नियुक्त किया गया। नये वाचनाचार्य के सामने समयाभाव के कारण पठित ज्ञान के विस्मरण होने की समस्या आ खड़ी हुई। तब आर्यरक्षित आगम-ज्ञान की असुरक्षा के विचार से चिन्तित हो उठे और

दूरदर्शिता से काम लेते हुए उन्होंने इस अति दुर्गम श्रुतसाधना को सरल, सुगम्य बनाने हेतु अनुयोग की व्यवस्था प्रस्तुत की।[१८] अनुयोगद्वार में द्रव्यानुयोग की प्रधानता है। वीर निर्वाण सं. ५९२, वि.सं. १२२ के आसपास यह महत्त्वपूर्ण कार्य दशपुर में सम्पन्न हुआ। इसमें चार द्वार हैं, १८९९ श्लोकप्रमाण उपलब्ध मूल पाठ है। १५२ गद्य सूत्र हैं और १४३ पद्य सूत्र हैं[१९]। श्रमण भगवान महावीर के समय की व्याख्यापद्धति का ही अनुकरण अनुयोगद्वार में किया गया है, यह स्पष्ट विदित होता है। इसके अनन्तर लिखे गये श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में भी इसी शैली का अनुकरण मिलता है। अनुयोगद्वार पर दो चूर्णियां, एक टीका, दो वृत्तियां, एक टब्बा, व्याख्याएँ, अनुवाद आदि मिलते हैं, इससे इसकी उपयोगिता सिद्ध होती है।

अनुयोगद्वार की विषय वस्तु

सर्वप्रथम सत्य के उद्बोधक के रूप में पंच ज्ञान से अनुयोगद्वार सूत्र का मंगलाचरण रचनाकार ने किया है। इसके पश्चात् श्रुतज्ञान के उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग की प्रवृत्ति का संकेत कर आवश्यक अनुयोग पर सर्वांगीण प्रकाश डाला है। आवश्यक सूत्र में साधना क्रम होने से आवश्यक सूत्र की व्याख्या सर्वप्रथम करके साधक, साधना और साध्य की त्रिपुटी के रहस्य को खोलने का सफल प्रयास किया है। आवश्यक श्रुतस्कन्धाध्ययन का स्वरूप चार निक्षेपों द्वारा स्पष्ट करते हुए यह सिद्ध किया है कि आवश्यक एक श्रुतस्कन्ध रूप और अनेक अध्ययनरूप है।—देखें चार्ट
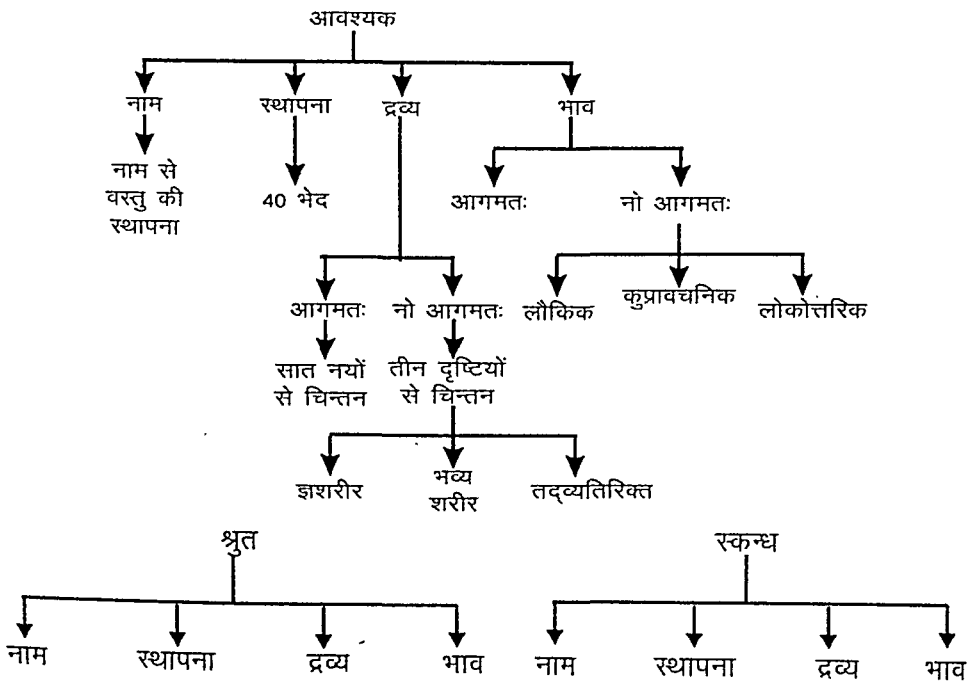
आवश्यक—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप से चार प्रकार का है तथा स्थापना आवश्यक के चालीस भेद बताये हैं। आगमत: द्रव्य आवश्यक को सप्तनय से तथा नोआगमत: द्रव्य आवश्यक को ज्ञशरीर, भव्यशरीर तथा तदव्यतिरिक्त/ तद्व्यतिरेक्त– इन तीन दृष्टियों से समझाया है। भाव आवश्यक के दो भेद बताकर नो आगमत: भाव आवश्यक के तीन उपभेदों को समझने की आवश्यकता व आवश्यक के अवश्यकरणीय ध्रुवनिग्रह, विशोधि, अध्ययन– षट्कवर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग एकार्थक नामों की परिभाषा से प्रथम आवश्यक अधिकार का वर्णन समाप्त करते हैं।

आवश्यक का निक्षेप करने के पश्चात् श्रुत का निक्षेप पूर्वक विवेचन करते हुए आगमकार श्रुत के भी नामश्रुत, स्थापना श्रुत, द्रव्यश्रुत, भावश्रुत भेद करके पुनश्च उनके उपभेद करके लौकिक, लोकोत्तरिक श्रुत आदि तथा अन्य श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, शासन, आज्ञा वचन, उपदेश, प्रज्ञापना, आगम आदि एकार्थक पर्याय नाम देकर स्कन्ध निरूपण करते हैं। स्कन्ध के भी नाम, स्थापना, द्रव्य भाव से चार प्रकार करके स्कन्ध के गण, काय, निकाय, स्कन्ध, वर्ग, राशि, पुंज, पिंड, निकर, संघात, आकुल समूह– इन पर्यायवाची शब्दों की व्याख्या कर स्कन्धाधिकार का वर्णन पूर्ण करते हैं।

आवश्यक, श्रुत, स्कन्ध—इन तीन अधिकारों के पश्चात् सावद्ययोगविरत (सामायिक), उत्कीर्तन (चतुर्विंशतिस्तव), गुणवत्प्रतिपत्ति (वंदना), स्खलितनिन्दा (प्रतिक्रमण), व्रण चिकित्सा (कायोत्सर्ग) तथा गुणधारणा (प्रत्याख्यान)—आवश्यक के ये छह अध्ययन स्पष्ट करके सामायिक अध्ययन के उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय इन चार अनुयोगद्वारों का विस्तार से वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

सामायिक समस्त चारित्रगुणों का आधार तथा मानसिक, शारीरिक दु:खों के नाश तथा मुक्ति का प्रधान हेतु है[20]। अनुयोग का अर्थ करते हुए कहा है कि अर्थ का कथन करने की विधि अनुयोग है। वस्तु का योग्य रीति से प्रतिपादन करना उपक्रम है[21]। निक्षेप सूत्रगत पदों का न्यास है, अनुगम सूत्र का अनुकूल अर्थ कहना है तथा अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक अंश को ग्रहण करना नय है[22]।

उपक्रम के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भेद करके उपक्रम के अन्य प्रकार से आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, अर्थाधिकार तथा समवतार ये छह भेद बताये हैं। सर्वप्रथम आनुपूर्वी का अर्थ अनुक्रम या परिपाटी बतलाकर नामानुपूर्वी, स्थापनानुपूर्वी आदि दस प्रकार से आनुपूर्वी का अत्यन्त विस्तार से वर्णन विश्लेपण किया गया है।

इस विवेचन में अनेक जैन मान्यताओं का दिग्दर्शन कराया गया है[23]। आनुपूर्वी के पश्चात् नाम उपक्रम सामायिक अध्ययन में एक से दस

अनुयोगद्वारसूत्र : एक झलक में
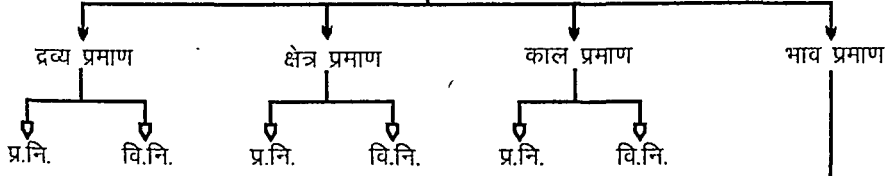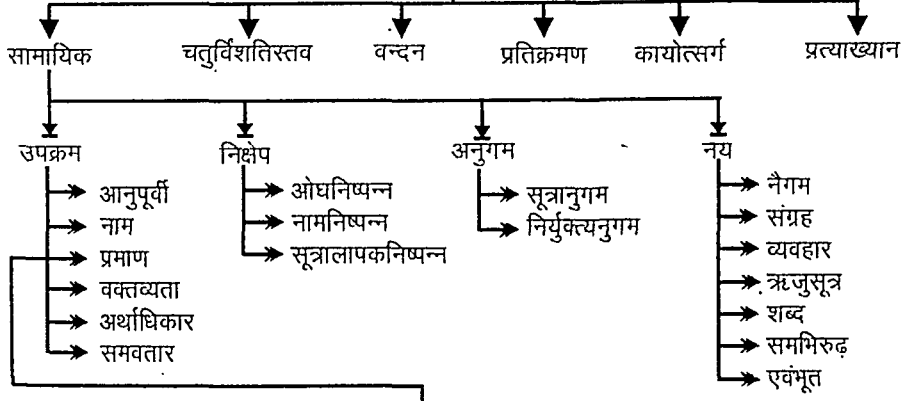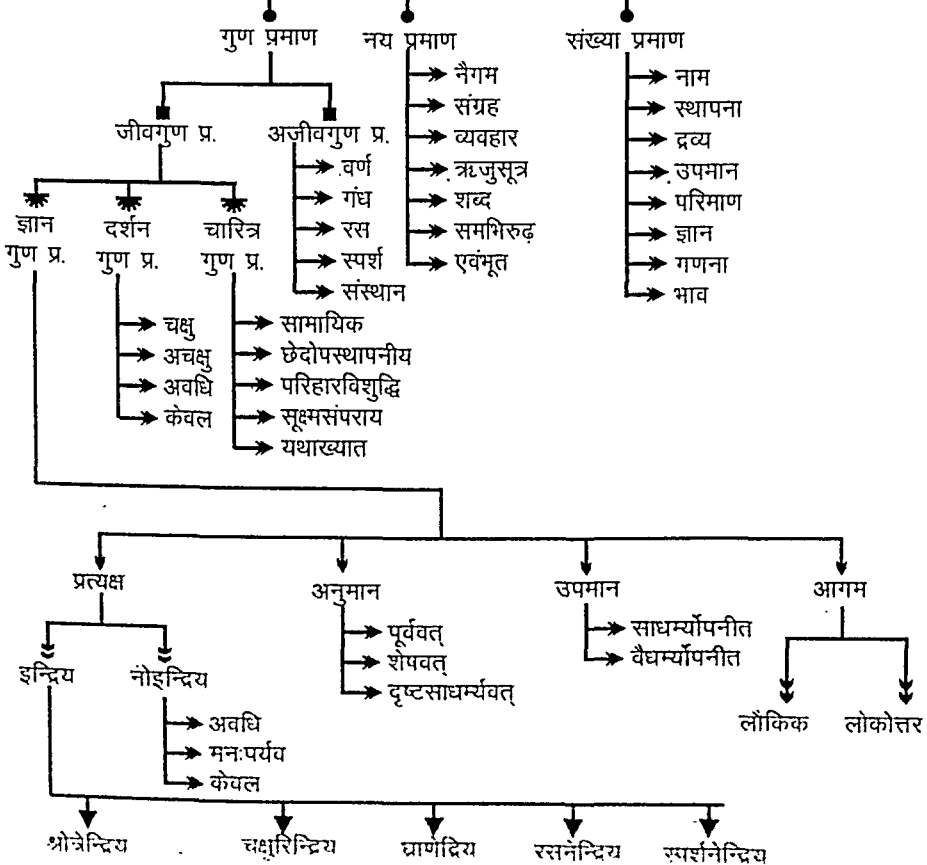
नाम की प्ररूपणा स्थानांग की तरह की गई है। इसके अन्तर्गत अनेकानेक विषयों का विस्तार उपलब्ध होता है जैसे कि अक्षर विज्ञान, जीव स्थान, लोकस्वरूप, छह आरा, स्वर विज्ञान, अष्ट विभक्ति, नव रस, जीव के भाव, पुद्गल के लक्षण, गीत की भाषा, समास आदि का परिचय तथा विस्तार मिलता है। नाम अध्ययन के अन्तर्गत भाव-संयोग निष्पन्न नाम में धर्मों को भाव कहा है[२४]। ज्ञान, दर्शन, चारित्र प्रशस्त भाव नाम हैं तथा क्रोधादि विकार अप्रशस्त भावनाम हैं[२५]।

उपक्रम के तृतीय प्रमाणाधिकार में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के रूप में प्रमाण का अत्यन्त विस्तृत विवेचन मिलता है जो कि अद्वितीय है, अनुपम है और श्रुतज्ञान का बेजोड़ प्रस्तुतीकरण है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, प्रमाण के प्रदेश निष्पन्न और विभागनिष्पन्न ये दो दो भेद करके उनके उपभेदों के माध्यम से मापने लायक समस्त वस्तुओं को मापने का तरीका बताया है। प्रमाण शब्द यहां न्यायशास्त्र प्रसिद्ध अर्थ का वाचक नहीं, किन्तु व्यापक अर्थ में प्रस्तुत किया गया है[२६]। वस्तुओं के स्वरूप को मापना प्रमाण है। द्रव्यतः क्षेत्रतः, कालतः तथा भावतः वस्तुओं का प्रमाण यहां किया गया है फिर चाहे वह धान्य, रस, मार्ग, सुवर्ण, रत्न, परमाणु, परावर्तन, अवगाहना, काल या फिर जीव के ज्ञान,दर्शन आदि तथा अजीव के वर्ण, रस आदि भाव ही क्यों न हों। प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत इन्द्रिय प्रत्यक्ष का और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष के अन्तर्गत अवधि, मनःपर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान का स्वरूप बताया है। अनुमान, उपमान, आगम, दर्शनगुण तथा चारित्र गुण का वर्णन जीवगुण प्रमाण के अन्तर्गत किया गया है। अजीवगुण प्रमाण में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान के प्रमाणत्व की चर्चा है।

नयप्रमाण का तीन दृष्टान्तों द्वारा स्पष्टीकरण है। प्रस्थक, वसति व प्रदेश के दृष्टान्त द्वारा सप्त नय की सुन्दर चर्चा है। प्रस्थकदृष्टान्त में काल की मुख्यता है, वसति में क्षेत्र का और प्रदेशदृष्टान्त में द्रव्य व भाव का विचार किया गया है[२७]। संख्याप्रमाण आठ प्रकार का है। संख्येय, असंख्येय, अनन्त—इनके जघन्य, मध्यम उत्कृष्ट आदि का विस्तार संख्याप्रमाण के गणनाप्रमाण के अन्तर्गत मिलता है।

प्रमाण उपक्रम में सामायिक अध्ययन के पश्चात् वक्तव्यता, अर्थाधिकार और समवतार उपक्रम अध्ययन के वर्णन किये हैं। वक्तव्यता के अन्तर्गत स्वसमय सिद्धान्त तथा पर समय सिद्धांत की व्याख्या तथा अर्थाधिकार में उन-उन अध्ययनों का अर्थ है। समवतार का तात्पर्य है वस्तुओं का अपने में, पर में और दोनों में योजना करने का विचार करना। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से वस्तु का अपने में, पर में तथा दोनों में समवतीर्ण होने का विचार पद समवतार है।

अनुयोगद्वासूत्र ने अधिक भाग उपक्रम की चर्चा में ले रखा है[28]। अनुयोगद्वार सूत्र का दूसरा द्वार निक्षेप है। इसके ओघनिष्पन्ननिक्षेप, नामनिष्पन्ननिक्षेप और सूत्रालापकनिक्षेप ये तीन भेद हैं। ओघनिष्पन्न निक्षेप के अध्ययन, अक्षीण, आय और क्षपणा ये चार प्रकार हैं और नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से उन चारों के चार—चार भेद हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आय प्रशस्त आय है व क्रोधादि कषाय की प्राप्ति अप्रशस्त आय है।

नामनिष्पन्न निक्षेप में सामायिक की नाम, स्थापना, द्रव्य एव भाव निक्षेप से व्याख्या है। जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप से सन्निहित है, उसी को सामायिक होती है[29]। यहां श्रमण के लिए सर्प, गिरि, अग्नि, सागर, आकाश, तरु, भ्रमर, मृग, पृथ्वी, कमल, सूर्य, पवन— ये उपमाएं प्रयुक्त की गई हैं[30]। श्रमण वह है जो संयम आदि में लीन है, समभाव युक्त है, सभी को स्वसमान देखता है। सूत्रालापकनिक्षेप में सूत्र का शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण करने की आज्ञा है।

अनुगम, अनुयोगद्वार सूत्र का तृतीय द्वार है। सूत्रानुगम और निर्युक्त्यनुगम—अनुगम के दो भेद हैं। पुनश्च निर्युक्त्यनुगम के तीन भेद करके द्वितीय उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगम के छब्बीस भेदों का उल्लेख है।

अनुयोगद्वार का चौथा द्वार नय है। जितने वचन उतने नय की उक्ति प्रसिद्ध है, किन्तु सात नयों में समस्त नयों का समावेश हो जाता है[31]। नैगमनय तीनों कालों संबंधी पदार्थ को ग्रहण करता है। संग्रहनय सामान्य रूप से पदार्थ का ज्ञान कराता है। व्यवहारनय सामान्य का अभाव सिद्ध करने वाला है। ऋजुसूत्रनय वर्तमानकालिक सत्य का ही प्ररूपण करता है।शब्दनय में शब्द मुख्य और अर्थ गौण होता है। समभिरूढ़ नय शब्द भेद से अर्थ भेद मानने वाला नय है। एवंभूतनय पर्याय में रहे हुए वस्तु को मुख्य करता है। नय विचार से हेय-उपादेय का विवेक व जीवन में उसके अनुकूल प्रवृत्ति—निवृत्ति का विवेक जागृत होता है। जो अनन्त धर्मात्मक वस्तु को नय की कसौटी पर कसकर ग्रहण करता है वही मुमुक्षु है, वही सच्चा साधक है। इस प्रकार अनुयोगद्वार सूत्र का वर्णन समाप्त होता है।

इस प्रकार अनुयोगद्वार सूत्र जैन पारिभाषिक शब्दों एवं सिद्धान्तों का कोश सदृश है। उपक्रम निक्षेप शैली की प्रधानता एवं भेद—प्रभेदों की प्रचुरता होने से यह आगम अन्य आगमों से क्लिष्ट है, तथापि जैन दर्शन के रहस्य को समझने के लिए अतीव उपयोगी है[32]। अनुयोगद्वार के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सत्य के विविध आयाम हैं तथा उपर्युक्त भेद—प्रभेद, नय—निक्षेप की शैली से सत्य का साक्षात्कार सहज रूप से हो सकता है। आवश्यकता है तो दृढ़ संकल्प की, सुलझे हुए दृष्टिकोण की और सत्य के खोज हेतु पिपासा की।

संदर्भ

१. जैन आगम साहित्य— देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ.३१७
२. अनुयोगद्वारसूत्र—स्वकथ्य, केवल मुनि, पृ. ६
३. धम्मकहाणुओगो, मुनि कन्हैयालाल जी 'कमल'
४. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, पृ. १०४,
५. द्रव्य संग्रह टीका, ४२/१८३/२
६. कसायपाहुड ३/३/२२
७. तत्त्वार्थ सूत्र, पं. सुखलालजी, पृ.८
८. चत्वारि हि प्रवचनानुयोगमहानगरस्य द्वाराणि उपक्रम:निक्षेप:अनुगम:नयश्चेति।
—स्याद्वादमंजरी, २८
९. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति १/७,८
१०. तत्त्वार्थ सूत्र—उमास्वाति १/५
११. धवला २/११/४१५/२
१२. विशेषावश्यकभाष्य—अणुयोजणं.......अणुरूवोऽणुकूलो वा.
१३. अनुयोगद्वारसूत्र, प्रस्तावना, देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ. २४
१४. द्रव्य संग्रह ४२/१८२, पंचास्तिकाय १७३, तत्त्वार्थवृत्ति २५४/१५
१५. अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग१, पृ. ३५६
१६. धम्मकहाणुओगो—प्रस्तावना पृ. ५
१७. मलयगिरि आवश्यकनिर्युक्ति पृ. २८३
१८. अभिधान राजेन्द्र कोश
१९. अनुयोगद्वारसूत्र— प्रस्तावना देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ. २८—२९
२०. वही पृ. ५०
२१. वही पृ. ५०
२२. वही पृ. ५०
२३. जैन आगम साहित्य, देवेन्द्रमुनि शास्त्री पृ. ३३४
२४. अनुयोगद्वार सूत्र, सूत्र २७९ पृ. २१०
२५. वही सूत्र २८०—२८१, पृ. २११
२६. वही पृ. २२९
२७. वही पृ. ३९७
२८. जैन आगम साहित्य, देवेन्द्र मुनि शास्त्री पृ. ३४१
२९. अनुयोगद्वार सूत्र ५९९ (अ) पृ.४५४
३०. वही, सूत्र ५९९ (इ) पृ. ४५५
३१. वही पृ. ४६८
३२. जैन आगम साहित्य, देवेन्द्र मुनि शास्त्री, पृ. ३४३

-Guest Lecturer, Dept. of Jainology,
University of Madras
Chennai-600005

दशाश्रुतस्कन्धसूत्र

डॉ. अशोक कुमार सिंह

छेदसूत्रों का श्रमणाचार के उत्सर्ग एवं अपवाद नियमों के प्रतिपादन के कारण जैन आगमों में विशेष स्थान है। स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदायों में ४ छेदसूत्र मान्य हैं– १. दशाश्रुतस्कन्धसूत्र २. बृहत्कल्पसूत्र ३. व्यवहारसूत्र ४. निशीथ सूत्र। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में महानिशीथ और जीतकल्प को मिलाकर ६ छेदसूत्र स्वीकार किए गए हैं। दशाश्रुतस्कन्ध का दूसरा नाम आचारदशा भी है। इसमें मुख्यत: श्रमणों एवं गौणत: श्रमणोपासकों के आचारसंबंधी विधान हैं। २० असमाधि स्थान, २१ शबल दोष, ३३ आशातनाएँ, आचार्य की आठ सम्पदाएँ, चित्त समाधि के १० बोल, श्रावक की ११ प्रतिमाएँ, भिक्षु की १२ प्रतिमाएँ, ३० महामोहनीय कर्मबन्ध के कारणों की इसमें चर्चा है। डॉ. अशोक कुमार सिंह के इस आलेख में दशाश्रुतस्कन्ध पर उपयोगी सामग्री उपलब्ध है।

—सम्पादक

जैन परम्परा (श्वेताम्बर जैनों के विभिन्न सम्प्रदाय) में छेदसूत्रों की संख्या के विषय में मतभेद है। छ: छेदसूत्र ग्रन्थों में से महानिशीथ और जीतकल्प इन दोनों को स्थानकवासी और तेरापन्थी नहीं मानते, वे केवल चार को स्वीकार करते हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय छ: छेदसूत्रों को मानता है।

छेद संज्ञा कब से प्रचलित हुई और छेद में प्रारम्भ में कौन–कौन से आगम ग्रन्थ सम्मिलित थे, यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। परन्तु अभी तक जो साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं उनके अनुसार आवश्यकनिर्युक्ति में सर्वप्रथम छेदसूत्र का वर्ग पृथक् हो गया था।

छेद शब्द की व्युत्पत्ति

'छेद' शब्द छिद् (काटने या भेदने अर्थ में) धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। छेद का शाब्दिक अर्थ होता है[१]—काटना, गिराना, तोड़ डालना, खण्ड–खण्ड करना, निराकरण करना, हटाना, छिन्न–भिन्न करना, साफ करना, नाश, विराम, अवसान, समाप्ति, लोप होना, टुकड़ा, ग्रास, कटौती, खण्ड अनुभाग आदि।

जैन परम्परा में छेद शब्द सामान्यत: जैन आचार्यों द्वारा प्रायश्चित्त के एक भेद के रूप में ही ग्रहण किया गया है। **आचार्य कुन्दकुन्द**[२] ने छेद का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है– "सोना, बैठना, चलना आदि क्रियाओं में जो सदा साधु की प्रयत्न के बिना प्रवृत्ति होती है– उन्हें असावधानी से सम्पन्न किया जाता है– वह प्रवृत्ति हिंसा रूप मानी गई है। शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म के छेद (विनाश) का कारण होने से उसे छेद(अशुद्ध उपयोग रूप) कहा गया है।" पूज्यपाद ने **'सर्वार्थसिद्धि'**[३] में इसे परिभाषित करते हुए कहा है– "कान, नाक आदि शरीर के अवयवों के काटने का नाम छेद है। यह

अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचारों के अन्तर्गत है। दिन, पक्ष अथवा मास आदि के विभाग से अपराधी साधु के दीक्षाकाल को कम करना छेद कहा जाता है। यह नौ प्रकार के प्रायश्चित्तों में से एक है।'' **'तत्त्वार्थभाष्य सिद्धसेनवृत्ति'**[4] में छेद का अर्थ अपवर्तन और अपहार बताया गया है। छेद, महाव्रत आरोपण के दिन से लेकर दीक्षा पर्याय का किया जाता है। जिस साधु के महाव्रत को स्वीकार किये दस वर्ष हुए हैं उसके अपराध के अनुसार कदाचित् पाँच दिन का और कदाचित् दस दिन का, इस प्रकार छः मास प्रमाण तक दीक्षापर्याय का छेद किया जा सकता है। इस प्रकार छेद से दीक्षा का काल उतना कम हो जाता है।

छेद सूत्र की उत्तमता

छेदसूत्रों को उत्तमश्रुत माना गया है। निशीथभाष्य[5] में भी इसकी उत्तमता का उल्लेख हैं। चूर्णिकार जिनदास महत्तर[6] यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि छेदसूत्र उत्तम क्यों है? पुनः स्वयं उसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि छेदसूत्र में प्रायश्चित्त विधि का निरूपण है, उससे चारित्र की विशुद्धि होती है, एतदर्थ यह श्रुत उत्तम माना गया है।

छेदसूत्र नामकरण

दशाश्रुतस्कन्ध आदि आगम ग्रंथों की छेदसूत्र संज्ञा प्रदान किये जाने के आधार के विषय में भी जैन विद्वानों ने विचार किया है।[7] शुब्रिंग के अनुसार छेदसूत्र और मूलसूत्र जैन परम्परा में विद्यमान दो प्रायश्चित्तों—छेद और मूल से लिये गये हैं। प्रो. एच. आर. कापडिया[8] के अनुसार छेद का अर्थ छेदन है और छेदसूत्र का अभिप्राय उस शास्त्र से लिया जा सकता है जिसमें उन नियमों का निरूपण है जो श्रमणों द्वारा नियमों का अतिक्रमण करने पर उनकी वरिष्ठता (दीक्षापर्याय) का छेदन करते हैं।

कापड़िया के मत में इस विषय में दूसरा और अधिक तर्कसंगत आधार पंचकल्पभाष्य[9] की इस गाथा के आलोक में प्रस्तुत किया जा सकता है— परिणाम अपरिणामा अइपरिणामा य तिविहा पुरिसा तु। णातूणं छेदसुत्तं परिणामगे होंति दायव्वं।। इस गाथा से यह निष्कर्ष निकलता है कि शास्त्रों का वह समूह जिसकी शिक्षा केवल परिणत (ग्रहण सामर्थ्य वाले) शिष्यों को ही दी जा सकती है, अपरिणत और अतिपरिणत को नहीं वह छेदसूत्र कहा जाता है।

छेदसूत्रों के नामकरण के संबंध में आचार्य देवेन्द्रमुनि[10] ने भी तर्क प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने पहले प्रश्न किया कि अमुक आगमों को छेदसूत्र, यह अभिधा क्यों दी गयी? पुनः उत्तर देते हुए कहा कि इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन ग्रंथों में सीधा और स्पष्ट प्राप्त नहीं है। हाँ यह स्पष्ट है कि जिन सूत्रों को

'छेदसूत्र' कहा गया है वे प्रायश्चित्त सूत्र हैं। आचार्य देवेन्द्रमुनि का अभिमत है कि श्रमणों के पाँच चारित्रों— १. सामायिक, २. छेदोपस्थापनीय ३. परिहारविशुद्धि ४. सूक्ष्मसम्पराय और ५. यथाख्यात में से अन्तिम तीन चारित्र वर्तमान में विच्छिन्न हो गये हैं। सामायिक चारित्र स्वल्पकालीन होता है, छेदोपस्थापनीय चारित्र ही जीवनपर्यन्त रहता है। प्रायश्चित्त का संबधं भी इसी चारित्र से है। संभवत: इसी चारित्र को लक्ष्य में रखकर प्रायश्चित्त सूत्रों को छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो।

आचार्य ने दूसरी संभावना प्रस्तुत करते हुए कहा कि आवश्यकवृत्ति (मलयगिरि) में छेदसूत्रों के लिए पद विभाग, समाचारी शब्द का प्रयोग हुआ है। पद विभाग और छेद— ये दोनों शब्द समान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। संभवत: इसी दृष्टि से छेदसूत्र नाम रखा गया हो क्योंकि छेदसूत्रों में एक सूत्र का दूसरे सूत्र से संबंध नहीं है, सभी सूत्र स्वतंत्र हैं। उनकी व्याख्या भी छेद दृष्टि से या विभाग दृष्टि से की जाती है।

उनके मत में तीसरी संभावना यह हो सकती है कि दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार नौवें प्रत्याख्यान पूर्व से उद्धृत किये गये हैं, उससे छिन्न अर्थात् पृथक् करने से उन्हें छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो।

छेदसूत्रों की संख्या

पंचकल्प के विलुप्त होने के पश्चात् जीतकल्प छठे छेदसूत्र के रूप में समाविष्ट कर लिया गया। कापड़िया[११] का अभिमत है कि यद्यपि वे पंचकल्प के स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में परिगणित किये जाने की अथवा इसके विलुप्त होने की वास्तविक तिथि बताने की स्थिति में नहीं है, परंतु जैन ग्रन्थावली से ज्ञात होता है कि संवत् १६१२ तक इसकी पाण्डुलिपि उपलब्ध थी।

प्रो. विण्टरनित्ज[१२] के अनुसार छ: छेदसूत्रों के नाम इस प्रकार है— कल्प, व्यवहार, निशीथ, पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति और महानिशीथ। कालिकसूत्र के रूप में उल्लिखित दशा, कल्प, व्यवहार, निशीथ और महानिशीथ इन पाँच छेदसूत्रों की सूचि यह इंगित करती है कि आरंभ में छेदसूत्रों की संख्या पाँच ही थी।

छेदसूत्रों की सामान्य विषयवस्तु

छेदसूत्रों का सामान्य वर्ण्य विषय है— साधक के साधनामय जीवन में उत्पन्न होने वाले दोषों को जानकर उनसे दूर रहना और दोष उत्पन्न होने पर उसका परिमार्जन करना। इस दृष्टि से छेदसूत्रों के विषय को चार विभागों में वर्गीकृत किया गया है— १.उत्सर्ग मार्ग २. अपवाद मार्ग ३. दोष सेवन ४. प्रायश्चित्त विधान।

प्रथम, साधु समाचारी के ऐसे नियम जिन्हें बिना किसी हीनाधिक के

या परिवर्तन के, प्रामाणिकता से पालन करना श्रमण के लिए अनिवार्य है उन्हें उत्सर्ग मार्ग कहा जाता है। निर्दोष चारित्र की आराधना इस मार्ग की विशेषता है।

द्वितीय, अपवाद मार्ग से यहां अभिप्राय है विशेष विधि। यह दो प्रकार की होती है— निर्दोष विशेष विधि और सदोष विशेष विधि। आपवादिक विधि सकारण होती है। जिस क्रिया या प्रवृत्ति से आज्ञा का अतिक्रमण न होता हो, वह निर्दोष है। परन्तु प्रबलता के कारण मन न होते हुए भी विवश होकर दोष का सेवन करना पड़े या किया जाये, वह सदोष अपवाद है। प्रायश्चित्त से उसकी शुद्धि हो जाती है।

तृतीय, दोष सेवन का अर्थ है—उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का उल्लंघन। चतुर्थ प्रायश्चित्त का अर्थ है—दोष सेवन के शुद्धिकरण के लिए की जाने वाली विधि।

दशाश्रुतस्कन्ध परिचय

कालिक ग्रन्थ

नन्दीसूत्र[१३] में पहले जैन आगम साहित्य को अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य में वर्गीकृत किया गया है। पुनः अंगबाह्य आगम को आवश्यक, आवश्यकव्यतिरिक्त, कालिक और उत्कालिक रूप में वर्गीकृत किया गया है। ३१ कालिक ग्रंथों में उत्तराध्ययन के पश्चात् दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार, निशीथ और महानीशीथ इन छेदसूत्रों का उल्लेख है। कालिक ग्रंथों का स्वाध्याय विकाल को छोड़कर किया जाता था।

रचना प्रकृति

जैन आगमों की रचनायें दो प्रकार से हुई हैं[१४]—१. कृत २. निर्यूहित। जिन आगमों का निर्माण स्वतन्त्र रूप से हुआ है वे आगम कृत कहलाते हैं। जैसे गणधरों द्वारा रचित द्वादशांगी और भिन्न—भिन्न स्थविरों द्वारा निर्मित उपांग साहित्य कृत आगम हैं। निर्यूहित आगम वे हैं जिनके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर हैं, सूत्र के रचयिता गणधर हैं और संक्षेप में उपलब्ध वर्तमान रूप के रचयिता भी ज्ञात हैं जैसे दशवैकालिक के शय्यंभव तथा कल्प, व्यवहार और दशाश्रुतस्कन्ध के रचयिता भद्रबाहु हैं। दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति[१५] से भी यह तथ्य स्पष्ट होता है। पंचकल्पचूर्णि[१६] से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है— तेण भगवता आयारकंप्प—दसाकप्प—ववहारा य नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा।

रचनाकाल

सामान्य रूप से आगमों के रचनाकाल की अवधि ई.पू. पाँचवीं से ईसा की पाँचवीं शताब्दी के मध्य अर्थात् लगभग एक हजार वर्ष मानी जाती है। इस अवधि में ही छेदसूत्र भी लिखे गये हैं। परम्परागत रूप से छः छेदसूत्रों

में दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहारसूत्र की रचना भद्रबाहु प्रथम द्वारा मानी जाती है। भद्रबाहु का काल ई. पू. ३५७ के आस–पास निश्चित है। अत: इनके द्वारा रचित दशाश्रुत आदि का समय भी वही होना चाहिए। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ. जैकोबी[१७] और शुब्रिंग के अनुसार प्राचीन छेदसूत्रों का समय ई. पूर्व चौथी शती का अन्त और तीसरी का प्रारम्भ माना जा सकता है। शुब्रिंग[१८] के शब्दों में–"......the old Cheyasuttas....., Significant are old grammatical forms..., A metrical investigation made by Jacobi, as was said before, resulted in surmising the origin of the most ancient texts of about the end of the 4th and the beginning of the third century B.C."

विच्छेद

तित्थोगाली[१९] प्रकीर्णक में विभिन्न आगमग्रन्थों का विच्छेद काल उल्लिखित है। इसके अनुसार वीर निर्वाण संवत् १५०० ई. (सन् ९७३) में दशाश्रुत का विच्छेद हुआ है। विच्छेद का तात्पर्य सम्पूर्ण ग्रन्थ का लोप मानना उचित नहीं होगा। इस संबंध में प्रो. सागरमल जैन[२०] का कथन अत्यन्त प्रासंगिक है, ''विच्छेद का अर्थ यह नहीं है कि उस ग्रन्थ का सम्पूर्ण लोप हो गया है। मेरी दृष्टि से विच्छेद का तात्पर्य उसके कुछ अंशों का विच्छेद ही मानना होगा। यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर परम्परा में भी जो अंग साहित्य आज अवशिष्ट हैं वे उस रूप में तो नहीं हैं जिस रूप में उनकी विषय वस्तु का उल्लेख स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र आदि में हुआ है।'' तित्थोगाली के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं दशाश्रुतस्कंध सूत्र के विच्छेद का उल्लेख न होना इस तथ्य का प्रमाण है कि इस छेदसूत्र का विच्छेद नहीं हुआ है।

स्रोत

दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि[२१] के अनुसार दशाश्रुत, व्यवहार और बृहत्कल्पसूत्र–ये नवम प्रत्याख्यानपूर्व से उद्धृत किये गये हैं। इस प्रकार इसका स्रोत नवम पूर्व है।

विषय वस्तु

स्थानांगसूत्र में उल्लिखित दशाश्रुतस्कन्ध की दसों दशाओं के शीर्षक वर्तमान दशाश्रुतस्कन्ध से साम्य रखते हैं। ये दशायें इस प्रकार हैं–१. असमाधि-स्थान, २.शबलदोष ३.आशातना ४.गणिसम्पदा ५.चित्तसमाधि ६.उपासकप्रतिमा ७.भिक्षुप्रतिमा ८.पर्युषणाकल्प ९.मोहनीय स्थान और १०. आयति स्थान।

प्रथम दशा में २० असमाधिस्थान हैं। दूसरी दशा में २१ शबलदोष हैं। तीसरी दशा में ३३ आशातनायें हैं। चौथी दशा में आचार्य की आठ

सम्पदा और चार कर्त्तव्य कहे गए हैं तथा चार कर्त्तव्य शिष्य के कहे गए हैं। पाँचवी दशा में चित्त की समाधि होने के १० बोल कहे हैं। छठी दशा में श्रावक की ११ प्रतिमाएँ हैं। सातवीं दशा में भिक्षु की १२ प्रतिमाएँ हैं। आठवीं दशा का सही स्वरूप व्यवच्छिन्न हो गया या विकृत हो गया है। इसमें साधुओं की समाचारी का वर्णन था। इस दशा का उद्धृत रूप वर्तमान **कल्पसूत्र** माना जाता है। नौवीं दशा में ३० महामोहनीय कर्मबंध के कारण हैं। दसवीं दशा में ९ निदानों का निषेध एवं वर्णन है तथा उनसे होने वाले अहित का कथन है। दशाक्रम से इस छेदसूत्र. की संक्षिप्त विषय—वस्तु निम्न प्रकार है—

प्रथम दशा

साध्वाचार (संयम) के सामान्य दोषों या अतिचारों को असमाधिस्थान कहा गया है। इनके सेवन से संयम निरतिचार नहीं रहता है। बीस असमाधिस्थान निम्न हैं—

१. शीघ्रता से चलना
२. अन्धकार में चलते समय प्रमार्जन न करना
३. सम्यक् रूप से प्रमार्जन न करना
४. अनावश्यक पाट आदि ग्रहण करना या रखना
५. गुरुजनों के सम्मुख बोलना
६. वृद्धों को असमाधि पहुँचाना
७. पाँच स्थावर कायों की सदा यतना नहीं करना अर्थात् उनकी विराधना करना, करवाना
८. क्रोध से जलना अर्थात् मन में क्रोध रखना
९. क्रोध करना अर्थात् वचन या व्यवहार द्वारा क्रोध को प्रकट करना
१०. पीठ पीछे निन्दा करना
११. कषाय या अविवेक से निश्चयकारी भाषा बोलना
१२. नया कलह करना
१३. उपशान्त कलह को पुन: उभारना
१४. अकाल (चौंतीस प्रकार के अस्वाध्यायों) में सूत्रोच्चारण करना
१५. सचित्त रज या अचित्त रज से युक्त हाथ—पाँव का प्रमार्जन न करना अर्थात् प्रमार्जन किए बिना बैठ जाना या अन्य कार्य में लग जाना
१६. अनावश्यक बोलना, वाक्युद्ध करना एवं उच्च स्वर से आवेश युक्त बोलना
१७. संघ या संगठन में अथवा प्रेम संबंध में भेद उत्पन्न हो ऐसा भाषण करना
१८. कलह करना, तुच्छतापूर्ण व्यवहार करना
२०. अनेषणीय आहार-पानी आदि ग्रहण करना अर्थात् एषणा के छोटे दोषों की उपेक्षा करना।

द्वितीय दशा

शबल, प्रबल, ठोस, भारी, विशेष बलवान आदि लगभग एकार्थक शब्द हैं। संयम के शबल दोषों का अर्थ है— सामान्य दोषों की अपेक्षा बड़े दोष या विशेष दोष। ये दोष संयम के अनाचार रूप होते हैं। इनका प्रायश्चित्त भी गुरुतर होता है तथा ये संयम में विशेष असमाधि उत्पन्न करने वाले हैं। शबल दोष संयम में बड़े अपराध हैं और असमाधि संयम में छोटे अपराध हैं। दूसरी दशा में प्रतिपादित इक्कीस शबल दोष निम्नप्रकार हैं—

१. हस्तकर्म २. मैथुन सेवन ३. रात्रि भोजन ४. साधु के निमित्त से बने आधाकर्मी आहार—पानी आदि का ग्रहण ५. राजप्रासाद में गोचरी ६. सामान्य साधु—साध्वियों के निमित्त बने उद्देशक आहार आदि लेना या साधु के लिए क्रयादि क्रिया उद्देशक आहार आदि लेना या साधु के लिए क्रयादि क्रिया हो ऐसे आहारादि पदार्थ लेना ७. बार-बार तप—त्याग आदि का भंग करना ८. बार—बार गण का त्याग और स्वीकार ९ एवं १९ घुटने (जानु) पर्यन्त जल में एक मास में तीन बार या वर्ष में १० बार चलना अर्थात् आठ महीने के आठ और एक अधिक कुल ९ बार उतरने पर शबल दोष नहीं है। १०एवं २०. एक मास में तीन बार और वर्ष में १० बार (उपाश्रय के लिए) माया कपट करना। ११. शय्यातर पिण्ड ग्रहण करना १२—१४. जानकर संकल्पपूर्वक हिंसा करना, झूठ बोलना, अदत्तग्रहण करना १५—१७. त्रस स्थावर जीव युक्त अथवा सचित्त स्थान पर या उसके अत्यधिक निकट बैठना, सोना, खड़े रहना। १८. जानकर सचित्त हरी वनस्पति(१. मूल २. कन्द ३. स्कन्ध ४. छाल ५. कोंपल ६. पत्र ७. पुष्प ८. फल ९. बीज और १०. हरी वनस्पति खाना २१..जानकर सचित्त जल के लेप युक्त हाथ या बर्तन से गोचरी लेना।

यद्यपि अतिचार—अनाचार अन्य अनेक हो सकते हैं, फिर भी यहां अपेक्षा से २० असमाधि स्थान और २१ शबल दोष कहे गए हैं। अन्य दोषों को यथायोग्य विवेक से इन्हीं में अन्तर्भावित कर लेना चाहिए।

तृतीय दशा

आशातना की परिभाषा इस प्रकार है— देव गुरु की विनय भक्ति न करना, अविनय-अभक्ति करना, उनकी आज्ञा भंग करना या निन्दा करना, धर्म सिद्धान्तों की अवहेलना करना या विपरीत प्ररूपणा करना और किसी भी प्राणी के प्रति अप्रिय व्यवहार करना, उसकी निन्दा, तिरस्कार करना 'आशातना' है। प्रस्तुत दशा में केवल गुरु-रत्नाधिक (श्रेष्ठ) की आशातना के विषयों का ही कथन किया गया है।

श्रेष्ठ जनों के साथ चलने, बैठने, खड़े रहने, आहार, विहार, निहार संबंधी समाचारी के कर्त्तव्यों में, बोलने, शिष्टाचार, भाव और आज्ञापालन में

अविवेक-अभक्ति से प्रवर्तन करना 'आशातना' है।

चतुर्थदशा

साधु-साध्वियों के समुदाय की समुचित व्यवस्था के लिए आचार्य का होना नितान्त आवश्यक है। प्रस्तुत दशा में आचार्य के आठ मुख्य गुण वर्णित हैं, जैसे—

1. **आचारसम्पन्न**— सम्पूर्ण संयम-संबंधी जिनाज्ञा का पालन करने वाला, क्रोध, मानादि कषायों से रहित, शान्तस्वभाव वाला।

2. **श्रुतसम्पदा**— आगमोक्त क्रम से शास्त्रों को कण्ठस्थ करने वाला एवं उनके अर्थ परमार्थ को धारण करने वाला।

3. **शरीर सम्पदा**— समुचित संहनन संस्थान वाला एवं सशक्त और स्वस्थ शरीर वाला।

4. **वचनसम्पदा**— आदेय, मधुर और राग-द्वेष रहित एवं भाषा संबंधी दोषों से रहित वचन बोलने वाला।

5. **वाचना सम्पदा**— सूत्रों के पाठों का उच्चारण करने—कराने, अर्थ परमार्थ को समझाने तथा शिष्य की क्षमता-योग्यता का निर्णय करके शास्त्र ज्ञान देने में निपुण। योग्य शिष्यों को राग-द्वेष या कषाय रहित होकर अध्ययन कराने वाला।

6. **मतिसम्पदा**— स्मरणशक्ति एवं चारों प्रकार की बुद्धि से युक्त बुद्धिमान।

7. **प्रयोगमतिसम्पदा**— वाद—विवाद (शास्त्रार्थ), प्रश्नों(जिज्ञासाओं) के समाधान करने में परिषद् का विचार कर योग्य विश्लेषण करने एवं सेवा व्यवस्था में समय पर उचित बुद्धि की स्फुरणा, समय पर सही (लाभदायक) निर्णय एवं प्रवर्त्तन की क्षमता।

8. **सङ्ग्रहपरिज्ञासम्पदा**— साधु, साध्वियों की व्यवस्था एवं सेवा के द्वारा तथा श्रावक—श्राविकाओं की विचरण तथा धर्म प्रभावना के द्वारा भक्ति, निष्ठा, ज्ञान और विवेक की वृद्धि करने वाला जिससे कि संयम के अनुकूल विचरण क्षेत्र, आवश्यक उपधि, आहार की प्रचुर उपलब्धि होती रहे एवं सभी निराबाध संयम-आराधना करते रहें।

शिष्यों के प्रति आचार्य के कर्त्तव्य

1. संयम संबंधी और त्याग-तप संबंधी समाचारी का ज्ञान कराना एवं उसके पालन में अभ्यस्त करना। समूह में या अकेले रहने एवं आत्म-समाधि की विधियों का ज्ञान एवं अभ्यास कराना।

2. आगमों का क्रम से अध्ययन करवाना, अर्थज्ञान करवाकर उससे जिस प्रकार हितावह होता है, वह समझाना एवं उससे पूर्ण आत्मकल्याण साधने का बोध देते हुए परिपूर्ण वाचना देना।

3. शिष्यों की श्रद्धा को पूर्ण रूप से दृढ़ बनाना और ज्ञान एवं अन्य गुणों में

अपने समान बनाने का प्रयत्न करना।

४. शिष्यों में उत्पन्न दोष, कषाय, कलह, आकांक्षाओं का उचित उपायों द्वारा शमन करना। ऐसा करते हुए भी अपने संयमगुणों एवं आत्मसमाधि की पूर्णरूपेण सुरक्षा एवं वृद्धि करना।

गण एवं आचार्य के प्रति शिष्यों का कर्त्तव्य

१. आवश्यक उपकरणों की प्राप्ति, सुरक्षा एवं विभाजन में कुशल होना।

२. आचार्य व गुरुजनों के अनुकूल सदा प्रवर्तन करना।

३. गण के यश की वृद्धि, अपयश का निवारण एवं रत्नाधिक को यथोचित आदरभाव देना और सेवा करने में सिद्धहस्त होना।

४. शिष्य-वृद्धि, उनके संरक्षण, शिक्षण में सहयोगी होना। रोगी साधुओं की यथोचित सेवा-सुश्रूषा करना एवं मध्यस्थ भाव से साधुओं में सौमनस्य बनाए रखने में निपुण होना।

पंचमदशा

सांसारिक आत्मा को धन—वैभव आदि भौतिक सामग्री प्राप्त होने पर जिस प्रकार आनन्द का अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्मगुणों की निम्नलिखित अनुपम उपलब्धियों से आत्मार्थी मुमुक्षुओं को अनुपम आनन्दरूप चित्तसमाधि की प्राप्ति होती है—

१. अनुपम धर्मभावों की प्राप्ति या वृद्धि २. जातिस्मरणज्ञान ३. अत्यन्त शुभ स्वप्न दर्शन ४. देव दर्शन ५. अवधिज्ञान ६. अवधि दर्शन ७. मन:पर्यवज्ञान ८. केवलदर्शन ९. केवलज्ञान उत्पत्ति और १०. कर्मों से मुक्ति।

षष्ठ दशा

श्रावक का प्रथम मनोरथ आरम्भ परिग्रह की निवृत्तिमय साधना है। निवृत्ति साधना के समय वह विशिष्ट साधना के लिए श्रावक प्रतिमाओं अर्थात् विशिष्ट प्रतिज्ञाओं को धारण करता है। अनिवृत्ति साधना के समय भी श्रावक समकित की प्रतिज्ञा सहित सामायिक, पौषध आदि बारह व्रतों का आराधन करता है, किन्तु उस समय वह अनेक परिस्थितियों एवं जिम्मेदारियों के कारण अनेक श्रावकों के साथ उन व्रतों को धारण करता है। निवृत्ति की अवस्था में आगारों से रहित उपासक प्रतिमाओं का पालन दृढ़ता के साथ कर सकता है।

प्रतिमाएँ

१. आगाररहित निरतिचार सम्यक्त्व की प्रतिमा का पालन। इसमें पूर्व में धारण किए अनेक नियम एवं बारह व्रतों का पालन किया जाता है, उन नियमों का त्याग नहीं किया जाता।

२. अनेक छोटे-बड़े नियम-प्रत्याख्यान अतिचाररहित पालन करने की प्रतिज्ञा और यथावत् पालन करना।

३. प्रात:, मध्याह्न, सांय नियत समय पर ही निरतिचार शुद्ध सामायिक करना

६-७. तीन प्रकार की शय्या और तीन प्रकार के संस्तारक का ही उपयोग करना।

८-९. साधु के ठहरने के बाद उस स्थान पर कोई स्त्री—पुरुष आयें, ठहरें या अग्नि लग जाये तो भी बाहर नहीं निकलना।

१०-११. पैर से कांटा या आंख से रज आदि नहीं निकालना।

१२. सूर्यास्त के बाद एक कदम भी नहीं चलना। रात्रि में मल-मूत्र की बाधा होने पर जाने का विधान है।

१३. हाथ-पैर में सचित्त रज लग जाए तो प्रमार्जन नहीं करना और स्वतः अचित्त न हो जाए तब तक गोचरी आदि भी नहीं जाना।

१४. अचित्त जल से भी सुख शांति के लिए हाथ पैर प्रक्षालन-निषेध।

१५. उन्मत्त पशु भी चलते समय सामने आ जाए तो मार्ग नहीं छोड़ना।

१६. धूप से छाया में और छाया से धूप में नहीं जाना।

प्रथम सात प्रतिमाएँ एक—एक महीनें की हैं। उनमे दत्ति की संख्या १ से ७ तक बढ़ती है। आठवीं, नवीं, दसवीं प्रतिमाएँ सात—सात दिन की एकान्तर तप युक्त की जाती हैं। सूत्रोक्त तीन—तीन आसन में से रात्रि भर कोई भी एक आसन किया जाता है।

ग्यारहवीं प्रतिमा में छट्ठ के तप के साथ एक अहोरात्र का कायोत्सर्ग किया जाता है।

बारहवीं भिक्षुप्रतिमा में अट्ठम तप के साथ श्मशान आदि में एक रात्रि का कायोत्सर्ग किया जाता है।

अष्टम दशा

इस दशा का नाम पर्युषणाकल्प है। इसमें भिक्षुओं के चातुर्मास एवं पर्युषणा संबंधी समाचारी के विषयों का कथन है। वर्तमान **कल्पसूत्र** आठवीं दशा से उद्धृत माना जाता है।

नवमदशा

आठ कर्मों में मोहनीय कर्म प्रबल है, महामोहनीय कर्म उससे भी तीव्र होता है। उसके बंध संबंधी ३० कारण यहां वर्णित हैं—

१-३. त्रस जीवों को जल में डुबाकर, श्वास रूंधकर, धुआँ कर मारना।

४-५. शस्त्र प्रहार से सिर फोड़कर, सिर पर गीला कपड़ा बांधकर मारना।

६. धोखा देकर भाला आदि मारकर हँसना।

७. मायाचार कर उसे छिपाना, शास्त्रार्थ छिपाना।

८. मिथ्या आक्षेप लगाना।

९. भरी सभा में मिश्र भाषा का प्रयोग कर कलह करना।

१०-१२. ब्रह्मचारी या बालब्रह्मचारी न होते हुए भी स्वयं को वैसा प्रसिद्ध करना।

१३-१४.उपकारी पर अपकार करना।

१५. रक्षक होकर भक्षक का कार्य करना।

१६-१७.अनेक के रक्षक, नेता या स्वामी आदि को मारना।

१८. दीक्षार्थी या दीक्षित को संयम से च्युत करना।

१९. तीर्थंकरों की निन्दा करना।

२०. मोक्षमार्ग की द्वेषपूर्वक निन्दा कर भव्य जीवों का मार्ग भ्रष्ट करना।

२१-२२. उपकारी आचार्य, उपाध्याय की अवहेलना करना, उनका आदर, सेवा एवं भक्ति न करना।

२३-२४. बहुश्रुत या तपस्वी न होते हुए भी स्वयं को बहुश्रुत या तपस्वी कहना।

२५. कलुषित भावों के कारण समर्थ होते हुए भी सेवा नहीं करना।

२६. संघ में भेद उत्पन्न करना।

२७. जादू-टोना आदि करना।

२८. कामभोगों में अत्यधिक आसक्ति एवं अभिलाषा रखना।

२९. देवों की शक्ति का अपलाप करना, उनकी निन्दा करना।

३०. देवी—देवता के नाम से झूठा ढोंग करना।

अध्यवसाओं की तीव्रता या क्रूरता के होने से इन प्रवृत्तियों द्वारा महामोहनीय कर्म का बंध होता है।

दशमदशा

संयम-तप की साधना रूप सम्पत्ति को भौतिक लालसाओं की उत्कटता के कारण आगामी भव में ऐच्छिक सुख या अवस्था प्राप्त करने के लिए दांव पर लगा देना 'निदान' कहा जाता है। ऐसा करने से यदि संयम-तप की पूंजी अधिक हो तो निदान करना फलीभूत हो जाता है किन्तु उसका परिणाम हानिकर होता है। दूसरे शब्दों में रागद्वेषात्मक निदानों के कारण निदान फल के साथ मिथ्यात्व, नरकादि दुर्गति की प्राप्ति होती है और धर्मभाव के निदानों से मोक्षप्राप्ति में बाधा होती है। अत: निदान कर्म त्याज्य है। वस्तुत: दशम अध्ययन का नाम आयति स्थान है। इसमें विभिन्न निदानों का वर्णन है। निदान का अर्थ है— मोह के प्रभाव से कामादि इच्छाओं की उत्पत्ति के कारण होने वाला इच्छापूर्तिमूलक संकल्प। यह संकल्प विशेष ही निदान है।

आयति का अर्थ जन्म या जाति है। निदान, जन्म का कारण होने से आयति स्थान माना गया है। आयति अर्थात् आय+ति, आय का अर्थ लाभ है। अत: जिस निदान से जन्म-मरण का लाभ होता है उसका नाम आयति है। दशाश्रुत में वर्णित निदान इस प्रकार हैं—

१. निर्ग्रन्थ द्वारा पुरुष भोगों का निदान।

२. निर्ग्रन्थी द्वारा स्त्री भोगों का निदान।
३. निर्ग्रन्थ द्वारा स्त्री भोगों का निदान।
४. निर्ग्रन्थी द्वारा पुरुष भोगों का निदान।
५-७. संकल्पानुसार दैविक सुख का निदान।
८. श्रावक अवस्था प्राप्ति का निदान।
९. श्रमण जीवन प्राप्ति का निदान।

इन निदानों का दुष्फल जानकर निदान रहित संयम-तप की आराधना करनी चाहिए।

विषय वस्तु का महत्त्व

दशाश्रुतस्कन्ध की विषयवस्तु पर विचार करते हुए आचार्य देवेन्द्र मुनि[२२] ने कहा है कि असमाधि स्थान, चित्तसमाधि स्थान, मोहनीय स्थान और आयतिस्थान में जिन तत्त्वों का संकलन किया गया है, वे वस्तुत: योगविद्या से संबद्ध हैं। योग की दृष्टि से चित्त को एकाग्र तथा समाहित करने के लिए ये अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उपासक प्रतिमा और भिक्षु प्रतिमा, श्रावक व श्रमण की कठोरतम साधना के उच्चतम नियमों का परिज्ञान कराते हैं। शवलदोष और आशातना इन दो दशाओं में साधु जीवन के दैनिक नियमों का विवेचन किया गया है और कहा गया है कि इन नियमों का परिपालन होना ही चाहिए। चतुर्थ दशा गणि सम्पदा में आचार्य पद पर विराजित व्यक्ति के व्यक्तित्व के प्रभाव तथा शारीरिक प्रभाव का अत्यन्त उपयोगी वर्णन किया गया है।

आचार्य[२३] ने दशाश्रुतस्कन्ध के प्रतिपाद्य पर ज्ञेयाचार, उपादेयाचार और हेयाचार की दृष्टि से भी विचार किया है— असमाधिस्थान, शबल दोष, आशातना, मोहनीय स्थान और आयतिस्थान में साधक के हेयाचार का प्रतिपादन है। गणि सम्पदा में अगीतार्थ अनगार के ज्ञेयाचार का और गीतार्थ अनगार के लिए उपादेयाचार का कथन है। चित्तसमाधि स्थान में उपादेयाचार का कथन है। उपासक प्रतिमा में अनगार के लिए ज्ञेयाचार और सागार श्रमणोपासक के लिए उपादेयाचार का कथन है।

भिक्षु प्रतिमा में अनगार के लिए उपादेयाचार और सागार के लिए ज्ञेयाचार का कथन है। अष्टम दशा पर्युषणाकल्प में अनगार के लिए ज्ञेयाचार, कुछ हेयाचार अनागार और सागार दोनों के लिए उपयोगी है।

दशाओं का पौर्वापर्य एवं परस्पर सामंजस्य

दशाश्रुतस्कन्ध में प्रतिपादित अध्ययनों के पौर्वापर्य का औचित्य सिद्ध करने से पूर्व इस तथ्य पर विचार करना आवश्यक है कि आचार्य ने [illegible] का वर्णन न कर सर्वप्रथम असमाधि स्थानों का ही [illegible] किया? इसके उत्तर में आचार्य आत्मारामजी [illegible]

है कि असमाधि यहाँ नञ् तत्पुरुष समासान्त पद है। यदि नञ् समास न किया जाये तो यही बीस समाधि स्थान बन जाते हैं अर्थात् अकार को हटा देने से यही बीस भाव समाधि के स्थान हैं। इस प्रकार इसी अध्ययन से जिज्ञासु समाधि और असमाधि दोनों के स्वरूप को भलीभांति जान सकते हैं।

अध्ययनों के पौर्वापर्य और परस्पर सामंजस्य की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि असमाधिस्थानों के आसेवन से शबलदोष की प्राप्ति होती है। अत: पहली दशा से संबंध रखते हुए सूत्रकार दूसरी दशा में शबलदोष का वर्णन करते हैं।[२५]

जिस प्रकार दुष्कर्मों से चारित्र शबलदोष युक्त होता है, ठीक उसी तरह रत्नत्रय के आराधक आचार्य या गुरु की आशातना करने से भी चारित्र शबल दोषयुक्त होता है। अत: पहली और दूसरी दशा से संबंध रखते हुए तीसरी दशा में तैंतीस आशातनाओं का वर्णन है। आशातनाओं का परिहार करने से समाधि मार्ग निष्कण्टक हो जाता है।

प्रारम्भिक तीनों दशाओं में असमाधि स्थानों, शबलदोषों और आशातनाओं का प्रतिपादन किया गया है। उनका परित्याग करने से श्रमण गणि पद के योग्य हो जाता है। अत: उक्त तीनों दशाओं के क्रम में चतुर्थ दशा में गणिसम्पदा का वर्णन है। गणि सम्पदा से परिपूर्ण गणि समाधिसम्पन्न हो जाता है, किन्तु जब तक उसको चित्त समाधि का भलीभांति ज्ञान नहीं होता, तब तक वह उचित रीति से समाधि में प्रविष्ट नहीं हो सकता, अत: पूर्वोक्त दशाओं के अनुक्रम में ही पाँचवीं दशा में 'चित्तसमाधि' का वर्णन है।

संसारी जीवों के लिए समाधि प्राप्त करना आवश्यक है। सभी मनुष्य साधुवृत्ति ग्रहण नहीं कर सकते, अत: श्रावकवृत्ति से भी समाधि प्राप्त करना अपेक्षित है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं—उपासक प्रतिमाओं का छठी दशा में प्रतिपादन है। यही अणुव्रती सर्वविरति रूप चारित्र की ओर प्रवृत्त होना चाहे तो उसे श्रमण व्रत धारण करना पड़ता है। अत: सातवीं दशा में भिक्षु प्रतिमा का वर्णन है।

प्रतिमा समाप्त करने के अनन्तर मुनि को वर्षा ऋतु में निवास के योग्य क्षेत्र की गवेषणा कर अर्थात् उचित स्थान प्राप्त कर वर्षा ऋतु वहीं व्यतीत करनी पड़ती है। इस आठवीं दशा में वर्षावास के नियमों का प्रतिपादन है।

प्रत्येक श्रमण को पर्युषणा का आराधन उचित रीति से करना चाहिए, जो ऐसा नहीं करता वह मोहनीय कर्मों का उपार्जन करता है। अत: नवीं दशा में जिन--जिन कारणों से मोहनीय कर्मबन्ध होता है उनका वर्णन किया गया है। श्रमण को उन कारणों का स्वरूप जानकर उनसे सदा पृथक् रहने का प्रयत्न करना चाहिए। यह सबसे प्रधान कर्म है। अत: प्रत्येक को इससे बचने का प्रयत्न करना चाहिए। इनके परिहार हेतु मोहदशा की रचना की गई है।

नवम दशा में महामोहनीय स्थानों का वर्णन किया गया है। कभी—कभी साधु उनके वशवर्ती होकर तप करते हुए निदान कर बैठता है। मोह के प्रभाव से कामभोगों की इच्छा उसके चित्त में जाग उठती है और उस इच्छा की पूर्ति की आशा से वह निदान कर्म कर लेता है। परिणामत: उसकी वह इच्छा ''आयति'' अर्थात् आगामी काल तक बनी रहती है, जिससे वह फिर जन्म—मरण के बंधन में फँसा रहता है। अत: इस दशा में निदान कर्म का ही वर्णन करते हैं। यही नवम दशा से इसका संबंध है। दशवीं दशा का नाम आयति दशा है। आयति शब्द का अर्थ जन्म या जाति जानना चाहिए। जो व्यक्ति निदान के कर्म से बंधेगा उसको फल भोगने के लिए अवश्य ही नया जन्म ग्रहण करना पड़ेगा।

व्याख्या साहित्य

दशाश्रुतस्कन्ध पर व्याख्या साहित्य के रूप में भद्रबाहु कृत निर्युक्ति, अज्ञातकर्तृक चूर्णि, ब्रह्मर्षि या ब्रह्ममुनि कृत जिनहितावृत्ति, एक अज्ञातकर्तृक टीका, पृथ्वीचन्द्र कृत टिप्पणक एवं एक अज्ञातकर्तृक पर्याय उपलब्ध है। इसमें से निर्युक्ति और चूर्णि का प्रकाशन हुआ है। परन्तु शेष व्याख्या साहित्य के प्रकाशित होने की सूचना उपलब्ध नहीं है। विभिन्न स्रोतों के आधार पर इनका ग्रन्थ परिमाण निर्युक्ति १४१ गाथा, चूर्णि २२२५ या २१६१ श्लोक परिमाण ब्रह्ममुनि कृत टीका ५१५२ श्लोक परिमाणं है। दशाश्रुतस्कन्ध के प्रकाशित संस्करणों का उल्लेख किया गया है।

आठवीं दशा पर्युषणाकल्प अथवा कल्पसूत्र

जैसा कि सुविख्यात है कि दशाश्रुतस्कन्ध की आठवीं दशा को ही उद्धृत कर प्रारम्भ में जिनचरित और अन्त में स्थविरावली जोड़कर कल्पसूत्र नाम प्रदान किया गया है। पर्युषण पर्व के अवसर पर इसका पाठ करने से इसकी महत्ता एवं प्रचार दोनों में आशातीत वृद्धि हुई है। फलत: कल्पसूत्र पर व्याख्या साहित्य भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। इस पर लगभग ६० व्याख्याओं के लिखे जाने की सूचना उपलब्ध होती है। निर्युक्ति, चूर्णि और टिप्पणक, जो प्राचीन हैं और सम्पूर्ण छेदसूत्र की व्याख्या करते हैं, के अतिरिक्त चौदहवीं और अठारहवीं शताब्दी के मध्य ज्यादातर व्याख्या ग्रन्थों की रचना हुई है। इनकी सूची एच.डी. वेलणकर द्वारा संकलित जिनरत्नकोश (पृ. ७५—७९ पर) में दी गई है, जो निम्न हैं—

दुर्गपदनिरुक्त (१२६८) विनयचन्द्र, **सन्देहविषौषधि** (१३०७) जिनप्रभ,खरतरगच्छीय, **पजिंका**—जिनसूरि, **अवचूरि**(१३८६)—जिनसागरसूरि, **सुखावबोधविवरण**—जयसागरसूरि, **किरणावली** (१५७१)—धर्मसागरगणि, **अवचूरि** (१९८७)—अमरकीर्ति, **कल्पलता** (१६१४)—शुभविजय, **प्रदीपिका** (१६५७)—संघविजयगणि, **दीपिका** (१६२०)—जयविजयगणि, **मंजरी** (१६१८) सहजकीर्तिगणि एवं श्रीसार,

दीपिका शिशुबोधिनी (१६४१)—अजितदेव सूरि, **कल्पलता** (१६४२)—समयसुन्दर, खरतरगच्छीय; **सुबोधिका**(१६३९)—विनयविजय, **कौमुदी** (१६५०)—शान्तिसागर, तपागच्छीय, **बालावबोध** (१६९३)—दानविजयगणि, तपागच्छ, **कल्पबोधिनी** (१७३१)—न्यायसागर, तपागच्छ, **कल्पद्रुमकलिका** (लगभग १८३५)—लक्ष्मीवल्लभगणि, खरतरगच्छ, **सूत्रार्थप्रबोधिनी** (१८९७)—विजयराजेन्द्रसूरि, त्रिस्तुतिगच्छ, **कल्पलता**—गुणविजयगणि, तपागच्छ, **दीपिका**— बुद्धविजय, **अवचूरि**—उदयसागर, अंचलगच्छ, **अवचूरि**—महीमेरु, **कल्पोद्योत**—न्यायविजय, **अन्तर्वाचना**(१४००)—गुणरत्नसूरि, **अन्तर्वाचना**—कुलमण्डन सूरि, **अन्तर्वाचना**—रत्नशेखर, **अन्तर्वाचना**—जिनहंस, **अन्तर्वाच्य**—भक्तिलाभ, **अन्तर्वाच्य**—जयसुन्दरसूरि, **अन्तर्वाच्य**—सोमसुन्दरसूरि, **स्तबक**—पार्श्वचन्द्रसूरि, **स्तबक**—रामचन्द्रसूरि, मडाहडगच्छ, **स्तबक**(१५८२)—सोमविमलसूरि, तपागच्छ, **बालावबोध**— क्षमाविजय,**बालावबोध**(१६५०)—मेरुविजय,**स्तबक**(१९७२)—विद्याविलासगणि, खरतरगच्छ, **बालावबोध** (१६७६)—सुखसागर और **मांगलिकमाला** (१७०६)।

संदर्भः

१. वी.एस.आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स लिमिटेड, दिल्ली १९९३, पृ. ३९२
२. प्रवचनसार, ३/१६, आचार्य कुन्दकुन्द, परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई १९१२।
३. सर्वार्थसिद्धि, ७/२५, पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५५।
४. तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, ९/२२, सिद्धसेनगणि, दे.ला.पु., फण्ड, बम्बई १९२९।
५. छेयसुयमुत्तमसुयं, निशीथभाष्यचूर्णि, भाग ४, ६/४८, सम्पा. अमरमुनि, ग्र.मा. ६, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली एवं सन्मति ज्ञानपीठ, वीरायतन, राजगृह।
६. छेयसुयं कम्हा उत्तमसुतं? भण्णामि—जम्हा एत्थं सपायच्छित्तो विधी भण्णति, जम्हा एतेणच्चरणविशुद्धं करेति, तम्हा तं उत्तमसुतं। नि.भा.चू. भाष्यगाथा, ६/८४ की चूर्णि।
७. प्रो. एच.आर. कापड़िया, द कैनानिकल लिटरेचर ऑव द जैनाज, लेखक, सूरत, १९४१, पृ. ३६, पादटिप्पण सं. ३।
८. वही, पृ. ३६।
९. वही, पृ. ३६।
१०. आचार्य देवेन्द्र मुनि, जैन आगम साहित्य, तारक गुरु जैन ग्र.मा. सं. ७१, तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर १९७७ पु. २३—२४।
११. कापड़िया, कैनानिकल, सूरत १९४१, पृ. ३७।
१२. वही, पृ. ३९।
१३. प्रो. जैन, "अर्धमागधी आगम" जैन आयाम—५, पार्श्वनाथ, १९९४, पृ.९।
१४. देवेन्द्रमुनि, "छेदसूत्र", त्रीणिछेदसूत्राणि, ब्यावर १९८२, पृ. ४१।
१५. वही, पृ. ४२।
१६. पंचकल्पचूर्णि, पत्र १ (लिखित), द्रष्टव्य—वही, पृ. ४२।
१७. पं. मालवणिया, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—एक, पार्श्वनाथ, १९८१, पृ. ४१।

१८. डब्ल्यू., शुब्रिंग, द डाक्ट्रिन ऑव द जैनाज, अंग्रेजी अनु. वुल्गैंग ब्यूर्लेन; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६२, पृ. ८१।
१९. भणिदो दसाण छेदो पन्नरससएहिं होइ वरिसाणं।
समणम्मि फग्गुमित्ते गोयमगोत्ते महासत्ते।।८१७।।
तित्थोगाली पइन्नयं—'पइण्णयसुत्ताइं'—(२), सं. मुनिपुण्यविजय, जैन आगम ग्रन्थमाला १७, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई १९८४, पृ. ४८३।
२०. प्रो. जैन, ''अर्धमागधी आगम'', जैन आयाम, पार्श्वनाथ १९९४, पृ. ३३।
२१. कतरं सुत्तं? दसाउकप्पो ववहारो या कतरातो उद्धृतं? उच्यते पच्क्खाण पुव्वाओ।—द. चू., जिनदासगणि, 'मणिविजय गणि ग्रन्थमाला, सं. १४, भावनगर १९५४, पृ. २।
२२. देवेन्द्रमुनि, ''छेदसूत्र'' त्रीणिछेदसूत्राणि, ब्यावर १९८२, पृ. १२—१३।
२३. वही, पृ. १३
२४. दशाश्रुतस्कन्धसूत्र, अनु. आत्माराम, जैन शास्त्रमाला सं.१, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, १९३६, पृ.१०।
२५. वही, पृ. ३३—३४, ६४—६५, ९८—९९, १३९—१४०, १७२, २५५, ३१३, ३१८ एवं ३६३।

—पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई.टी.आई. रोड़
करौंदी, वाराणसी (उ.प्र.)

बृहत्कल्पसूत्र

आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा.

बृहत्कल्पसूत्र में साधु.साध्वियों के लिए स्वीकृत उत्सर्ग एवं अपवाद नियमों का उल्लेख है। इसमें प्रवास, आहार, वस्त्र, पात्र, विहार, साधु एवं साध्वी के पारस्परिक व्यवहार एवं दोनों के विशेष आचरण संबंधी निर्देश हैं। यह बृहत्कल्पसूत्र कल्पसूत्र से भिन्न है। कल्पसूत्र तो दशाश्रुतस्कन्ध का एक भाग है जबकि बृहत्कल्पसूत्र एक स्वतन्त्र सूत्र है। आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी महाराज सा ने आज से ५२ वर्ष पूर्व बृहत्कल्पसूत्र का टीका सहित सम्पादन किया था। उसमें जो बृहत्कल्पसूत्र का संक्षिप्त परिचय दिया गया था, उसे ही यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। —सम्पादक

जैन शास्त्रों को प्रमुखत: चार भागों में बांटा गया है— अंग, उपांग, मूल और छेद। उनमें बृहत्कल्प का स्थान भी छेद सूत्रों में आता है। आगमों में विभिन्न जगह 'दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकालेणं' ऐसा निर्देश आता है, जिसमें दशाश्रुत स्कंध के साथ बृहत्कल्प का भी कल्प के संकेत से उल्लेख किया गया है। ज्ञात होता है कि इसका पूर्व नाम कल्पसूत्र ही रखा गया हो, क्योंकि वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि भी इसी नाम से परिचय देते हैं। स्थानांग और आवश्यक आदि में कल्प नाम का उल्लेख होते हुए और वृत्ति में भी कल्प नाम से परिचय होते हुए इसको बृहत्कल्प नाम से क्यों कहा जाता है, 'निगूढाशया हि आचार्या:, ऐसा होने पर भी यथासाध्य कारण का पता लगाना चाहिए। संस्कृत में एक नियम है कि 'संभवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्' विशेषण का संभव हो या उसके बिना दोष आने की संभावना हो, तभी विशेषण की नाम के साथ सार्थकता होती है। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि बृहत्कल्प और दशाश्रुतस्कन्ध का पर्युषण कल्प जिसको आज कल्पसूत्र के नाम से कहते हैं, दोनों को यदि एक ही नाम से कहा जाय तो ग्रंथ का सही परिचय प्राप्त नहीं होगा। अत: आवश्यकता हुई दोनों में विशेषण देने की। कल्पसूत्र के अन्तिम भाग समाचारी में भी कुछ कल्पाकल्प का भेद दिखाने हेतु उल्लेख किया है और इसमें उसी का विस्तृत विचार है— संभव है इसी दृष्टिकोण को लेकर मध्यकाल के आचार्यों ने इसका नाम बृहत्कल्प रखा हो। सामग्री के अभाव में और समय की कमी से यहाँ अभी यह निर्णय नहीं कर सकते हैं कि बृहत्कल्प नाम की प्रसिद्धि कब से हुई।

कर्त्ता एवं उद्देश्य

प्राप्त सामग्री के अनुसार बृहत्कल्प सूत्र के कर्त्ता श्रुतकेवली भद्रबाहु माने गये हैं। आचार्य मलयगिरि कहते हैं कि— अथ क: सूत्रमकार्षीत्? को वा निर्युक्तिं? को वा भाष्यम्? इति, उच्यते— इह पूर्वेषु यद् नवमं प्रत्याख्यानं नामकं पूर्वं तस्य यत् तृतीयमाचाराख्यं वस्तु तस्मिन् विंशतितमे प्राभृते मूलगुणेषूत्तरगुणेषु चापराधेषु दशविधमालोचनादिकं प्रायश्चित्तमुपवर्णितम्।

कालक्रमेण च दुषमानुभावतो धृति—बलवीर्यबुद्ध्याऽऽयु:प्रभृतिषु परिहीयमानेषु पूर्वाणि दुरवगाहानि जातानि, ततो 'मा भूत् प्रायश्चित्त-व्यवच्छेद—इति साधूनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पसूत्रं व्यवहारसूत्रं चाकारि, उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति:। इमे अपि च कल्प-व्यवहार सूत्रे सनिर्युक्तिके अल्पग्रंथतया महार्थत्वेन च दुषमानु-भावतो हीयमानमेधाऽऽयुरादिगुणानामिदानीन्तनजन्तूनामल्पशक्तीनां दुर्ग्रहे दुरवधारे जाते, तत: सुखग्रहण—धारणाय भाष्यकारो भाष्यं कृतवान् तच्च सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्त्यनुगतमिति सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिर्भाष्यं चैको ग्रंथो जात:।

टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने कहा है कि पूर्व का यह प्रायश्चित्त भाग नष्ट नहीं हो जाय, इसलिये भद्रबाहु ने इसकी रचना की। किन्तु कुछ गहराई से सोचने पर मालूम होगा कि छेद सूत्र की रचना का उद्देश्य विभिन्न देशकाल में होने वाले साधु-साध्वियों की परिस्थितिवश उलझी समस्या को सुलझाना और मोह, अज्ञान एवं प्रमाद आदि से लगने वाले दोषों से संयम की रक्षा करना भी है।

यह सर्वविदित बात है कि साधु भी शरीरधारी प्राणी है। काम, क्रोध लोभादि उसके साथ भी लगे हैं। यद्यपि वह इनको आश्रय नहीं देता और न उदय को टिकाने का ही यत्न करता है, फिर भी छठे से ११ वें गुणस्थान तक लाख प्रयत्न करने पर भी इनका समूल नाश नहीं होता। इन छ: दर्जों में वह अपने प्रयत्न के बल पर इनको मन्द, मन्दतर, मन्दतम बना लेता है और ग्यारहवें में पहुंचकर तो उसको 'भस्माच्छन्न' आग की तरह हतशक्ति कर देता है। किन्तु अधिकता से प्रमत्तदशा के प्रथम स्थान पर रहने वाले साधु-साध्वियों के लिये तो सदा कषाय का खतरा बना रहता है। उनके लिये निर्मोहता और वीतरागता का आदर्श वांछनीय होकर भी प्राप्त नहीं है। उनका शरीर और संघ से प्रेम संबंध टूटा नहीं है। शरीर, संगी और संयम की रक्षा के लिये आहार, वस्त्र, पात्र, स्थान आदि साधनों की समय—समय पर आवश्यकता होती है। अत: उत्सर्ग और अपवाद के कथन से मुनि-धर्म की रक्षा और शुद्धि करना इसका प्रधान उद्देश्य समझना चाहिए।

शास्त्र के अधिकारी

प्राचीन समय की एक मर्यादा है कि अयोग्य को ज्ञान नहीं देना चाहिए। यदि कोई आचार्य ज्ञान दान में योग्याऽयोग्य का विचार नहीं करे तो शास्त्र ने उसे दोषभागी माना है। आवश्यक सूत्र में इसको ''सुट्ठुदिन्नं'' नामक ज्ञान का अतिचार कहा है। स्थानांग के तीसरे स्थान में कहा है कि १. अविनीत २. रसलोलुपी और ३. कलह का उपशमन नहीं करने वाला तीव्र कषायवान, ये तीन वाचना देने योग्य नहीं हैं।

प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान तो पापी को धर्मी बनाता है और दुर्जन

को भी सज्जन करता है फिर इसके लिये ऐसा परहेज क्यों? बात यह है कि ज्ञान दो प्रकार का है– एक ग्रहण शिक्षा रूप दूसरा सेवन रूप। इनमें पदार्थ ज्ञान एवं उत्सर्गापवाद की शिक्षा वाला जो प्रथम ज्ञान है उसके लिये अधिकारी का विचार आवश्यक है। आज भी अणुविज्ञान आदि के तत्त्व गुप्त रखे जाते हैं, कारण कि उनके दुरुपयोग की आशंका रहती है। इसलिये भाष्यकार कहते हैं कि शास्त्र के रहस्यों को जो साधारण में प्रगट करता है और अपवाद पद का गलत उपयोग करता है वैसे ज्ञान–दर्शन–चारित्र की शिथिल प्रवृत्ति वाले को ज्ञान देना दोष का हेतु है। ऐसे अपात्र में शास्त्रज्ञान देने वाला चतुर्गतिक संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिये कल्पशास्त्र का ज्ञान देने के लिये निम्न गुण देखने चाहिये –

अरहस्सधारए, पारए य, असढकरणे तुलासमं समिते।
कप्पाणु-पालणा दीवणाय, आराहण छिन्न संसारी।।6490

अर्थात् जो गम्भीर रहस्य को धारण करने वाला है, प्रारम्भ किये श्रुत को बीच में नहीं छोड़ता, छल और अहंकार से दूर तथा तुला के समान राग-द्वेष रहित समबुद्धि वाला है, जितेन्द्रिय है, उसको शास्त्रज्ञान देना चाहिए, जिससे भगवत्कथित कल्प की आराधना हो अथवा जो शास्त्र कथित विधि का पालन करे उसको देना चाहिये। ऐसा करने से जिनमार्ग की दीपना होती है।

विषयवस्तु

बृहत्कल्पसूत्र में कुल ६ उद्देशक एवं ८१ अधिकार हैं। प्रत्येक अधिकार में भिन्न-भिन्न विषयों की चर्चा है। सूत्रों की संख्या २०६ है।

प्रथम उद्देशक

प्रथम उद्देशक में २४ अधिकार हैं। पहले प्रलंबाधिकार है, जिसमें कहा गया है कि ताल एवं केला आदि प्रलंबफल साधु-साध्वियों को कैसा लेना और कैसा नहीं लेना। कच्चा हो तो साधु-साध्वियों को बिना कटा लेना नहीं कल्पता, कटा हुआ ले सकते हैं। साधुओं के लिये पक्के ताल प्रलंब का निषेध नहीं, किन्तु साध्वी उसे भी विधिपूर्वक कटे होने पर ले सकती है, अन्यथा नहीं।

दूसरा मास कल्पाधिकार है। इसमें कहा है कि वर्षाकाल के अतिरिक्त साधु१ मास और साध्वी २ मास एक गांव में रह सकते हैं। यदि गांव बाहर भीतर आदि रूप से दो भाग में हो तो द्विगुण काल तक रह सकते हैं, किन्तु उस समय जहां रहते हों उसी हिस्से से भिक्षा लेनी चाहिए। तीसरे अधिकार में साधु-साध्वियों के एक गावं में एकत्र रहने का विचार है। जो गांव एक ही द्वार वाला हो, जहाँ उसी से निकलना और प्रवेश करना हो वहां दोनों को एक साथ रहना निषिद्ध है। भिन्न मार्ग होने पर रह सकते हैं। चौथे उपाश्रय अधिकार में साध्वियों के लिये बाजार या गली के मुंह पर ठहरना निषिद्ध

कहा है। साधु वहां ठहर सकते हैं। साध्वियां खुले मकान में बिना आवरण किये नहीं ठहर सकती, साधु रह सकते हैं। पंचम अधिकार में बताया है यदि मिट्टी का भांड लेना आवश्यक हो तो साध्वियां सकड़े मुंह के अरहट की घड़ी जैसा भांड ले सकती हैं, किन्तु साधु वैसा नहीं ले सकता। छठे अधिकार में साधु-साध्वियों को वस्त्र की चिलिमिलिका—मच्छरदानी रखने की अनुमति दी गई है। सप्तम अधिकार में कहा है कि पानी के किनारे साधु-साध्वियों को १७ काम नहीं करना चाहिए, जैसे खड़े रहना, बैठना, सोना, खाना, पीना, स्वाध्याय आदि। आठवें अधिकार में चित्रवाले घर में साधु-साध्वियों के लिये ठहरना निषिद्ध कहा है। क्योंकि वहां ज्ञान ध्यान में विक्षेप हो सकता है। नवम अधिकार में साध्वियों के शील-रक्षण की दृष्टि से कहा है कि उन्हें शय्यादाता की देखरेख में ही रहना चाहिए। साधुओं के लिये ऐसा नियम नहीं है। दशम अधिकार में कहा गया है कि साधु को सागारिक उपाश्रय में नहीं रहना चाहिये; किन्तु सागारिक रहित स्थान में रह सकते हैं। फिर स्पष्ट कर इसी बात को ग्यारहवें अधिकार में कहा है— साधु स्त्री वाले उपाश्रय में नहीं रहे। पुरुष वाले घर में रह सकते हैं। इस प्रकार साध्वियों के लिये पुरुष सागारिक का निषेध और स्त्री वाले स्थान की अनुमति समझनी चाहिए। बारहवें अधिकार में कहा है कि जहां स्त्री आदि का प्रतिबंध हो वहां साध्वियाँ रह सकती हैं, साधु नहीं। १३ वें अधिकार में निर्देश है कि जहां घर में होकर आना जाना पड़ता हो उस जगह साधु नहीं रह सकते, साध्वियाँ स्थानाभाव से रह सकती हैं। १४ वें अधिकार में कहा है कि साधुओं को क्रोध नहीं रखना चाहिये। कभी कलह बोलना हो जाय तो अविलम्ब क्रोध को शान्त कर लेना चाहिये। कारण कि प्रशमभाव ही संयम का सार है। १५वें अधिकार में विहार का विचार है, वर्षा काल में विहार का निषेध और शेष काल में अनुमति है। १६ वें अधिकार में साधु.साध्वियों के लिये दो विरोधी राज्यों में परस्पर शंका हो, इस प्रकार जल्दी गमनागमन करने का निषेध है। १७वां अधिकार अवग्रह का है। इसमें कहा है कि भिक्षा के लिये घर में गये हुए या स्वाध्याय और बहिर्भूमि जाते समय कभी गृहस्थ वस्त्र, पात्रादि से निमन्त्रण करे तो साधु-साध्वी का कर्त्तव्य है कि वे आचार्य एवं प्रवर्तिनी की निश्राय से लावें और उनकी अनुमति पाकर ही ग्रहण करें। १८वें से २१ वें तक चार अधिकारों में रात्रि के निषिद्ध कार्यों का वर्णन किया गया है। पहले में कहा गया है कि रात या विकाल में चारों आहार ग्रहण नहीं करे, केवल दिन को देखे हुए शय्यासंस्तारक रात में काम ले सकते हैं। वैसे रात या विकाल में साधु-साध्वी वस्त्र भी नहीं ले सकते, अपना चुराया गया वस्त्र आदि रात में लाया गया हो तो वह ले सकते हैं। फिर रात में एक गांव से दूसरे गांव विहार करना भी नहीं कल्पता। २२ वें अधिकार में जीमणवार में जाने का निषेध है। २३ वें अधिकार में कहा है कि साधु-साध्वियों को शारीरिक कारण या स्वाध्याय के

लिए रात्रि में उपाश्रय के बाहर जाना हो तो, अनुकूलतानुसार एक–दो को साथ लेकर जाना चाहिए। २४ वें अधिकार में विहारक्षेत्र बताया गया है। पूर्व में अंग और मगध, दक्षिण में कौशाम्बी, पश्चिम में स्थूणा और उत्तर में कुणाला देश तक आर्य्यक्षेत्र कहा गया है।

द्वितीय उद्देशक

दूसरे उद्देशक में ७ अधिकार हैं। प्रथम उपाश्रयाधिकार है, जिसमें खासतौर से १२ सूत्रों के द्वारा यह बताया गया है कि कैसे उपाश्रय में उतरना और कैसे में नहीं। पहले कहा है कि जहाँ शालि आदि के बीज बिखरे हों, वहाँ नहीं ठहरना चाहिए। जहां मद्य के घड़े रखे हों और ठंडे-गर्म जल के घड़े भरे रहते हों, वहां भी साधु-साध्वी के लिये ठहरना निषिद्ध है। जिस घर में रात भर आग जलती हो या दीपक रात भर जलता रहे, वहां भी साधु-साध्वियों को नहीं ठहरना चाहिए। उपाश्रय की सीमा में घृत, गुड़ और मोदकादि खाद्यपदार्थ बिखरे हों वहां भी नहीं ठहरना चाहिए। साध्वियों के लिये सार्वजनिक धर्मशाला–मुसाफिर खाना– में एवं खुले घर या वृक्ष के नीचे ठहरना निषिद्ध है। साधु ऐसे स्थान में ठहर सकते हैं।दूसरे अधिकार में शय्यातर पिंड का विचार है। यदि किसी मकान के एक से अधिक स्वामी हों तो उनमें से एक को शय्यादाता बनाकर शेष घर की भिक्षा ले सकते हैं। शय्यातर का पिंड बाहर निकलने पर भी कब लिया जा सकता है, बताया गया है। ३–४–५ वें अधिकार में, जो भोजन शय्यातर के यहां दूसरे का आया हो, या शय्यातर के यहां से भेजा गया हो तथा उसके पूज्य माननीय पुरुष के लिये बनाया गया हो, उसको किस प्रकार ग्रहण करना, कहा गया है। छठे अधिकार में कहा है कि साधु पाँच प्रकार के वस्त्र धारण कर सकते हैं– १. जंगमज–ऊन, रेशम आदि २. अलसी ३.सणसूत्र ४.कपास और ५. वृक्ष की छाल के वल्कल। सातवें अधिकार में पांच प्रकार के रजोहरण बताये हैं–१. ऊन का २. ऊंट की जट का ३. सण का ४–५. कुटे हुए घास और मुंज का।

तृतीय उद्देशक

तीसरे उद्देशक में १६ अधिकार हैं। प्रथम अधिकार में कहा है कि जहाँ साधु रहते हों उस स्थान पर साध्वी को और साध्वी के यहां साधु को विना कारण जाना नहीं चाहिए। दूसरे अधिकार में सकारण चमड़ा लेने का विचार है। तीसरे अधिकार में कहा है कि साधु-साध्वियों को अखण्ड, यानी बहुमूल्य वस्त्र नहीं रखना चाहिए, आवश्यकता से टुकड़ा रख सकते हैं।चतुर्थ अधिकार में कहा कि साधु कच्छा नहीं रखे, साध्वियां रख सकती हैं। पंचम अधिकार में भिक्षा के लिये गयी हुई साध्वी को वस्त्र की आवश्यकता हो तो लाने की विधि बताई गई है। षष्ठ अधिकार में सर्वप्रथम दीक्षा लेने वाले साधु-साध्वी के लिये उपकरण का विचार है। सप्तम अधिकार में कहा है

कि शीतकाल के आरंभ में अर्थात् चातुर्मास के अन्त में वस्त्र ग्रहण कर सकते हैं, वर्षा के आरंभ (चातुर्मास) में नहीं। अधिकार ८—९ और १० में कहा है कि वस्त्र ग्रहण, शय्या ग्रहण और वन्दन छोटे बड़े के क्रम से ही करना चाहिये। ११ वें १२वें अधिकार में गृहस्थ के घर पर साधु-साध्वियों के लिये ठहरने और व्याख्यान का निषेध है, अपवाद भी बताया गया है। १३ वें अधिकार में पाट आदि पाडिहारिक शय्या संथारा के देने की विधि कही गई है। १४ वें अधिकार में शय्या वापिस देते समय दूसरे साधु आ जाय तो अवग्रह की विधि बतलायी गई है। १५ वें अधिकार में कहा है कि गांव के बाहर सेना का पड़ाव हो तो भिक्षा के लिये वहां जाकर रात में नहीं रहना चाहिए। १६ वें अधिकार में साधु—साध्वियों के लिये गाँव के चारों ओर ५—५ कोश का अवग्रह लेकर रहने का विधान है।

चतुर्थ उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक में १६ अधिकार हैं। प्रथम, द्वितीय और तृतीय अधिकार में क्रमशः तीन प्रकार के अनुद्घातिक, पारांचिक और अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के कारण कहे गये हैं। चतुर्थ अधिकार में कहा है कि तीन प्रकार के मनुष्य् दीक्षा, मुंडन, शिक्षा, उपस्थापन, संभोग और संवास के अयोग्य हैं। पंचम अधिकार में अविनीत आदि तीन प्रकार के पुरुषों को वाचना के अयोग्य और विनीत आदि को वाचना योग्य कहा है। षष्ठ अधिकार में दुष्ट, मूढ आदि तीन प्रकार के मनुष्य को दुर्बोध्य और अदुष्ट आदि को सुखबोध्य कहा है। सप्तम अधिकार में कहा है कि कष्ट में ग्लानि पाते हुए साधु को साध्वी एवं साध्वी को साधु आवश्यकता समझकर सद्भाव से सकारण सहारा दे तो आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। अष्टम अधिकार में कहा है कि काल या क्षेत्र की पहर तथा कोशरूप मर्यादा का उल्लंघन कर आहार आदि का उपभोग करने से साधु.साध्वी प्रायश्चित्त के अधिकारी होते हैं। नवम अधिकार में आकस्मिक कोई अनेषणीय वस्तु आ जाय तो साधु को क्या करना चाहिये, यह बताया गया है। दशम अधिकार में कल्पस्थित और अकल्पस्थित साधु के लिये औद्देशिक आहार की विधि कही गई है। एकादशवें अधिकार में साधुगणावच्छेदक और आचार्य आदि के गणान्तर करने की विधि बतलाई है। १२वें अधिकार में कदाचित् किसी साधु का आकस्मिक निधन हो जाय और साधु परठना चाहे तो उसकी विधि बतलाई है। तेरहवें अधिकार में कहा हैं कि कदाचित् मोहोदय से साधु का किसी के साथ कलह हो जाय तो तत्काल उसका उपशम करना चाहिये, बिना शान्ति किये भिक्षा आदि के लिये जाना नहीं कल्पता। चौदहवें अधिकार में परिहार तप वाले के साथ कैसा व्यवहार किया जाय, यह बताया गया है। पन्द्रहवें अधिकार में कहा है कि गंगा, यमुना जैसी पांच बड़ी नदियां एक मास में २—३ बार उतरना नहीं कल्पता। कैसी दशा में उतर सकते हैं, यह भी

दिखाया है। १६ वें अधिकार में बताया है कि घास आदि का कच्चा घर यदि निर्जीव हो तो कितनी ऊंचाई होने पर वहां मासकल्प या वर्षाकाल रह सकते हैं।

पंचम उद्देशक

पंचमोद्देशक के प्रथम अधिकार में कहा है कि यदि कोई देव-देवी विक्रिया करके साधु-साध्वी के समक्ष विपरीत लिंगी स्त्री-पुरुष के रूप में उपस्थित हों और साधु-साध्वी उनको अच्छा समझे तो प्रायश्चित्त के अधिकारी होते हैं। दूसरे अधिकार में बताया है कि कोई साधु कलह करके दूसरे गण में जावे तो वहां कोमल वचनों से शान्त कर उसे फिर मूल गण में भेज देना चाहिये आदि। तीसरे अधिकार में प्रात:काल या सायंकाल भोजन करते समय यदि मालूम हो जाय कि सूर्य उदय नहीं हुआ अथवा अस्त हो गया है, तो क्या करना चाहिये, बताया है। चौथे अधिकार में रात्रि या विकाल में कंठ के नीचे से गुचलका जाय तो उसकी विधि कही गई है। पंचम अधिकार में बीज या जन्तु ऊपर से पात्र में गिर जाय तो किस प्रकार करना चाहिये, बताया गया है। छठे अधिकार में भोजन में सचित्त जल की बूंद गिर जाय तब उसके उपयोग की विधि कही गई है। सप्तम अधिकार में साध्वी के व्रत रक्षा का विचार है, उसके लिये निम्न बातों का निषेध है— १. एकाकिनी होकर भिक्षा, जंगल और ग्रामानुग्राम विहार करना। २. वस्त्र रहित रहना ३. अपात्र होना ४. कायोत्सर्ग में देह का भान भूलना ५. गांव के बाहर खड़े होकर आतापना लेना ६. स्थानायत आसन से रहना ७. एक रात्रि की पडिमा कायोत्सर्ग रूप करना ८. निषद्या आसन करना ९. उकडू आसन से बैठना १०. वीरासन से बैठना, ११ दंडासन करना १२. लकडासन करना १३. उलटे मुंह सोना, १४. सीधे सोना १५. आम्रकुब्जासन करना १६. एक पार्श्व से अभिग्रह कर लेटना, ये कार्य साध्वी को नहीं करने चाहिये।

साधु की तरह साध्वी को आकुंचन पट्ट धारण करना, पीछे तकिये—सहारेदार—आसन पर बैठना, दोनों बाजू खुट्टीदार पट्ट पर बैठना, नालवाला तुम्बा रखना, खुली दंडी का रजोहरण धारण करना, पूंजनी में दण्डी रखना ये बातें भी साध्वियों के लिये निषिद्ध हैं। अष्टम अधिकार में मोक प्रतिमा का विचार है। नवम अधिकार में रात में रहे हुए आहार के सेवन का निषेध है। लेप भी रात में रखा हुआ गाढ कारण बिना निषिद्ध है। इसी प्रकार बासी रखे हुए घृत आदि की मालिश भी निषिद्ध है। दशवें अधिकार में परिहार तप वाले के व्यवहार की विधि कही गई है। ११ वें अधिकार में कहा है कि निस्सार आहार पाकर साध्वी निर्वाह नहीं कर सके तो दूसरी बार भी भिक्षा को जाना कल्पता है।

षष्ठ उद्देशक

प्रथम अधिकार में छ: अवचन कहे हैं— जैसे १ हँसी आदि से झूठ

बोलना, २. अवहेलना करना ३. खिसलाने वाले वचन ४. कठोर वचन ५. गृहस्थ जैसे अपशब्द ६. शान्त कलह को उत्तेजित करने वाले वचन। ये सब अवाच्य हैं। दूसरे अधिकार में हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, अपुरुषवचन और दास वचन रूप छः प्रायश्चित्त के स्थान कहे गये हैं। तीसरे अधिकार में चार सूत्रों से कहा गया है कि साधु साध्वी के पैर में कांटा, कील आदि लग जाय एवं आंख में रज कण या जन्तु गिर जाय और वे निकाल नहीं सकें तो आवश्यकता से साधु का साध्वी तथा साध्वी का साधु निकाल सकते हैं। किन्तु यह विशेष प्रसंग का सूत्र है।

चौथे और पांचवें अधिकार में कहा है कि १२ कारणों से साधु साध्वी की रक्षा के समय स्पर्श करते हुए आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते। जैसे (१) दुर्गादि भूमि में साध्वी का पैर फिसलता हो (२) कीचड़ आदि में फिसलती हो (३) नौका पर चढ़ती या उतरती हो (४) भय आदि से विक्षिप्त चित्त हो (५) कामादि से दीप्त चित्त हो (६) भूतप्रेतादि बाधा से बेभान हो (७) उन्मत्त हो (८) उपसर्ग से व्याकुल हो (९) क्रोध या कलह से अनुपशान्त हो (१०) प्रायश्चित्त से भयभीत हो (११) भक्त प्रत्याख्यान वाली हो (१२) अर्थजात से चिन्तित हो। इन स्थितियों में साधु. साध्वी को सहारा दे सकते हैं।

छठे अधिकार में ६ बातें संयम को निस्सार बनाने वाली कही गई हैं। अन्त में कल्प की ६ स्थितियाँ बताई गई हैं। छद्मस्थ साधक के कल्पमात्र का इसमें समावेश कर दिया गया है।

शास्त्रान्तर से तुलना

बृहत्कल्प की शास्त्रान्तर से दो प्रकार की तुलना हो सकती है, एक शब्द से और दूसरी अर्थ से। यहां आर्थिक तुलना समयाभाव से नहीं कर थोड़ी सी शाब्दिक तुलना ही की जायेगी। भगवती, व्यवहार और स्थानांग सूत्र में तुलना के स्थल मिलते हैं। जैसे स्थानांग के चतुर्थ स्थान के आदि में— तओ अणुग्घाइया पं. तं. हत्थकम्मं करेमाणे—से तओ सुसण्णप्पा पं. तं....... ...अवुग्गहिए। पर्यन्त १३ सूत्रों का तृतीय उद्देशक में पूर्ण साम्य है।

स्थानांग की विशेषता यह है कि उसके पंचम स्थान के द्वितीय उद्देशक में पांच प्रकार का अनुद्घातिक बताया है, जैसे कि— पंच अणुग्घाइया पं. तं. (१) हत्थ कम्मं करेमाणे (२) मेहुणं पडिसेवमाणे (३) राइयभोयणं भुंजमाणे (४) सागारिय पिंडं भुंजमाणे (५) रायपिंडं भुंजमाणे ।

द्वितीय उद्देशक के अंतिम दो सूत्रों का पंचम स्थान के तृतीय उद्देशक के ''कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पंच वत्थाइं धारित्तए.....'' सूत्र में पूर्ण साम्य है केवल यहां 'इमाइं' पद नहीं है।

चतुर्थ उद्देशक के ३२ वें सूत्र के साथ पंचम स्थान द्वितीय उद्देशक के

आदि सूत्र में प्राय: साम्य है। वहाँ 'कोसिया' के स्थान पर 'एरावई' का प्रयोग है।

अपवाद में स्थानांग की विशेषता है, वहां पाँच कारण बताये हैं। जैसे कि पंचहिं ठाणेहिं कप्पंति, त. १.भयंसि वा २.दुभिक्खंसि वा ३. पव्वहेज्जवणंकोई ४. उदयोघंसि वा एज्जमाणंसि महतावा ५.अणारिएसु।

छठे उद्देशक के अवचनादि चार सूत्र भी स्थानांग के छठे स्थान में मिलते हैं।

दुर्ग प्रकृत के 'निग्गंथे निग्गंथिं दुग्गंसि वा विसमंसि वा' आदि सूत्रों का स्थानांग पंचम स्थान के द्वितीय उद्देशक और छठे स्थान में साम्य मिलता है।

अर्थ की तुलना के लिये आचारांग आदि अन्य शास्त्र भी तुलना स्थान हो सकते हैं।

बृहत्कल्प के टीका ग्रन्थ और संस्करण

भद्रबाहुस्वामिकृत निर्युक्ति के अतिरिक्त एक संघदासगणिकृत प्राकृत भाष्य है जो गाथाबद्ध है। आचार्य मलयगिरि ने कहा है कि-"सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिर्भाष्यं चैको ग्रन्थो जात:।" निर्युक्ति और भाष्य का पृथक्करण करना कठिन हो गया है। क्षेमकीर्ति के उल्लेख से चूर्णि का होना भी पाया जाता है। फिर आचार्य मलयगिरि ने इस पर संस्कृत टीका की है, जो पूर्ण उपलब्ध नहीं होती। आचार्य क्षेमकीर्ति कहते हैं कि- तदपि कुतोऽपि हेतोरिदानीं परिपूर्णं नावलोक्यत इति परिभाव्य मन्दमतिमौलिनाऽपि मया गुरूपदेशं निश्रीकृत्य श्रीमलयगिरिविरचितविवरणादूर्ध्वं विवरीतुमारभ्यते।" इससे ज्ञात होता है कि मलयगिरिकृत टीका का जो भाग उपलब्ध नहीं है, उसी की क्षेमकीर्ति ने पूर्ति की है। पूर्वाचार्यों ने कुछ टब्बार्थ भी किये हैं। उपर्युक्त निर्युक्ति, भाष्य और टीका सहित संपूर्ण ग्रन्थ "आत्मानन्द जैन सभा भावनगर" से ६ भागों में प्रकाशित हुआ है। मुद्रित भाष्य के साथ लगे हुए लघु विशेषण से यह अनुमान सहज होता है कि बृहद्भाष्य भी होना चाहिए। इसके अतिक्ति डा. जीवराज छेलाभाई ने गुजराती अनुवाद सहित अहमदाबाद से भी एक संस्करण निकाला है। बाल ब्रह्मचारी शास्त्र विशारद पूज्य श्री अमोलऋषिजी महाराज द्वारा इसका हिन्दी अनुवाद भी किया गया है। जो हैदराबाद दक्षिण से प्रकाशित हुआ है। आगम मन्दिर पालीताणा और मुनि जिनविजयजी द्वारा मूल संस्करण भी निकाले गये हैं।●

● आचार्यश्री द्वारा अज्ञात टीकाकार की टीका सहित इस सूत्र का सम्पादन किया गया, जो सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, के पूर्ववर्ती जोधपुर कार्यालय से प्रकाशित हुआ। तदनन्तर सन् 1977 में साण्डेराव से मूलानुस्पर्शी अनुवाद और विशेषार्थ के साथ 'कप्पसुत्तं' का प्रकाशन हुआ। सन् 1992 में आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर से 'त्रीणि छेदसूत्राणि' ग्रन्थ में इसका प्रकाशन अनुवाद एवं विवेचन के साथ हुआ है।—सम्पादक

व्यवहार सूत्र

सुश्री मीना बोहरा

चार छेदसूत्रों में व्यवहार सूत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें प्रायश्चित, आलोचना, पदों की योग्यता—अयोग्यता, पुनर्दीक्षा, विहार, आहार, निवास आदि श्रमणाचार संबंधी विविध व्यवहारों पर प्रकाश डाला गया है। आगम अध्येत्री एवं अध्यापिका सुश्री मीना बोहरा, एम.ए.(संस्कृत) ने व्यवहार सूत्र की विषयवस्तु को अपने आलेख में संक्षेप में उपनिबद्ध किया है, जिससे व्यवहार सूत्र के प्रतिपाद्य का सरलतया बोध हो जाता है।
—सम्पादक

व्यवहार सूत्र की गणना छेद सूत्रों में होती है। छेद सूत्रों में निर्ग्रन्थ एवं निर्ग्रन्थियों की प्रायश्चित्त—विधि का विधान किया गया है। छेद का अर्थ करते हुए बताया गया है—

बज्झाणुट्ठाणेणं जेण ण बाहिज्जए त ये णियया।
संभवइ य परिसुद्धं सो पुण धम्मम्मि छेउत्ति।।

जिन क्रियाओं से धर्म में बाधा नहीं आती हो और जिससे आत्मा निर्मल होती हो उसे छेद कहते हैं। ये सूत्र चारित्र की शुद्धता स्थिर रखने के लिए हैं। निशीथ के भाष्यकर्ता ने छेद सूत्रों को प्रवचन का रहस्य बताते हुए गुह्य बताया है—

तम्हा न कहेयव्वं आयरियेण पवयणरहस्सं।
खेत्तं कालं पुरिसं नाऊण पगासए गुज्झं।।— निशीथभाष्य19.6184

संयमी जीवन यात्रा के दौरान लगे दोषों और प्रायश्चित्त द्वारा उनकी शुद्धि का वर्णन छेद सूत्रों में उपलब्ध है। इससे यह सूचित होता है कि जैन दर्शन में मानव की कमजोरियों को छिपाया नहीं गया है, अपितु अत्यन्त साहसपूर्वक यथार्थ को प्रस्तुत किया गया है और उनसे मुक्त होने का उपाय बताया गया है।

प्रबल कारण होने पर न चाहते हुए भी या याद न रहने से या प्रमत्तता की स्थिति में दोष का सेवन हो जाता है। उस दोष की शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त आवश्यक है, यही छेद सूत्रों का वर्ण्य विषय है।

आर्य आर्यरक्षित ने आगमों को अनुयोगों के आधार पर चार भागों में विभक्त किया (आवश्यक निर्युक्ति ३६३—३६७)। उसके प्रथम भाग चरणकरणानुयोग के अन्तर्गत छेद सूत्रों को लिया गया है। छेद सूत्र का नामोल्लेख सर्वप्रथम आवश्यक निर्युक्ति (७७०) में हुआ है। इसके पश्चात् विशेषावश्यक भाष्य (२२९५) एवं निशीथ भाष्य (५९४७) में हुआ है।

छेद सूत्र की आचार संहिता को 'जैनागम साहित्य : मनन और मीमांसा' (पृ. ३४७) पुस्तक में चार भागों में विभक्त किया गया है—१. उत्सर्ग (सामान्य विधान) २. अपवाद (परिस्थिति विशेष की दृष्टि से विशेष विधान) ३. दोष (उत्सर्ग एवं अपवाद को भंग करना) और ४. प्रायश्चित्त

आचार्यादि) वाचना करा सकते हैं एवं एक भिक्षु को कल्पाक ही पारिहारिक की वैयावृत्य के लिए नियुक्त करते हैं। उस भिक्षु को अनुपारिहारिक कहा जाता है। ये १८ सूत्र निशीथ सूत्र के उद्देशक २० के समान हैं। सूत्र १९ में बताया गया है कि अनेक पारिहारिक एवं अपारिहारिक भिक्षु स्थविर की आज्ञा के बिना एक साथ रहना, बैठना आदि प्रवृत्ति नहीं कर सकते हैं। यदि वे ऐसा करते हैं तो जितने दिन करें उतने दिनों का दीक्षा छेद या परिहार तप का प्रायश्चित्त आता है। यहां यह स्पष्ट होता है कि समूह में रहकर भी पारिहारिक भिक्षु अकेला कार्य करता है। समूह में रहने का कारण यह हो सकता है कि इसे देखकर अन्य भिक्षुओं को भय उत्पन्न हो जिससे वे दोष का सेवन न करें तथा पारिहारिक भी कपट न करते हुए शुद्धिपूर्वक प्रायश्चित्त का पालन करे।

सूत्र २०,२१ व २२ में प्रायश्चित्त काल में वैयावृत्य हेतु विहार का विधान किया गया है। पारिहारिक भिक्षु स्थविर की आज्ञा से किसी रोगी स्थविर की सेवा के लिए अन्यत्र जा सकता है। विहार में तप करने की शक्ति न हो तो स्थविर की आज्ञा से तप छोड़कर भी जा सकता है। इन सूत्रों में वैयावृत्य की महत्ता प्रतिपादित की गई है। उत्तराध्ययन आदि अन्य जैनागमों में भी वैयावृत्य का अवसर होने पर स्वाध्याय आदि प्रमुख कार्यों को छोड़ने का निर्देश है–

वेयावच्चे निउत्तेणं, कायव्वं अगिलायओ।– उत्तराध्ययन 26.10

मार्ग में भी पारिहारिक भिक्षु को अकारण ज्यादा नहीं ठहरना चाहिए। अकारण जितने दिन रुके उतने दिन का दीक्षा छेद या परिहार तप का प्रायश्चित्त आता है।

सूत्र २३ से २५ में एकाकी विहार प्रतिमा प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। यदि कोई एकलविहारी भिक्षु आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक पुनः गण में आने की इच्छा करे तो उसे यथायोग्य प्रायश्चित्त देकर गण में रख लेना चाहिए।

सूत्र २६ से ३० में पासत्थादि पांच प्रकार के भिक्षुओं के प्रायश्चित्त का विधान है। यदि भिक्षु गण से निकलकर पार्श्वस्थ, यथाच्छन्द, कुशील, अवसन्न या संसक्त विहार प्रतिमा को अंगीकार कर विचरे और पुनः उसी गण में आना चाहे तो यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो और संयम पालन के भाव हों तो तप या छेद का प्रायश्चित्त देकर पुनः गण में सम्मिलित कर लेना चाहिए। सूत्र ३१ में बताया है कि यदि कोई भिक्षु गण से निकल कर परपाषण्ड प्रतिमा (अन्य तीर्थियों की वेशभूषा) को धारण कर विचरे और पुनः उसी गण में आना चाहे तो उसे आलोचना के अतिरिक्त और कोई प्रायश्चित्त नहीं दिया जाए।

सूत्र ३२ में कोई भिक्षु यदि गण से निकल कर गृहस्थ लिंग धारण

कर ले तो उसे नई दीक्षा ही दी जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है।

सूत्र ३३ में बताया गया है कि भिक्षु ७ व्यक्तियों के समक्ष अपने अकृत्य स्थान की आलोचना कर सकता है— १. आचार्य के पास २. उनके अभाव में स्वगच्छ के बहुश्रुत के पास ३. उनके अभाव में अन्य गच्छ के बहुश्रुत के पास ४. उनके अभाव में सारूपिक साधु के पास ५. उनके अभाव में पश्चात्कृत श्रमणोपासक (जो महाव्रत छोड़कर श्रावक बना हो) के पास ६. उनके अभाव में सम्यग्दृष्टि के पास और ७. उनके अभाव में ग्राम के बाहर अरिहंत-सिद्ध प्रभु की साक्षी में।

द्वितीय उद्देशक

सूत्र १ से ४ में विचरने वाले साधर्मिकों के परिहार तप का विधान किया गया है। दो साधर्मिक साधु साथ विचरण कर रहे हों, उनमें से यदि एक अकृत्य स्थान का सेवन करके आलोचना करे तो उसे प्रायश्चित्त दिया जावे और दूसरा उसकी वैयावृत्य करे। यदि दोनों निर्ग्रन्थ दोष के भागी हों तो पहले एक कल्पाक स्थापित हो और दूसरा तप करे, कल्पाक ही वैयावृत्य भी करे। एक का परिहार तप पूर्ण होने पर कल्पाक पारिहारिक साधु बने और पारिहारिक कल्पाक बने। अनेक साधर्मिक साधु साथ विचर रहे हों और कोई श्रमण दोष का सेवन कर आलोचना करे तो प्रमुख स्थविर प्रायश्चित्त धारण करावे एवं एक भिक्षु को उसकी सेवा के लिए नियुक्त करे। सारे साधर्मिक अकृत्य स्थान का सेवन करे तो एक कल्पाक बने, शेष पारिहारिक। बाद में कल्पाक प्रायश्चित्त वहन करे।

सूत्र ५ में बताया गया है कि पारिहारिक भिक्षु रोगी होने पर किसी अकृत्य स्थान की प्रतिसेवना कर आलोचना करे तो उसके लिए तीन विकल्प हैं— १. यदि वह तप करने में समर्थ हो तो तप रूप प्रायश्चित्त देवे एवं अनुपारिहारिक को सेवा में नियुक्त करे। २. तप करने में असमर्थ होने पर वैयावृत्य के लिए अनुपारिहारिक भिक्षु नियुक्त करे ३. यदि पारिहारिक समर्थ होते हुए भी निर्बलता का दिखावा करे अनुपारिहारिक भिक्षु से सेवा करावे तो उसका प्रायश्चित्त, पूर्व प्रायश्चित्त में आरोपित करे। सूत्र ६ से १७ में १२ प्रकार की विभिन्न अवस्थाओं वाले भिक्षुओं का वर्णन है— १. परिहार तप वहन करने वाला २. नवम प्रायश्चित्त तप का सेवन करने वाला ३. दसवें प्रायश्चित्त तप का सेवन कर्ता ४. विक्षिप्त चित्त से पीड़ित ५. दीप्तचित्त (हर्षातिरेक) से पीड़ित ६. यक्षावेश से पीड़ित ७. मोहोदय से उन्मत्त ८. उपसर्ग से पीड़ित ९. कषाय से पीड़ित १०. अधिक प्रायश्चित्त देने से भयभीत ११. भक्त पान प्रत्याख्यान से पीड़ित तथा १२. धन के प्रलोभन से पीड़ित।

इन रुग्ण भिक्षुओं को गण से निकालने का निषेध किया गया है। जब

तक वे रोग से मुक्त न हों तब तक उनकी अग्लान भाव से सेवा करने का निर्देश दिया गया है। बाद में गणावच्छेदक उस पारिहारिक भिक्षु को अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

सूत्र १८ से २२ में अनवस्थाप्य (चोरी या मारामारी करने वाले नवम प्रायश्चित्त के पात्र साधु) एवं पारांचिक (दसवें प्रायश्चित्त के पात्र) भिक्षु को पुन: दीक्षित करने का विधान किया गया है। अनवस्थाप्य एवं पारांचिक भिक्षु को गृहस्थ लिंग धारण करवाकर ही पुन: संयम में उपस्थापित करने का निर्देश है। कदाचित् गृहस्थ लिंग को धारण कराये बिना भी पुन: दीक्षा देना गण के प्रमुख के निर्णय पर निर्भर है। गण का हित जिस तरह करने में हो वैसा कर सकता है।

सूत्र २३—२४ में बताया गया है कि यदि कोई भिक्षु अन्य भिक्षु पर आक्षेप लगाए और विवाद पूर्ण स्थिति हो तो स्पष्ट प्रमाणित होने पर ही प्रायश्चित्त देना चाहिए, प्रमाणित न होने पर स्वयं दोषी के दोष स्वीकारने पर ही उसे प्रायश्चित्त देना चाहिए। गण प्रमुख को कभी भी एक पक्ष के कथन से ही निर्णय नहीं करना चाहिए, अपितु उभय पक्ष को सुनकर उचित निर्णय करना चाहिए।

सूत्र २५ में बताया गया है कि एकपक्षीय अर्थात् एक ही आचार्य के पास दीक्षा और श्रुत ग्रहण करने वाले भिक्षु को अल्प समय के लिए या यावज्जीवन आचार्य या उपाध्याय के पद पर स्थापित करना या धारण करना कल्पता है।

सूत्र २६ से २९ में पारिहारिक एवं अपारिहारिकों के परस्पर आहार-संबंधी व्यवहार का कथन है। यदि पारिहारिक के साथ अपारिहारिक एक माह तक साथ रहे तो ५ दिनों बाद साथ बैठकर आहार कर सकते हैं, २ माह रहने पर १० दिन बाद, इस तरह ६ मास साथ रहने पर एक मास बाद, साथ बैठकर आहार कर सकते हैं। पारिहारिक को स्थविर की आज्ञा से ही आहार दिया जा सकता है तथा पारिहारिक स्थविर की आज्ञा होने पर ही कभी दोनों पक्षों की गोचरी ला सकता है एवं परिस्थितिवश विगय सेवन कर सकता है। आहार पात्र तो अलग—अलग ही होने चाहिए।

तृतीय उद्देशक

सूत्र १ व २ में भिक्षु के गण धारण का विधान किया गया है। सूत्र ज्ञान की योग्यता से युक्त परिच्छन्न (आचारांगादि सूत्रों के परिज्ञान से युक्त) भिक्षु ही गणप्रमुख बन सकता है, किन्तु स्थविरों की आज्ञा के बिना वह ऐसा नहीं कर सकता। यदि ऐसा करता है तो जितने दिन गणनायक बनता है उतने ही दिन की दीक्षा का छेद या परिहार तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है। उसके साथ वाले साधुओं को यह प्रायश्चित्त नहीं आता है।

सूत्र ३—४ में उपाध्याय पद की योग्यता का विधान है। ३ वर्ष की

दीक्षा पर्याय वाला, आचार कुशल, संयम कुशल, प्रवचन कुशल, प्रज्ञप्ति कुशल, संग्रह कुशल, अक्षत चारित्र वाला, बहुश्रुत और कम से कम आचार प्रकल्प को धारण करने वाला उपाध्याय पद के योग्य है। इन गुणों के अभाव में उपाध्याय पद को धारण नहीं कर सकता है।

सूत्र ५—६ में आचार्य एवं उपाध्याय पद की योग्यता एवं अयोग्यता का विधान किया गया है। उपाध्याय के योग्य गुणों के अतिरिक्त दीक्षा पर्याय ५ वर्ष और कम से कम आचारांग, सूत्रकृतांग और ४ छेद सूत्र कण्ठस्थ हो तो आचार्य पद पर नियुक्त हो सकता है। इनके अभाव में नहीं।

सूत्र ७—८ में गणावच्छेदक की योग्यता का कथन है। उपर्युक्त गुण सम्पन्न व ८ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला तथा पूर्वोक्त आगम सहित स्थानांग समवायांग सूत्र को कण्ठस्थ करने वाला गणावच्छेदक पद पर नियुक्ति योग्य है।

सूत्र ९—१० में बताया गया है कि निरुद्ध पर्याय (अनेक वर्षों तक संयम का पालन करके विशेष कारण से स्वजन संबंधी के द्वारा बलपूर्वक भिक्षु वेष से मुक्त होने वाला) तथा निरुद्ध वर्ष पर्याय (जिस भिक्षु की दीक्षा पर्याय केवल ३ वर्ष की हुई है और श्रुत का अध्ययन भी उसका पूर्ण नहीं हुआ है, उसे यदि सम्बन्धी बलपूर्वक भिक्षुवेष से मुक्त कर ले जावे) भिक्षु को विशेष परिस्थिति में आचार्य, उपाध्याय पद पर नियुक्त किया जा सकता है। इस विधान से नवदीक्षित को उसी दिन आचार्य बनाया जा सकता है।

सूत्र ११ व १२ में ४० वर्ष से कम आयु वाले एवं ३ वर्ष की दीक्षा पर्याय से कम संयम वाले साधु-साध्वियों को आचार्य, उपाध्याय एवं प्रवर्तिनी के बिना रहने का निषेध किया गया है। सूत्र १३ से १७ में बताया गया है कि भिक्षु गण को छोड़कर मैथुन सेवन करे और बाद में पुनः दीक्षित हो जाए तो ३ वर्ष पर्यन्त आचार्यादि पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है। पद छोड़े बिना मैथुन सेवन करने पर आजीवन पद धारण के योग्य नहीं रहता है।

सूत्र १८ से २२ में बताया गया है कि यदि कोई भिक्षु वेदमोहनीय जन्य कामना से वशीभूत होकर अन्य भिक्षु को पद पर नियुक्त कर वेश छोड़कर अन्यत्र जाकर मैथुन सेवन करे और बाद में पुनः वहां जाकर दीक्षित हो जावे तो उसे ३ वर्ष पर्यन्त पद देना नहीं कल्पता है। वेश छोड़े बिना अकृत्य करने पर या अन्य को पद भार सौंपे बिना संयम छोड़कर जाने पर यावज्जीवन उस भिक्षु को पद नहीं दिया जा सकता है।

सूत्र २३ से २९ में बताया गया है कि बहुश्रुत भिक्षु या आचार्य आदि पदवीधर अनेक बार झूठ—कपट आदि अपवित्र एवं पापकारी कृत्य करें तो वे जीवन भर के लिए सभी प्रकार की पदवियों के सर्वथा अयोग्य हो जाते हैं।

चतुर्थ उद्देशक

सूत्र १ से १० में आचार्य, उपाध्याय तथा गणावच्छेदक के वर्षावास एवं अन्य समय में साथ रहने वाले भिक्षुओं की संख्या का निर्देश किया गया है। उपर्युक्त पदवीधर हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु में अकेले विहार नहीं कर सकते, आचार्य एवं उपाध्याय एक अन्य साधु के साथ तथा गणावच्छेदक दो अन्य साधुओं के साथ विहार कर सकते हैं। वर्षावास में क्रमशः २ व ३ साधुओं के साथ रह सकते हैं। यहां यह भी विधान है कि अनेक पदवीधर भी उपर्युक्त साधु संख्या अपनी अपनी नेश्राय में रखते हुए ही साथ—साथ विचरण या वर्षावास करें।

सूत्र ११ व १२ में आचार्य आदि विशिष्ट पदवीधर के काल करने पर शेष साधुओं के कर्त्तव्यों का विधान किया गया है। जो भिक्षु उस गण में विशिष्ट पद के योग्य हो उसे ही पद पर स्थापित करना चाहिए, योग्य न होने पर शीघ्र ही योग्य साधुओं के पास या अन्य आचार्य आदि के समक्ष पहुंचना चाहिए।

सूत्र १३ व १४ में रुग्ण आचार्य या संयम-त्याग करके जाने वाले आचार्य आदि के आदेश अनुसार योग्य भिक्षु को आचार्यादि पद देने का विधान किया गया है। यदि अयोग्य हो और उसे कोई गीतार्थ भिक्षु यह कह देवे कि तुम इस पद को छोड़ दो और वह न छोड़े तो जितने दिन न छोड़े उतने दिन का दीक्षा छेद या परिहार तप के प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

सूत्र १५ से १७ में नवदीक्षित भिक्षु के योग्य होने पर (कल्पाक) ११ दिन में उसे बड़ी दीक्षा दे देनी चाहिए। उसका उल्लंघन करने पर आचार्य उपाध्याय को जितने दिन उल्लंघन करे उतने दिन का छेद प्रायश्चित्त आता है। यदि नवदीक्षित के साथ माननीय माता—पिता आदि ने भी दीक्षा ली हो और वे तब तक षड्जीवनिकाय का अध्ययन पूर्ण न कर पायें हों तो माननीय व्यक्ति को ज्येष्ठ रखने के लिए कल्पाक की बड़ी दीक्षा रोके, कल्पाक एवं माननीय व्यक्तियों को साथ बड़ी दीक्षा देवे तो वे प्रायश्चित्त के पात्र नहीं होते हैं।

सूत्र १८ में विशिष्ट ज्ञान-प्राप्ति के लिए यदि कोई भिक्षु अपना गण छोड़कर अन्य गण में जावे और उसे अन्य भिक्षु पूछे कि तुम किसकी देखरेख में विचर रहे हो तो उसके गण में जो दीक्षा में सबसे बड़ा हो उसका नाम कहे। उसके बाद आवश्यक होने पर सबसे अधिक बहुश्रुत भिक्षु का नाम लेवे।

सूत्र १९ में अनेक साधर्मिक साधु एक साथ अभिनिचरिका (गोचरी के समय से पूर्व गोचरी जाना या अन्य क्षेत्र में गोचरी जाना) करना चाहें तो स्थविर की आज्ञा लेना आवश्यक है। आज्ञा न लेने पर जितने दिन ऐसा करे उतने दिन के दीक्षा—छेद या परिहार प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

सूत्र २० से २३ में प्रविष्ट एवं निवृत्त अभिनिचरिका वाले आज्ञाप्राप्त

भिक्षु के विनय—व्यवहार का कथन किया गया है। मर्यादित दिनों से पूर्व आचार्य आदि मिल जावें तो पूर्व आज्ञा से ही विचरण करना चाहिए, किन्तु मर्यादित दिनों (४—५) के बाद अभिनिचरिका के लिए पुन: आज्ञा लेनी आवश्यक है।

सूत्र २४—२५ में साथ रहने वाले भिक्षुओं के साथ विनय व्यवहार का कथन है। अधिक दीक्षा पर्याय वाला भिक्षु कम दीक्षा पर्याय वाले भिक्षु की सेवा, इच्छा हो तो करे, इच्छा न हो तो न करे, पर रोगी हो तो सेवा करना अनिवार्य है।दीक्षा पर्याय में छोटे भिक्षु को ज्येष्ठ भिक्षु की सेवा करना अनिवार्य है। ज्येष्ठ सहयोग न लेना चाहे तो आवश्यक नहीं।

सूत्र २६ से ३२ में बताया गया है कि अनेक भिक्षु, अनेक आचार्य, उपाध्याय आदि साथ—साथ विवचरण करें तो उन्हें परस्पर समान बनकर नहीं रहना चाहिए, अपितु ज़ो दीक्षा में ज्येष्ठ हो उसी को प्रमुख मानना चाहिए।

पंचम उद्देशक

सूत्र १ से १० में निर्देशित किया गया है कि प्रवर्तिनी कम से कम दो साध्वियों को लेकर विहार करे एवं ३ साध्वियों के साथ चातुर्मास करे। गणावच्छेदिका के लिये उपर्युक्त निर्दिष्ट साध्वियों में क्रमश: एक—एक संख्या बढ़ाने का निर्देश है।

सूत्र ११—१२ में प्रमुख साध्वी के काल करने पर शेष साध्वियों में से योग्य साध्वी को प्रमुखा बनाकर विचरण करने का निर्देश है। योग्य न होने पर शीघ्र ही अन्य संघाड़े में मिल जाने का विधान है।

सूत्र १३—१४ में कहा गया है कि प्रवर्तिनी के आदेश अनुसार योग्य साध्वी को पदवी देनी चाहिए। योग्य न होने पर अन्य को पदवी दी जा सकती है। अयोग्य साध्वी को यदि अन्य साध्वियाँ पद छोड़ने का न कहें तो वे सभी साध्वियाँ दीक्षा छेद या तप प्रायश्चित्त की पात्र होती हैं।

सूत्र १५—१६ में बताया गया है कि यदि कोई साधु या साध्वी प्रमादवश आचारांग व निशीथ सूत्र विस्मृत करता है तो वह जीवनपर्यन्त किसी भी पद के योग्य नहीं होता। रोगादि के कारण उपर्युक्त सूत्र विस्मृत हुए हों तो पुन: कण्ठस्थ करने के बाद उसे पद दिया जा सकता है।

सूत्र १७—१८ में कथन है कि वृद्धावस्था प्राप्त भिक्षु को यदि आचार प्रकल्प अध्ययन विस्मृत हो जाए तो पुन: कण्ठस्थ करे या न करे तो भी उन्हें पद दिया जा सकता है। वे सोते—सोते, बैठे—बैठे (आराम से) भी सूत्र की पुनरावृत्ति, श्रवण या पृच्छा कर सकते हैं।

सूत्र १९ में निर्देशित है कि विशेष परिस्थिति के बिना साधु-साध्वी को परस्पर आलोचना प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए। सूत्र २० में परस्पर सेवा कार्य का भी निषेध किया गया है। सूत्र २१ में रात्रि में सर्प काटने पर स्थविरकल्पी भिक्षु को चिकित्सा कराना कल्पता है। उपचार करवाने पर भी वे प्रायश्चित्त के भागी नहीं होते हैं। जिनकल्पी को उपचार कराना नहीं कल्पता है।

षष्ठ उद्देशक

सूत्र १ में बताया गया है कि भिक्षु स्थविर की आज्ञा लेकर ही स्व–ज्ञातिजनों के यहां गोचरी के लिए जावे। आज्ञा के बिना जाने पर प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं। अल्पश्रुत व अगीतार्थ भिक्षु को ज्ञातिजनों के यहां अकेले जाना नहीं कल्पता है। गीतार्थ भिक्षु के साथ ही जाना कल्पता है। वहां पहुँचने से पूर्व जो वस्तु बनी है वही लेनी चाहिए, बाद में बनी वस्तु नहीं लेनी चाहिए।

सूत्र २–३ में आचार्य आदि के अतिशय का उल्लेख किया गया है। आचार्य एवं उपाध्याय के पांच अतिशय हैं–
१. दोनों उपाश्रय के भीतर पैरों की रज साफ कर सकते हैं।
२. मल.मूत्र त्याग कर सकते हैं ३. उनका सेवा कार्य ऐच्छिक होता है।
४–५ उपाश्रय के बाहर एवं भीतर विशेष कारण से एक–दो रात अकेले रह सकते हैं।

गणावच्छेदक के दो अतिशय हैं– १–२ उपाश्रय के बाहर एवं भीतर एक–दो रात अकेले रह सकते हैं।

सूत्र ४–५ में कहा गया है कि अनेक अगीतार्थ भिक्षुओं को आचारप्रकल्प– धर के बिना एक साथ रहना नहीं कल्पता है। यदि रहे तो प्रायश्चित्त तप के पात्र होते हैं। परिस्थितिवश योग्य उपाश्रय में १–२ रात रह सकते हैं।

सूत्र ६–७ में बताया गया है कि बहुश्रुत एवं गीतार्थ भिक्षु अनेक द्वार वाले उपाश्रय में अकेला नहीं रह सकता, अपितु एक द्वार वाले उपाश्रय में दोनों समय धर्म जागरणा करते हुए अकेला रह सकता है।

सूत्र ८–९ में कथन है कि जहां पर अनेक स्त्री-पुरुष मैथुन सेवन करते हैं उन्हें देखकर श्रमण हस्तकर्म और मैथुन सेवन करके शुक्र पुद्गलों को निकाले तो क्रमशः गुरुमासिक और गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

सूत्र १०–११ में अन्य गण से आये हुए शिथिलाचारी भिक्षु–भिक्षुणी की चारित्र शुद्धि करके सम्मिलित करने का विधान किया गया है।

सप्तम उद्देशक

सूत्र १–२ में निर्देश है कि प्रवर्तिनी अन्य गण से आई हुई संक्लिष्ट चित्तवाली साध्वी को आचार्य आदि की आज्ञा के बिना तथा उसके दोषों की शुद्धि कराये बिना अपनी नेश्राय में नहीं रख सकती है और उक्त साध्वी आचार्य आदि के पास आये तो प्रवर्तिनी से पूछे बिना भी वे निर्णय ले सकते हैं।

सूत्र ३–४ में बताया गया है कि यदि कोई साधु या साध्वी बार–बार शिथिलाचरण करे तो उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार बंद किया जा सकता है। ऐसा करने के लिए साध्वियाँ आचार्य आदि के पास परस्पर प्रत्यक्ष वार्ता

नहीं कर सकती, किन्तु साधु प्रत्यक्ष बात कर सकते हैं। यदि शिथिलाचारी साधु एवं साध्वी पश्चात्ताप करे तो साम्भोगिक व्यवहार बन्द करना नहीं कल्पता है।

सूत्र ५ से ८ में दीक्षा देने, न देने का विधान किया गया है। साधु अपने लिए साध्वी को और साध्वी अपने लिए साधु को दीक्षित नहीं कर सकते हैं, अपितु साधु, किसी अन्य साध्वी की शिष्या बनने का निर्देश कर सकता है तथा इसी तरह साध्वी भी निर्देश कर सकती है।

सूत्र ९ व १० का अनुवाद दो प्रकार से किया गया है— १. साध्वी अति दूरस्थ आचार्य एवं प्रवर्तिनी की निश्रा स्वीकार करके दीक्षा न लेवे, किन्तु साधु दूरस्थ आचार्य आदि की निश्रा स्वीकार करके दीक्षित हो सकता है—**(त्रीणिछेदसूत्राणि, ब्यावर)**। २. साध्वी को अतिदूरस्थ क्षेत्र की ओर जाना नहीं कल्पता है, जबकि साधु जा सकते हैं **(ववहारसुत्तं—मुनि कन्हैयालाल 'कमल')**

सूत्र ११—१२ में कथन है कि यदि कोई साध्वी, अन्य साध्वी से क्षमायाचना करना चाहती है तो वह परोक्ष क्षमायाचना कर सकती है, किन्तु साधु को प्रत्यक्ष क्षमायाचना करना जरूरी है।

सूत्र १३—१४ में निर्दिष्ट है कि कालिक सूत्र की स्वाध्याय वेला में उत्कालिक सूत्र का स्वाध्याय करना साधु के लिए अकल्पनीय है, किन्तु साध्वी निर्ग्रन्थ की नेश्राय में स्वाध्याय कर सकती है।

सूत्र १५—१६ में निर्ग्रन्थ—निर्ग्रन्थियों को स्वाध्याय वेला में ही स्वाध्याय करने का निर्देश दिया गया है, अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय नहीं करने का निर्देश है।

सूत्र १७ में शरीर संबंधी अस्वाध्याय होने पर स्वाध्याय न करने का निर्देश है। किन्तु साधु-साध्वी परस्पर वाचना दे सकते हैं।

सूत्र १८—१९ में बताया गया है कि ३० वर्ष तक दीक्षा पर्याय वाली साध्वी को ३ वर्ष के श्रमण पर्याय वाले निर्ग्रन्थ को उपाध्याय के रूप में स्वीकार करना कल्पता है और ६० वर्ष की दीक्षा पर्याय वाली साध्वी को आचार्य या उपाध्याय के रूप में ५ वर्ष के दीक्षा पर्याय वाले निर्ग्रन्थ को स्वीकार करना कल्पता है, किन्तु बिना आचार्य एवं उपाध्याय के रहना नहीं कल्पता है।

सूत्र २१—२२ में निर्देश है कि यदि शय्यातर मकान बेच देवे या किराये पर दे देवे तो स्थिति के अनुसार पूर्व स्वामी या नये स्वामी या दोनों की आज्ञा ली जा सकती है।

सूत्र २३ के अनुसार गृहस्वामी के न होने पर ज्ञातकुलवासिनी विधवा लड़की गृहस्वामी के पिता, भाई या पुत्र की आज्ञा लेकर निर्ग्रन्थ उपाश्रय में ठहर सकता है। सूत्र २४ में कथन है कि यदि मार्ग में ठहरना पड़े तो वहां

विद्यमान व्यक्ति की आज्ञा लेकर ही ठहरना चाहिए। सूत्र २५—२६ में राज्य व्यवस्था परिवर्तित होने पर उस राज्य में विचरण करने के लिए साधु-साध्वी को पुन: आज्ञा लेनी चाहिए।

अष्टम उद्देशक

सूत्र १ में साधु को निर्देश है कि वह स्थविर गुरु की आज्ञा से ही शयनासन ग्रहण करे। सूत्र २ से ४ में शय्यासंस्तारक लाने की विधि का उल्लेख है। शय्यासंस्तारक हलका एवं एक हाथ से उठाया जा सके ऐसा लाना चाहिए। ३ दिन तक एक ही बस्ती में गवेषणा करके लाया जा सकता है। वृद्धावस्था में काम आयेगा इस प्रयोजन से लाने पर ५ दिन तक गवेषणा की जा सकती है एवं दूर से भी लाया जा सकता है।

सूत्र ५ में एकल विहारी स्थविर को अपने भण्डोपकरण किसी को सम्भला कर गोचरी जाना कल्पता है और पुन: लौटने पर उसकी आज्ञा से ग्रहण करना कल्पता है।

सूत्र ६ से ९ में बताया गया है कि निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को शय्यासंस्तारक अन्यत्र ले जाना हो तो वह स्वामी से पुन: आज्ञा प्राप्त करे। यदि कुछ समय के लिए शय्यासंस्तारक दिया हो तो भी पुन: आज्ञा प्राप्त करे।

सूत्र १०—११ में कहा है कि पहले शय्या संस्तारक ग्रहण करने की आज्ञा लेवे फिर ग्रहण करे। जहां मुश्किल से शय्या मिलती हो वहां पहले ग्रहण किया जा सकता है फिर आज्ञा ली जा सकती है। स्वामी यदि अनुकूल न हो तो अनुकूल वचनों से आचार्य आदि उसको अनुकूल करे।

सूत्र १२ से १५ में गिरे हुए या विस्मृत उपकरण ग्रहण का विधान किया गया है। निर्ग्रन्थ किसी कार्यवश बाहर जावे तब उसका उपकरण गिर जावे और अन्य साधर्मिक श्रमण को दिखे तो उस उपकरण को लेते समय यह भावना रखे कि जिसका है उसे दे दूंगा और उसे दे देवे, यदि कोई भी भिक्षु उस उपकरण को अपना न कहे तो उसे परठ देवे, अपने पास न रखे।

सूत्र १६ में सूचना है कि यदि अतिरिक्त पात्र ग्रहण किये हैं तो जिनके लिए ग्रहण किये है उन्हें ही देना कल्पता है।

सूत्र १७ में ऊनोदरी तप के बारे में बताया गया है।

नवम उद्देशक

सूत्र १ से ८ में शय्यातर के यहां अतिथि, नौकर, दास, प्रेष्य आदि के लिए आहार बना हो और उन्हें पूर्ण रूप से दे दिया गया हो, उसमें से भिक्षु ले सकता है, किन्तु शय्यातर को वापस आहार लौटाने की स्थिति हो तो आहार लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र ९ से १६ में कथन है कि शय्यातर का ऐसा स्वजन जिसका सम्पूर्ण खर्च शय्यातर देता हो, वह अलग भोजन बनाये तो भी भिक्षु को वह आहार लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र १७ से ३६ के अनुसार शय्यातर का भागीदार यदि भागीदारी वाली वस्तु देवे तो उसे लेना भिक्षु के लिए अकल्पनीय है। बिना भागीदारी वस्तु ले सकता है। यदि बंटवारा हो गया हो तो भी वस्तु ली जा सकती है।

सूत्र ३७ से ४० के अनुसार सप्तसप्तमिका (४९ दिन रात में १९६ भिक्षा दत्तियां) अष्ट-अष्टमिका (६४ दिन रात में २८८ भिक्षादत्तियां) नवनवमिका (८१ दिन रात में ४०५ भिक्षा दत्तियां) इन चार प्रतिमाओं का आराधन साधु—साध्वी दोनों ही कर सकते हैं।

सूत्र ४१—४२ में दो भिक्षु प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है। स्वमूत्र पीने की छोटी व बड़ी प्रस्रवण प्रतिमा क्रमशः ७ व ८ उपवास से पूर्ण की जाती है। उपवास के दिनों में शुद्ध मूत्र दिन में पीया जा सकता है, रात्रि में नहीं।

सूत्र ४३—४४ में दत्ति का स्वरूप बताया गया है। एक बार में जितना आहार अखण्ड धार से दिया जाए वह एक दत्ति कहलाता है।

सूत्र ४५ में तीन प्रकार के खाद्य पदार्थ बताये गए हैं— १. फलितोपहृत (मिष्ठान्न, नमकीन आदि) २. शुद्धोपहृत (चने, फूली आदि) ३. संसृष्टोपहृत (रोटी, भात, खिचड़ी आदि)

सूत्र ४६ में अवगृहीत आहार के तीन प्रकारों का उल्लेख है— १. परोसने के लिए ग्रहण किया २. परोसने के लिए ले जाता हुआ ३. बर्तन में परोसा जाता हुआ। कुछ आचार्य दो प्रकार का भी उल्लेख करते हैं— १. परोसने के लिए ग्रहण किया जाता हुआ २. बर्तन में परोसा हुआ।

दशम उद्देशक

सूत्र १ व २ में यवमध्य चन्द्रप्रतिमा व वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा का वर्णन है। विशिष्ट संहनन वाले ही इन प्रतिमाओं को स्वीकार करते हैं। इनकी समयावधि एक—एक मास होती है। इन प्रतिमाओं को स्वीकार करने वाला एक मास तक शरीर के परिकर्म एवं ममत्व से रहित होता है। उसे अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों उपसर्ग एवं परीषह होते हैं। इन प्रतिमाओं में आहार पानी की (दत्तियों की) हानि-वृद्धि की जाती है। जहां आहार की आकांक्षा करने वाले सभी द्विपद—चतुष्पद आहार ले लौट गए हों, जहां एक ही व्यक्ति आहार कर रहा हो वहीं से आहार लिया जा सकता है। जहां अनेक व्यक्ति भोजन कर रहे हों, गर्भिणी स्त्री हो, बच्चे वाली हो उससे आहार लेना नहीं कल्पता है। जिसके दोनों पैर देहली के अन्दर या बाहर हों उससे आहार लेना भी नहीं कल्पता है। सूत्र ३ में पांच प्रकार के व्यवहार का निरूपण किया गया है— **पंचविहे ववहारे पण्णत्ते, तंजहा— आगमे, सुए, आणा, धारणा, जीए।** अर्थात् १. आगम व्यवहार २. श्रुतव्यवहार ३. आज्ञा व्यवहार ४. धारणा व्यवहार और ५. जीत व्यवहार— इन पांच में से जिस समय जो व्यवहार उपलब्ध हो उस समय उसी से क्रमशः व्यवहार करना चाहिए। जो श्रमण निर्ग्रन्थ मध्यस्थ भाव

से उस उपलब्ध व्यवहार को करता है वह जिनाज्ञा का आराधक होता है। श्रमण आगम व्यवहार की प्रमुखता वाले होते हैं। भाष्यकार व्यवहार सूत्र का मूल पाठ यहीं तक मानते हैं। सूत्र ४ से ३७ तक के सूत्र व्यवहार सूत्र की चूलिका रूप हैं।

सूत्र ४ से ८ में संयमी पुरुष की पांच चौभंगिया कही गई हैं। प्रत्येक पुरुष में गुण भिन्न-भिन्न होते हैं। इनमें गुणों और मान को संबंधित करके बताया गया है। जो साधु गण के लिए कार्य करके भी अभिमान नहीं करते वे उत्कृष्ट हैं। कार्य नहीं करने पर अभिमान करते हैं वे निकृष्ट हैं। जो मान व कार्य दोनों करते हैं वे मध्यम और जो न मान करते हैं न कार्य वे सामान्य हैं।

सूत्र ९ से ११ में धर्मदृढ़ता की चौभंगिया कही गई हैं।

सूत्र १२ से १५ में आचार्य एवं शिष्यों के प्रकार का निरूपण किया गया है। इन चौभंगियों में गुरु एवं शिष्य से संबंधित विषयों का कथन है।

सूत्र १६ में वय स्थविर (६० वर्ष की आयु वाला), श्रुत स्थविर (स्थानांग- समवायांग का धारक) एवं पर्याय स्थविर (२० वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला), स्थविर के इन तीन प्रकारों का कथन है।

सूत्र १७ में बड़ी दीक्षा देने का कालप्रमाण बताया गया है- उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य काल प्रमाण क्रमशः ६ मास, ४ मास व ७ रात्रि का है।

सूत्र १८ में निर्देश है कि ८ वर्ष से कम उम्र वाले बालक को बड़ी दीक्षा नहीं देनी चाहिए।

सूत्र २०-२१ में निर्देश है कि १६ वर्ष से कम उम्र वाले बालक को आचार प्रकल्प का अध्ययन नहीं कराना चाहिए।

सूत्र २२ से ३६ में दीक्षा पर्याय के साथ आगम अध्ययन क्रम बताया गया है, जो इस प्रकार है-

दीक्षा पर्याय	आगम अध्ययन
३ वर्ष	आचारांग, निशीथ
४ वर्ष	सूत्रकृतांग
५ वर्ष	दशाकल्प, व्यवहार सूत्र
८ वर्ष	स्थानांग, समवायांग
१० वर्ष	व्याख्या प्रज्ञप्ति
११ वर्ष	क्षुल्लिका विमान प्रविभक्ति, महल्लिका विमान प्रविभक्ति, अंगचूलिका, वर्गचूलिका व व्याख्या प्रज्ञप्ति चूलिका
१२ वर्ष	अरुणोपपात, गरुडोपपात, धरणोपपात, वैश्रमणोपपात, वेलन्धरोपपात
१३ वर्ष	उत्थान श्रुत, समुत्थान श्रुत, देवेन्द्रोपपात, नागपरियापनिका
१४ वर्ष	स्वप्न भावना

१५ वर्ष	चारण भावना,
१६ वर्ष	तेजोनिसर्ग
१७ वर्ष	आशीविष भावना
१८ वर्ष	दृष्टिविष भावना
१९ वर्ष	दृष्टिवाद

२० वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण सर्वश्रुतानुवादी हो जाता है। सूत्र ३७ में उल्लेख है कि आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, साधर्मिक, कुल, गण तथा संघ इन दस की वैयावृत्य करने से श्रमण महानिर्जरा एवं महापर्यवसान वाला होता है।

इस प्रकार व्यवहार सूत्र अनेक विशेषताओं को लिए हुए है। इसमें श्रमण जीवन में लगने वाले दोष एवं प्रायश्चित्त का विधान तो है ही, साथ ही विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ऊनोदरी तप, संघ-व्यवस्था के नियम आदि अनेक विषयों का विवेचन भी किया गया है। व्यवहार सूत्र पर व्याख्या साहित्य भी लिखा गया है— व्यवहार भाष्य, व्यवहार चूर्णि, व्यवहार वृत्ति आदि प्रमुख व्याख्या साहित्य है।

संदर्भ ग्रन्थ

१. त्रीणि छेदसूत्राणि— आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
२. ववहार सुत्तं— मुनि कन्हैयालाल 'कमल'
३. छेदसूत्र एक परिशीलन— आचार्य देवेन्द्र मुनि
४. जैनागम नवनीत (पुष्प ७ से १२)—आगम मनीषी तिलोक मुनि

—सुपुत्री श्री पुखराज बोहरा
बोहरो की पोल , महिला बाग, जोधपुर

निशीथ सूत्र

श्री लालचन्द्र जैन

निशीथसूत्र की गणना छेदसूत्रों में होती है। इसमें श्रमणाचार के आपवादिक नियमों एवं उनकी प्रायश्चित्त विधि की विशेष चर्चा है। यह सूत्र विशेष जानकारी हेतु ही योग्य साधुओं को पढ़ाया जाता था, सर्वपठनीय नहीं था, क्योंकि उन नियमों की जानकारी प्रमुख संतों को ही होनी आवश्यक थी। अब तो इस पर भाष्य, चूर्णि आदि का भी प्रकाशन हो गया हैं। वरिष्ठ स्वाध्यायी श्री लालचन्द्र जी जैन ने प्रस्तुत आलेख में निशीथ सूत्र पर प्रकाश डाला है। —सम्पादक

उपलब्ध आगमों में चार आगमों को छेद सूत्र की संज्ञा दी गई है। यह संज्ञा आगमकालीन नहीं है। चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु स्वामी से पूर्व भी जिनशासन के प्रत्येक साधु-साध्वी के लिये आचारकल्प अध्ययन को कंठस्थ करना आवश्यक था। उस आचारकल्प अध्ययन का परिचय सूत्रों में जो मिलता है, वह वर्तमान में उपलब्ध निशीथ सूत्र का ही परिचायक है। इससे स्पष्ट होता है कि आगमों में निशीथ को आचारांग सूत्र का ही विभाग माना गया है। आचारांग में आचारप्रकल्प अध्ययन का जो मौलिक नाम निशीथ था, वही प्रसिद्ध हो गया और नंदीसूत्र के रचनाकार देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने उसी नाम को स्थान दिया। इससे निशीथ सूत्र की प्राचीनता भी सिद्ध होती है। इसका रचनाकाल आचारांग जितना ही पुराना है।

अनिवार्य कारणों से या बिना कारण ही संयम की मर्यादाओं को भंग करके यदि कोई स्वयं आलोचना करके प्रायश्चित्त ग्रहण करे तो किस दोष का कितना प्रायश्चित होता है, यह इस छेदसूत्र का प्रमुख प्रतिपाद्य है। अतिक्रम, व्यतिक्रम एवं अतिचार की शुद्ध आलोचना और मिच्छामिदुक्कडं के अल्प प्रायश्चित्त से हो जाती है। अनाचार दोष के सेवन का ही निशीथ सूत्र में प्रायश्चित्त प्रतिपादित है। यह स्थविर कल्पी सामान्य साधुओं की मर्यादा है।

यह आगम अब इतना गोपनीय नहीं रह गया है। तीर्थंकरों के समय में भी अंग शास्त्रों का साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, चतुर्विध संघ अध्ययन करता था। चौदह पूर्वी भद्रबाहु स्वामी ने भी आचारप्रकल्प अध्ययन को अत्यधिक महत्त्व दिया है। प्रत्येक युवा संत—सती को यह कंठस्थ होना चाहिए, इससे इसकी अतिगोपनीयता समाप्त हो जाती है। कालांतर में आगम-लेखन एवं प्रकाशन युग आया। देश—विदेशों में इनकी प्रतियों का प्रचार हुआ, अतः गोपनीयता अब केवल कथन मात्र के लिये रह गई। योग्य साधु-साध्वी के लिये छेद सूत्र गोपनीय नहीं है, बल्कि इनके अध्ययन बिना साधक की साधना अधूरी है, पंगु है, परवश है। इनके सूक्ष्मतम अध्ययन के बिना संघ-व्यवस्था पूर्ण अंधकारमय हो जायेगी।

आचार्य देववाचक ने नंदीसूत्र में आगम-साहित्य को दो भागों में बांटा है— अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। छेदसूत्र अंगबाह्य है। इसमें जैन साधु-साध्वियों के जीवन से संबंधित आचार विषयक नियमों का विस्तृत विवेचन है। श्रमण जीवन की पवित्रता बनाये रखने के लिये ही छेद सूत्रों का निर्माण हुआ है। ये नियम स्वयं भगवान महावीर द्वारा निरूपित हैं। छेद सूत्रों में निशीथ का प्रमुख स्थान है। निशीथ का अर्थ ही अप्रकाश्य है। यह सूत्र अपवादबहुल है, इसलिये सब को नहीं पढाया जाता था। निशीथ का अध्ययन वही साधु कर सकता है, जो तीन वर्ष का दीक्षित हो और गांभीर्य आदि गुणों से युक्त हो। प्रौढ़त्व की दृष्टि से कम से कम सोलह वर्ष का साधु ही इसका पाठक हो सकता है। एक विचारधारा के अनुसार निशीथ सूत्र अंगप्रविष्ट के अंतर्गत आता है, अन्य छेद सूत्र अंगबाह्य हैं।

पंडित दलसुखभाई मालवणिया ने 'निशीथ : एक अध्ययन' में लिखा है कि यह सूत्र किसी समय आचारांग के अन्तर्गत रहा होगा, किन्तु एक समय ऐसा भी आया कि निशीथ को आचारांग से पृथक् कर दिया गया। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि निशीथ आचारांग की अंतिम चूलिका के रूप में था, मूल में नहीं। निशीथ चूर्णि में स्पष्ट है कि इसके कर्ता अर्थ की दृष्टि से तीर्थंकर हैं और सूत्र की दृष्टि से गणधर हैं।

दिगम्बर मान्यता

दिगम्बर ग्रन्थों में निशीथ के स्थान पर 'निसीहिया' शब्द का प्रयोग हुआ है। गोम्मटसार में भी यही शब्द प्राप्त होता है। इसका संस्कृत रूप निषीधिका होता है। गोम्मटसार की टीका में निसीहिया का संस्कृत रूप निषीधिका किया है। आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण में निशीथ के लिये निषधक शब्द का व्यवहार किया है। तत्त्वार्थभाष्य में 'निसीह' शब्द का संस्कृत रूप 'निशीथ' माना है। निर्युक्तिकार को भी यही अर्थ अभिप्रेत है। इस प्रकार श्वेताम्बर साहित्य के अभिमतानुसार निसीह का संस्कृत रूप 'निशीथ' और उसका अर्थ अप्रकाश्य है। दिगम्बर साहित्य की दृष्टि से निसीहिया का संस्कृत रूप निशीधिका है और उसका अर्थ प्रायश्चित्त शास्त्र या प्रमाद दोष का निषेध करने वाला शास्त्र है। संक्षेप में सार यह है कि निशीथ का अर्थ रहस्यमय या गोपनीय है। जैसे रहस्यमय विद्या, मंत्र, तंत्र, योग आदि अनधिकारी या अपरिपक्व बुद्धि वाले व्यक्तियों को नहीं बताते, उनसे छिपा कर गोप्य रखा जाता है, वैसे ही निशीथ सूत्र भी गोप्य है। वह भी प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष उद्घाटित नहीं किया जा सकता।

ऐतिहासिक दृष्टि

ऐतिहासिक दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर यह भी सहज ज्ञात होता है कि भारतवर्ष में उस समय जो भिक्षु संघ थे, उनमें इस प्रकार की प्रवृत्तियां

गया है।

दूसरा उद्देशक

इसमें ५७ सूत्र हैं। पहले आठ सूत्रों में पादप्रोच्छन के विषय में विचार हैं। पुराने फटे हुए कंबल के एक हाथ लंबे-चौड़े टुकडे को पांव-पौंछन कहा गया है। उसके पश्चात् इत्र आदि सुगंधित पदार्थों को सूंघने का निषेध है। पगडंडी, नाली, छींके का ढक्कन आदि बनाने का निषेध है। श्रमण को कठोर भाषा का उपयोग नहीं करना चाहिये, उससे सुनने वाले के मन में क्लेश होता है। भाषा सत्य और सुन्दर होनी चाहिये। अन्य के हृदय को व्यथित करने वाली भाषा का प्रयोग हिंसा है। अल्प असत्य भाषा का प्रयोग भी श्रमण के लिये निषिद्ध है, अदत्त वस्तु ग्रहण करना भी निषिद्ध है, शरीर को सजाना, संवारना, मूल्यवान वस्तुएँ धारण करना निषिद्ध है। साधु चमड़े से बनी वस्तुओं का प्रयोग नहीं कर सकते। इस उद्देशक में जिनका निषेध किया गया है, उनका लघुमास प्रायश्चित्त निश्चित किया गया है।

तीसरा उद्देशक

इसमें ८० सूत्र हैं। एक से बारह सूत्र तक साधु को धर्मशाला, मुसाफिरखाना, आरामगृह या गृहस्थी के यहां उच्च स्तर से आहार आदि मांगने का, सामूहिक भोज में भोजन ग्रहण करने का, पैरों के परिमार्जन, परिमर्दन, प्रक्षालन व शरीर के संवाहन का निषेध है। बाल, नाखून आदि काटने का, श्मशान में, खान में, फल सब्जी रखने के स्थान में, उपवन में, धूप रहित स्थान में मलविसर्जन का निषेध है। पालन न करने वाले के लिये लघुमासिक प्रायश्चित्त का विधान है।

चौथा उद्देशक

इसमें १२८ सूत्र हैं। राजा, राज्यरक्षक, नगररक्षक, ग्रामरक्षक, सीमारक्षक, देशरक्षक को वश में करने के लिये उनका गुणानुवाद करना, सचित्त धान आदि का आहार करना, आचार्य की आज्ञा बिना दूध आदि विगय ग्रहण करने का निषेध है। साधु जीवन का सार क्षमा है। क्रोध में विचार-शक्ति नष्ट हो जाती है, जिससे वैर का जन्म होता है। कलह के मूल में कषाय है। अत: कलह को जागृत करने का निषेध है। माचिस दूसरों को जलाने के पहले खुद जल जाती है। वैसे ही कलह करने वाला स्वयं कर्मबंधन करता है। कलह पाप है, उससे बचना चाहिये।

पाँचवाँ उद्देशक

इसमें ५२ सूत्र हैं। सचित्त वृक्ष की मूल के निकट बैठना, खड़ा होना, सोना, आहार करना, लघुशंका करना, काउसग्ग करना, स्वाध्याय करना निषिद्ध है। अपनी चद्दर गृहस्थ से धुलवाना, अधिक लंबी चादर रखने का निषेध है। पलाश, नीम आदि के पत्तों को धोकर रखने का निषेध है। मुख,

दाँत, होठ, नाक से वीणा के समान आवाज निकालने का निषेध है। इन सभी प्रवृत्तियों का लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

छठा उद्देशक

इसमें ७८ सूत्र हैं। कुशील सेवन की भावना से किसी भी स्त्री का अनुनय करना, हस्तमैथुन करना, शिश्न का संचालन करना, कलह करना, चित्र-विचित्र वस्त्र धारण करना, पौष्टिक आहार करना आदि निषिद्ध है। ऐसा करने पर गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिये इन सभी प्रवृत्तियों का निषेध किया गया है। दिल में विकार भावना जागृत होने पर कामेच्छु कैसी-कैसी प्रवृत्तियाँ करता है, उनका मनोवैज्ञानिक वर्णन इस उद्देशक में किया गया है।

सातवाँ उद्देशक

इसमें ९२ सूत्र हैं। इसमें भी मैथुन संब[illegible]षेध है। कामेच्छा से प्रेरित होकर मालायें, कड़े, आभूषण, चर्म वस्त्र प[illegible]का निषेध है। कामेच्छा से स्त्री के अंगोपांग का संचालन करना, शरीर परिकर्म करना, सचित्त पृथ्वी पर सोना, बैठना एवं पशु पक्षी के अंगोपांगों को स्पर्श करने का निषेध किया गया है। इन प्रवृत्तियों को करने वालों को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

आठवाँ उद्देशक

इसमें १८ सूत्र हैं। धर्मशाला, उद्यान, भवन, वनमार्ग, शून्य मार्ग, तृणगृह, पानशाला, दुकान, गोशाला में अकेला साधु अकेली महिला के साथ रहे, आहार करे, स्वाध्याय करे, शौचादि करे, विकारोत्पादक वार्तालाप करे, रात्रि में स्त्री परीषह करे, अपरिमित कथा करे, साध्वियों के साथ विहार करे, उपाश्रय में रात्रि में महिलाओं को रहने दे, महिलाओं के साथ बाहर जाने-आने का निषेध है। पांच सूत्रों में राजपिंड ग्रहण का निषेध है, ग्रहण करने पर गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है। भगवान ऋषभदेव और महावीर के साधुओं के लिये राजपिंड का निषेध है, शेष २२ तीर्थंकरों के साधुओं के लिये नहीं है। राजपिंड में चारों प्रकार के आहार, वस्त्र, पात्र, कंबल और रजोहरण इन आठ वस्तुओं को अग्राह्य कहा गया है।

नौवाँ उद्देशक

इसमें २५ सूत्र हैं। इसमें भी राजपिंड का निषेध है। साधु को राजा के अन्त:पुर में प्रवेश नहीं करना चाहिये। अन्त:पुर में सगे-संबंधी या नौकर-चाकर के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति प्रवेश नहीं कर सकता। श्रमण के अंत:पुर में प्रवेश करने पर राजा के मन में उसके प्रति कुशंका पैदा हो सकती है, अत: श्रमण को अंत:पुर प्रवेश का निषेध किया गया है।

दसवाँ उद्देशक

इसमें ४१ सूत्र हैं। आचार्य श्रमणसंघ का अनुशासक है। अनंत

आस्था का केन्द्र है। तीर्थंकर के अभाव में आचार्य ही तीर्थ का संचालन कर्ता है, अत: उसके प्रति आदर सम्मान रखना प्रत्येक साधक का परम कर्त्तव्य है। आचार्य के लिये सम्मानसूचक शब्दों का प्रयोग होना चाहिए। जो भिक्षु आचार्य के प्रति रोष पूर्ण वचन बोलता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है। ग्लान की विधिपूर्वक सेवा न करने पर, वर्षावास में विहार करने पर, निश्चित्त दिन पर्युषण न करने पर, संवत्सरी के दिन चौविहार उपवास न करने पर, लोच न करने पर, वर्षावास में वस्त्र ग्रहण करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का कथन है।

ग्यारहवाँ उद्देशक

इसमें ९१ सूत्र हैं। इसमें लोहे, तांबे, शीशे, सींग, चमड़े, वस्त्र आदि के पात्र में आहार करने का निषेध है। धर्म की निंदा एवं अधर्म की प्रशंसा करने का निषेध हैं। दिवस भोजन की निंदा, रात्रि भोजन की प्रशंसा, मद्य-मांस सेवन का निषेध है। स्वच्छंदाचार की प्रशंसा का निषेध है। अयोग्य को दीक्षित करने का निषेध है। अचेत या सचेत साधु का अकेले साध्वियों के साथ रहना निषिद्ध है। आत्मघात करने वाले की प्रशंसा करने का निषेध है। इन दोषों का सेवन करने वाले को गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

बारहवाँ उद्देशक

इसमें ४४ सूत्र हैं। पहले सूत्र में साधु करुणा से प्रेरित होकर त्रस जीव को न तो रस्सी से बांधे न मुक्त करे। साधु को निस्पृह भाव से संयम साधना करना है यदि साधना को भूल कर अन्य प्रवृत्तियां करेगा तो साधना में विघ्न आयेगा। यहां करुणा या अनुकंपा का प्रायश्चित्त नहीं है, अपितु गृहस्थ की सेवा और संयम विरुद्ध प्रवृत्ति का प्रायश्चित्त है।

तेरहवाँ उद्देशक

इसमें ७८ सूत्र हैं। सचित्त, स्निग्ध, सरजस्क, पृथ्वी पर सोने, बैठने, स्वाध्याय करने का, देहरी, स्नानपीठ, दीवार, शिला आदि पर बैठने का, गृहस्थ आदि को शिल्प सिखाने का, कौतुक, भूतिकर्म, प्रश्न, निमित्त, लक्षण आदि के प्रयोग का, धातु विद्या या निधि बताने का, पानी से भरे पात्र, दर्पण, मणि, तेल, मधु, घृत आदि में मुँह देखने का, वमन, विरेचन या बल बुद्धि वृद्धि के लिये औषध सेवन का निषेध है। ऐसी प्रवृत्तियाँ करने वाले को लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

चौदहवाँ उद्देशक

इसमें ४१ सूत्र हैं। पात्र खरीदना, उधार लेना, बदलना, छीनना, पात्र में भागीदारी करना, आज्ञा बिना पात्र लेना, सामने लाया हुआ पात्र लेना, विकलांग या असमर्थ को अतिरिक्त पात्र न देना, अनुपयोगी पात्र को रखना, पात्र को विशेष सुंदर या सुगंधित बनाना, परिषद से निकल कर पात्र की

याचना करना, पात्र के लिये मासकल्प या चातुर्मास तक रहना निषिद्ध है। ये प्रवृत्तियाँ करने पर लघु चौमासी प्रायश्चित्त का विधान है।

पन्द्रहवाँ उद्देशक

इसमें १५४ सूत्र हैं। पहले चार में साधु की आशातना का और आठ सूत्रों में सचित्त आम्र, आम्रपेशी, आम्रचोयक आदि खाने का लघु चौमासी प्रायश्चित्त है। गृहस्थ से सेवा करवाने का, अकल्पनीय स्थानों में मलमूत्र परठने का, पाश्र्वस्थ आदि को आहार-वस्त्र देने का निषेध है। विभूषा की दृष्टि से शरीर एवं वस्त्रों का परिमार्जन निषिद्ध है। ये प्रवृत्तियां करने पर लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

सोलहवाँ उद्देशक

इसमें ५० सूत्र हैं। साधु को सागारिक आदि की शय्या में प्रवेश का, सचित्त ईख-गंडेरी चूसने का, अरण्य, वन, अटवी की यात्रा करने वालों से आहार पानी लेने का, असंयमी को संयमी और संयमी को असंयमी कहने का, कलह करने वाले तीर्थिकों से आहार पानी लेने का निषेध है।

सतरहवाँ उद्देशक

इसमें १५५ सूत्र हैं। साधु-साध्वियों को गृहस्थों से सेवा करवाने का, बंद बर्तन खुलवा कर आहार लेने का, सचित्त पृथ्वी पर रखा आहार लेने का, तत्काल बना अचित्त शीतल जल लेने का, 'मेरे शारीरिक लक्षण आचार्यपद के योग्य है' ऐसा कहने का निषेध है। बाजे बजाना, हँसना, नाचना, पशुओं की आवाज निकालना, वाद्य-श्रवण के प्रति आसक्ति का निषेध है। इसके लिये लघु चौमासी प्रायश्चित्त का विधान है।

अठारहवाँ उद्देशक

इसमें ७३ सूत्र हैं। ३२ सूत्रों में नौका विहार के संबंध में विविध दृष्टियों से विचार किया गया है। वैसे तो साधु अप्काय जीवों की विराधना का पूर्ण त्यागी होता है, किन्तु अपवाद के रूप में आचारांग आदि सूत्रों में भी नौका प्रयोग का विधान है। बिना समुचित कारण के नौका विहार करने पर लघु चौमासी प्रायश्चित्त का विधान है।

उन्नीसवाँ उद्देशक

इसमें ३५ सूत्र हैं। औषधि खरीद कर मंगवाना, तीन मात्रा से अधिक औषधि लेना, विहार में साथ रखना, अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय करने का निषेध है। निशीथ आदि छेदसूत्रों की अपात्र को वाचना देना, मिथ्यात्वियों को, अतीर्थियों को वाचना देने का निषेध है।

बीसवाँ उद्देशक

इसमें ५१ सूत्र हैं। कपटयुक्त और निष्कपट आलोचना के लिये इस उद्देशक में विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान है। निष्कपट आलोचना

करने वाले को जितना प्रायश्चित्त आता है, उससे एक माह अधिक कपटयुक्त आलोचना करने वाले को प्रायश्चित्त आता है। भगवान महावीर के शासन में उत्कृष्ट छः मास के प्रायश्चित्त का ही विधान है।

प्रायश्चित्त बौद्ध दृष्टि में

निशीथ के समान ही बौद्ध परंपरा में विनय पिटक का महत्त्व है। इसमें भिक्षु संघ का संविधान है। इसमें तथागत बुद्ध ने भिक्षु-भिक्षुणियों के पालने योग्य नियमों का उपदेश दिया है। इसमें अपराधों, दोषों एवं प्रायश्चित्तों का भी विधान है। बुद्ध के निर्वाण के बाद धर्म संघ की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिये प्रथम बौद्ध संगति में कठोर नियमों का गठन किया गया।

प्रायश्चित्त वैदिक दृष्टि से

वैदिक संस्कृति के महामनीषियों ने पापों से मुक्त होने के लिये विधि-विधान किये हैं। ब्राह्मण हत्या को सबसे बड़ा पाप माना गया है। काठक में भ्रूण हत्या को ब्रह्महत्या से भी बड़ा पाप माना है। नारदस्मृति का कथन है कि माता, मौसी, सास, भाभी, फूफी, चाची, मित्रपत्नी, शिष्यपत्नी, बहिन, पुत्रवधू, आचार्यपत्नी, सगोत्रनारी, दाई, व्रतवती नारी के साथ संभोग करने पर गुरुतल्प व्यभिचार का अपराधी हो जाता है। ऐसे दुष्कृत्य के लिये शिश्न काटने के सिवाय कोई दंड नहीं है।

सारांश

सारांश यह है कि चाहे जैन, बौद्ध, वैदिक कोई भी परंपरा हो, सभी में मैथुन, चोरी और हिंसा को गंभीरतम अपराध माना है। जैन और बौद्ध परंपराओं ने संघ को अत्यधिक महत्त्व दिया। प्रायश्चित्त की जो सूचियाँ इन दोनों परम्पराओं में है, उसमें काफी समानता है। बौद्ध परम्परा मध्यममार्गीय रही, इसलिये उसकी आचार संहिता भी मध्यम मार्ग पर ही आधारित है। जैन परंपरा उग्र और कठोर साधना पर बल देती रही, इसलिये उसकी आचार संहिता भी कठोरता को लिये हुए है।

गौतमधर्मसूत्र, वशिष्ठस्मृति, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति में माता, बहिन, पुत्रवधू आदि के साथ व्यभिचार सेवन करने वाले के अंडकोष और लिंग काट कर दक्षिण दिशा में जब तक गिर न पड़े तब तक चलते रहने का दंड है।

निशीथ के भाष्य रचयिता श्री संघदासगणि हैं। निशीथ चूर्णि के रचयिता श्री जिनदासगणि महत्तर है। निशीथ जैसे रहस्य भरे आगम पर विवेचन लिखना खेल नहीं है, यह महत्त्वपूर्ण कार्य श्री मधुकर मुनि ने इस पर हिंदी में प्रवाह पूर्ण सुन्दर विवेचन कर पूरा किया है।

-10/595, चौपासनी हाउसिंग बोर्ड, जोधपुर

आवश्यक सूत्र

श्रीमती शान्ता मोदी

आवश्यकसूत्र में सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान नामक षड्विध आवश्यकों का निरूपण है। यह सूत्र श्रमण-श्रमणियों के लिए ही नहीं श्रावकों के लिए भी पाप-क्रियाओं से बचकर धर्ममार्ग में अग्रसर होने की प्रायोगिक विधि प्रस्तुत करता है। यह पाप-शोधन के साथ भाव-विशुद्धि की ओर सजग बनाता है। वरिष्ठ स्वाध्यायी एवं पूर्व व्याख्याता श्रीमती शान्ता जी ने आवश्यक सूत्र पर सारगर्भित महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है।–**सम्पादक**

जैन आगम-साहित्य में आवश्यक सूत्र का अपना विशिष्ट स्थान है। अनुयोगद्वार चूर्णि में आवश्यक को परिभाषित करते हुए लिखा है— जो गुणशून्य आत्मा को प्रशस्त भावों में आवासित करता है, वह आवासक या आवश्यक है। अनुयोगद्वार मलधारीय टीका में लिखा है कि जो समस्त गुणों का निवास स्थान है वह आवासक या आवश्यक है। आवश्यक जैन-साधना का प्राण है। वह जीवन-शुद्धि और दोष-परिमार्जन का जीवन्त भाष्य है। साधक चाहे साक्षर हो चाहे निरक्षर हो, चाहे सामान्य हो या प्रतिभा का धनी, सभी साधकों के लिये आवश्यक का ज्ञान आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। इसके द्वारा साधक अपनी आत्मा का पूर्ण अवलोकन करता है। वह आध्यात्मिक समता, नम्रता प्रभृति सद्गुणों का आधार है। अन्तर्दृष्टि सम्पन्न साधक का लक्ष्य बाह्य पदार्थ नहीं, आत्मशोधन है। जिस साधना और आराधना से आत्मा शाश्वत सुख का अनुभव करे, कर्ममल को नष्ट कर सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र से अध्यात्म के आलोक को प्राप्त करे, वह आवश्यक है। अपनी भूलों को निहार कर उन भूलों के परिष्कार के लिये कुछ न कुछ क्रिया करना आवश्यक है। आवश्यक का विधान श्रमण हो या श्रमणी हो, श्रावक हो या श्राविका हो, सभी के लिये है।

आचार्य मलयगिरि कहते हैं— 'ज्ञानादिगुणानाम् आसमन्ताद् वश्या इन्द्रियकषायादिभावशत्रवो यस्मात् तद् आवश्यकम्'

अनुयोगद्वारसूत्र में आवश्यक के आठ पर्यायवाची नाम दिये हैं— आवश्यक, अवश्यकरणीय, ध्रुवनिग्रह विशोधि, अध्ययनषट्क वर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग।

जैन दर्शन में द्रव्य और भाव का बहुत ही गम्भीर व सूक्ष्म चिन्तन किया गया है। यहाँ प्रत्येक साधना एवं प्रत्येक क्रिया को द्रव्य और भाव के भेद से देखा जाता है। बाह्य दृष्टि वाले लोग द्रव्य-प्रधान होते हैं जबकि अन्तर्दृष्टि वाले भाव प्रधान होते हैं।

द्रव्य आवश्यक का अर्थ है— अन्तरंग उपयोग के बिना केवल परम्परा के आधार पर किया जाने वाला पुण्यफल का इच्छारूप आवश्यक

द्रव्य आवश्यक है। द्रव्य का अर्थ है प्राण रहित शरीर। बिना प्राण के शरीर केवल दृश्य वस्तु है, गतिशील नहीं। आवश्यक के मूल पाठ बिना उपयोग व विचार से बोलना, दैनिक जीवन में किसी तरह का संयम नहीं रखना और सुबह-शाम आवश्यक सूत्र के पाठों की रटन-क्रिया में लग जाना, द्रव्य क्रिया ही है। विवेकहीन साधना अन्तर्जीवन में प्रकाश नहीं दे सकती।

भाव आवश्यक का अर्थ– अन्तरंग उपयोग के साथ, लोक तथा परलोक की वासना से रहित, यशकीर्ति, सम्मान आदि की अभिलाषा से शून्य, मन, वचन, शरीर को निश्चल, निष्काम, एकाग्र बनाकर आवश्यक की मूल भावना में उतर कर, दिन और रात्रि के जीवन में जिनाज्ञा के अनुसार विचरण कर, आवश्यक संबंधी मूल पाठों पर चिन्तन, मनन, निदिध्यासन करते हुए केवल निजात्मा को कर्म-मल से विशुद्ध बनाने के लिये,दोनों काल सामायिक आदि आवश्यक की साधना करना है, केवल क्रिया आत्मशुद्धि नहीं कर सकती है।

भाव आवश्यक का स्वरूप अनुयोगद्वार सूत्र में बताया गया है–

जं णं इमे समणो वा, समणी वा, सावओ वा, साविया वा तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणं, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पिकरणे, तब्भावणा भाविए, अन्नत्थ कत्थइ मणे अकरेमाणे उभओकाल आवस्सयं करेंति, से तं लोगुत्तरियं भावावस्सयं

जैन संस्कृति में और वैदिक संस्कृति के नित्य कर्मों के विधान में भिन्नता है। ब्राह्मण संस्कृति संसार की भौतिक व्यवस्था में अधिक रस लेती है। इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र के कार्यकलापों में भिन्नता लिये हुए है। किन्तु जैन संस्कृति मानवता को जोड़ने वाली संस्कृति है । जैन धर्म के षडावश्यक मानव मात्र के लिये एक जैसे हैं। चाहे वह किसी भी जाति, लिंग वर्ग का हो, उसे सहज रूप से कर सकता है और मानव अपना कल्याण कर सकता है।

आवश्यक निर्युक्ति में स्पष्ट रूप से लिखा है कि प्रथम और चरम तीर्थंकरों के शासन में प्रतिक्रमण सहित धर्म प्ररूपित किया गया है। आवश्यक निर्युक्ति की गाथा १२४४ में स्पष्ट किया गया है–

सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं कारणजाए पडिक्कमणं।।

श्रावकों के लिये भी आवश्यक की जानकारी आवश्यक मानी गई है। आवश्यक सूत्र के छः अंग हैं–

१. **सामायिक**– समभाव की साधना
२. **चतुर्विंशतिस्तव**– चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति
३. **वन्दन**– सद्गुरुओं को नमस्कार, उनका गुणगान
४. **प्रतिक्रमण**– दोषों की आलोचना
५. **कायोत्सर्ग**– शरीर के ममत्व का त्याग

६. प्रत्याख्यान–आहार आदि का त्याग

ज्ञानसार में आचार्य ने आवश्यक क्रिया का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है– आवश्यक क्रिया पहले से प्राप्त भाव-विशुद्धि से आत्मा को गिरने नहीं देती। गुणों की वृद्धि के लिये और प्राप्त गुणों से स्खलित न होने के लिये आवश्यक क्रिया का आचरण बहुत उपयोगी है। आवश्यक में जो साधना का क्रम रखा गया है वह कार्य-कारण भाव की शृंखला पर अवस्थित है तथा पूर्ण वैज्ञानिक है। साधक के लिये सर्वप्रथम समता को प्राप्त करना आवश्यक है। बिना समता अपनाये सद्गुणों के सरस सुमन नहीं खिलते और अवगुणों के काँटे नहीं झड़ते। समत्व को जीवन में धारण करने वाला व्यक्ति ही महापुरुषों के गुणों को जीवन में उतार सकता है। इसलिये सामायिक आवश्यक के पश्चात् चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक रखा गया है। जब गुणों को व्यक्ति हृदय में धारण करता है, तभी उसका सिर महापुरुषों के चरणों में झुकता है। भक्ति-भावना से विभोर होकर वह उन्हें वन्दन करता है, इसीलिये तृतीय आवश्यक वन्दन है। वन्दन करने वाले साधक का हृदय सरल होता है। इसी कारण वह कृत दोषों की आलोचना करता है। अतः वन्दन के पश्चात् प्रतिक्रमण आवश्यक का निरूपण है। भूलों का स्मरण कर उन भूलों से मुक्ति पाने के लिये तन एवं मन में स्थैर्य आवश्यक है। कायोत्सर्ग में तन और मन की एकाग्रता की जाती है जिससे स्थिरवृत्ति का अभ्यास किया जाता है। जब तन और मन स्थिर होता है, तभी प्रत्याख्यान किया जा सकता है। मन डाँवाडोल हो तो प्रत्याख्यान संभव नहीं है। इसीलिये छठा आवश्यक प्रत्याख्यान रखा गया है। इसी प्रकार यह षडावश्यक आत्मनिरीक्षण, आत्मपरीक्षण, आत्मोत्कर्ष का श्रेष्ठतम उपाय है।

1. सामायिक

षडावश्यक में सामायिक का प्रथम स्थान है। वह जैन आचार का सार है। सामायिक श्रमण और श्रावक दोनों के लिये आवश्यक है। सर्वप्रथम श्रावक सामायिक चारित्र ग्रहण करता है। चारित्र के पाँच प्रकार हैं, उनमें सामायिक चारित्र प्रथम है। सामायिक चारित्र चौबीस तीर्थंकरों के शासन काल में रहा है, पर अन्य चार चारित्र अवस्थित नहीं हैं। श्रमणों के लिये सामायिक प्रथम चारित्र है, तो गृहस्थ साधकों के लिये सामायिक चार शिक्षा व्रतों में प्रथम शिक्षा व्रत है। जैन आचार दर्शन का भव्य प्रासाद सामायिक की सुदृढ़ नींव पर आधारित है। आचार्य हरिभद्र ने तो स्पष्ट किया है कि साधक चाहे दिगम्बर हो, श्वेताम्बर हो, बौद्ध हो या अन्य किसी मत का हो, जो भी समभाव में स्थित होगा वह निःसन्देह मोक्ष को प्राप्त करेगा–

दिवसे दिवसे लक्खं देइ सुवण्णस्स खंडियं एगो।
एगो पुण सामाइयं, करेइ न पहुप्पए तस्स।।

सामायिक की साधना विशुद्ध साधना है। करोड़ों वर्षों तक तपश्चरण की निरन्तर साधना करने वाला जिन कर्मों को नष्ट नहीं कर पाता, उनको समभावी साधक कुछ ही क्षणों में नष्ट कर लेता है। आत्म स्वरूप में स्थित रहने के कारण शेष रहे कर्मों की वह निर्जरा कर लेता है। इसीलिये आचार्य हरिभद्र ने लिखा है–

सामायिक-विशुद्धात्मा सर्वथा घातिकर्मणः।
क्षयात्केवलमाप्नोति लोकालोकप्रकाशकम्।।

आचार्य मलयगिरि ने लिखा है– रागद्वेष के कारणों में मध्यस्थ रहना सम है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने भी विशेषावश्यक भाष्य में यही परिभाषा स्वीकार की है। सावद्ययोग का परित्याग कर शुद्ध में रमण करना 'सम' कहलाता है। जिस साधना से सम की प्राप्ति हो, वह सामायिक है। 'सम' का अर्थ श्रेष्ठ होता है और 'अयन' का अर्थ आचरण है। अर्थात् श्रेष्ठ आचरण का नाम सामायिक है। अहिंसा आदि श्रेष्ठ साधना समय पर की जाती है वह सामायिक है।

मन, वचन, काया की दुष्प्रवृत्तियों को रोककर अपने निश्चित लक्ष्य की ओर ध्यान को केन्द्रित करना तथा उन्हें वश में कर लेना सामायिक है। विषय, कषाय और रागद्वेष से अलग रहकर सदा समभाव में स्थित रहता है। चाहे अनुकूल परिस्थिति हो, चाहे प्रतिकूल, चाहे सुख हो, चाहे दुःख वह सदा समभाव में रहता है।

आचार्य भद्रबाहु–

जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं।।

आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने सामायिक को चौदह पूर्व का अर्थ पिंड कहा है। उपाध्याय यशोविजयजी ने सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशांगी रूप जिनवाणी का सार बताया है। भगवती सूत्र में भगवान महावीर ने फरमाया–

'आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे।

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में तीन भेद बताये हैं– १. सम्यक्त्व-सामायिक २. श्रुत-सामायिक ३. चारित्र-सामायिक। समभाव की साधना के लिये सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्र ही प्रधान साधन है। सम्यक्त्व से विश्वास की शुद्धि होती है। श्रुत से विचारों की शुद्धि होती है और चारित्र से आचार की शुद्धि होती है। तीनों मिलकर आत्मा को पूर्ण विशुद्ध और निर्मल बना देते हैं जिससे परमात्मा की कोटि तक पहुँचा जा सकता है। चारित्र सामायिक दो प्रकार की होती है– सर्व विरति सामायिक और देशविरति सामायिक। श्रावक के लिये देश विरति सामायिक है, जिसमें दो करण तीन योग से सावद्य प्रवृत्ति का त्याग किया जाता है। सर्व विरति में तीन करण

तीन योग से त्याग किया जाता है। इसमें साधक पूर्ण रूप से अहिंसा आदि पाँच महाव्रंतों का मन, वचन और शरीर से पूर्णतया पालन करता है। सामायिक के मुख्य दो भेद बताये हैं— १. द्रव्य सामायिक २. भाव सामायिक।

सामायिक ग्रहण करने के पूर्व कुछ विधि विधान किये जाते हैं, जैसे— आसन, रजोहरण, मुखवस्त्रिका, धार्मिक उपकरण आदि एक स्थान पर रखे जाते हैं। वे स्वच्छ और सादगीपूर्ण हों। भाव सामायिक वह है जिसमें साधक यह चिन्तन करता है कि मैं अजर, अमर एवं चैतन्य स्वरूप हूँ। वैभाविक भावों से मेरा कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं है। मेरा स्वभाव ज्ञानमय, दर्शनमय है। मेरा स्वभाव ऊर्ध्वगामी है। यह साधना जीवन को सजाने व संवारने की विधि है। जिससे इह लोक व परलोक दोनों ही सार्थक हो जायेंगे।

2. चतुर्विंशतिस्तव

यह भक्तिभाव का परिचायक आवश्यक है। इसकी साधना में व्यक्ति आनंद विभोर हुए बिना नहीं रह सकता। तीर्थंकर भगवान त्याग और वैराग्य की दृष्टि से, संयम-साधना की दृष्टि से महान् हैं। उनके गुणों का उत्कीर्तन करने से साधक के अन्तर्हृदय में आध्यात्मिक बल का संचार होता है। उसके सम्मुख त्याग-वैराग्य की ज्वलन्त प्रतिकृति आती है, जिससे उसका अहंकार स्वत: लुप्त हो जाता है।

आलोचना के क्षेत्र में पहुँचने से पूर्व क्षेत्र शुद्धि होना आवश्यक है। साधक समभाव में स्थिर बने, फिर गुणाधिक महापुरुषों की स्तुति करे। महापुरुषों का गुण कीर्तन प्रत्येक साधक के लिये प्रेरणा का स्रोत होता है। उनकी शरण में जाने से उसे प्रेरणा मिलेगी और आध्यात्मिक जीवन की कला को सीख लेगा। इस विषय पर गणधर गौतम ने भगवान से प्रश्न किया—

प्रश्न— चउव्वीसत्थएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

उत्तर— चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।

भगवान महावीर ने उपर्युक्त वाक्य से स्पष्ट कर दिया कि इससे दर्शन मोहनीय नष्ट होकर ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। इसलिये आवश्यक सूत्र में चतुर्विंशतिस्तव का अत्यधिक महत्त्व है।

3. वन्दना

आवश्यक सूत्र का तीसरा अध्ययन वन्दना है। आलोचना क्षेत्र में प्रवेश करते समय गुरुभक्ति एवं नम्रता का होना आवश्यक है। देव के बाद गुरु का क्रम आता है। तीर्थंकरों के गुणों का गुणगान करने के बाद साधक गुरुदेव का स्तवन और अभिवादन करता है। वह वन्दना द्वारा गुरु के प्रति भक्ति व बहुमान प्रकट करता है।

वन्दन करने योग्य गुरु को ही वन्दन करना है, इसका पूरा विवेक रखना है। वन्दन करते समय किन—किन बातों का ध्यान रखना है, क्योंकि साधक जब तक यह सारी जानकारी नहीं कर लेगा, वन्दन का लाभ नहीं हो सकेगा। असंयमी पतित को वन्दन करने का अर्थ है पतन की ओर जाना। आचार्य भद्रबाहु स्वामी आवश्यक निर्युक्ति में कहते हैं कि— जो मनुष्य गुणहीन अवंद्य व्यक्ति को वन्दन करता है तो उसके कर्मों की निर्जरा नहीं होती है और न कीर्ति। अवन्द्य को वन्दन करने से वन्दन करने वाले को भी दोष लगता है। जैन धर्म के अनुसार द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के चारित्र से सम्पन्न त्यागी, वीतरागी, आचार्य, उपाध्याय, स्थावर एवं गुरुदेव आदि ही वन्दनीय हैं। इन्हीं को वन्दन करने से भव्य साधक आत्म कल्याण कर सकता है, अन्यथा नहीं। साधक के लिये ऐसा गुरु चाहिये जो बाह्य और अन्तर से पूर्ण शुद्ध हो तथा व्यवहार व निश्चय दोनों दृष्टियों से पूर्ण हो।

वन्दना आवश्यक यथाविधि करने से विनय की प्राप्ति होती है। गुरु वन्दन की क्रिया बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। मन के कण-कण में भक्ति भावना का विमल स्रोत बहाये बिना वन्दन द्रव्यवन्दन हो जाता है। जिससे साधक की उन्नति नहीं हो पाती है। आचार्य मलयगिरि आवश्यक वृत्ति में द्रव्य और भाव वन्दन की व्याख्या करते हुए कहते हैं— **द्रव्यतो मिथ्यादृष्टेरनुपयुक्त-सम्यग्दृष्टेश्च, भावतः सम्यग् दृष्टेरुपयुक्तस्य।**

वन्दन से विनय गुण प्रकट होता है और विनय धर्म का मूल है। यदि शुद्ध भावों से वन्दन कर लिया जाय तो तीर्थंकर गोत्र भी उपार्जित किया जा सकता है। इसलिये आवश्यक सूत्र में तीसरा पद वन्दन को रखा गया है।

4. प्रतिक्रमण

चौथा अध्ययन प्रतिक्रमण का है। व्रतों में लगे हुए अतिचारों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण की आवश्यकता है। प्रतिदिन यथासमय यह चिन्तन करना कि आज आत्मा व्रत से अव्रत में कितना गया? कषाय की ज्वाला कितनी बार प्रज्वलित हुई? हुई तो निमित्त क्या बना? वह कषाय कैसा था—अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी या संज्वलन? क्रोध के आवेश में किस प्रकार के शब्दों का उच्चारण किया है आदि सूक्ष्म रूप से चिन्तन-मनन करना तथा आये हुए अशुभ विचारों को शुद्ध करना ही प्रतिक्रमण है। आचार्य हरिभद्र ने भी आवश्यक सूत्र की टीका में प्रतिक्रमण की व्याख्या करते हुए बताया—

स्वस्थानाद् यत्परस्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते।।

'प्रतिक्रमण' जैन परम्परा का एक विशिष्ट शब्द है। प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ है— पुनः लौटना। हम अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर, अपनी स्वभाव दशा से निकलकर विभाव दशा में चले जाते हैं। अतः पुनः

स्वभाव रूप सीमा में प्रत्यागमन करना प्रतिक्रमण है। जो पाप मन, वचन और काया से किये जाते हैं, दूसरों से करवाये जाते हैं और दूसरों के द्वारा किये हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है, उन सभी पापों की निवृत्ति हेतु किये गये पापों की आलोचना करना, निन्दा करना प्रतिक्रमण है।

साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग ये पाँचों भयंकर दोष हैं। साधक प्रातः और संध्या के सुहावने समय में अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण करता है, उस समय वह गहराई से चिन्तन करता है कि वह सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व के मार्ग की ओर तो नहीं जा रहा है।

आचार्य भद्रबाहु ने बताया कि साधक को प्रतिक्रमण में प्रमुख रूप से चार विषयों पर गहराई से चिन्तन करना चाहिए। इस दृष्टि से प्रतिक्रमण के चार भेद बनते हैं। उन्होंने आवश्यक निर्युक्ति में बताया है—

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं।
असद्दहणे य तहा, विवरीयपरूवणाए अ।।

साधु व श्रावक के लिये क्रमशः महाव्रतों और अणुव्रतों का विधान है। उसमें दोष न लगे, इसके लिये सतत सावधानी आवश्यक है। यद्यपि साधु और श्रावक सावधान रहता है, फिर भी कभी-कभी असावधानीवश अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह की स्खलना हो गई हो तो उनकी शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिये।

साधु और श्रावक के लिये एक आचारसंहिता आगम साहित्य में निरूपित है। साधु के लिये ध्यान, प्रतिलेखना, स्वाध्याय आदि अनेक विधान हैं तो श्रावक के लिये भी दैनंदिन साधना का विधान है। यदि उन विधानों की पालना में भी त्रुटि हो जाय तो उस संबंध में प्रतिक्रमण करना चाहिये।

आत्मा आदि अमूर्त्त पदार्थों को प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध करना बहुत कठिन है। वह तो आगम के प्रमाणों के द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। उनके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हुई हो तो उसकी शुद्धि के लिये साधक को प्रतिक्रमण करना चाहिए।

हिंसा आदि दुष्कृत्य, जिनका महर्षियों ने निषेध किया है, साधक उन दुष्कृत्यों का प्रतिपादन न करें। यदि असावधानीवश हो गया हो तो उनकी शुद्धि करें।

अनुयोगद्वार सूत्र में प्रतिक्रमण दो प्रकार के बताये गये हैं— द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण। द्रव्य प्रतिक्रमण में साधक एक स्थान पर स्थित होकर बिना उपयोग के यशप्राप्ति की अभिलाषा से प्रतिक्रमण करता है। यह प्रतिक्रमण यंत्र की तरह चलता है, उसमें चिन्तन का अभाव होता है। पापों के प्रति मन में ग्लानि नहीं होती। केवल मात्र दिखावा ही है। इससे जैसी शुद्धि होनी चाहिये वैसी नहीं हो पाती।

भाव प्रतिक्रमण में साधक अन्तर्मन से किये हुये पापों की आलोचना

करता है। दृढ़ निश्चय करता है कि दोष प्रवेश के लिये अणुमात्र भी अवकाश नहीं है। भविष्य में दोष नहीं लगे, इस बात का चिन्तन ही वास्तविक प्रतिक्रमण है। भाव प्रतिक्रमण करने वाला सर्वथाभावेन प्रायश्चित्त करता है और अपनी आत्मा को पुन: शुद्ध स्थिति में पहुँचाने का प्रयत्न करता है। भाव प्रतिक्रमण के लिये आचार्य जिनदास कहते हैं–

"भावपडिक्कमणं जं सम्मदंसणाइगुणजुत्तस्स पडिक्कमणं ति।।"

आचार्य भद्रबाहु कहते हैं–

भावपडिक्कमणं पुण, तिविहं तिविहेण नेयव्वं।।

मिच्छाताइ ण गच्छइ, ण व गच्छावेइ णाणु जाणेई जं मण–वय–काएहिं, तं भणियं भाव पडिक्कमणं।

आचार्य ने आवश्यक निर्युक्ति में काल के भेद से प्रतिक्रमण तीन प्रकार का बताया है–

१. भूतकाल में लगे हुए दोषों की आलोचना करना।
२. वर्तमानकाल में लगने वाले दोषों से संवर द्वारा बचना।
३. प्रत्याख्यान द्वारा भावी दोषों को अवरुद्ध करना।

इसी तरह भगवती सूत्र में भी कहा है–

अइयं पडिक्कमेइ, पडुप्पन्नं संवरेइ अणागयं पच्चक्खाई।

विशेष काल की अपेक्षा से प्रतिक्रमण के पाँच भेद भी माने गये हैं– देवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक। साधक को इनका आचरण करना चाहिये।

श्रमण की जीवनचर्या के लिये प्रतिक्रमण के छ: प्रकार अलग से बताये हैं– १. उच्चार प्रतिक्रमण २. प्रस्रवण प्रतिक्रमण ३. इत्वर प्रतिक्रमण ४. यावत्कथित प्रतिक्रमण ५. यत्किंचित् मिथ्या प्रतिक्रमण ६. स्वप्नादिक प्रतिक्रमण। संक्षेप में जिनका प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, वे इस प्रकार हैं– २५ मिथ्यात्व, १४ ज्ञानातिचार, १८ पाप स्थानों का प्रतिक्रमण। चौरासी लाख जीवयोनि से क्षमायाचना करना सभी साधकों के लिये है।

पाँच महाव्रत, मन, वाणी, शरीर का असंयम, गमन, भाषण, याचना, ग्रहण, निक्षेप एवं मलमूत्र विसर्जन आदि से संबंधित दोषों का प्रतिक्रमण भी श्रमण साधकों के लिये आवश्यक है। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत में लगने वाले अतिचारों का प्रतिक्रमण श्रावकों के लिये आवश्यक है। जिन साधकों ने संलेखनाव्रत ग्रहण कर रखा है, उनके लिये संलेखना के पाँच अतिचारों का प्रतिक्रमण आवश्यक है।

प्रतिक्रमण साधक जीवन की अपूर्व क्रिया है। यह वह डायरी है जिसमें साधक अपने दोषों की सूची लिखकर एक-एक दोष से मुक्त होने का उपक्रम करता है, प्रतिक्रमण जीवन को सुधारने का श्रेष्ठ उपक्रम है, आध्यात्मिक जीवन की धुरी है। आत्मदोषों की आलोचना करने से पश्चात्ताप

की भावना जागृत होने लगती है और उस पश्चात्ताप की अग्नि में सभी दोष जलकर नष्ट हो जाते हैं।

प्रतिक्रमण की साधना प्रमाद भाव को दूर करने के लिये है। साधक के जीवन में प्रमाद विष है जो साधना के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है। इसलिये साधु व श्रावक दोनों का कर्त्तव्य है कि प्रमाद से बचे और प्रतिक्रमण के द्वारा अपनी साधना को अप्रमत्तता की ओर अग्रसर करे।

5. कायोत्सर्ग

प्रतिक्रमण आवश्यक के बाद पाँचवां स्थान कायोत्सर्ग है। अनुयोगद्वार सूत्र में कायोत्सर्ग का नाम व्रण-चिकित्सा है। आवश्यक सूत्र में चिन्तन करते हुए लिखा है—संयमी जीवन को अधिक परिष्कृत करने के लिये, आत्मा को माया-मिथ्यात्व और निदान-शल्य से मुक्त करने के लिये, पाप कर्मों के निर्घात के लिये कायोत्सर्ग किया जाता है। कायोत्सर्ग में काय और उत्सर्ग ये दो शब्द हैं जिसका अर्थ है शरीर से ममत्व का त्याग करना। यह अनुभव में आना चाहिये कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है। शरीर जड़ है और आत्मा चेतन है, जो अजर, अमर, अविनाशी है। देह में रहकर देहातीत स्थिति में रहता है। इस पर आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में लिखा है—

वासी चंदणकप्पो,जो मरणे जीविए य समसण्णो। देहे य अपडिबद्धो,काउस्सग्गो हवइ तस्स।
तिविहाणुवसग्गाणं, दिव्वाणं माणुसाण तिरियाण। सम्ममहियासणाए, काउसग्गो हवइ सुद्धो।

कायोत्सर्ग के दो भेद आगम साहित्य में बताये हैं— द्रव्य और भाव। द्रव्य कायोत्सर्ग से तात्पर्य है— शरीर को बाह्य क्रियाओं से मुक्त करके निश्चल व निःस्पन्द हो जाना। भाव कायोत्सर्ग में दुर्ध्यानों का त्याग कर धर्म तथा शुक्ल ध्यान में रमण करना, मन में शुभ विचारों का प्रवाह बहाना, आत्मा के मूल स्वरूप की ओर गमन करना होता है। कायोत्सर्ग में ध्यान की ही महिमा है। द्रव्य तो ध्यान के लिये भूमिका मात्र है। आचार्य जिनदास आवश्यक चूर्णि में कहते हैं—

सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवति।
दव्वतो कायचेट्ठा निरोहो, भावतो काउसग्गो झाणं।।

इसी तरह उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी अध्ययन में बार-बार कहा गया है कि —"**काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खमोक्खणं**। कायोत्सर्ग सब दुःखों का क्षय करने वाला है।

कायोत्सर्ग की योग्यता प्रतिक्रमण के पश्चात् ही आती है। प्रतिक्रमण में पापों की आलोचना हो जाने से चित्त पूर्ण रूप से निर्मल बन जाता है, जिससे साधक धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान में एकाग्रता प्राप्त कर सकता है।

व्यतिरिक्त आगम ग्रन्थों को भी पुनः दो भागों में विभाजित किया गया है– १. कालिक और २. उत्कालिक। आज प्रकीर्णकों में वर्गीकृत नौ ग्रन्थ इन्हीं दो भागों के अन्तर्गत उल्लिखित हैं। इसमें कालिक के अन्तर्गत ऋषिभाषित और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, इन दो प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है, जबकि उत्कालिक के अन्तर्गत देवेन्द्रस्तव, तन्दुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, गणिविद्या, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान और मरणविभक्ति इन सात प्रकीर्णकों का उल्लेख है।

प्राचीन आगमों में ऐसा कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि अमुक–अमुक ग्रन्थ प्रकीर्णक के अन्तर्गत आते हैं। नन्दीसूत्र और पाक्षिक सूत्र दोनों में ही आगमों के विभिन्न वर्गों में कहीं भी प्रकीर्णक वर्ग का उल्लेख नहीं है। यद्यपि इन दोनों ग्रन्थों में आज हम जिन्हें प्रकीर्णक मान रहे हैं, उनमें से अनेक का उल्लेख कालिक एवं उत्कालिक आगमों के अन्तर्गत हुआ है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि आगमों का अंग, उपांग, छेद, मूल, चूलिका और प्रकीर्णक के रूप में उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य जिनप्रभ के विधिमार्गप्रपा (लगभग ईसा की तेरहवीं शती) में मिलता है। इससे यह फलित होता है कि तेरहवीं शती से पूर्व आगमों के वर्गीकरण में कहीं भी प्रकीर्णक वर्ग का स्पष्ट निर्देश नहीं है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिये कि उसके पूर्व न तो प्रकीर्णक साहित्य था और न ही उनका कोई उल्लेख था।

अंग आगमों में सर्वप्रथम समवायांग सूत्र में प्रकीर्णक शब्द का उल्लेख हुआ है। उसमें कहा गया है कि भगवान ऋषभदेव के चौरासी हजार शिष्यों द्वारा रचित चौरासी हजार प्रकीर्णक थे। परम्परागत अवधारणा यह है कि जिस तीर्थंकर के जितने शिष्य होते हैं, उसके शासन में उतने ही प्रकीर्णक ग्रन्थों की रचना होती है। सामान्यतया प्रकीर्णक शब्द का तात्पर्य होता है– विविध ग्रन्थ। मुझे ऐसा लगता है कि प्रारम्भ में आगमों के अतिरिक्त सभी ग्रन्थ प्रकीर्णक की कोटि में माने जाते थे।[1] अंग-आगमों से इतर आवश्यक, आवश्यक व्यतिरिक्त, कालिक एवं उत्कालिक के रूप में वर्गीकृत सभी ग्रन्थ प्रकीर्णक कहलाते थे। मेरे इस कथन का प्रमाण यह है कि षट्खण्डागम की धवला टीका में बारह अंग-आगमों से भिन्न अंगबाह्य ग्रन्थों को प्रकीर्णक का नाम दिया गया है। उसमें उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, ऋषिभाषित आदि को भी प्रकीर्णक ही कहा गया है।[2] यह भी ज्ञातव्य है कि प्रकीर्णक नाम से अभिहित अथवा प्रकीर्णक वर्ग में समाहित सभी ग्रन्थों के नाम के अन्त में प्रकीर्णक शब्द नहीं मिलता है। मात्र कुछ ही ग्रन्थ ऐसे हैं जिनके नाम के अन्त में प्रकीर्णक शब्द का उल्लेख हुआ है। फिर भी इतना निश्चित है कि प्रकीर्णकों का अस्तित्व अति प्राचीन काल में भी रहा है, चाहे

उन्हें प्रकीर्णक नाम से अभिहित किया गया हो अथवा न किया गया हो। नन्दीसूत्रकार ने अंग-आगमों को छोड़कर आगम रूप में मान्य सभी ग्रन्थों को प्रकीर्णक कहा है।[3] अत: प्रकीर्णक शब्द आज जितने संकुचित अर्थ में है उतना पूर्व में नहीं था। उमास्वाति और देववाचक के समय में तो अंग-आगमों के अतिरिक्त शेष आगमों को प्रकीर्णक में ही समाहित किया जाता था। इससे जैन आगम साहित्य में प्रकीर्णक का क्या स्थान है, यह सिद्ध हो जाता है। प्राचीन दृष्टि से तो अंग–आगमों के अतिरिक्त सम्पूर्ण जैन आगमिक साहित्य प्रकीर्णक वर्ग के अन्तर्गत आता है।

वर्तमान में प्रकीर्णक वर्ग के अन्तर्गत दस ग्रन्थ मानने की जो परम्परा है, वह न केवल अर्वाचीन है, अपितु इस संदर्भ में श्वेताम्बर आचार्यों में परस्पर मतभेद भी है[4] कि इन दस प्रकीर्णकों में कौन से ग्रन्थ समाहित किये जाएं। प्रद्युम्नसूरि ने विचारसारप्रकरण (चौदहवीं शताब्दी) में पैतालीस आगमों का उल्लेख करते हुए कुछ प्रकीर्णकों का उल्लेख किया है। आगम प्रभाकर मुनिपुण्यविजयजी ने चार अलग–अलग संदर्भों में प्रकीर्णकों की अलग–अलग सूचियां प्रस्तुत की हैं।[5]

अत: दस प्रकीर्णकों के अन्तर्गत किन–किन ग्रन्थों को समाहित करना चाहिये, इस संदर्भ में श्वेताम्बर आचार्यों में कहीं भी एकरूपता देखने को नहीं मिलती है। इससे यह फलित होता है कि प्रकीर्णक ग्रन्थों की संख्या दस है, यह मान्यता न केवल परवर्ती है अपितु उसमें एकरूपता का अभाव है। भिन्न–भिन्न श्वेताम्बर आचार्य भिन्न–भिन्न सूचियां प्रस्तुत करते रहे हैं। उनमें कुछ नामों में तो एकरूपता होती है, किन्तु सभी नामों में एकरूपता का अभाव पाया जाता है। जहां तक दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है उसमें तत्त्वार्थभाष्य का अनुसरण करते हुए अंग- आगमों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों को प्रकीर्णक कहने की ही परम्परा रही है। अत: प्रकीर्णकों की संख्या अमुक ही है, यह कहने का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। वस्तुत: अंग-आगम साहित्य के अतिरिक्त सम्पूर्ण अंगबाह्य आगम साहित्य प्रकीर्णक के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार प्रकीर्णक साहित्य जैन आगम साहित्य के अति विशाल भाग का परिचायक है और उनकी संख्या को दस तक सीमित करने का दृष्टिकोण पर्याप्त रूप से परवर्ती और विवादास्पद है।

प्रकीर्णक साहित्य का महत्त्व

यद्यपि वर्तमान में श्वेताम्बर जैनों के स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय प्रकीर्णकों को आगमों के अन्तर्गत मान्य नहीं करते हैं, किन्तु प्रकीर्णकों की विषयवस्तु का अध्ययन करने से ऐसा लगता है कि अनेक प्रकीर्णक अंग–आगमों की अपेक्षा भी साधना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि यह सत्य है कि आचार्य वीरभद्र द्वारा ईसा की दसवीं शती में रचित

कुछ प्रकीर्णक अर्वाचीन हैं, किन्तु इससे सम्पूर्ण प्रकीर्णकों की अर्वाचीनता सिद्ध नहीं होती। विषय वस्तु की दृष्टि से प्रकीर्णक साहित्य में जैन विद्या के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। जहां तक देवेन्द्रस्तव और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति प्रकीर्णक का प्रश्न है, वे मुख्यत: जैन खगोल और भूगोल की चर्चा करते हैं। इसी प्रकार तित्थोगाली प्रकीर्णक में भी जैन काल व्यवस्था का चित्रण विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों के संदर्भ में हुआ है। ज्योतिष्करण्डक और गणिविद्या प्रकीर्णक का संबंध मुख्यतया जैन ज्योतिष से है। तित्थोगाली प्रकीर्णक मुख्यरूप से प्राचीन जैन इतिहास को प्रस्तुत करता है। श्वेताम्बर परम्परा में तित्थोगाली ही एकमात्र ऐसा प्रकीर्णक है जिसमें आगमज्ञान के क्रमिक उच्छेद की बात कही गई है। सारावली प्रकीर्णक में मुख्य रूपसे शत्रुंजय महातीर्थ की कथा और महत्त्व उल्लिखित है। तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक जैन जीवविज्ञान का सुन्दर और संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार अंगविद्या नामक प्रकीर्णक मानव शरीर के अंग-प्रत्यंगों के विवरण के साथ-साथ उनके शुभाशुभ लक्षणों का भी चित्रण करता है और उनके आधार पर फलादेश भी प्रस्तुत करता है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का संबंध शरीर रचना एवं फलित ज्योतिष दोनों विषयों से है। गच्छाचार प्रकीर्णक में जैन संघ-व्यवस्था का चित्रण उपलब्ध होता है, जबकि चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक में गुरु-शिष्य के संबंध एवं शिक्षा-संबंधों का निर्देश है। वीरस्तव प्रकीर्णक में महावीर के विविध विशेषणों के अर्थ की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या की गई है। चतु:शरण प्रकीर्णक में मुख्य रूप से चतुर्विध संघ के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए जैन साधना का परिचय दिया गया है। आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, मरणसमाधि, संस्तारक, आराधनापताका, आराधनाप्रकरण, भक्तप्रत्याख्यान आदि प्रकीर्णक जैन साधना के अन्तिम चरण समाधिमरण की पूर्व तैयारी और उसकी साधना की विशेष विधियों का चित्रण प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार प्रकीर्णक साहित्य में जैन विद्या के विविध पक्षों का समावेश हुआ है, जो जैन साहित्य के क्षेत्र में उनके मूल्य और महत्त्व को स्पष्ट कर देता है।

प्रकीर्णक साहित्य का रचनाकाल

जहां तक प्रकीर्णकों की प्राचीनता का प्रश्न है उनमें से अनेक प्रकीर्णकों का उल्लेख नन्दीसूत्र में होने से वे उससे प्राचीन सिद्ध हो जाते हैं। मात्र यही नहीं, प्रकीर्णक नाम से अभिहित ग्रन्थों में से अनेक तो अंग-आगम की अपेक्षा प्राचीन स्तर के रहे हैं, क्योंकि ऋषिभाषित का स्थानांग एवं समवायांग में उल्लेख है।[6] ऋषिभाषित आदि कुछ ऐसे प्रकीर्णक हैं जो भाषा-शैली, विषय वस्तु आदि अनेक आधारों पर आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर शेष आगमों की अपेक्षा भी प्राचीन हैं।

ऋषिभाषित उस काल का ग्रन्थ है, जब जैनधर्म सीमित सीमाओं में आबद्ध नहीं हुआ था वरन् उसमें अन्य परम्पराओं के श्रमणों को भी आदरपूर्वक स्थान प्राप्त था। इस ग्रन्थ की रचना उस युग में संभव नहीं थी, ज़ब जैनधर्म भी सम्प्रदाय के क्षुद्र घेरे में आबद्ध हो गया। लगभग ई.पू. तीसरी शताब्दी से जैनधर्म में जो साम्प्रदायिक अभिनिवेश दृढ़ हो रहे थे, उसके संकेत सूत्रकृतांग और भगवतीसूत्र जैसे प्राचीन आगमों में मिल रहे हैं। भगवतीसूत्र में जिस मंखलिपुत्र गोशालक की कटु आलोचना है, उसे ऋषिभाषित अर्हत् ऋषि कहता है। आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, तंदुलवैचारिक, मरणविभक्ति आदि प्रकीर्णक साहित्य के ऐसे ग्रन्थ हैं— जो सम्प्रदायगत आग्रहों से मुक्त हैं। सूत्रकृतांगसूत्र में ऋषिभाषित के अनेक ऋषियों का सम्मानपूर्वक उल्लेख और उन्हें अर्हत् परम्परा द्वारा सम्मत माना जाना भी यही सूचित करता है कि ऋषिभाषित जैसे कुछ प्राचीन प्रकीर्णकों की भाषा का अर्धमागधी स्वरूप तथा आगमों की अपेक्षा उनकी भाषा में महाराष्ट्री भाषा की अल्पता भी यही सिद्ध करती है कि ये ग्रन्थ प्राचीन स्तर के हैं। नन्दीसूत्र में प्रकीर्णक के नाम से अभिहित नौ ग्रन्थों का उल्लेख भी यही सिद्ध करता है कि कम से कम ये नौ प्रकीर्णक तो नन्दीसूत्र से पूर्ववर्ती हैं। नन्दीसूत्र का काल विद्वानों ने विक्रम की पांचवी शती माना है, अत: ये प्रकीर्णक उससे पूर्व के हैं। इसी प्रकार समवायांग सूत्र में स्पष्ट रूप से प्रकीर्णकों का निर्देश भी यही सिद्ध करता है कि समवायांगसूत्र के रचनाकाल अर्थात् विक्रम की तीसरी शती में भी अनेक प्रकीर्णकों का अस्तित्व था।

इन प्रकीर्णकों में देवेन्द्रस्तव के रचनाकार ऋषिपालित हैं। कल्पसूत्र स्थविरावली में ऋषिपालित का उल्लेख है। इनका काल ईसा पूर्व प्रथम शती के लगभग है। इसकी विस्तृतचर्चा हमने देवेन्द्रस्तव की प्रस्तावना में की है।[७] अभी—अभी संबोधि पत्रिका में श्री ललित कुमार का एक शोध लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें उन्होनें पुरातात्त्विक आधारों पर यह सिद्ध किया है कि देवेन्द्रस्तव की रचना ई.पू. प्रथम शती में या उसके भी कुछ पूर्व हुई होगी।[८] प्रकीर्णकों में निम्नलिखित प्रकीर्णक वीरभद्र की रचना कहे जाते हैं— चउसरण, आउरपच्चक्खाण, भत्तपरिण्ण और आराधनापताका। आराधना-पताका की प्रशस्ति में **विक्कमनिवकालाओ अट्ठुत्तरिमे—समासहस्सम्मि**' या पाठभेद से **अट्ठुत्तरोत्तरसमासहस्सम्मि**' के उल्लेख के अनुसार इनका रचनाकाल विक्रम संवत् १००८ या १०७९ सिद्ध होता है।[९] इस प्रकार प्रकीर्णक नाम से अभिहित ग्रन्थों में जहां ऋषिभाषित ई.पू. पांचवी शती की रचना है, वहीं आराधनापताका ई.सन् की दसवीं या ग्यारहवीं शती के पूर्वार्द्ध की रचना है। इस प्रकार प्रकीर्णक साहित्य में समाहित ग्रन्थ लगभग पन्द्रह सौ वर्ष की सुदीर्घ अवधि में निर्मित होते रहे हैं, फिर भी चउसरण, परवर्ती

आउरपच्चक्खाण, भत्तपरिण्णा, संथारग और आराहनापडाया को छोड़कर शेष प्रकीर्णक ई. सन् की पांचवी शती के पूर्व की रचनाएँ हैं। ज्ञातव्य है कि महावीर ज़ैन विद्यालय, बम्बई से प्रकाशित 'पइण्णयसुत्ताइ' में आरपच्चक्खाण परवर्ती है, किन्तु नन्दीसूत्र में उल्लिखत आरपच्चक्खाण तो प्राचीन ही है।

यहां पर यह भी ज्ञातव्य है कि प्रकीर्णकों की अनेक गाथाएँ श्वेताम्बर मान्य अंग—आगमों एवं उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिकसूत्र जैसे प्राचीन स्तर के आगम ग्रन्थों में भी पायी जाती है। गद्य अंग आगमों, में पद्यरूप में इन गाथाओं की उपस्थिति भी यही सिद्ध करती है कि उनमें ये गाथाएँ प्रकीर्णकों से अवतरित है। यह कार्य वलभीवाचना के पूर्व हुआ है, अत: फलित होता है कि नन्दीसूत्र में उल्लिखत प्रकीर्णक वलभीवाचना के पूर्व रचित है। तंदुलवैचारिक का उल्लेख दशवैकालिक की प्राचीन अगस्त्यसिंह चूर्णि में है।[१०] इससे उसकी प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। यहचूर्णि अन्य चूर्णियों की अपेक्षा प्राचीन मानी गयी है।

दिगम्बर परम्परा में मूलाचार, भगवती आराधना और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में प्रकीर्णकों की सैकड़ों गाथाएं अपने शौरसेनी रूपान्तरण में मिलती है। मूलाचार के संक्षिप्त प्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान इन दोनों प्रकीर्णकों की लगभग सत्तर से अधिक गाथाएँ हैं। इसी प्रकार मरणविभक्ति प्रकीर्णक की लगभग शताधिक गाथाएँ भगवती आराधना में मिलती हैं। इससे यह फलित होता है कि ये प्रकीर्णक ग्रन्थ मूलाचार एवं भगवती आराधना के पूर्व के हैं। मूलाचार एवं भगवती आराधना के रचनाकाल को लेकर चाहे कितना भी मतभेद हो, किन्तु इतना निश्चित है कि ये ग्रन्थ ईसा की छठीं शती से परवर्ती नहीं है।

यद्यपि यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि प्रकीर्णक में ये गाथाएं इन यापनीय/अचेल परम्परा के ग्रन्थों से ली गयी होंगी, किन्तु अनेक प्रमाणों के आधार पर यह दावा निरस्त हो जाता है। जिनमें से कुछ प्रमाण इस प्रकार है—

१. गुणस्थान सिद्धान्त उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र और आचारांग निर्युक्ति की रचना के पश्चात् लगभग पांचवी छठी शती में अस्तित्व में आया है। चूंकि मूलाचार और भगवती आराधना दोनों ग्रन्थों में गुणस्थान का उल्लेख मिलता है, अत:' ये ग्रन्थ पांचवी शती के बाद की रचनाएँ है जबकि आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान और मरणसमाधि का उल्लेख नन्दीसूत्र में होने से ये ग्रन्थ पांचवी शती के पूर्व की रचनाएं है।,

२. मूलाचार में संक्षिप्तप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान नामक अध्ययन बनाकर उनमें आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान नामक दोनों ग्रन्थों को समाहित किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये ग्रन्थ

पूर्ववर्ती है और मूलाचार परवर्ती है।

३. भगवती आराधना में भी मरणविभक्ति की अनेक गाथाए समान रूप से मिलती हैं। वर्ण्य विषय की समानता होते हुए भी भगवती आराधना में जो विस्तार है, वह मरणविभक्ति में नहीं है। प्राचीन स्तर के ग्रन्थ मात्र श्रुतपरम्परा से कण्ठस्थ किये जाते थे, अत: वे आकार मेकं संक्षिप्त होते थे ताकि उन्हें सुगमता से याद रखा जा सके, जबकि लेखन परम्परा के विकसित होने के पश्चात् विशालकाय ग्रन्थ निर्मित होने लगे। मूलाचार और भगवती आराधना दोनों विशाल ग्रन्थ है, अत: वे प्रकीर्णकों से अपेक्षाकृत परवर्ती है। वस्तुत: प्रकीर्णक साहित्य के वे सभी ग्रनथ जो नन्दीसूत्र और पाक्षिक सूत्र में उल्लिखित हैं और वर्तमान में उपलब्ध हैं, निश्चित ही ईसा की पांचवी शती पूर्व के हैं।

प्रकीर्णकों में ज्योतिषकरण्डक नामक प्रकीर्णक का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें श्रमण गन्धहस्ती और प्रतिहस्ती का उल्लेख मिलता है। इसमें यह भी कहा गया है कि जिस विषय का सूर्यप्रज्ञति में विस्तार से विवेचन है,उसी को संक्षेप में यहां दिया गया है। तात्पर्य यह है कि यह प्रकीर्णक सूर्यप्रज्ञप्ति के आधर पर निर्मित किया गया है। इसमेंकर्ता के रूप में पादलिप्ताचार्य का भी यह स्पष्टउल्लेख हुआ है। पादलिप्ताचार्य का उल्लेख निर्युक्ति साहित्य में भी उपलब्ध होता है (लगभग ईसा की प्रथम शती) इससे यही फलित होता है कि ज्योतिष्करण्डक का रचनाकाल भी ई. सन् की प्रथम शती है। अंगबाह्य आगमों में सूर्यप्रज्ञप्ति, जिसके आधार पर इस ग्रन्थ की रचना हुई, एक प्राचीन ग्रन्थ है क्योंकि इसमें जो ज्योतिष संबंधी वितरण हैं, वह ईस्वी पूर्व के हैं, उसके आधार पर भी इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। साथ ही इसकी भाषा में अर्धमागधी रूपों की प्रचुरता भी इसे प्राचीन ग्रन्थ सिद्ध करती है।

अत: प्रकीर्णकों के रचनाकाल की पूर्व सीमा ई. पू. चतुर्थ—तृतीय शती से प्रारम्भ होती है। परवर्ती कुछ प्रकीर्णक जैसे कुशलानुबंधि अध्ययन, चतु:शरण, भक्तपरिज्ञा आदि वीरभद्र की रचना माने जतो हैं, वे निश्चित ही ईसा की दशवी शती की रचनाएं हैं। इस प्रकार प्रकीर्णक साहित्य का रचनाकाल ई. पू. चतुर्थ शती से प्रारम्भ होकर ईसा की दसवी शती तक अर्थात् लगभग पन्द्रह सौ वर्षों की सुदीर्घ अवधि तक व्याप्त है।

प्रकीर्णक के रचयिता

प्रकीर्णक साहित्य के रचनाकाल के संबंध में विचार करते हुए हमने यह पाया कि अधिकांश प्रकीर्णक ग्रन्थों के रचयिता क संदर्भ में कही कोई उल्लेख नहीं है। प्राचीन स्तर के प्रकीर्णकों में ऋषिभाषित , चन्द्रवेध्यक, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, मरणसमाधि, गणिविद्या, देवेन्द्रस्तव और ज्योतिष्करण्डक दो ही प्राचीन प्रकीर्णक ऐसे हैं, जिनकी अन्तिम गाथाओं में

स्पष्ट रूप से लेखक के नामों का उल्लेख हुआ है।[11] देवेन्द्रस्तव के कर्ता के रूप में ऋषिपालित और ज्योतिष्करण्डक के कर्ता के रूप में पादलिप्ताचार्य के नामों का उललेख कल्पसूत्र स्थविरावली में महावीर की पट्टपरम्परा में तेरहवें स्थान पर आता है और इस आधार पर वे ई.पू. प्रथम शताब्दी के लगभग के सिद्ध होते हैं। कल्पसूत्र स्थविरावली में इनके द्वारा कोटिकगण की ऋपिपालित शाखा प्रारम्भ हुई, ऐसाभी उल्लेख है। इस संदर्भ में और विस्तार से चर्चा हमने देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक की भूमिका में की है।[12] देवेन्द्रस्तव के कर्ता ऋपिपालित का समय लगभग ई.पू. प्रथम शताब्दी है। इस तथ्य की पुष्टि श्री ललित कुमार ने अपने एक शोध लेख में की है, जिसका निर्देश भी हम पूर्व में कर चुके हैं। ज्योतिपकरण्डक के कर्ता पादलिप्ताचार्य का उल्लेख हमें निर्युक्त साहित्य में उपलब्ध होता है।[13] आर्यरक्षित के समकालिक होने से वे लगीाग ईसा की प्रथम शताब्दी के ही सिद्ध होते हैं। उनके व्यक्तित्व क संदर्भ में भी चूर्णि साहित्य और परवर्ती प्रवन्धों में विस्तार से उल्लेख मिलता है।

कुसलाणुबंधि अध्ययन और भक्त परिज्ञा के कर्त्ता के रूप में भी आचार्य वीरभद्र का ही उल्लेख मिलता है।[14] वीरभद्र के काल के संबंध में अनेक प्रवाद प्रचलित हैं जिनकी चर्चा हमने गच्छाचार प्रकीर्णक की भूमिका में की है।[15] हमारी दृष्टि में वीरभद्र ईसा की दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और ग्यारहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के आचार्य है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते है कि ईस्वी पूर्व चतुर्थ शताब्दी से लेकर ईसा की दसवी शताब्दी तक लगभग पन्द्रह सौ वर्षो की सुदीर्घ अवधि में प्रकीर्णक साहित्य लिखा जाता रहा है। किन्तु इतना निश्चित है कि अधिकांश महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ईसा की पांचवी—छटी शताब्दी तक लिखे जा चुके थे। वे सभी प्रकीर्णक जो नन्दीसूत्र में उल्लिखत हैं, वस्तुत: प्राचीन हैं और उनमें जैनों के सम्प्रदायगत विभेद की कोई सूचना नहीं है। मात्र तित्थोगाली, सारावली आदि कुछ परवर्ती प्रकीर्णकों में प्रकारान्तर से जैनों के साम्प्रदायिक मतभेदों की किंचित सूचना मिलती है। प्राचीन स्तर के इन प्रकीर्णकों में से अधिकांश मूलत: आध्यात्मिक साधना और विशेष रूप से समाधिमरण की साधना के विपय में प्रकाश डालते है। ये ग्रन्थ निवृत्तिमूलक जीवनदृष्टि के प्रस्तोता हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि जैन परम्परा के कुछ सम्प्रदायों में विशेष रूप से दिगम्बर, स्थानकवासी और तेरापंथी परम्पराओं में इनकी आगम रूप मान्यता नहीं है, किन्तु यदि निष्पक्ष भाव से इन प्रकीर्णकों का अध्ययन किया जाय तो इनमें ऐसा कुछभी नहींहै जो इन परम्पराओं की मान्यता के विरोध में जाता हो। आगम संस्थान, उदयपुर द्वारा इन प्रकीर्णकों का हिन्दी में अनुवाद करके जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा रहा

है, आशा है उसके माध्यम से ये ग्रन्थ उन परम्पराओं में भी पहुंचेगे और उनमें इनके अध्ययन और पठन– पाठन की रुचि विकसित होगी। वस्तुत: प्रकीर्णक साहित्य की उपेक्षा प्राकृत साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा है। इस दिशा में आगम संस्थान, उदयपुर ने साम्प्रदायिक आग्रहों से ऊपर उठकर इनके अनुवाद को प्रकाशित करने की योजना को अपने हाथ में लिया और इनका प्रकाशन करके अपनी उदारवृत्ति का परिचय दिया है। प्रकीर्णक साहित्य के समीक्षात्मक अध्ययन के उद्देश्य को लेकर इनके द्वारा प्रकाशित 'प्रकीर्णक साहित्य : अध्ययन एवं समीक्षा' नामक पुस्तक प्रकीर्णकों के विषय में विस्तृत जानकारी देती है। आशा है सुधीजन संस्था के इन प्रयत्नों को प्रोत्साहित करेंगे, जिसके माध्यम से प्राकृत साहित्य की यह अमूल्य निधि जन–जन तक पहुंचकर उनके आत्मकल्याण में सहायक बनेगी।

संदर्भ

१. 'अंगबाहिरचोद्दसपइण्णयज्झाया'–धवला, पुस्तक १३, खण्ड ५, भाग५, सूत्र ४८, पृ. २६७, उद्धृत– जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. ७०।
२. वही, पृ. ७०
३. नन्दीसूत्र, सम्पादक मुनि मधुकर, अगाम प्रकाश समिति, ब्यावर १९८२, सूत्र ८१
४. उद्धृत–पइण्णयसुत्ताइं, सम्पादक मुनि पुण्यविजय, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई १९८४, भाग१, प्रस्तावना, पु. २१
५. वही, प्रस्तावना पृ. २०–२१
६. (क) स्थानांग सूत्र, सम्पादक मधुकरमुनि, आगम प्रकाश समिति, ब्यावर, १९८१, स्थान १०, सूत्र ११६
(ख) समवायांग सूत्र, सम्पादक मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२, समवाय ४४, सूत्र २५८।
७. देविंदत्थओ (देवेन्द्रस्तव), आगम, अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर १९८८, भूमिका पृ. १८–२२
८. Sambodhi, L.D.Institute of Indology, Ahmedabad, Vol. XVIII, Year १९९२–९३, pp. ७४–७६
९. आराधनापताका (आचार्य वीरभद्र) गाथा ९८७
१०. दशवैकालिक चूर्णि पृ.३, पं. १२–उद्धृत पइण्णयसुत्ताइं, भाग १, प्रस्तावना पृ. १९।
११. (क) देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक, गाथा ३१०
(ख) ज्योतिष्करण्डक प्रकीर्णक, गाथा ४०३–४०६।
१२. देविंदत्थओ, भूमिका, पृ. १८–२२
१३. पिंडनिर्युक्ति, गाथा ४१८
१४. (क) कुसलणुवंधि अध्ययन प्रकीर्णक, गाथा ६३।
(ख) भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक, गाथा १७२
१५. गच्छायार पइण्णयं (गच्छाचार प्रकीर्णक), आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, १९९४, भूमिका पु. २०–२१।

–सागर टेन्ट हाउस, नई सड़क, शाजापुर (म.प्र.)

प्रकीर्णक-साहित्य : एक परिचय

डॉ. सुषमा सिंघवी

प्रकीर्णक—साहित्य भी जैन आगम वाङ्मय का मुक्तामणि है। एक—एक प्रकीर्णक प्रायः एक विषय को प्रधान बनाकर उसका विवेचन करता है। इनमें समाधिमरण, देवविमान, गर्भजन्म, खगोलविद्या, ज्योतिर्विज्ञान एवं आध्यात्मिक उन्नयन के सूत्रों की चर्चा है। कोटा खुला विश्वविद्यालय के उदयपुर केन्द्र की निदेशक एवं जैनविद्या में निष्णात डॉ. सुषमा जी ने अपने आलेख में प्रकीर्णकों के संबंध में आवश्यक चर्चा करते हुए कतिपय प्रकीर्णकों की विषयवस्तु से अवगत कराया है। — **सम्पादक**

उमास्वाति और देववाचक के समय अंग आगमों के अतिरिक्त शेष सभी आगमों को प्रकीर्णकों में समाहित किया जाता था। इससे स्पष्ट है कि जैन आगम साहित्य में प्रकीर्णकों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। अरिहन्त के उपदिष्ट श्रुतों के आधार पर श्रमणनिर्ग्रन्थ भक्ति—भावना तथा श्रद्धावश मूल भावना से दूर न रहते हुए जिन ग्रन्थों का निर्माण करते हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं। प्रकीर्णक को परिभाषित करते हुए नंदिसूत्र—चूर्णिकार कहते हैं **'अरहंतमग्गउवदिट्ठे जं सुत्तमणुसरित्ता किंचि णिज्जूहंते (निर्यूढ) ते सव्वे पइण्णग्गा; अहवा सुत्तमणुसरतो अप्पणो वयणकोसल्लेण जं धम्मदेसणादिसु (गंथपद्धतिणा) भासंते तं सव्वं पइण्णग'**[१] प्रकीर्णक एक पारिभाषिक शब्द प्रयोग है जिसके अन्तर्गत परिगणित प्रत्येक ग्रन्थ में प्रायः एक विशिष्ट विषयवस्तु सुसंहत है जो आगम सूत्रों के अनुसार प्रतिपादित है।

भगवान् ऋषभदेव से लेकर श्रमण भगवान महावीर तक विद्वान् स्थविर साधुओं ने स्वबुद्धि कौशल से धर्म तथा जैन तत्त्व ज्ञान को जनसाधारण तक पहुँचाने की दृष्टि से तथा कर्म-निर्जरा के उद्देश्य से प्रकीर्णकों की रचना की। नंदिसूत्रकार ने प्रकीर्णकों की सूचि के अन्त में **'एवमाइयाइं चउरासीती पइण्णगसहस्साइं भगवतो अरहओ उसहस्स'** कहा।[२] समवायांग सूत्र में भी 'प्रकीर्णक' के उल्लेख के अवसर पर भगवान् ऋषभदेव के ८४ हजार शिष्यों द्वारा रचित ८४००० प्रकीर्णक होने का निरूपण है। नंदिसूत्र के अनुसार तीर्थंकरों की जितनी श्रमण सम्पदा (उत्कृष्ट चार प्रकार की बुद्धि वाले दिव्य ज्ञानी साधु शिष्य अथवा प्रत्येक बुद्ध) उतनी ही प्रकीर्णकों की संख्या है। इस प्रकार भगवान् महावीर के चौदह हजार प्रकीर्णक होते हैं। स्थानांग सूत्र के दसवें स्थान में भी इन प्रकीर्णकों के कुछ नामोल्लेख मिलते हैं।[३] व्यवहारसूत्र के दसवें उद्देशक में भी १९ प्रकीर्णकों का नामोल्लेख है।[४] पाक्षिक सूत्र में प्रकीर्णकों की जो सूचि है[५] वह नंदिसूत्र

के अनुरूप ही है तथापि उसमें गणिविद्या के स्थान पर आणविभत्ति नाम है, सूर्यप्रज्ञप्ति को वहाँ कालिकसूत्र में गिना है और नंदिसूत्र के अतिरिक्त भी ७ और नाम वहाँ हैं जिनका उल्लेख स्थानांग व व्यवहारसूत्र में है।

षट्खण्डागम की धवलाटीका में भी १९ प्रकीर्णकों के नाम हैं। इसमें १२ अंग आगमों से भिन्न अंगबाह्य ग्रन्थों को प्रकीर्णक संज्ञा दी है — 'अंगबाहिरचोद्दस पइण्णयज्झाया', उसमें उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, ऋषिभाषित आदि को भी प्रकीर्णक ही कहा गया है।[६] प्रकीर्णकों के कुछ नाम जोगनंदी और विधिमार्गप्रपा नामक प्राचीन रचनाओं में भी प्राप्त होते हैं।[७] ऋषिभाषित का सन्दर्भ समवायांग, तत्त्वार्थस्वोपज्ञभाष्य आदि में भी प्राप्त होता है।

नंदिसूत्र, स्थानांगसूत्र, व्यवहारसूत्र, धवला, पाक्षिक आदि सूत्रों में गिनाए गये अनेक ग्रन्थों का क्रमशः विच्छेद होता रहा, साथ ही कई श्रेण्य मान्य शास्त्रग्रन्थ प्रकीर्णकों की श्रेणी में जुड़ते भी गये अतः सर्वमान्य रूप से प्रकीर्णकों की संख्या निश्चित नहीं हो सकी। ग्यारह अंग, बारहवें दृष्टिवाद और आवश्यक सूत्रों के नामों के बारे में कोई विवाद नहीं रहा और इन्हें कभी प्रकीर्णक संज्ञा भी नहीं दी गई। नंदिसूत्र में वर्णित जैन आगम साहित्य के वर्गीकरण के अनुसार प्रकीर्णकों के रूप में स्वीकृत नौ ग्रन्थ कालिक और उत्कालिक इन दो विभागों के अन्तर्गत उल्लिखित हैं—

प्रकीर्णक-साहित्य : एक परिचय

डॉ. सुषमा सिंघवी

प्रकीर्णक—साहित्य भी जैन आगम वाङ्मय का मुक्तामणि है। एक—एक प्रकीर्णक प्राय: एक विषय को प्रधान बनाकर उसका विवेचन करता है। इनमें समाधिमरण, देवविमान, गर्भजन्म, खगोलविद्या, ज्योतिर्विज्ञान एवं आध्यात्मिक उन्नयन के सूत्रों की चर्चा है। कोटा खुला विश्वविद्यालय के उदयपुर केन्द्र की निदेशक एवं जैनविद्या में निष्णात डॉ. सुषमा जी ने अपने आलेख में प्रकीर्णकों के संबंध में आवश्यक चर्चा करते हुए कतिपय प्रकीर्णकों की विषयवस्तु से अवगत कराया है। —सम्पादक

उमास्वाति और देववाचक के समय अंग आगमों के अतिरिक्त शेष सभी आगमों को प्रकीर्णकों में समाहित किया जाता था। इससे स्पष्ट है कि जैन आगम साहित्य में प्रकीर्णकों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। अरिहन्त के उपदिष्ट श्रुतों के आधार पर श्रमणनिर्ग्रन्थ भक्ति—भावना तथा श्रद्धावश मूल भावना से दूर न रहते हुए जिन ग्रन्थों का निर्माण करते हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं। प्रकीर्णक को परिभाषित करते हुए नंदिसूत्र—चूर्णिकार कहते हैं **'अरहंतमग्गउवदिट्ठे जं सुत्तमणुसरित्ता किंचि णिज्जूहंते (निर्यूढ) ते सव्वे पइण्णग्गा; अहवा सुत्तमणुसरतो अप्पणो वयणकोसल्लेण जं धम्मदेसणादिसु (गंथपद्धतिणा) भासंते तं सव्वं पइण्णग**'[१] प्रकीर्णक एक पारिभाषिक शब्द प्रयोग है जिसके अन्तर्गत परिगणित प्रत्येक ग्रन्थ में प्राय: एक विशिष्ट विषयवस्तु सुसंहत है जो आगम सूत्रों के अनुसार प्रतिपादित है।

भगवान् ऋषभदेव से लेकर श्रमण भगवान महावीर तक विद्वान् स्थविर साधुओं ने स्वबुद्धि कौशल से धर्म तथा जैन तत्त्व ज्ञान को जनसाधारण तक पहुँचाने की दृष्टि से तथा कर्म-निर्जरा के उद्देश्य से प्रकीर्णकों की रचना की। नंदिसूत्रकार ने प्रकीर्णकों की सूचि के अन्त में **'एवमाइयाइं चउरासीती पइण्णगसहस्साइं भगवतो अरहओ उसहस्स'** कहा।[२] समवायांग सूत्र में भी 'प्रकीर्णक' के उल्लेख के अवसर पर भगवान् ऋषभदेव के ८४ हजार शिष्यों द्वारा रचित ८४००० प्रकीर्णक होने का निरूपण है। नंदिसूत्र के अनुसार तीर्थकरों की जितनी श्रमण सम्पदा (उत्कृष्ट चार प्रकार की बुद्धि वाले दिव्य ज्ञानी साधु शिष्य अथवा प्रत्येक बुद्ध) उतनी ही प्रकीर्णकों की संख्या है। इस प्रकार भगवान् महावीर के चौदह हजार प्रकीर्णक होते हैं। स्थानांग सूत्र के दसवें स्थान में भी इन प्रकीर्णकों के कुछ नामोल्लेख मिलते हैं।[३] व्यवहारसूत्र के दसवें उद्देशक में भी १९ प्रकीर्णकों का नामोल्लेख है।[४] पाक्षिक सूत्र में प्रकीर्णकों की जो सूचि है[५] वह नंदिसूत्र

के अनुरूप ही है तथापि उसमें गणिविद्या के स्थान पर आणविभत्ति नाम है, सूर्यप्रज्ञप्ति को वहाँ कालिकसूत्र में गिना है और नंदिसूत्र के अतिरिक्त भी ७ और नाम वहाँ हैं जिनका उल्लेख स्थानांग व व्यवहारसूत्र में है।

षट्खण्डागम की धवलाटीका में भी १९ प्रकीर्णकों के नाम हैं। इसमें १२ अंग आगमों से भिन्न अंगबाह्य ग्रन्थों को प्रकीर्णक संज्ञा दी है — 'अंगबाहिरचोद्दस पइण्णयज्झाया', उसमें उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, ऋषिभाषित आदि को भी प्रकीर्णक ही कहा गया है।(६) प्रकीर्णकों के कुछ नाम जोगनंदी और विधिमार्गप्रपा नामक प्राचीन रचनाओं में भी प्राप्त होते हैं।(७) ऋषिभाषित का सन्दर्भ समवायांग, तत्त्वार्थस्वोपज्ञभाष्य आदि में भी प्राप्त होता है।

नंदिसूत्र, स्थानांगसूत्र, व्यवहारसूत्र, धवला, पाक्षिक आदि सूत्रों में गिनाए गये अनेक ग्रन्थों का क्रमशः विच्छेद होता रहा, साथ ही कई श्रेण्य मान्य शास्त्रग्रन्थ प्रकीर्णकों की श्रेणी में जुड़ते भी गये अतः सर्वमान्य रूप से प्रकीर्णकों की संख्या निश्चित नहीं हो सकी। ग्यारह अंग, बारहवें दृष्टिवाद और आवश्यक सूत्रों के नामों के बारे में कोई विवाद नहीं रहा और इन्हें कभी प्रकीर्णक संज्ञा भी नहीं दी गई। नंदिसूत्र में वर्णित जैन आगम साहित्य के वर्गीकरण के अनुसार प्रकीर्णकों के रूप में स्वीकृत नौ ग्रन्थ कालिक और उत्कालिक इन दो विभागों के अन्तर्गत उल्लिखित हैं—

कालिक के अन्तर्गत ऋषिभाषित और द्वीपसागर प्रज्ञप्ति इन दो प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है तथा उत्कालिक के अन्तर्गत देवेन्द्रस्तव, तन्दुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, गणिविद्या, आतुर– प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान और मरण विभक्ति इन सात प्रकीर्णकों का उल्लेख है। प्राचीन आगमों में प्रकीर्णकों का नामोल्लेख होने पर भी उन्हें अंग–प्रविष्ट आगम' आदि की तरह 'प्रकीर्णक' श्रेणी में विभाजित नहीं किया गया था। सर्वप्रथम आचार्य जिनप्रभ के विधिमार्गप्रपा में आगमों का अंग, उपांग, छेद, मूल, चूलिका और प्रकीर्णक के रूप में उल्लेख मिलता है।

नंदिसूत्र में अंग आगम, आवश्यक व प्रकीर्णकों को स्वाध्याय समय की अपेक्षा कालिक एवं उत्कालिक ऐसे दो भागों में बाँटा गया था, किन्तु कालान्तर में इन प्रकीर्णकों के बारे में दो महत्त्वपूर्ण परिपाटियाँ क्रमश: विकसित हुई :–

(१) इन प्रकीर्णकों को भी आगम का दर्जा दिया गया।

(२) श्वेताम्बर सम्प्रदाय में विषयादि की अपेक्षाओं से इन प्रकीर्णकों का वर्गीकरण भी हुआ जैसे – १२ प्रकीर्णकों को उपांग सूत्रों के समकक्ष, ६ प्रकीर्णकों को छेद सूत्रों के समकक्ष तथा ६ प्रकीर्णकों को मूलसूत्रों के समकक्ष रखा गया तथा शेष अवर्गीकृत प्रकीर्णकों को प्रकीर्णक-आगम के नाम से ही पुकारा जाने लगा।

श्वेताम्बर परम्परा में मंदिरमार्गी ४५ आगम (११ अंग + १२ उपांग + ६ छेद + ६ मूल + १० प्रकीर्णक) तथा स्थानकवासी ३२ आगम (११ अंग + १२ उपांग + ४ मूल + ४ छेद + १ आवश्यक सूत्र) मानते हैं। तथा दिगम्बर परम्परा बारहवें अंग दृष्टिवाद पर आधारित कसायपाहुड, षट्खण्डागम आदि के अतिरिक्त अंग आगमों को विलुप्त मानती है।

प्रोफेसर सागर मल जैन ने प्रकीर्णक की दस संख्या सम्बन्धी मान्यता को परवर्ती माना है तथा अंग आगम-साहित्य के अतिरिक्त सम्पूर्ण अंग बाह्य साहित्य को प्रकीर्णक के अन्तर्गत मानने का पक्ष प्रस्तुत किया है तथा प्रकीर्णक शब्द का तात्पर्य 'विविधग्रंथ' किया है।[८] जौहरी मल पारख ने प्रकीर्णक शब्द को पारिभाषिक प्रयोग कहकर प्रकीर्णक नाम से अभिहित ग्रन्थ को प्राय: एक सुसंहत विषयवस्तु वाला माना है, उन्होंने प्रकीर्णक शब्द को विस्तृत, विविध, मिक्सचर आदि सामान्य अर्थ में प्रयुक्त नहीं माना है[९] प्रकीर्णकों की संख्या के विषय में मतैक्य नहीं है। यद्यपि मन्दिरमार्गी श्वेताम्बर परम्परा में प्रकीर्णकों की सख्या १० मान्य है, किन्तु इनमें कौनसे ग्रन्थ समाहित हों इस विषय में मतभेद है। ४५ आगमों में निम्नलिखित १०

प्रकीर्णक माने जाते है:— १. चतु:शरण २. आतुरप्रत्याख्यान ३. महाप्रत्याख्यान ४. भक्तपरिज्ञा ५. तन्दुलवैचारिक ६. संस्तारक ७. गच्छाचार ८. गणिविद्या ९. देवेन्द्रस्तव १०. मरणसमाधि[१०]।

मुनि पुण्यविजय ने चार अलग—अलग सन्दर्भों में प्रकीर्णकों की अलग—अलग सूचियाँ प्रस्तुत की हैं।[११] कुछ ग्रन्थों में गच्छाचार और मरण समाधि के स्थान पर चन्द्रवेध्यक और वीरस्तव को गिना गया है, कहीं भक्तपरिज्ञा के स्थान पर चन्द्रवेध्यक को गिना गया है।[१२] इसके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक प्रकीर्णक भी उपलब्ध होते हैं यथा 'आउर पच्चक्खाणं'। आतुर प्रत्याख्यान के नाम से तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

मुनि पुण्यविजय के अनुसार प्रकीर्णक नाम से अभिहित २२ ग्रन्थ हैं:—(१) चतु:शरण (२) आतुरप्रत्याख्यान (३) भक्तपरिज्ञा (४) संस्तारक (५) तंदुलवैचारिक (६) चन्द्रवेध्यक (७) देवेन्द्रस्तव (८) गणिविद्या (९) महाप्रत्याख्यान (१०) वीरस्तव (११) ऋषिभाषित (१२) अजीवकल्प (१३) गच्छाचार (१४) मरणसमाधि (१५) तीर्थोद्गालिक (१६) आराधनापताका (१७)द्वीपसागरप्रज्ञप्ति (१८) ज्योतिष्करण्डक (१९) अंगविद्या (२०) सिद्धप्राभृत (२१) सारावली (२२) जीवविभक्ति

नंदी और पाक्षिकसूत्र में उत्कालिक सूत्रविभाग में देविंदत्थय, तंदुलवेयालिय, चंदावेज्झय, गणिविज्जा, मरणविभत्ति — मरणसमाहि, आउरपच्चक्खाण, महापच्चक्खाण, ये सात नाम और कालिक सूत्रविभाग में इसिभासियाइं, दीवसागरपण्णत्ति ये दो नाम इस प्रकार ९ नाम पाये जाते हैं। कतिपय प्रमुख प्रकीर्णकों का परिचय प्रस्तुत है:—

1.देविंदत्थओ – देवेन्द्रस्तव :—

नंदिसूत्र और पाक्षिक सूत्र में निर्दिष्ट देवेन्द्रस्तव कुल ३११ गाथाओं में निबद्ध है। अत्यन्त ऋद्धि सम्पन्न देवगण भी सिद्धों की स्तुति करते हैं यही इस ग्रन्थ का सारांश है। संवत् ११८० में रचित आचार्य श्री यशोदेवसूरि कृत पाक्षिकवृत्ति में इसका परिचय उपलब्ध है :— 'देविंदत्थओ त्ति देवेन्द्राणां चमरवैरोचनादीनाम् स्तवनं—भवन—स्थित्यादि स्वरूपादिवर्णनं यत्रासौ देवेन्द्रस्तव इति।'' देवलोकों का वर्णन और इन्द्रों द्वारा स्तुत्य इस प्रकार समासविग्रह परक दोनों विषयों का वर्णन इस ग्रन्थ में है।

विषयवस्तु:—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समय में शास्त्रज्ञाता कोई श्रावक अपने घर में प्रात: स्तुति करता है और उसकी पत्नी हाथ जोड़े सुनती है। श्रावक के वक्तव्य में बत्तीस देवेन्द्र आते हैं जिन्हें लक्ष्य कर श्रावक पत्नी देवेन्द्रों के नाम, स्थान, स्थिति, भवनपरिग्रह, विमान संख्या, भवन संख्या, नगर संख्या, पृथ्वी बाहुल्य, भवनादि की ऊँचाई, विमानों के वर्ण, आहार

ग्रहण, उच्छ्वास—नि:श्वास और अवधिज्ञान से सम्बन्धित तेरह प्रश्न पूछती है (गाथा ७ से ११)। श्रावक विस्तार से उनके उत्तर देता है (गाथा १२ से २७६)। तदुपरान्त गाथा २७७ से २८२ में ईषत्प्राग्भारपृथ्वी का वर्णन है। २८३ से ३०९ तक की गाथाओं में सिद्धों के स्थान—संस्थानादि, उपयोग, सुख तथा ऋद्धि का निरूपण है तथा अन्त में ३१०—३११ में उपसंहार तथा प्रस्तुत प्रकीर्णक के कर्ता इसिवालिय — ऋषिपालित स्थविर का नामोल्लेख है।

देवेन्द्रस्तव की विषयवस्तु आगम-साहित्य में स्थानांगसूत्र, समवायांगसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जीवाभिगमसूत्र आदि में अनेक स्थलों पर उपलब्ध होने से तुलनीय है।[१३] एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

तीसा १ चत्तालीसा २ चोत्तीसं चेव सयसहस्साइं ३।।
छायाला ४ छतीसा ५—१० उत्तरओ होंति भवणाइं।।
(प्रज्ञापना सूत्र १८७, गाथा १४१)

तीसा चत्तालीसा चउतीसं चेव सयसहस्साइं।
छत्तीसा छायाला उत्तरओ हुँति भवणाइं।। (देविंदत्थओ, गाथा ४२)

अर्थात् उत्तर दिशा की ओर (असुर कुमारों के) तीस लाख, (नाग कुमारों के) चालीस लाख, (सुपर्ण कुमारों के) चौंतीस लाख, (वायु कुमारों के) छियालीस लाख और (द्वीप, उदधि, विद्युत, स्तनित एवं अग्नि — इन पाँच कुमारों के, प्रत्येक के) छत्तीस लाख भवन होते हैं।

2.तंदुलवेयालिय पइण्णय[१४]:—

तंदुल वैचारिक प्रकीर्णक एक गद्य—पद्य मिश्रित रचना है। गद्य आलापक भगवती से भी लिये गये हैं। इसका सर्वप्रथम उल्लेख नंदी एवं पाक्षिक सूत्र में प्राप्त होता है। नंदीसूत्रचूर्णि और वृत्ति में इसका परिचय नहीं दिया गया है, किन्तु पाक्षिक सूत्र की वृत्ति में परिचय में कहा गया है कि सौ वर्ष की आयुवाला मनुष्य जितना चावल प्रतिदिन खाता है उसकी जितनी संख्या होती है उसी के उपलक्षण रूप (प्रत्येक विषय की) संख्या विचार को तंदुल वैचारिक कहते हैं।[१५] आवश्यक चूर्णि तथा निशीथ—सूत्र चूर्णि में इस प्रकीर्णक का उल्लेख उत्कालिक सूत्र के रूप में हुआ है। दशवैकालिक चूर्णि में जिनदासगणि महत्तर ने ''कालदसा 'बाला मंदा, किड्डा' जहा 'तंदुलवेयालिए'' कहकर तंदुल वैचारिक का उल्लेख किया है।[१६] तंदुलवैचारिक के वर्णनों में स्थानांग, भगवती, अनुयोगद्वार और औपपातिक सूत्र आदि के अंशों से साम्य होने तथा भाषा विषयक अध्ययन एवं अन्य ग्रन्थों में इस प्रकीर्णक के उल्लेखों के आधार पर विद्वानों ने इसका समय

ईसवी सन् की प्रथम शती से लेकर पाँचवी शती के बीच माना है।[१७]

विषयवस्तुः— तंदुलवैचारिक में प्राणिविज्ञान सम्बन्धी कई प्रासंगिक बातों का समावेश किया गया है। इसके प्रारम्भ में गर्भावस्था की अवधि, गर्भोत्पत्तियोग्य योनि का स्वरूप, स्त्रीयोनि तथा पुरुषवीर्य का प्रम्लानकाल, गर्भोत्पत्ति एवं गर्भगत जीव का विकास क्रम, गर्भगत जीव का आहार परिणाम, गर्भगत जीव के माता और पिता सम्बन्धी अंग, गर्भावस्था में मरने वाले जीव की गति, गर्भ के चार प्रकार, गर्भनिष्क्रमण, गर्भवास का स्वरूप, मनुष्य की सौ वर्ष की आयु का दस दशाओं में विभाजन का वर्णन, जीवन की दस दशाओं में सुख दुःख के विवेकपूर्वक धर्मसाधना का उपदेश, वर्तमान मनुष्यों के देह—संहनन का ह्रास, धार्मिक जन की प्रशंसा आदि का विस्तृत निरूपण किया गया है।

इस ग्रन्थ में सौ वर्ष के व्यक्ति द्वारा साढ़े बाईस वाह (संख्या विशेष) तंदुल खाये जाने का वर्णन कर उस व्यक्ति द्वारा खाये जाने वाले स्निग्ध द्रव्य और लवण का माप तथा उसके परिधान वस्त्रों का प्रमाण भी बताया है।[१८] समय, आवलिका आदि काल मान तथा कालमानदर्शक घड़ी को बताने के लिये घड़ी बनाने की विधि बताई है। तदनन्तर एक वर्ष के मास, पक्ष और अहोरात्र का परिमाण तथा अहोरात्र, मास, वर्ष और सौ वर्ष के उच्छ्वास की संख्या बताई गई है। अन्त में अनित्यता का स्वरूप, शरीर का स्वरूप उसका असुन्दरत्व और अशुभत्व, अशुचित्व आदि का निरूपण किया गया है। स्त्री के अंगोपांगों का निरूपण कर वैराग्य उत्पत्ति हेतु नाना प्रकार से उसे अशुचि और दोषों का स्थान बताया है। धर्म के माहात्म्य का प्रतिपादन करते हुए उपसंहार करते हुए कहते हैं कि इस शरीर का गणित से अर्थ प्रकट कर दिया है अर्थात् विश्लेषण करके उसके स्वरूप को बता दिया है, जिसे सुनकर जीव सम्यक्त्व और मोक्षरूपी कमल को प्राप्त करता है।

इस ग्रन्थ की अद्वितीय और दुर्लभ विशेषता है कि इसमें सभी विषयों को पहले व्यवहार गणित द्वारा देखा गया है तदनन्तर उसे सूक्ष्म और निश्चयगत गणित से समझने का प्रयोजन प्रस्तुत किया गया है।[१९]

३. चंदावेज्झयं पइण्णयं[२०] :—

चन्द्रावेध्यक प्रकीर्णक :— इसे चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक भी कहते हैं। चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक की अनेक गाथाएँ आगमों में — उत्तराध्ययन, ज्ञाताधर्मकथा और अनुयोगद्वार में; निर्युक्तियों में — आवश्यकनिर्युक्ति, उत्तराध्ययननिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति में; प्रकीर्णकों में—मरणविभक्ति, भक्तपरिज्ञा, आतुरप्रत्याख्यान, तित्थोगाली, आराधनापताका एवं गच्छाचार में; तथा यापनीय एवं दिगम्बरपरम्परा मान्य

ग्रन्थों में — भगवती आराधना, मूलाचार, नियमसार, अष्टपाहुड (सुत्तपाहुड) में; तथा भाष्य साहित्य में — विशेषावश्यकभाष्य में मिलती हैं।[२१]

चन्द्रावेध्यक प्रकीर्णक एक पद्यात्मक रचना है। इसमें कुल १७५ गाथाएँ हैं। चन्द्रावेध्यक का उल्लेख नंदिसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र तथा नंदिचूर्णि, आवश्यकचूर्णि और निशीथचूर्णि में मिलता है। इसका परिचय पाक्षिक सूत्र की वृत्ति में इस प्रकार दिया है–''चंदावेज्झयं ति इह चन्द्र–यन्त्रपुत्रिकाक्षिगोलको गृह्यते, तथा आ मर्यादया विध्यते इति आवेध्यम्, तदेवावेध्यकम्, चन्द्रलक्षणमावेध्यकं चन्द्रावेध्यकम्, राधावेध इत्यर्थः। तदुपमानमरणाराधना–प्रतिपादको ग्रन्थविशेषः चन्द्रावेध्यकमिति ''(पत्र ६३) अर्थात् जिस प्रकार स्वयंवर में ऊँचे खम्भे पर घूमती हुई पुत्तलिका की आँख को बेधने के लिये अत्यन्त सावधानी तथा अप्रमत्तता की प्रधानता होती है तथैव मरण समय की आराधना में आत्मकल्याण के लिये अत्यन्त सावधानी और अप्रमत्तता होनी चाहिये। चंद्रावेध्यक को राधावेध की उपमा दी गई है क्योंकि इस ग्रन्थ में जो आचार के नियम आदि बताए गए हैं उनका पालन करना चन्द्रकवेध (राधावेध) के समान ही कठिन है।

विषयवस्तुः– इस ग्रन्थ में सात द्वारों से निम्न सात गुणों का वर्णन किया गया हैं — (१) विनयगुण (२) आचार्य गुण (३) शिष्य गुण (४) विनयनिग्रह गुण (५) ज्ञान गुण (६) चारित्रगुण (७) मरणगुण।

विनयगुण का निरूपण गाथा ४ से २१ में हुआ है। विद्याप्रदाता गुरु का अनादर करने वाले अविनीत शिष्य की विद्या निष्फल होती है तथा वह संसार में अपकीर्ति का भागी बनता है। अविनीत शिष्य के दोषों तथा विनीत शिष्य के गुण और उससे लाभ का अत्यन्त हृदयहारी चित्रण इसमें हुआ है। विद्या और गुरु का तिरस्कार करने वाले अविनीत शिष्य को ऋषिघातक तक कहा है:—

विज्जं परिभवमाणो आयरियाणं गुणेऽपयासिंतो।
रिसिघायगाण लोयं वच्चइ मिच्छत्तसंजुत्ते।। गाथा,1.

यहाँ विनय का अर्थ विद्या से लिया गया प्रतीत होता है जैसा कि महाकवि कालिदास ने रघुवंश के प्रथम सर्ग में ''प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि स पिता'' कहकर विनय का अर्थ विद्या–शिक्षा किया है। विद्या–शिक्षा आदि की सम्पूर्ण व्यवस्था राजा के द्वारा की जाने से राजा को प्रजा का पिता कहा है। आचार्यगुण का निरूपण गाथा २२ से ३६ तक हुआ है जिनमें आचार्य को पृथ्वी सम सहनशील, मेरु सम अकंप, धर्म में स्थित, चंद्र सम सौम्य; शिल्पादि कला पारंगत तथा परमार्थ प्ररूपक प्रस्तुत किया गया हैं जिनका आदर करने से होने वाले लाभों का भी उल्लेख किया है।

शिष्यगुण — लघुतावाला, विनीत, ममत्ववाला, गुणज्ञ, सुजन, सहनशील, आचार्य के अभिप्राय का ज्ञाता तथा षड्विध विनय को जानने वाला, दस प्रकार की वैयावृत्य में तत्पर, स्वाध्यायी आदि शिष्यगुणों का निरूपण गाथा ३७ से ५३ तक किया गया है।

विनयनिग्रह गुण के माध्यम से गाथा ५४ से ६७ में विनयगुण को मोक्ष का द्वार बताया गया है। बहुश्रुत होने पर भी विनयहीन होने पर वह अल्पश्रुत पुरुष की श्रेणी में ही परिगणित होता है। अंधपुरुष के सामने लाखों दीपक के निरर्थक होने के समान विनयहीन द्वारा जाना गया विपुल श्रुत भी निरर्थक कहा गया है। इसी प्रकार क्रमशः ज्ञानगुण (गाथा ६८ से ९९), चारित्रगुण (गाथा १००—११६) तथा मरणगुण (गाथा ११७—७३) आदि का यथार्थ निरूपण प्रस्तुत किया गया है। ज्ञान और चारित्रयुक्त पुरुष धन्य हैं, गृहपाश के बंधनों से मुक्त होकर जो पुरुष प्रयत्नपूर्वक चारित्र का सेवन करते हैं वे धन्य हैं। अनियंत्रित अश्व पर आरूढ़ होकर बिना तैयारी के यदि कोई शत्रु सेना का मुकाबला करता है तो वह योद्धा और अश्व दोनों संग्राम में पराजित होते हैं तथैव मृत्यु के समय पूर्व तैयारी के बिना परीषह सहन असंभव है ऐसा निर्देश कर चन्द्रावेध्यक नाम को सार्थक करते हुए इस प्रकीर्णक में मृत्यु पूर्व साधना का विस्तार से निरूपण किया है।[२२] अन्यत्र चित्त रूपी दोष के कारण यदि कोई व्यक्ति थोड़ा भी प्रमाद करता है तो वह धनुष पर तीर चढ़ाकर भी चन्द्रवेध को नहीं वेध पाता है। चन्द्रवेध की तरह मोक्ष मार्ग में प्रयत्नशील आत्मा को सदैव ही अप्रमादी होकर निरन्तर गुणों की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिये।[२३]

४. **गणिविज्जा**[२४] :—

गणिविद्या प्रकीर्णक का उल्लेख, नंदिसूत्र तथा पाक्षिक सूत्र में है। नंदिसूत्र की चूर्णि में इसका परिचय निम्न प्रकारेण है :—

"सबालवुड्ढाउलो गच्छो गणो, सो जस्स अत्थि सो गणी, विज्जत्तिणाणं, तं च जोइसनिमित्तगतं णातुं पसत्थेसु इमे कज्जे करेति, तंजहा— पव्वावणा १ सामाइयारोवणं २ उवट्ठावणा ३ सुत्तस्स उद्देस — समुद्देसाऽणुण्णातो ४ गणारोवणं ५ दिसापुण्णा ६ खेत्तेसु य णिग्गमपवेसा ६ एवमाइयाकज्जा जेसु तिहि—करण—णक्खत्त मुहुत्तजोगेसु य जे जत्थ करणिज्जा ते जत्थअज्झयणे वण्णिजंति तमज्झयणं गणिविद्या" अर्थात्—गण का अर्थ है समस्त बालवृद्ध मुनियों का समूह। जो ऐसे गण का स्वामी है वह गणी कहलाता है। विद्या का अर्थ होता है — ज्ञान। ज्योतिषनिमित्त विषयक ज्ञान के आधार पर जिस ग्रन्थ में दीक्षा, सामायिक का आरोपण, व्रत में स्थापना, श्रुत सम्बन्धित उपदेश, समुद्देश, अनुज्ञा, गण

का आरोपण, दिशानुज्ञा, निर्गम (विहार), प्रवेश आदि कार्यों के सम्बन्ध में तिथि, करण, नक्षत्र, मुहूर्त एवं योग का निर्देश हो वह गणिविद्या कहलाता है। (नन्दिसुत्तं प्रा.टे.सो; अहमदाबाद, पृ० ७१)

विषयवस्तु:— गणिविद्या प्रकीर्णक में नौ विषयों का निरूपण है :— दिवसतिथि नक्षत्र, करण, ग्रह, मुहूर्त, शकुनबल, लग्नबल और निमित्तबल। इसमें दिवस के बलाबल विधि का निरूपण है। चन्द्रमा की एक कला को तिथि माना जाता है। इन तिथियों का नामकरण नन्दा, भद्रा, विजया, रिक्ता, पूर्णा आदि रूपों में किया गया है। तारों के समुदाय को नक्षत्र कहते हैं। इन तारा समूहों से आकाश में बनने वाली अश्व, हाथी, सर्प, हाथ आदि की आकृतियों के आधार पर नक्षत्र का नामकरण किया जाता है। तिथि के आधे भाग को करण कहते है। जिस दिन की प्रथम होरा का जो गृहस्वामी होता है उस दिन उसी ग्रह के नाम का वार (दिवस) रहता है ये सात हैं — रवि, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र एवं शनि। तीस मुहूर्त का एक दिन—रात होता है। प्रत्येक कार्य को करने के पूर्व घटित होने वाले शुभत्व या अशुभत्व का विचार करना शकुन कहलाता है। लग्न का अर्थ है — वह क्षण जिसमें सूर्य का प्रवेश किसी राशि विशेष में होता है। लग्न के आधार पर किसी कार्य के शुभ—अशुभ फल का विचार करना लग्न शास्त्र कहा जाता है। भविष्य आदि जानने के प्रकार को निमित्त कहा जाता है। गणिविद्या प्रकीर्णक में दैनंदिन जीवन के व्यवहार, गमन, अध्ययन, स्वाध्याय, दीक्षा, व्रतस्थापन आदि के लिए उपयोगी एवं अनुपयोगी दिवस, तिथि, नक्षत्र, करण, ग्रह, मुहूर्त, शकुन, लग्न और निमित्तों का निरूपण किया गया है तथा इन्हें उत्तरोत्तर बलवान कहा है।

गणिविद्या प्रकीर्णक और अन्य आगम एवं ज्योतिष ग्रन्थों का तुलनात्मक विवरण गणिविज्जापइण्णयं में दिया गया है।

५.मरणविमत्ति पइण्णय:—

मरणविभक्ति प्रकीर्णक को मरणसमाधि प्रकीर्णक नाम से भी जाना जाता है, जिसमें कथाओं के प्रसंग से अन्त समय की साधना का निरूपण है। इसका परिचय नंदिसूत्र की चूर्णि और वृत्ति में प्राय: समान रूप से मिलता है कि 'मरण का अर्थ है पाप त्याग। मरण के प्रशस्त और अप्रशस्त इन दो भेदों का जिसमें विस्तार से वर्णन है वह अध्ययन मरण-विभक्ति कहलाता है।[२७] पाक्षिक सूत्र में उक्त परिचय देते हुए मरण के सत्रह भेद बताए गए हैं।[२८] परम्परागत मान्य दस प्रकीर्णकों में यह सबसे बड़ा है। इसमें ६६१ गाथाएँ हैं। ग्रन्थकार के अनुसार (१) मरणविभक्ति (२) मरणविशोधि (३) मरणसमाधि (४) संलेखनाश्रुत (५) भक्तपरिज्ञा (६) आतुरप्रत्याख्यान (७) महाप्रत्याख्यान

(८) आराधना इन आठ प्राचीन श्रुतग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत प्रकीर्णक की रचना हुई है।

विषयवस्तु :– दर्शन–आराधना, ज्ञान–आराधना और चारित्र आराधना ये आराधना के तीन भेद हैं। तत्वार्थ श्रद्धा के बिना जीव भूतकाल में अनन्त बार बालमरण से मृत्यु को प्राप्त कर चुके हैं ऐसा कहकर गाथा २२ से ४४ तक पंडितमरण का संक्षिप्त निरूपण किया है। मन में शल्य रखकर मृत्यु प्राप्त करने वाले जीव दुःखी होते हैं, इसके विपरीत अहंकारत्यागपूर्वक चारित्र और शील से युक्त जो समाधिभरण प्राप्त करते हैं वे आराधक होते हैं।

इसमें समाधिमरण विधि का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। समाधिमरण के कारणभूत चौदह द्वार – आलोचना, संलेखना, क्षमापना, काल, उत्सर्ग, उद्ग्रास, संथारा, निसर्ग, वैराग्य, मोक्ष, ध्यान विशेष, लेश्या, सम्यक्त्व, पादोपगमन – का निरूपण है। आलोचना के दस दोष, तप के भेद, चारित्र के गुण, आत्मविशुद्धि के उपायों का विस्तार से वर्णन है। आराधना के तीन प्रकार (उत्कृष्टा–मध्यमा–जघन्या), चार स्कन्ध (दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप) का वर्णन है। निर्यापक आचार्य का स्वरूप विस्तार से बताया है। शरीर से ममत्व त्याग, परीषहजय तथा अशुभध्यान–त्याग सम्बन्धी दृष्टान्तों से विषयवस्तु को पुष्ट किया है। विविध उपसर्ग सहन के उल्लेखों में प्रमुख हैं– जिनधर्मश्रेष्ठी, मेतार्यऋषि, चिलातीपुत्र, गजसुकुमाल, सागरचंद्र, अवंतीसुकुमाल, चंद्रावतंसकनृप, दमदान्त महर्षि, खंदकमुनि, धन्यशालिभद्र, पाँच पाण्डव, दंड अनगार, सुकोशल मुनि, वज्रर्षि, अर्हन्नक, चाणक्य तथा इलापुत्र। २२ परीषह सहन करने सम्बन्धी उदाहरणों में हस्तिमित्र, धनमित्र, आर्य श्री भद्रबाहुशिष्य – मुनि चतुष्क आदि बाईस दृष्टान्त दिये हैं जो प्रायः उत्तराध्ययन सूत्र की नेमिचन्द्रीय टीका में हैं।[३०] धर्म पालन करने वाले मत्स्यादि तिर्यंचों के उदाहरण भी दिये हैं। मरणविभक्ति की गाथा ५२५ से ५५० में पादपोपगमन मरण का स्वरूप निरूपण है। ५७० से ६४० गाथा में बारह भावना का विस्तृत विवेचन है और अन्त में निर्वेदजनक उपदेशपूर्वक पंडित मरण का निरूपण कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान का महत्त्व प्रतिपादित किया है।

६.आउरपच्चक्खाण[३१] –

आतुरप्रत्याख्यान – पइण्णयसुत्ताइं ग्रन्थ में (पृ.१६०,३०५,३२९) पर प्रकाशित आतुर प्रत्याख्यान प्रकीर्णक नाम के तीन प्रकीर्णक सूत्र हैं। इनमें से अन्तिम वीरभद्रकृत प्रकीर्णक में ७१ गाथाएँ हैं। इसे अन्तकाल प्रकीर्णक या बृहदातुर प्रत्याख्यान भी कहते हैं। दसवीं गाथा के पश्चात् कुछ गद्यांश भी हैं। मरण के तीन भेद (बालमरण, बालपंडितमरण, पंडितमरण)

के निरूपण के अतिरिक्त इसमें एकत्व भावना, प्रतिक्रमण, आलोचना, क्षमापना का भी निरूपण है। असमाधिपूर्वक मरण प्राप्त करने वाले आराधक नहीं कहे जाते। शस्त्रग्रहण, विषभक्षण, आग से जलना, जल में प्रवेश आदि से मरना बालमरण में परिगणित किया है। पंडितमरण की आराधना-विधि का वर्णन कर मरणकाल में प्रत्याख्यान करने वाले को धीर, ज्ञानी और शाश्वत स्थान प्राप्त करने वाला कहा है। ''आउरो – गिलाणो, तं किरियातीतं णातुं गीयत्था पच्चक्खावेंति, दिणे दिणे दव्वहासं करेंता अंते य सव्वदव्वदातणताए भत्ते वेरग्गं जणेंता भत्ते नित्तण्हस्स भवचरिमपच्चक्खाणं कारेंति एतं जत्थऽज्झयणे सवित्थरं वण्णिज्जइ तमज्झयणं आउरपच्चक्खाणं'' नंदिसूत्र चूर्णि के इस परिचय का अर्थ ही इस प्रकीर्णक का सारांश है कि जिसे असाध्य रोग हो ऐसे आतुर (बीमार) मुनि को गीतार्थ पुरुष प्रतिदिन खाद्य द्रव्य कम कराकर प्रत्याख्यान कराता है, अंत में बीमार मुनि आहार के विषय में वैराग्य पाकर अनासक्त हो जाय तब जीवनपर्यन्त आहार त्याग का प्रत्याख्यान कराने का वर्णन जिसमें है वह आतुर प्रत्याख्यान प्रकीर्णक है।

७.महापच्चक्खाण(३२) :—

महाप्रत्याख्यान—नंदिसूत्रचूर्णि में उपलब्ध महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक के परिचय के अनुसार जो स्थविरकल्पी जीवन की अन्तिम वेला में विहार करने में असमर्थ होते हैं उनके द्वारा जो अनशन व्रत (समाधिमरण) स्वीकार किया जाता है, उन सबका जिसमें विस्तृत वर्णन हो उसे महाप्रत्याख्यान कहते हैं। महाप्रत्याख्यान में कुल १४२ गाथाएँ हैं, जिनमें दुश्चरित्र त्याग की विविध प्रतिज्ञा, सर्वजीवक्षमापना, निंदा—गर्हा—आलोचना, ममत्वछेद, आत्मधर्मस्वरूप, मूलगुण उत्तरगुण की विराधना की निंदा, एकत्व भावना, मिथ्यात्वमाया त्याग, आलोचक स्वरूप और उसका मोक्षगामित्व, आराधना का महत्त्व, भेद आराधनापताका प्राप्ति आदि विविध विषयों का विवेचन किया गया है। सभी जीवों के प्रति क्षमापना, धीर मरण की प्रशंसा और प्रत्याख्यान का फल इस प्रकीर्णक के मुख्य विषय हैं।

८.इसिभासियाइं—

ऋषिभाषित—यह प्रकीर्णक साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ है — ऋषिभाषित प्रकीर्णक सूत्र में ४५ ऋषियों के उपदेश रूप ४५ अध्ययन हैं। ये ४५ ऋषि प्रत्येक बुद्ध थे। इनमें बीस नेमिनाथ के शासनकाल में, पन्द्रह पार्श्वनाथ के शासनकाल में और दस वर्द्धमान महावीर स्वामी के शासनकाल में होने का उल्लेख **इसिभासियाणं संगहणी** के प्रथम श्लोक में है।(३३) ग्रन्थ में इन पैंतालीस ऋषियो के उपदेशों का संकलन है।

प्रथम अध्याय में देव—ऋषि नारद के उपदेशों में अहिंसा—सत्य—अस्तेय तथा ब्रह्मचर्य अपरिग्रह को मिलाकर एक इस प्रकार चार शौच का वर्णन है। साधक को सत्यवादी, दत्तभोजी और ब्रह्मचारी होने के निर्देश हैं। **द्वितीय अध्याय** में वज्जीयपुत्त (वात्सीयपुत्र) के उपदेश— कर्म ही जन्ममरण का हेतु है, ज्ञान और चित्त की शुद्धि से कर्म—सन्तति का क्षय और निर्वाण प्राप्ति — का वर्णन है। **तृतीय अध्याय** में असित दैवल के कषायविजय उपदेश का अंकन है। असित दैवल जैन, बौद्ध, औपनिषदिक तीनों धाराओं में मान्य हैं। **चतुर्थ अध्याय** में अंगिरस भारद्वाज मनुष्य को दोहरे जीवन को छोड़कर अन्तर की साधु मनोवृत्ति अपनाने का उपदेश देते हैं। **पंचम अध्याय** में पुष्पशालपुत्र समाधिमरण एवं आत्मज्ञान द्वारा समाधि प्राप्ति का उपदेश देते हैं।[३५] **छठे वल्कलचीरी अध्याय** में नारी के दुर्गुणों की चर्चा है। **सातवें कुम्मापुत्त (कूर्मापुत्र) अध्याय** में कामना—परित्याग का निरूपण हैं। **आठवें केतलिपुत्र अध्याय** में रागद्वेष रूपी ग्रन्थि छेद का वर्णन है। **नवें महाकाश्यप अध्याय** में कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या की है। **दसवें तेतलिपुत्र अध्याय** में अनास्था और अविश्वास को वैराग्य का कारण बताया है। **ग्यारहवें मंखलिपुत्र अध्ययन** में तारणहारी गुरू का स्वरूप वर्णित है। **बारहवें से लेकर पैंतालीसवें अध्याय** तक क्रमश: निम्न ऋषियों के उपदेश संकलित हैं' (१२) याज्ञवल्क्य (१३)भयालि (१४) बाहुक (१५) मधुरायन (१६) शौर्यायण (१७) विदुर (१८) वारिषेण (१९) आर्यायण (२०) (ऋषि का उल्लेख नहीं) (२१) गाथापतिपुत्र (२२) गर्दभालि (२३) रामपुत्र (२४) हरिगिरि (२५) अम्बड (२६) मातंग (२७) वारत्तक (२८) आर्द्रक (२९) वर्द्धमान (३०) वायु (३१) अर्हत् पार्श्व (३२) पिंग (३३) महाशालपुत्र (३४) ऋषिगिरि (३५) उद्दालक (३६) नारायण (३७) श्रीगिरि (३८) सारिपुत्र (३९) संजय (४०) द्वैपायन (४१) इन्द्रनाग (४२) सोम (४३) यम (४४) वरुण (४५) वैश्रमण। इन पैंतालीस ऋषियों को 'अर्हत् ऋषि-मुक्त — मोक्ष प्राप्त कहा गया है।

समवायांग सूत्र के ४४ समवाय में ऋषिभाषित के ४४ अध्यायों का उल्लेख है। इससे इसकी प्राचीनता स्वयंसिद्ध है।[३६] जैन—बौद्ध—आर्य तीनों दर्शनों के उपदेशों के मेल का यह अनूठा संग्रह है।

९.**दीवसागरपण्णत्तिसंगहणीगाहाओ**[३७] :— द्वीपसागर प्रज्ञप्ति प्रकीर्णक में २२५ गाथाएँ हैं। सभी गाथाएँ मध्यलोक में मनुष्य क्षेत्र अर्थात् ढ़ाई द्वीप के आगे के द्वीप एवं सागरों की संरचना को प्रकट करती हैं। ग्रन्थ के समापन में कहा गया है कि जो द्वीप और समुद्र जितने लाख योजन विस्तार वाला होता है वहाँ उतनी ही चन्द्र और सूर्यो की पंक्तियाँ होती हैं।[३८]

—तंदुलवेयालियपइण्णयं,८१पृ. ३३

२०. चंदावेज्झयं पइण्णयं (सम्पा.) सुरेश सिसोदिया, आगम संस्थान ग्रन्थमाला, ६, उदयपुर १९९१

२१. — वही—, प्रस्तावना पृष्ठ २२ से ३५

२२. — वही—, प्रस्तावना गाथा ११७ से ११९

२३. — वही—, प्रस्तावना गाथा १२९ से १३०

२४. गणिविज्जापइण्णयं (सम्पा.) सुभाष कोठारी, आगम संस्थान ग्रन्थमाला १०, उदयपुर १९९४

२५. नंदिसुत्तं, प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद, पृ. ५८

२६. गणिविज्जापइण्णयं, भूमिका पृ. २२—२७

२७. 'मरणं पाणपरिच्चागो, विभयणं — विभत्ती, पसत्थमपसत्थाणि सभेदानि मरणाणि जत्थ वण्णिज्जंति अज्झयणे तमज्झयणं मरण विभत्ती' नंदिसूत्रचूर्णि, पृ.५८

२८. गणिविज्जापइण्णयं, आगम संस्थान, उदयपुर, भूमिका पृ. ४

२९. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर १९७७, पृ. ३८८

३० पइण्णयसुत्ताइं, भाग १, प्रस्तावना, पृ. ४०—४१

३१. आउरपच्चक्खाणं, पइण्णयसुत्ताइं, भाग १,— प्रस्तावना, पृ. ३२९ आदि

३२. महापच्चक्खाण, पइण्णयसुत्ताइं, भाग १,— प्रस्तावना, पृ. १६४ आदि

३३. पत्तेयबुद्धमिसिणो वीसं तित्थे अरिट्ठणेमिस्स। पासस्स य पण्णरस वीरस्स विलीणमोहस्स।। इसिभासियाइं— पइण्णयसुत्ताइं, भाग १, पृ. १७९

३४. इसिभासियाइं—पइण्णयसुत्ताइं, भाग १, पृ. १८१—२५६

३५. इसिभासियाइं—पइण्णयसुत्ताइं, भाग १, पृ. १८१—१९०

३६. पइण्णयसुत्ताइं भाग १, प्रस्तावना, पृ. ४५

३७. (अ) पइण्णयसुत्ताइं भाग १, प्रस्तावना, पृ. ५३
(ब) दीवसागरपण्णत्तिपइण्णयं (सम्पा.) सुरेश सिसोदिया, आगम संस्थान, ग्रन्थमाला, ८, उदयपुर १९९३

३८. — वही—, गाथा, २२४—२२५, पृ० ४६.

३९. वीरत्थओ पइण्णयं (सम्पा.) सुभाष कोठारी, आगम संस्थान ग्रन्थमाला १२, उदयपुर १९९५.

—निदेशक, कोटा खुला विश्वविद्यालय, क्षेत्रीय केन्द्र, उदयपुर
470, ओ.टी.सी.स्कीम, उदयपुर (राज.)

जैनागमों का व्याख्या-साहित्य

डॉ. जिनेन्द्र जैन

जैन आगमों पर पाँच प्रकार का व्याख्या-साहित्य उपलब्ध है— १. निर्युक्ति २. भाष्य ३. चूर्णि ४. टीका ५.टब्बा एवं हिन्दी आदि भाषाओं में विवेचन। निर्युक्ति एवं भाष्य की रचना प्राकृत भाषा में हुई है। चूर्णि संस्कृतमिश्रित प्राकृत भाषा में लिखी गई है। टीकाएँ पूर्णत: संस्कृत भाषा में हैं। टब्बा गुजराती एवं राजस्थानी में हैं। इसके अनन्तर हिन्दी, अंग्रेजी और गुजराती में अनुवाद एवं विवेचन हुए हैं। जैन विश्वभारती लाडनूँ के जैनागम विद्वान् डॉ. जिनेन्द्र जी ने निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीका— इन चार विधाओं के व्याख्या साहित्य से प्रस्तुत लेख में परिचित कराया है। —सम्पादक

जैन परम्परा में आगम-साहित्य का वही स्थान है जो वैदिक परम्परा में वेद का तथा बौद्ध परम्परा में त्रिपिटक का। आप्त वचन के रूप में महावीर की सुरक्षित वाणी ही आगम साहित्य है। इन आगमों में न केवल धर्म, दर्शन, अध्यात्म का विवेचन किया गया है, बल्कि ज्ञान-विज्ञान के ये अक्षय कोश कहे जाते हैं। समाज, संस्कृति, इतिहास, भूगोल, खगोल, पर्यावरण, आर्थिक चिन्तन सहित धर्म, दर्शन, न्याय जैसे विभिन्न विषय इसमें समाहित हैं।

जैन आगमों को अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य इन दो भागों में विभाजित किया जाता है। द्वादशांग अंगप्रविष्ट के अन्तर्गत तथा शेष अंगबाह्य के अंतर्गत परिगणित हैं। आगमों का प्राचीनतम वर्गीकरण अंग एवं पूर्व के रूप में स्वीकार किया जाता है। आर्यरक्षित ने चार अनुयोगों में सम्पूर्ण आगम को विभाजित किया। आचार्य समन्तभद्र ने भी अनुयोग के आधार पर आगमों का विभाजन किया है। लेकिन अंग, उपांग, मूल एवं छेद यह उत्तरवर्ती वर्गीकरण है। जैन परम्परा में आगमों की संख्या ३२, ४५ एवं ८४ मानी गयी है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार अंग आगम उपलब्ध नहीं हैं। श्रुत परम्परा के नष्ट होने से उनका किसी को भी ज्ञान शेष नहीं रहा। श्वेताम्बर परम्परा में मूर्तिपूजक सम्प्रदाय ४५ आगमों को तथा स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदाय ३२ आगमों को स्वीकार करते हैं।

जैन आगम सूत्रबद्ध होने से उनको व्याख्यायित करना अति आवश्यक था। आगम संकलन के साथ ही आचार्यों ने व्याख्या साहित्य लिखना प्रारम्भ कर दिया था। सर्वप्रथम आचार्य भद्रबाहु ने दश आगम ग्रंथों पर प्राकृत पद्यबद्ध निर्युक्ति साहित्य लिखा। तत्पश्चात् अन्य आचार्यों ने निर्युक्तियों एवं स्वतंत्र आगमों पर भाष्य लिखे। भाष्य भी प्राकृत पद्यबद्ध हैं। इसके बाद चूर्णि, टीका ग्रंथ भी व्याख्या साहित्य के रूप में लिखे गए, जिनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

(१) निर्युक्ति साहित्य

निर्युक्ति शब्द को परिभाषित करते हुए आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति(गाथा ८२) में कहा है- **'निज्जुत्ता ते अत्था, जं बुद्धा तेण होइ निज्जुत्ती। सूत्रार्थयोः परस्परं निर्योजनं सम्बन्धनं निर्युक्तिः।'**-आ.नि.म.टीका पत्र 100

आवश्यकचूर्णि में कहा गया है-**सुत्तनिज्जुत्तअत्थनिज्जूहणं निज्जुत्ती।**

उक्त परिभाषाओं से यही फलित होता है कि सूत्र में निर्युक्त(प्रकट/विद्यमान) अर्थ की व्याख्या करना निर्युक्ति है। आचार्य शीलांक, जिनदासगणि, कोट्याचार्य एवं अन्य टीकाकारों ने यही अर्थ निर्युक्ति का किया है। अतः शब्द का सही अर्थ प्रकट करना ही निर्युक्ति है। तत्कालीन प्रचलित शब्द के अनेक अर्थों को बताकर अंत में प्रस्तुत अर्थ का प्रकटीकरण ही निर्युक्ति का प्रयोजन है। जिसे निर्युक्तिकार ने साहित्य में निक्षेप पद्धति माना है।

'निर्युक्ति' आगमों पर प्राकृत गाथाओं में लिखा हुआ संक्षिप्त विवेचन है। इसमें विषय का प्रतिपादन करने के लिए अनेक कथानक, उदाहरण और दृष्टान्तों का उपयोग किया गया है, जिनका उल्लेख मात्र वहां मिलता है। यह साहित्य इतना सांकेतिक और संक्षिप्त है कि बिना भाष्य और टीका के सम्यक् प्रकार से समझ में नहीं आता। इसलिए टीकाकारों ने मूल आगम के साथ-साथ निर्युक्तियों पर भी टीकाएं लिखी हैं।

पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति आगमों के मूल सूत्रों में गिनी गई है, इससे निर्युक्ति साहित्य की प्राचीनता का पता चलता है कि वलभी वाचना के समय ईस्वी सन् की पांचवी-छठी शताब्दी के पूर्व (चौथी-पांचवीं शताब्दी में) ही निर्युक्तियां लिखी जा चुकी थी। आचार्य भद्रबाहु ही एक मात्र ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने आगम-संकलन के समय से ही निर्युक्तियां लिखना प्रारंभ कर दिया था। उन्होंने आचारांग, सूत्रकृतांग, सूर्यप्रज्ञप्ति, व्यवहार, कल्प, दशाश्रुतस्कंध, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक और ऋषिभाषित-इन दस सूत्रों पर निर्युक्तियां लिखी हैं। इनमें से सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित की निर्युक्तियां अनुपलब्ध हैं। इसके साथ ही पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति का भी उल्लेख मिलता है। आराधनानिर्युक्ति का उल्लेख मूलाचार (५.८२) में किया गया है।

आचारांग निर्युक्ति- आचारांग सूत्र पर आचार्य भद्रबाहु ने प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठ अध्ययनों (सातवां व्युच्छिन्न है) और द्वितीय श्रुतस्कंध की चार चूलिकाओं (पांचवी चूलिका निशीथ निर्युक्ति के रूप में पृथक् उपलब्ध है, जो निशीथभाष्य में सम्मिलित हो गई) पर ३५६ गाथाओं में निर्युक्ति लिखी है। इन पर शीलांक ने महापरिण्णा नामक सातवें अध्ययन की दस गाथाओं को छोड़कर टीका की है।

सूत्रकृतांगनिर्युक्ति-सूत्रकृतांगनिर्युक्ति में २०५ गाथाएं हैं। उसमें

ऋषिभाषितसूत्र का उल्लेख है। इस ग्रंथ में गौतम (गोव्रतिक), चण्डीदेवक(चक्रधरप्राया:—टीका) वारिभद्रक(जलपान करने वाले), अग्निहोत्रवादी तथा जल को पवित्र मानने वाले साधुओं का नामोल्लेख है। क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियों के भेद—प्रभेद गिनाए गए हैं। पार्श्वस्थ, अवसन्न और कुशील नामक निर्ग्रन्थ साधुओं के साथ परिचय करने का इसमें निषेध है।

सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्ति— परम्परानुसार भद्रबाहु ने सूर्यप्रज्ञप्ति के ऊपर निर्युक्ति की रचना की थी, लेकिन टीकाकार मलयगिरि के कथनानुसार कलिकाल के दोष से यह निर्युक्ति नष्ट हो गई है, इसलिए उन्होंने केवल सूत्रों की ही व्याख्या की है।

बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथनिर्युक्ति— बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्र पर भी भद्रबाहु ने निर्युक्ति लिखी थी। बृहत्कल्पनिर्युक्ति संघदासगणि क्षमाश्रमण के लघुभाष्य की गाथाओं के साथ और व्यवहारनिर्युक्ति व्यवहार भाष्य की गाथाओं के साथ मिश्रित हो गई है। निशीथ की निर्युक्ति भी निशीथभाष्य के साथ मिल गई है।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति—दशाश्रुतस्कन्ध जितना लघु है उतनी ही लघु दस अध्ययनों पर निर्युक्ति लिखी गई है। निर्युक्तिकार ने आरम्भ में प्राचीनगोत्रीय अन्तिम श्रुतकेवली तथा दशा, कल्प और व्यवहार के प्रणेता भद्रबाहु को नमस्कार किया है। दशा, कल्प और व्यवहार का यहां एक साथ कथन है। आठवें अध्ययन की निर्युक्ति में पर्युषणकल्प का व्याख्यान है। परिवसण, पज्जुसण, पज्जोसमण, वासावास, पढमसमोसरण, ठवणा, जेट्ठोग्गह (ज्येष्ठग्रह) इन पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख किया गया है।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति—उत्तराध्ययन सूत्र पर भद्रबाहु ने ५५९ गाथाओं में निर्युक्ति की रचना की है। उत्तराध्ययन के पूरे सभी छत्तीस अध्ययनों पर निर्युक्ति लिखी गई है। इस निर्युक्ति में गंधार श्रावक, तोसलिपुत्र, आचार्य स्थूलभद्र, स्कन्दपुत्र, ऋषि पाराशर, कालक तथा करकंडू आदि प्रत्येक बुद्ध तथा हरिकेशी, मृगापुत्र आदि की कथाओं का उल्लेख किया है, आठ निह्नवों का विस्तार से विवेचन है। भद्रबाहु के चार शिष्यों द्वारा राजगृह में वैभार पर्वत की गुफा में शीत—समाधि ग्रहण किए जाने तथा मुनि सुवर्णभद्र के मच्छरों का घोर उपसर्ग (मशक—परिपीत—शोणित=मच्छर जिनके शोणित को पी गए हों) सहन कर कालगत होने का कथन है। कम्बोज के घोड़ों का उल्लेख है। कहीं—कहीं मनोरंजक उक्तियों के रूप में मागधिकाएं भी मिल जाती हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति— आवश्यकसूत्र में प्रतिपादित छह आवश्यकों का यहां विवेचन है। सर्वप्रथम हरिभद्रसूरि ने इस पर शिष्यहिता नाम की वृत्ति लिखी। उनका अनुसरण करके भट्टारक ज्ञानसागर सूरि ने अवचूर्णि की रचना की,

जो मानविजय द्वारा संशोधित होकर सेठ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार कोश, सूरत से १९६५ में प्रकाशित की गई। तत्पश्चात् मलयगिरि द्वारा रचित आवश्यक निर्युक्ति टीका तीन भागों में प्रकाशित हुई। माणिक्यशेखर सूरि ने आवश्यक निर्युक्ति दीपिका लिखी(तीन भागों में प्रकाशित)। और भी अनेक अवचूर्णियां इस निर्युक्ति पर लिखी गई। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित विशेषावश्यक-भाष्य एक स्वतन्त्र ग्रंथ है, फिर भी इसे आवश्यकनिर्युक्ति का भाष्य कहा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस निर्युक्ति पर विपुल साहित्य की रचना की गई।

दशवैकालिकनिर्युक्ति– दशवैकालिक पर भद्रबाहु ने ३७१ गाथाओं की निर्युक्ति लिखी है। निर्युक्ति और भाष्य की गाथाएं मिश्रित हो गई हैं। दशवैकालिक सूत्र में प्रतिपादित द्रुमपुष्पिका आदि सभी दस अध्ययनों पर निर्युक्ति की रचना की गई है। इसमें अनेक लौकिक और धार्मिक कथानकों तथा सूक्तियों द्वारा सूत्रार्थ का स्पष्टीकरण दिया गया है। हिंगुशिव, गंधविका, सुभद्रा, मृगावती, नलदाम और गोविन्दवाचक आदि की अनेक कथाएं यहां वर्णित हैं। इन कथाओं का प्राय: नामोल्लेख ही निर्युक्ति-गाथाओं में उपलब्ध होता है, इन्हें विस्तार से समझने के लिए चूर्णि अथवा टीका की शरण लेना आवश्यक है।

ऋषिभाषितनिर्युक्ति– भद्रबाहु द्वारा रचित 'ऋषिभाषित' नामक ग्रंथ पर लिखी गई निर्युक्ति अनुपलब्ध होने से उसके विषय में जानकारी प्राप्त नहीं है।

(२) भाष्य साहित्य

निर्युक्ति की भांति भाष्य भी प्राकृत गाथाओं में संक्षिप्त शैली में लिखे गए हैं। बृहत्कल्प, दशवैकालिक आदि सूत्रों के भाष्य और निर्युक्ति की गाथाएं परस्पर अत्यधिक मिश्रित हो गई हैं, इसलिए अलग से उनका अध्ययन करना कठिन है। निर्युक्तियों की भाषा के समान भाष्यों की भाषा भी मुख्य रूप से अर्धमागधी ही है, अनेक स्थलों पर मागधी और शौरसेनी के प्रयोग भी देखने में आते हैं। इस साहित्य में मुख्य छन्द आर्या है।

भाष्यों का समय सामान्य तौर पर ईस्वी सन् की लगभग चौथी–पाँचवी शताब्दी माना जा सकता है। भाष्यसाहित्य में विशेष रूप में निशीथभाष्य, व्यवहारभाष्य और बृहत्कल्पभाष्य का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। इस साहित्य में अनेक प्राचीन अनुश्रुतियां, लौकिक कथाएं और निर्ग्रन्थों के परम्परागत प्राचीन आचार–विचार की विधियों आदि का प्रतिपादन है। जैन श्रमण-संघ के प्राचीन इतिहास को सम्यक् प्रकार से समझने के लिए उक्त तीनों भाष्यों का गम्भीर अध्ययन आवश्यक है। संघदासगणि क्षमाश्रमण, जो वसुदेवहिण्डी के कर्ता संघदासगणि वाचक से

की गाथाओं में मिश्रण हुआ है। विशेषावश्यक भाष्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने लिखा है, जो आवश्यकसूत्र के केवल सामायिक नामक प्रथम अध्ययन पर है। इसमें ३६०३ गाथाएं हैं। कालिकश्रुत में चरण—करणानुयोग, ऋषिभाषित में धर्मकथानुयोग और दृष्टिवाद में द्रव्यानुयोग के कथन हैं। महाकल्पश्रुत आदि का इसी दृष्टिवाद से उद्धार हुआ बताया गया है। कौण्डिन्य के शिष्य अश्वमित्र को अनुप्रवादपूर्व के अन्तर्गत नैपुणिक वस्तु में पारंगत बताया है। निह्नवों और करकण्डू आदि प्रत्येकबुद्धों के जीवन का यहां विस्तार से वर्णन है।

दशवैकालिक भाष्य— दशवैकालिकभाष्य की ६३ गाथाएं हरिभद्र की टीका के साथ दी हुई हैं। इनमें हेतुविशुद्धि, प्रत्यक्ष, परोक्ष तथा मूलगुण और उत्तरगुणों का प्रतिपादन है। अनेक प्रमाणों से जीव की सिद्धि की गई है। लौकिक, वैदिक तथा सामयिक (बौद्ध) लोग जीव को जिस रूप में स्वीकार करते थे उसका उल्लेख विस्तार से किया गया है।

पिण्डनिर्युक्तिभाष्य—पिण्डनिर्युक्ति पर ४६ गाथाओं का भाष्य है, जिसमें पिण्ड, आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्रजात, सूक्ष्मप्रभृतिका, विशोधि, अविशोधि आदि श्रमणधर्म विषयक संक्षिप्त विवेचन है। यहां पाटलिपुत्र के राजा चन्द्रगुप्त और उसके मन्त्री चाणक्य का उल्लेख है।

ओघनिर्युक्ति लघुभाष्य— ओघनिर्युक्ति के भाष्य में ३२२ गाथाओं में ओघ, पिण्ड, व्रत, श्रमणधर्म, संयम, वैयावृत्त्य, गुप्ति, तप, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रियनिरोध, प्रतिलेखना, अभिग्रह, अनुयोग, कायोत्सर्ग, औपपातिक, उपकरण आदि का विवेचन है। धर्मरुचि आदि के कथानकों और बदरी आदि के दृष्टान्तों द्वारा तत्त्वज्ञान को समझाया गया है। ज्योतिष आदि का प्रयोग भी साधु किया करते थे। इसमें अनेक कथानकों, साधु के आचार एवं लौकिक धर्म में निर्वहन हेतु प्रसंगों का वर्णन किया गया है।

ओघनिर्युक्ति बृहत्भाष्य—ओघनिर्युक्ति-लघुभाष्य में प्रतिपादित विषयों को यहां विस्तार [illegible] समझाया गया है। ग्रन्थ के भाष्यकार के संबंध में कोई [illegible] लती। यह भाष्य अप्रकाशित है।

[illegible] — यह भाष्य पंचकल्पनिर्युक्ति के व्याख्यान के रूप में [illegible] पंचकल्प [illegible]घुभाष्य का भी समावेश हो जाता है। जैसे [illegible] का ही अंश है, वैसे ही पंचकल्पभाष्य [illegible] इस भाष्य के कर्ता संघदासगणि क्षमाश्रमण [illegible] प्रकार के कल्पों का संक्षिप्त विवेचन है। [illegible] गई इस भाष्य की प्रतिलिपि रोमन [illegible] ५ से १९७७ में प्रकाशित हुई है।

इसमें आलोचना आदि पदों की व्याख्यापूर्वक शुद्ध भाव से आलोचना करना, क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त साधुओं की सेवा—सुश्रूषा करना, साधुओं के विहार की विधि, साधु—साध्वियों को अपने सगे—संबंधियों के घर से आहार आदि ग्रहण करने की विधि का विधान, अन्य समुदाय से आने वाले साधु—साध्वियों को अपने समुदाय में लेने के नियमों का विवेचन तथा उनके शयन, बाल दीक्षा—विधि आदि का विवेचन किया गया है।

बृहत्कल्प लघुभाष्य—संघदासगणि क्षमाश्रमण इस भाष्य के रचयिता हैं। बृहत्कल्प के सूत्रों का इसमें विवेचन किया गया है। पीठिका के अतिरिक्त यह छह उद्देशकों में विभक्त है। बृहत्कल्प—लघुभाष्य की पीठिका में ८०५ गाथाएं हैं, जिनमें ज्ञानपंचक, सम्यक्त्व, सूत्रपरिषद्, स्थंडिलभूमि, पात्रलेप, गोचर्या, वसति की रक्षा, वस्त्रग्रहण, अवग्रह, विहार आदि का वर्णन है। स्त्रियों के लिए भूयवाद (दृष्टिवाद) पढ़ने का निषेध है। इसमें श्रावकभार्या, साप्तपदिक, कोंकणदारक, नकुल, कमलामेला, शंब का साहस और श्रेणिक के क्रोध की कथाओं का वर्णन है।

बृहत्कल्प—बृहत्भाष्य— यह भाष्य अधूरा ही उपलब्ध है। इस भाष्य में पीठिका और प्रारम्भ के दो उद्देशक पूर्ण हैं, और तीसरा उद्देशक अपूर्ण है। बृहत्कल्प— लघुभाष्यगत विषयों का ही यहां विस्तृत विवेचन किया गया है।

जीतकल्पभाष्य— जीतकल्पभाष्य पर जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का स्वोपज्ञ भाष्य है। यह भाष्य वस्तुतः बृहत्कल्प लघुभोष्य, व्यवहार भाष्य, पंचकल्प महाभाष्य और पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रंथों की गाथाओं का संग्रह है। इनमें पांच ज्ञान, प्रायश्चित्त स्थान, भक्तपरिज्ञा की विधि, इंगिनीमरण और पादोपगमन का लक्षण, गुप्ति-समिति का स्वरूप, ज्ञान-दर्शन-चारित्र के अतिचार, उत्पादना का स्वरूप, ग्रहणैषणा का लक्षण, दान का स्वरूप आदि विषयों का प्रतिपादन किया है। यहां क्रोध के लिए क्षपक, मान के लिए क्षुल्लक, माया के लिए आषाढ़भूति, लोभ के लिए सिंहकेसर, मोदक के इच्छुक क्षपक, विद्या के लिए बौद्ध उपासक, मन्त्र के लिए पादलिप्त और मुरुण्डराज, चूर्ण के लिए क्षुल्लकद्वय और योग के लिए ब्रह्मद्वीपवासी तापसों के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं।

उत्तराध्ययनभाष्य— शान्तिसूरि की पाइयटीका में भाष्य की कुछ ही गाथाएं उपलब्ध होती हैं। अन्य भाष्य की गाथाओं की भांति इस भाष्य की गाथाएं भी निर्युक्ति के साथ मिश्रित हो गई हैं। इनमें बोटिक की उत्पत्ति तथा पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक नाम के जैन निर्ग्रन्थ साधुओं के स्वरूप का प्रतिपादन है। इसमें केवल 45 गाथाएं हैं।

आवश्यकभाष्य—आवश्यक सूत्र पर मूलभाष्य, भाष्य और विशेषावश्यक महाभाष्य लिखे गए हैं। इस सूत्र की निर्युक्ति में १६२३ गाथाएं हैं, जबकि भाष्य में कुल २५३ गाथाएं उपलब्ध होती हैं। यहा भी भाष्य और निर्युक्ति

की गाथाओं में मिश्रण हुआ है। विशेषावश्यक भाष्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने लिखा है, जो आवश्यकसूत्र के केवल सामायिक नामक प्रथम अध्ययन पर है। इसमें ३६०३ गाथाएं हैं। कालिकश्रुत में चरण—करणानुयोग, ऋषिभाषित में धर्मकथानुयोग और दृष्टिवाद में द्रव्यानुयोग के कथन हैं। महाकल्पश्रुत आदि का इसी दृष्टिवाद से उद्धार हुआ बताया गया है। कौण्डिन्य के शिष्य अश्वमित्र को अनुप्रवादपूर्व के अन्तर्गत नैपुणिक वस्तु में पारंगत बताया है। निह्नवों और करकण्डू आदि प्रत्येकबुद्धों के जीवन का यहां विस्तार से वर्णन है।

दशवैकालिक भाष्य— दशवैकालिकभाष्य की ६३ गाथाएं हरिभद्र की टीका के साथ दी हुई हैं। इनमें हेतुविशुद्धि, प्रत्यक्ष, परोक्ष तथा मूलगुण और उत्तरगुणों का प्रतिपादन है। अनेक प्रमाणों से जीव की सिद्धि की गई है। लौकिक, वैदिक तथा सामयिक (बौद्ध) लोग जीव को जिस रूप में स्वीकार करते थे उसका उल्लेख विस्तार से किया गया है।

पिण्डनिर्युक्तिभाष्य—पिण्डनिर्युक्ति पर ४६ गाथाओं का भाष्य है, जिसमें पिण्ड, आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्रजात, सूक्ष्मप्रभृतिका, विशोधि, अविशोधि आदि श्रमणधर्म विषयक संक्षिप्त विवेचन है। यहां पाटलिपुत्र के राजा चन्द्रगुप्त और उसके मन्त्री चाणक्य का उल्लेख है।

ओघनिर्युक्ति लघुभाष्य— ओघनिर्युक्ति के भाष्य में ३२२ गाथाओं में ओघ, पिण्ड, व्रत, श्रमणधर्म, संयम, वैयावृत्त्य, गुप्ति, तप, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रियनिरोध, प्रतिलेखना, अभिग्रह, अनुयोग, कायोत्सर्ग, औपपातिक, उपकरण आदि का विवेचन है। धर्मरुचि आदि के कथानकों और बदरी आदि के दृष्टान्तों द्वारा तत्त्वज्ञान को समझाया गया है। ज्योतिष आदि का प्रयोग भी साधु किया करते थे। इसमें अनेक कथानकों, साधु के आचार एवं लौकिक धर्म में निर्वहन हेतु प्रसंगों का वर्णन किया गया है।

ओघनिर्युक्ति बृहत्भाष्य—ओघनिर्युक्ति-लघुभाष्य में प्रतिपादित विषयों को यहां विस्तार से समझाया गया है। ग्रन्थ के भाष्यकार के संबंध में कोई जानकारी नहीं मिलती। यह भाष्य अप्रकाशित है।

पंचकल्प महाभाष्य— यह भाष्य पंचकल्पनिर्युक्ति के व्याख्यान के रूप में लिखा गया है। इसमें पंचकल्प-लघुभाष्य का भी समावेश हो जाता है। जैसे पंचकल्पनिर्युक्ति कल्पनिर्युक्ति का ही अंश है, वैसे ही पंचकल्पभाष्य बृहत्कल्पभाष्य का ही अंश है। इस भाष्य के कर्ता संघदासगणि क्षमाश्रमण हैं। इसमें २६६६ गाथाओं में पांच प्रकार के कल्पों का संक्षिप्त विवेचन है। मुनि पुण्यविजयजी द्वारा तैयार कराई गई इस भाष्य की प्रतिलिपि रोमन लिपि में इण्डोलोजिया, बेरोलिनेन्सिस ५ से १९७७ में प्रकाशित हुई है।

(३)चूर्णि साहित्य

आगमों के ऊपर लिखे हुए व्याख्या-साहित्य में चूर्णियों का स्थान बहुत महत्त्व का है। चूर्णियां गद्य में लिखी गई हैं। चूर्णियां केवल प्राकृत में ही न लिखी जाकर संस्कृत मिश्रित प्राकृत में लिखी गई थीं, इसलिए भी इस साहित्य का क्षेत्र निर्युक्ति और भाष्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत था। चूर्णियों में प्राकृत की प्रधानता होने के कारण इसकी भाषा को मिश्र प्राकृत भाषा कहना सर्वथा उचित ही है। निशीथ के विशेषचूर्णिकार ने चूर्णि की निम्नलिखित परिभाषा दी है—

पागडो ति प्राकृतः प्रगटो वा पदार्थो वस्तुभावो यत्र सः,
तथा परिभाष्यते अर्थोऽनयेति परिभाषा चूर्णिरुच्यते।

अभिधानराजेन्द्रकोश में चूर्णि की परिभाषा देखिए—

अत्थवहुलं महत्थं हेउनिवाओवसग्गगम्भीरं।
बहुपायमवोच्छिन्नं गमणयसुद्धं तु चुण्णपयं।।

अर्थात् जिसमें अर्थ की बहुलता हो, महान अर्थ हो, हेतु, निपात और उपसर्ग से जो युक्त हो, गम्भीर हो, अनेक पदों से संबंधित हो, जिसमें अनेक गम(जानने के उपाय) हों और जो नयों से शुद्ध हो, उसे चूर्णिपद समझना चाहिए।

चूर्णियों में प्राकृत की लौकिक, धार्मिक अनेक कथाएं उपलब्ध हैं, प्राकृत भाषा में शब्दों की व्युत्पत्ति मिलती है तथा संस्कृत और प्राकृत के अनेक पद्य उद्धृत हैं। चूर्णियों में निशीथ की विशेषचूर्णि तथा आवश्यकचूर्णि का स्थान बहुत महत्त्व का है। इसमें जैन पुरातत्त्व से संबंध रखने वाली विपुल सामग्री मिलती है। लोककथा और भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह साहित्य अत्यन्त उपयोगी है। वाणिज्यकुलीन कोटिगणीय वज्रशाखीय जिनदासगणि महत्तर अधिकांश चूर्णियों के कर्त्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनका समय ईस्वी सन् की छठी शताब्दी के आसपास माना जाता है। निम्नलिखित आगमों पर चूर्णियां उपलब्ध हैं— आचारांग, सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, कल्प, व्यवहार, निशीथ, पंचकल्प, दशाश्रुतस्कन्ध, जीतकल्प, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वार।

आचारांगचूर्णि— निर्युक्ति-गाथाओं के आधार पर यह चूर्णि लिखी गई है। अतः यहां उन्हीं विषयों का विवेचन किया गया है, जिनका प्ररूपण आचारांग निर्युक्ति में उपलब्ध है। परम्परा से आचारांगचूर्णि के कर्त्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं। यहां अनेक स्थलों पर नागार्जुनीय वाचना के साक्षीपूर्वक पाठभेद प्रस्तुत करते हुए उनकी व्याख्या की गई है। बीच—बीच में संस्कृत और प्राकृत के अनेक लौकिक पद्य उद्धृत हैं। प्रत्येक शब्द को स्पष्ट करने के लिए एक विशिष्ट शैली अपनाई गई है।

बृहत्कल्पचूर्णि– यह चूर्णि मूलसूत्र और उस पर लिखे हुए लघुभाष्य पर लिखी गई है। इस चूर्णि का प्रारंभिक अंश दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि से बहुत कुछ मिलता है। सम्भवत: दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि बृहत्कल्पचूर्णि के पूर्व में लिखी गई है और दोनों एक ही आचार्य की रचनाएं हैं। यहां तत्त्वार्थाधिगम, विशेषावश्यकभाष्य, कर्मप्रकृति, महाकल्प और गोविन्दनिर्युक्ति का उल्लेख है।

जीतकल्प बृहच्चूर्णि– यह चूर्णि मूलसूत्र पर लिखी गई है। सिद्धसेनसूरिकृत यह चूर्णि प्राकृत में है। इसमें संस्कृत का प्रयोग नहीं किया गया है। चूर्णिकार ने आदि और अन्त में जीतकल्पसूत्र के प्रणेता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण को नमस्कार किया है। प्रस्तुत चूर्णि में एक अन्य चूर्णि का भी उल्लेख है, जो अनुपलब्ध है।

उत्तराध्ययनचूर्णि– उत्तराध्ययनचूर्णि के कर्त्ता जिनदासगणि महत्तर हैं। इन्होंने अपने धर्मगुरु का नाम वाणिज्यकुलीन, कोटिकगणीय, वज्रशाखीय गोपालगणि महत्तर तथा विद्यागुरु का नाम (निशीथविशेषचूर्णि के उल्लेखानुसार) प्रद्युम्न क्षमाश्रमण बताया है। यह चूर्णि भी निर्युक्ति का अनुसरण करके लिखी गई है। चूर्णिकार ने अपनी कृति दशवैकालिक चूर्णि का उल्लेख किया है। नागार्जुनीय पाठ का यहां अनेक स्थलों पर उल्लेख है। बहुत से शब्दों की विचित्र व्युत्पत्तियां दी हुई हैं।

आवश्यकचूर्णि–आवश्यकचूर्णि के कर्त्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं। यह आवश्यक सूत्र में प्रतिपादित सूत्रों पर सीधे टीका नहीं है, किन्तु विशेषावश्यक की भांति आवश्यक की निर्युक्ति को आधार मान कर लिखी गई है। जहां—तहां विशेषावश्यक भाष्य की गाथाओं का व्याख्यान देखने में आता है। सूत्रकृतांग आदि चूर्णियों की भांति इस चूर्णि में केवल शब्दार्थ का ही प्रतिपादन नहीं है, बल्कि भाषा और विषय की दृष्टि से निशीथ चूर्णि की तरह यह एक स्वतंत्र रचना ज्ञात होती है।

दशवैकालिकचूर्णि (जिनदासगणिमहत्तरकृत)–दशवैकालिकचूर्णि के कर्त्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं। यह चूर्णि भी निर्युक्ति का अनुसरण करके लिखी गई है। जिनदासगणि की प्रस्तुत चूर्णि में आवश्यक चूर्णि का उल्लेख भी मिलता है। इससे पता चलता है कि आवश्यक चूर्णि के पश्चात् इसकी रचना हुई। यहां भी शब्दों की विचित्र व्युत्पत्तियां दी गई हैं।

दशवैकालिकचूर्णि (अगस्त्यसिंह कृत)– जिनदासगणि महत्तर कृत चूर्णि की भांति यह चूर्णि भी निर्युक्ति का अनुगमन करके लिखी गई है। चूर्णि के अंत में चूर्णिकार ने अपना नाम कलशभवमृगेन्द्र (कलश-भव— कलश से उत्पन्न अर्थात् अगस्त्य;मृगेन्द्र=सिंह) अर्थात् अगस्त्यसिंह व्यक्त किया है। अगस्त्यसिंहगणि ऋषिगुप्त क्षमाश्रमण के शिष्य थे। वे कोटिगणीय वज्रस्वामी की शाखा के आचार्य थे। स्थविर अगस्त्यसिंह का समय विक्रम

की तीसरी शताब्दी माना गया है, और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह रचना वलभी वाचना के लगभग २००—३०० वर्ष पूर्व लिखी जा चुकी थी। प्रस्तुत चूर्णि के मूल सूत्रपाठों, जिनदासगणि महत्तर कृत चूर्णि के मूल सूत्र पाठों और हरिभद्र कृत वृत्ति के मूल सूत्रपाठों में कहीं—कहीं अन्तर पाया जाता है। चूर्णि की निर्युक्ति गाथाओं के संबंध में यह भी विभिन्नता देखने में आती है कि कितनी ही निर्युक्ति गाथाएं ऐसी हैं जो हरिभद्रीय टीका में उपलब्ध हैं, किन्तु दोनों चूर्णिकारों ने उन्हें उद्धृत नहीं किया। प्रस्तुत संस्करण में सूत्र गाथाओं, २७० निर्युक्ति गाथाओं तथा चूर्णिगत उद्धरणों की अनुक्रमणिका दी हुई है। प्रस्तावना में अगस्त्यसिंह और हरिभद्र द्वारा स्वीकृत निर्युक्ति गाथाओं की तालिका प्रस्तुत है। अनेक वाचनान्तर, पाठभेद, अर्थभेद और सूत्र पाठों के उल्लेखों की दृष्टि से यह चूर्णि महत्त्वपूर्ण है। मुनि पुण्यविजयजी की मान्यता है कि दशवैकालिक सूत्र पर उन दोनों चूर्णियों के अतिरिक्त और भी प्राचीन चूर्णि रही होगी, जिसका उल्लेख दोनों चूर्णिकारों ने किया है।

नन्दीचूर्णि— यह चूर्णि मूल सूत्र का अनुसरण करके लिखी गई है। यहां माथुरी वाचना का उल्लेख आता है। बारह वर्षों का अकाल पड़ने पर आहार आदि न मिलने के कारण जैन भिक्षु मथुरा छोड़कर अन्यत्र विहार कर गए थे। दुर्भिक्ष होने पर समस्त साधु समुदाय आचार्य स्कंदिल के नेतृत्व में मथुरा में एकत्रित हुआ और जिसे स्मरण था, उसे कालिकश्रुत के रूप में संघटित कर दिया गया। कुछ लोगों का कथन है कि दुर्भिक्ष के समय श्रुत नष्ट नहीं हुआ था, मुख्य—मुख्य अनुयोगधारी आचार्य मृत्यु को प्राप्त हो गए थे, अतएव स्कंदिल आचार्य ने मथुरा में आकर साधुओं को अनुयोग की शिक्षा दी।

अनुयोगद्वारचूर्णि— यह चूर्णि भी मूलसूत्र का अनुसरण करके लिखी गई है। यहां तलवर, कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह, वापी, पुष्करिणी, सारणी, गुंजालिया, आराम, उद्यान, कानन, वन, गोपुर, सभा, प्रपा, रथ, यान, शिविका आदि के अर्थ समझाए हैं। संगीत संबंधी तीन पद्य प्राकृत में उद्धृत हैं, जिससे पता चलता है कि संगीतशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ प्राकृत में रहा होगा। सात स्वरों और नौ रसों का सोदाहरण विवेचन किया गया है।

अनुयोग द्वार के अंगुलपद पर लिखी हुए एक अन्य चूर्णि है, जिसके कर्त्ता सुप्रसिद्ध भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं। यह चूर्णि जिनदासगणि महत्तरकृत अनुयोगद्वार चूर्णि में अक्षरशः उद्धृत की गई है।

(४) टीका साहित्य

निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णियों की भांति आगमों पर विस्तृत टीकाएँ भी लिखी गई हैं, जो आगम सिद्धान्त को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। ये टीकाएँ संस्कृत में हैं, कुछ टीकाओं का कथन संबंधी अंशप्राकृत में भी उद्धृत किया गया है। जान पड़ता है कि आगमों की अन्तिम वलभी वाचना के

पूर्व ही आगमों पर टीकाएं लिखी जाने लगी थीं। विक्रम की तीसरी शताब्दी के आचार्य अगस्त्यसिंह ने अपनी दशवैकालिक चूर्णि में अनेक स्थलों पर इन प्राचीन टीकाओं की ओर संकेत किया है।

टीकाकारों में याकिनीसूनु हरिभद्रसूरि (७०५—७७५ ईस्वी सन्) का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वार पर टीकाएं लिखीं। प्रज्ञापना पर भी हरिभद्रसूरि ने टीका लिखी है। इन टीकाओं में लेखक ने कथाभाग को प्राकृत में ही सुरक्षित रखा है। हरिभद्रसूरि के लगभग सौ वर्ष पश्चात् शीलांकसूरि ने आचारांग और सूत्रकृतांग पर संस्कृत टीकाएं लिखी। इनमें जैन आचार—विचार और तत्त्वज्ञान संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन किया गया है।

आगम-साहित्य के संस्कृत टीकाकारों में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का नाम सर्वोपरि है। अन्य टीकाओं में आवश्यकनिर्युक्ति पर हरिभद्रसूरि और मलयगिरि की उत्तराध्ययन पर वादिवेताल शान्तिसूरि और नेमिचन्द्रसूरि (आचार्यपद प्राप्ति के पूर्व अपर नाम देवेन्द्रगणि) की तथा दशवैकालिक सूत्र पर हरिभद्र की टीकाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हरिभद्र सूरि एक बहुश्रुत विद्वान् थे, जिनका नाम आगम के प्राचीन टीकाकारों में गिना जाता है। विविध विषयों पर उनके अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार और पिण्डनिर्युक्ति (अपूर्ण) पर टीकाएं लिखी हैं। हरिभद्र ने आवश्यक सूत्र पर दो टीकाएं लिखी हैं। यह टीका यद्यपि निर्युक्ति को आधार मान कर ही लिखी है, फिर भी जहां तहां भाष्य गाथाओं का भी उपयोग किया है। कहीं— कहीं निर्युक्ति के पाठान्तर भी दिए गए हैं। इसके कथानक प्राकृत में ही प्रस्तुत हैं।

हरिभद्रसूरि की भांति टीकाओं में प्राकृत कथाओं को सुरक्षित रखने वाले आचार्यों में वादिवेताल शान्तिसूरि, नेमिचन्द्रसूरि और मलयगिरि का नाम उल्लेखनीय है। अन्य टीकाकारों में ई.सन् की १२ वीं शताब्दी के विद्वान अभयदेवसूरि, द्रोणाचार्य, मलधारि हेमचन्द्र, मलयगिरी तथा क्षेमकीर्ति (ई.सन् १२७५), शान्तिचन्द्र (ई.सन् १५९३) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके टीकाग्रन्थ संस्कृत में प्राकृत उद्धरण सहित प्राप्त होते हैं। कुछ ग्रन्थों की भाषा प्राकृत है।

शान्तिसूरि 'कवीन्द्र' तथा 'वादिचक्रवर्ती' के रूप में प्रसिद्ध थे। मालवा के राजा भोज ने इनकी वाद-विवाद की प्रतिभा पर मुग्ध होकर इन्हें 'वादिवेताल' की पदवी प्रदान की थी। उत्तराध्ययन पर लिखी हुई इनकी टीका में प्राकृत कथानक एवं प्राकृत उद्धरणों की प्रधानता होने से उसे पाइय (प्राकृत) टीका कहा है; नेमिचन्द्रसूरि ने वादिवेताल शान्तिसूरि की पाइयटीका के आधार पर उत्तराध्ययनसूत्र पर सुखबोधा टीका की रचना की। इन्होंने भी अपनी टीका में अनेक आख्यान प्राकृत में ही उद्धृत किये हैं। टीका की

प्रशस्ति में इन्होंने अपने को बृहद्गच्छीय उद्योतनाचार्य के शिष्य उपाध्याय आम्रदेव का शिष्य बताया है। अपनी इस रचना को उन्होंने अणहिल नगर (पाटन) में ईसवी सन् १०७२ में समाप्त किया। नेमिचन्द्रसूरि वादिवेताल शांतिसूरि के समकालीन थे।

आचारांग और सूत्रकृतांग पर शीलांकाचार्य की विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ हैं। अभयदेवसूरि नवांगीवृत्तिकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अंतकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाक और औपपातिक सूत्र पर वृत्तियाँ लिखी हैं।

इस प्रकार आगम और उनकी व्याख्याओं के रूप में लिखे गए इस विशाल साहित्य का अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। जैन मुनियों ने अपने उपदेशों के दृष्टान्तों में इनकी कहानियों का यथेष्ट उपयोग किया है। दूसरे प्रकार की कथाएं पौराणिक कथाएं हैं, जिन्हें रामायण, महाभारत आदि ब्राह्मण ग्रन्थों से लेकर जैनरूप में ढाला गया है। डॉ. विण्टरनित्स के शब्दों में ''जैन टीका साहित्य में भारतीय प्राचीन कथा-साहित्य के अनेक उज्ज्वल रत्न विद्यमान हैं, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते।'' जैन आगमों के व्याख्या साहित्य की चार विद्याओं के अतिरिक्त और भी विद्याएं बाद में प्रचलित हुई, जो संस्कृत अथवा क्षेत्रीय भाषाओं में निबद्ध थी। यथा—अवचूरि, थेरावली, टब्बा, दीपिका, तात्पर्य, वृत्ति आदि।

—प्राकृत एवं जैनागम विभाग
जैन विश्वभारतीय संस्थान, लाडनूं (राज.)

षट्खण्डागम और कसायपाहुड

डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी

दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम और कषायप्राभृत की गणना आगम ग्रन्थों में की जाती है। इनमें कर्म-सिद्धान्त विषयक गम्भीर, विशद एवं विस्तृत चर्चा है। षट्खण्डागम में छह खण्ड हैं, जिनमें से जीवस्थान आदि पाँच खण्डों की रचना आचार्य पुष्पदन्त ने की तथा छठे खण्ड महाबंध की रचना भूतबली ने की। कषायप्राभृत के रचयिता आचार्य गुणधर थे। कषायप्राभृत में मात्र मोहकर्म की चर्चा है। जैनदर्शन के विद्वान् एवं जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय में हिन्दी के सह आचार्य डॉ. पाटनी जी ने षट्खण्डागम और कषायप्राभृत (कसायपाहुड) का इनकी टीकाओं सहित संक्षेप में परिचय कराया है। व्यापक अध्ययन के लिए मूलग्रन्थ एवं टीकाएँ अध्येतव्य हैं। **—सम्पादक**

परम्परा

अविच्छिन्न श्रुतपरम्परा के आकांक्षी दीर्घदर्शी धरसेनाचार्य के शिष्य आचार्य पुष्पदन्त और भूतबली द्वारा विरचित षट्खण्डागम दिगम्बर जैन साहित्य की अनुपम निधि है। अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा अपनी दिव्यध्वनि के माध्यम से प्रतिपादित वस्तुस्वरूप को प्रधान गणधर गौतम ने द्वादशांग वाणी के रूप में ग्रथित कर परवर्ती आचार्यों को श्रुत परम्परा से सुलभ कराया। श्रुत की यह मौखिक परम्परा क्रमशः क्षीण होती चली गई। भगवान के निर्वाण के बाद ६२ वर्ष में तीन अनुबद्ध केवली भगवान हुए, पश्चात् सौ वर्ष के काल में पाँच श्रुत केवली द्वादशांग ज्ञान के धारी हुए। उसके बाद १८३ वर्ष में ११ अंग और १० पूर्व के ज्ञाता आचार्यों की परम्परा चली। अनन्तर २२० वर्षों में केवल पाँच ही आचार्य ऐसे हुए जिन्हें ११ अंगों का ज्ञान प्राप्त था। इसके बाद अंगों का ज्ञान लुप्त होने लगा और केवल चार आचार्य ऐसे हुए जिन्हें एक अंग का और शेष अंगों व पूर्वों के एक देश का ज्ञान प्राप्त था। तब तक श्रुत को लिपिबद्ध करने के प्रयासों का शुभारम्भ नहीं हुआ था।

अवतरण

भगवान की दिव्यध्वनि से निःसृत यह ज्ञान आचार्य परम्परा से क्रमशः हीन होता हुआ आचार्य धरसेन तक आया। वे अत्यन्त कुशल निमित्तज्ञानी थे। अपने निमित्तज्ञान से वे यह जान रहे थे कि महाकर्मप्रकृति प्राभृत के ज्ञाता वे अन्तिम आचार्य हैं। उसके बाद मौखिक/श्रुत परम्परा के बल पर आगम ज्ञान की इस धारा को बढाना सम्भव नहीं रहेगा। अतः उन्हें इसकी सुरक्षा की चिन्ता हुई। अपनी चिन्ता से मुक्त होने के लिए उन्होंने 'गिरनार' सिद्ध क्षेत्र को अपनी साधना स्थली बनाया। अपने संघस्थ शिष्यों में उन्हें कोई ऐसा समर्थ साधक नहीं दिखा जो उनके आगम ज्ञान को ग्रहण कर लिपिबद्ध कर सके, अतः महिमानगरी में सम्पन्न होने वाले 'मुनि सम्मेलन' को उन्होंने संदेश भेजकर अपनी चिन्ता से अवगत कराया और दो योग्य

समर्थ साधक भिजवाने का अपना अभिप्राय प्रकट किया। मुनि सम्मेलन में इस महान् आचार्य के अभिप्राय को पूर्ण सम्मान दिया गया और तत्रस्थित साधुओं में से विषयाशानिवृत्त और ज्ञानध्यान में अनुरक्त दो समर्थ, दृढ़ श्रद्धानी साधुओं—पुष्पदन्त और भूतबली को गिरनार की ओर विहार करवाया।

जब मुनि पुष्पदन्त और भूतबली गिरनार पहुंचने वाले थे उसकी पूर्व रात्रि में आचार्य धरसेन स्वामी ने देखा कि दो शुक्ल वर्ण के वृषभ आ रहे हैं। स्वप्न देखते ही उनके मुंह से निकल पड़ा— 'जयउ सुददेवता' श्रुतदेवता जयवन्त रहे। दूसरे दिन दोनों साधु आचार्य चरणों में उपस्थित हो गये। भक्तिपूर्वक आचार्यवन्दना करके उन्होंने अपने आने का प्रयोजन बताया। परीक्षाप्रधानी आचार्य ने दोनों मुनियों को एक—एक मंत्र देकर उसे सिद्ध करने का आदेश दिया। योग्य मुनियों ने मंत्र सिद्ध किया, परन्तु मंत्रों की वशवर्ती देवियाँ जब साधकों के सामने आज्ञा मांगने प्रगट हुई तो वे सुन्दर नहीं थी—एक के दांत बढ़े हुए थे, दूसरी एकाक्षी थी। समर्थ साधकों ने तुरन्त भांप लिया कि उनके मंत्र अधिकाक्षर और न्यूनाक्षर दोषग्रस्त थे। उन्होंने अपने मन्त्रों को शुद्ध किया और पुनः साधना-संलग्न हुए तब दोनों के सामने सुदर्शन देवियां प्रकट हुई। आचार्य धरसेन ने दोनों की भक्ति और निष्ठा को जानकर उसी दिन से उन्हें महाकर्मप्रकृति प्राभृत रूप आगम ज्ञान प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया।

दोनों शिष्यों ने विनीत भाव से उस अनमोल धरोहर को ग्रहण किया और अपनी धारणा में उसका संचय किया। आषाढ़ शुक्ला एकादशी के पुनीत दिवस पर ज्ञान दान का यह महान् अनुष्ठान सम्पन्न हुआ। वर्षायोग निकट था। प्रातः दूसरे ही दिन आचार्य धरसेन ने मुनि पुष्पदन्त और भूतबली को विहार करने का आदेश दे दिया। दोनों मुनि वहां से विहार कर नौ दिनों के बाद अंकलेश्वर पहुंचे। वहां उन्होंने वर्षायोग धारण किया और गुरु से अधीत ज्ञान के आधार पर सूत्र रचना का कार्य प्रारम्भ कर दिया और अनवरत उसी में संलग्न कर उसे पूर्ण किया। पुष्पदन्त और भूतबली द्वारा आगम को लिपिबद्ध करने का यह नूतन प्रयास सबके द्वारा समादृत हुआ। समकालीन और परवर्ती ज्ञानपिपासु आचार्यों ने इन सूत्रों की उपयोगिता और महत्ता को स्वीकार किया।

षट्खण्डानुक्रम

आचार्य पुष्पदन्त द्वारा प्रणीत ग्रन्थ की प्रथम गाथा हमारा 'पंच नमस्कार मंत्र' या 'णमोकार मंत्र' ही है जो दीर्घकाल से प्रत्येक जैन के कण्ठ की शोभा है। इस आगम ग्रन्थ को आज आगमसिद्धान्त, परमागम और षट्खण्डागम आदि नामों से जाना जाता है। संक्षेप में षट्खण्डागम का वर्ण्य विषय इस प्रकार है—

प्रथम खण्ड 'जीवट्ठाण' है। इसके अन्तर्गत आठ अनुयोगद्वार और नौ चूलिकाओं में गुणस्थान और मार्गणाओं का आश्रय लेकर जीव का वर्णन किया गया है। **द्वितीय खण्ड** 'खुद्दाबंध' है। इस क्षुल्लक बन्धखण्ड में ग्यारह प्ररूपणाओं द्वारा कर्मबन्ध करने वाले जीव का वर्णन किया गया है। **तीसरे खण्ड** 'बंधस्वामित्वविषय' में कितनी प्रकृतियों का किस जीव के कहां तक बंध होता है, किसके नहीं होता है, कितनी प्रकृतियों की किस गुणस्थान में व्युच्छित्ति होती है, स्वोदय और परोदय बन्धरूप प्रकृतियां कितनी-कितनी हैं, इत्यादि विषयों का वर्णन है। **चतुर्थ खण्ड** 'वेदनाखण्ड' है। इसके अन्तर्गत कृति और वेदना अनुयोग द्वार हैं। **पाँचवें** 'वर्गणाखण्ड' में बन्धनीय के अन्तर्गत वर्गणा अधिकार के अतिरिक्त स्पर्श, कर्मप्रकृति और बन्धन का पहला भेद बंध, इन अनुयोगद्वारों का वर्णन किया गया हैं। इन्द्रनन्दी ने श्रुतावतार में कहा है कि भूतबली ने पुष्पदन्त विरचित पाँच खण्डों के सूत्रों सहित, छह हजार सूत्र रचने के पश्चात् महाबंध नामक **छठे खण्ड** की रचना की। इसमें प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बन्ध का विस्तृत वर्णन है।

षट्खण्डागम टीकाग्रन्थ

आगमज्ञान के इस अनुपम भण्डार के लिपिबद्ध होने पर ही आचार्यों का ध्यान इसकी टीका/भाष्य की ओर गया। कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम) और कषायप्राभृत—इन दोनों सिद्धान्तों का ज्ञान गुरु-परम्परा से कुन्दकुन्दपुर के पद्मनन्दी मुनि को प्राप्त हुआ और उन्होंने सबसे पहले षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण टीकाग्रन्थ लिखा जिसका नाम 'परिकर्म' था। अफसोस, आज यह टीका हमें उपलब्ध नहीं है।

महान् तार्किक **आचार्य समन्तभद्र** ने षट्खण्डागम के पाँच खण्डों पर अड़तालीस हजार श्लोक प्रमाण विशाल टीका की। यह अत्यन्त सरल और मृदुल संस्कृत में लिखी गई थी।

षट्खण्डागम के प्रथम पाँच खण्डों पर और कषायप्राभृत पर **शामकुन्द** द्वारा तीसरी टीका लिखी गई है।

तुम्बुलूर नामक आचार्य की **'चूड़ामणि'** टीका इस आगम ग्रन्थ की चौथी टीका हैं।

बप्पदेव गुरु के द्वारा इस ग्रन्थ की **'व्याख्या प्रज्ञप्ति'** नामक पाँचवी टीका हुई।

ये पाँचों टीकाएँ षट्खण्डागम के मूललेखन के काल यानी विक्रम की दूसरी सदी से वीरसेन की धवला टीका के रचनाकाल ईसा की नौवीं शताब्दी तक की हैं। पद्मनन्दी प्रथम शताब्दी में, समन्तभद्र दूसरी शताब्दी में, शामकुन्द तीसरी शताब्दी में, तुम्बुलूर चौथी में और बप्पदेव आठवीं शताब्दी ईस्वी में हुए। आचार्य वीरसेन की टीका (धवला) का काल ईसा की नवम शताब्दी का प्रथम चरण है।

षट्खण्डागम पर सबसे पहले विशाल टीका आचार्य वीरसेन स्वामी की है। इनके शिष्य आचार्य जिनसेन ने अपने गुरु को 'भट्टारक', 'वादिवृन्दारक मुनि' और 'सिद्धान्तोपनिबन्धकर्ता' कहा है तथा उनकी धवला टीका को 'भुवनव्यापिनी' संज्ञा प्रदान की है। वीरसेनाचार्य ने चित्रकूट पर (चित्तौड़गढ़) में अपने गुरु श्री एलाचार्य के पास रहकर समस्त सिद्धान्त का अध्ययन किया और वहीं टीका का लेखन प्रारम्भ किया। बाद में वाटग्राम पधारे। वहां उन्हें बप्पदेव की टीका देखने को मिली, जिसके आधार पर वहीं उन्होंने पाँच खण्डों पर ७२ हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत और संस्कृत मिश्रित 'धवला' टीका लिखी। षट्खण्डागम का छठा खण्ड महाबन्ध स्वयं आचार्य भूतबली द्वारा विस्तार पूर्वक लिखा गया था। इसकी प्रसिद्धि 'महाधवल' नाम से हुई। धवला टीका की समाप्ति कार्तिक शुक्ला १३ शक संवत् ७३८ तदनुसार दिनांक ८ अक्टूबर सन् ८१६ बुधवार को प्रात: काल हुई। सम्भवत: शुक्ल पक्ष में पूर्ण होने के कारण इस टीका का नाम धवला टीका रखा गया। विशद और स्पष्ट अर्थ में धवल शब्द का प्रयोग होने से भी यह धवला कहलाई। अमोघवर्ष के राज्यकाल में यह टीका रची गई। उसकी एक उपाधि 'अतिशय धवल' भी मिलती है। सम्भव है इसी उपाधि के कारण इस टीका का नाम धवला टीका रखा गया हो।

कषायप्राभृत

आचार्य धरसेन के समकालीन आचार्य गुणधर हुए। उन्होंने कषायप्राभृत— कसायपाहुड की रचना की। यतिवृषभ आचार्य ने उस पर चूर्णिसूत्र लिखे। धवला टीका पूर्ण करने के बाद आचार्य वीरसेन ने कषायप्राभृत की टीका लिखना प्रारम्भ किया। २० हजार श्लोक प्रमाण लिखने के बाद उनका निधन हो गया। तब उनके शिष्य आचार्य जिनसेन ने चालीस हजार श्लोक प्रमाण और लिख कर उस टीका को पूर्ण किया।

कषायप्राभृत सचूर्णिसूत्र की टीका का नाम जयधवला है। साठ हजार श्लोक प्रमाण यह जयधवला टीका उपर्युक्त दोनों आचार्यों द्वारा कुल मिलाकर २१ वर्षों के दीर्घकाल में लिखी गई। जयधवला शक संवत् ७५९ में पूर्ण हुई।

प्रकाशन

षट्खण्डागम के मुद्रण का भी लम्बा इतिहास है। वर्तमान में उपलब्ध 'धवला' के १६ भाग १९३६ ई. से १९५६ ई. तक २० वर्षों की अवधि में छपे है। अब तो इनके संशोधित नवीन संस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं।

कषायप्राभृत के १६ खण्ड श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा ने प्रकाशित किये हैं। १६ भागों में कुल ६४१५ पृष्ठों में जयधवला टीका सानुवाद प्रकाशित हुई है। इसमें मात्र मोह का वर्णन है जिसमें दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों गर्भित हैं। शेष सात कर्मों की प्ररूपणा इसमें नहीं है।

मोहनीय का जितना सूक्ष्मतम, अचिन्त्य व मौलिक वर्णन इसमें है वैसा अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता।

षट्खण्डागम नामक मूलग्रन्थ का **छठा खण्ड** महाबंध है। इसे ही **महाधवल** कहते हैं। यह मूल खण्ड ही ३० हजार श्लोक प्रमाण है अत: इस पर किसी भी आचार्य को टीका लिखने की आवश्यकता अनुभूत नहीं हुई। किसी ने लिखी तो भी वह मूल से भी छोटी ही रही। बप्पदेव ने ८००५ श्लोकों में महाबंध की टीका रची। यही षट्खण्डागम का अंतिम खण्ड महाबन्ध या महाधवल अनुवाद सहित सात भागों में भारतीय ज्ञानपीठ से छप चुका है। पिछले दिनों इन सात भागों का पुनर्मुद्रण हुआ है।

महाधवल टीका में सभी कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का सविस्तार सांगोपांग वर्णन है। प्रथम पुस्तक में प्रकृतिबन्ध का वर्णन है। दूसरी और तीसरी पुस्तक में स्थिति बंध वर्णित है। चतुर्थ व पंचम पुस्तक में अनुभाग बन्ध तथा छठी-सातवीं पुस्तक में प्रदेश बंध का वर्णन है।

षट्खण्डागम की प्रसिद्ध टीका **'धवला'** संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा में भगवद् वीरसेन स्वामी द्वारा ७२००० श्लोक प्रमाण लिखी गई है। वर्तमान में इसका अनुवाद हिन्दी में ७००० पृष्ठों में १६ भागों/ पुस्तकों में हुआ है। **प्रथम छह भागों में षट्खण्डागम के जीवस्थान नामक प्रथम खण्ड की टीका है। प्रथम पुस्तक** में गुणस्थानों तथा मार्गणास्थानों का विवरण है। गुणस्थान तथा मार्गणास्थान सम्पूर्ण धवल, जयधवल और महाधवल का हार्द है। **दूसरी पुस्तक** में गुणस्थान, जीव-समास, पर्याप्ति आदि २० प्ररूपणाओं द्वारा जीव की परीक्षा की गई है। **तीसरी पुस्तक** द्रव्यप्रमाणानुगम है जिसमें यह बताया गया है कि ब्रह्माण्ड में सकल जीव कितने हैं। इसमें भिन्न--भिन्न अवस्थाओं, गतियों आदि में भी जीवों की संख्याएँ गणित शैली से सविस्तार तथा सप्रमाण बताई गई हैं। **चौथी पुस्तक** में क्षेत्र स्पर्शन कालानुगम द्वारा बताया गया है कि सकल ब्रह्माण्ड में जीव निवास करते हुए, विहार आदि करते हुए कितना क्षेत्र वर्तमान में तथा अतीत में छूते हैं या छू पाए हैं। गुणस्थानों तथा मार्गणाओं में से प्रत्येक अवस्था वाले जीवों का आश्रय कर यह प्ररूपण किया गया है। कालानुगम में मिथ्यादृष्टि आदि जीवों की कालावधि विस्तार से प्ररूपित की गई है। **पाँचवी पुस्तक** अन्तरभाव अल्पबहुत्वानुगम में बताया है कि— १. विवक्षित गुणस्थान छोड़कर अन्यत्र जाकर पुन: उसी गुणस्थान में जीव कितने समय बाद आ सकता है। २. कर्मों के उपशम, क्षय व क्षयोपशम से होने वाले जो परिणाम हैं, उन्हें भाव कहते हैं। वे भाव मिथ्यादृष्टि आदि में तथा नरकगति आदि में कैसे होते हैं तथा ३. विभिन्न गुणस्थानादिक में जीवों की हीनाधिक संख्या कैसी है? **छठी पुस्तक** चूलिका स्वरूप है। इसमें प्रकृति समुत्कीर्तन, स्थान समुत्कीर्तन, तीन

दण्डक, उत्कृष्ट स्थिति, जघन्य स्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति तथा गति-आगति नामक नौ चूलिकाएँ हैं। इनमें से प्रथम दो चूलिकाओं में कर्मों के भेदों और उनके स्थानों की प्ररूपणा है। सम्यग्दर्शन के सम्मुख जीव किन–किन प्रकृतियों को बांधता है इसके स्पष्टीकरणार्थ ३ दण्डक स्वरूप ३ चूलिकाएँ हैं। कर्मों की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति को छठी व सातवीं चूलिकाएँ बताती हैं। इस प्रकार इन सात चूलिकाओं में कर्म का विस्तार से वर्णन किया गया है। अन्तिम दो चूलिकाओं में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति तथा जीवों की गति–आगति बताई गई है। इस प्रकार छठी पुस्तक में मुख्यत: कर्मप्रकृतियों का वर्णन है।

सातवीं पुस्तक में षट्खण्डागम के **दूसरे खण्ड क्षुद्रकबन्ध** की टीका है जिसमें संक्षेप में कर्मबन्ध का प्रतिपादन किया गया है।

आठवीं पुस्तक में षट्खण्डागम के **तीसरे खण्ड बन्धस्वामित्व** विषय की टीका पूर्ण हुई है। कौनसा कर्मबन्ध किस गुणस्थान तथा मार्गणा से सम्भव है, यह इसमें वर्णित है। इसी सन्दर्भ में निरन्तरबन्धी, सान्तरबन्धी, ध्रुवबन्धी आदि प्रकृतियों का ख़ुलासा तथा बन्ध के प्रत्ययों का खुलासा है।

नवम भाग में **वेदना खण्ड** संबंधी कृति अनुयोगद्वार की टीका है। वहां आद्य ४४ सूत्रों की टीका में विभिन्न ज्ञानों की विशद प्ररूपणा की है। फिर सूत्र ४५ से अन्त तक कृति अनुयोगद्वार का विभिन्न अधिकारों में प्ररूपण किया गया है। **दसवीं पुस्तक** में षट्खण्डागम के वेदना खण्ड विषयक वेदना-निक्षेप, नयविभाषणता, नामविधान तथा वेदनाद्रव्यविधान अनुयोगद्वारों का सविस्तार विवेचन है। **ग्यारहवीं पुस्तक** में वेदना क्षेत्रविधान तथा वेदना कालविधान का विभिन्न अनुयोगद्वारों–अधिकारों द्वारा वर्णन करके फिर दो चूलिकाओं द्वारा अकथित अर्थ का प्ररूपण तथा प्ररूपित अर्थ का विशिष्ट खुलासा किया है। **बारहवीं पुस्तक** में वेदना भावविधा आदि १० अनुयोगद्वारों द्वारा गुणश्रेणिनिर्जरा तथा अनुभाग से संबंधित सूक्ष्मतम, विस्तृत तथा अन्यत्र अलभ्य ऐसी प्ररूपणा की गई है। इस तरह वेदना अनुयोगद्वार के १६ अधिकार तीन पुस्तकों १०–११–१२ में सटीक पूर्ण होते हैं।

षट्खण्डागम के **पाँचवें खण्ड** की टीका (वर्गणा खण्ड) तेरहवीं, चौदहवीं पुस्तक में हुई है। **तेरहवीं पुस्तक** में स्पर्श, कर्म व प्रकृति अनुयोगद्वार है। स्पर्श अनुयोगद्वार का १६ अवान्तर अधिकारों द्वारा विवेचन करके फिर कर्म अनुयोगद्वार का अकल्प्य १६ अनुयोगद्वारों द्वारा वर्णन करके तत्पश्चात् अन्तिम प्रकृति अनुयोगद्वार में ८ कर्मों का सांगोपांग वर्णन है। **चौदहवीं पुस्तक में** बन्धन अनुयोगद्वार द्वारा बन्ध, बन्धक, बन्धनीय (जिसमें २३ वर्गणाओं का विवेचन है, पाँच शरीर की प्ररूपणा भी है तथा बन्ध विधान का मात्र नाम निर्देश है।) द्वारा प्ररूपणा की है। अन्तिम दो पुस्तकों– पन्द्रहवीं, **सोलहवीं** द्वारा शब्दब्रह्म, लोकविज्ञ, मुनिवृन्दारक, भगवद्

वीरसेनस्वामी ने सत्कर्मान्तर्गत शेष १८ अनुयोगद्वारों (निबन्धन, प्रक्रम आदि) की विस्तृत विवेचना की है।

इस तरह १६ पुस्तकों में धवला टीका सानुवाद पूरी होती है। धवला की १६ पुस्तकें, जयधवला की १६ पुस्तकें और महाधवल की ७ पुस्तकें– कुल मिलाकर ३९ पुस्तकें तथा इनके कुल पृष्ठ १६३४१ प्रामाणिक जिनागम हैं। केवली की वाणी द्वारा निबद्ध द्वादशांग से इनका सीधा संबंध होने से षट्खण्डागम अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थराज है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

(**स्रोत**–प्रस्तुत संक्षिप्त-परिचय श्री नीरज जैन की पुस्तक 'षट्खण्डागम की अवतरण कथा' तथा पं. जवाहरलाल शास्त्री की पुस्तक 'धवल जयधवलसार' से संकलित किया गया है।)

–सहआचार्य, हिन्दी-विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

मूलाचार : एक परिचय

डॉ. फूलचन्द जैन 'प्रेमी'

'मूलाचार' दिगम्बर परम्परा का आचार-ग्रन्थ है। डॉ. सागरमलजी ने इसे विभिन्न आधारों पर यापनीय सम्प्रदाय का ग्रन्थ सिद्ध किया है। (द्रष्टव्य— डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ का आगमखण्ड)। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,वाराणसी में जैनदर्शन विभाग के अध्यक्ष डॉ. फूलचन्द्र जी जैन 'प्रेमी' ने मूलाचार पर शोधकार्य किया है, उन्होंने इस ग्रन्थ का भाषावचनिका के साथ संपादन भी किया है। प्रस्तुत आलेख उनके सम्पादित ग्रन्थ के सम्पादकीय में से संकलित है। —**सम्पादक**

मूलाचार श्रमणाचार विषयक एक प्राचीन और अनुपम कृति है। शौरसेनी प्राकृत भाषा में रचित इस बहुमूल्य ग्रन्थ के यशस्वी रचयिता आचार्य वट्टकेर हैं। दिगम्बर जैन परम्परा में आचारांग के रूप में प्रसिद्ध यह श्रमणाचार विषयक मौलिक, स्वतन्त्र, प्रामाणिक एवं प्राचीन ग्रन्थ २—३ शती के आसपास की रचना है। यद्यपि अन्य कुछ प्रमुख आचार्यों की तरह आचार्य वट्टकेर के विषय में भी विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है, किन्तु उनकी अनमोल कृति ''मूलाचार'' के अध्ययन से ही आचार्य वट्टकेर का बहुश्रुत सम्पन्न व्यक्तित्व, उत्कृष्ट चारित्रधारी आचार्यवर्य के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। दक्षिण भारत में बेट्टकेरी स्थान के निवासी वट्टकेर दिगम्बर परम्परा में मूलसंघ के प्रमुख आचार्य थे। इन्होंने मुनिधर्म की प्रतिष्ठित परम्परा को दीर्घकाल तक यशस्वी और उत्कृष्ट रूप में चलते रहने और मुनि-दीक्षा धारण के मूल उद्देश्य की प्राप्ति हेतु मूलाचार ग्रन्थ की रचना की, जिसमें श्रमणनिर्ग्रन्थों की आचार संहिता का सुव्यवस्थित, विस्तृत एवं सांगोपांग विवेचन किया है।

विषय परिचय

मूलाचार में बारह अधिकार हैं। प्रत्येक अधिकार के प्रतिपाद्य विषयों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

1. मूलगुणाधिकार— इसमें छत्तीस गाथाएँ हैं। सर्वप्रथम मंगलाचरण पूर्वक विषय प्रतिपादन की घोषणा की गई है तथा श्रमणों के अट्ठाईस मूलगुणों का कथन किया गया है। तदनन्तर पाँच महाव्रत, पाँच समिति,पंचेन्द्रिय निरोध, षडावश्यक, लोच, अचेलकत्व, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थितभोजन और एकभक्त— इन अट्ठाईस मूलगुणों की सारभूत परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं। अचेलकत्व मूलगुण के अन्तर्गत शरीर ढकने के लिए वस्त्र, अजिन (चमड़ा), वल्कल, तृण, पत्ते, आभूषण आदि के धारण का निषेध करके निर्ग्रन्थ (नग्न) वेश धारण करने को अचेलकत्व कहा है। मूलगुणों के पालन से मिलने वाले मोक्षफल के कथन के बाद अधिकार की समाप्ति की गयी है। का आचार-ग्रन्थ है।

2. बृहत्प्रत्याख्यान–संस्तरस्तव अधिकार– इसमें श्रमण को सभी पापों का त्यागकर मृत्यु के समय दर्शन आदि चार आराधनाओं में स्थिर रहने, क्षुधातृषा आदि परीषहों को समताभाव से सहने तथा निष्कषाय होकर प्राण त्याग करने का उपदेश है। प्रत्याख्यान विधि बताते हुए प्रत्याख्यान करने वाले के मुख से कहलाता गया है कि जो कुछ मेरी पापक्रिया है उस सबका मन, वचन, काय से त्याग करता हूँ और समताभाव रूप निर्विकल्प एवं निर्दोष सामायिक करता हूँ। सब तृष्णाओं को छोड़कर मैं समाधिभाव अंगीकार करता हूँ। सब जीवों के प्रति मेरा क्षमाभाव है तथा जीव मेरे ऊपर क्षमाभाव करें। मेरा सब प्राणियों पर मैत्री भाव है, किसी से भी मेरा वैर नहीं है। इसके अतिरिक्त चार संज्ञाओं, तैंतीस आशातनाओं, श्रमण की मनोभावनाओं के वर्णन के साथ-साथ मरण के भेद यथा मरण-समय णमोकार मंत्र के चिन्तन आदि करने का भी प्रतिपादन किया गया है।

3. संक्षेपप्रत्याख्यानाधिकार– इस अधिकार में व्याघ्रादि-जन्य आकस्मिक मृत्यु के उपस्थित होने पर पांच पापों के त्यागपूर्वक सामायिक समाधि धारण करके सर्वआहार, कषाय और ममत्व भाव के त्यागपूर्वक शरीर त्याग की प्रेरणा दी है। प्रत्याख्यान, आराधनाफल, पंडितमरण, समाधिमरण तथा जन्म एवं मृत्यु का भय आदि विषयों का वर्णन करके अन्त में दस प्रकार के मुण्डों के उल्लेखपूर्वक अधिकार की समाप्ति की गयी है।

4. समाचाराधिकार– इसमें विविध समाचार का अच्छा विवेचन है। समाचार शब्द के चार अर्थ बताये हैं– रागद्वेष से रहित समता का भाव, अतिचाररहित मूलगुणों का अनुष्ठान, समस्त श्रमणों का समान तथा हिंसा रहित आचरण एवं सभी क्षेत्रों में हानि–लाभ रहित कायोत्सर्गादि के परिणाम रूप आचरण। उच्च ज्ञान-प्राप्ति के निमित्त शिष्य-श्रमण को अपने गण से दूसरे गण एवं उसके आचार्य के पास किस विधि से जाना चाहिये इसका अच्छा वर्णन करके एकाकी एवं स्वच्छन्द विहार की सम्भाव्य हानियों का कथन तथा निषेध किया है। आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर और गणधर ये पांच आधार जहां न हों वहां रहना उचित नहीं है। इसी प्रसंग में आचार्य के गुणों का भी कथन किया है। इस अधिकार का महत्त्वपूर्ण अंश परगण से स्वगण में आगन्तुक श्रमणों का किस प्रकार स्वागत, उनकी परीक्षा तथा उनका सहयोग किया जाता है इन सबका बहुत ही स्पष्ट और सुन्दर चित्रण है। आर्यिकाओं का संक्षिप्त आचार, श्रमण और आर्यिकाओं के पारस्परिक संबंधों तथा आर्यिका को दीक्षा, उपदेश करने वाले अनेक गुण-धर्मों से युक्त गणधर एवं उनकी विशेषताओं का वर्णन है। आर्यिकाओं के समाचार के अन्तर्गत एक दूसरे के अनुकूल रहने, अभिरक्षण का भाव रखने, लज्जा एवं मर्यादा का पालन करने तथा माया, रोष एवं वैर जैसे भावों से मुक्त रहने का विधान

किया गया है।

5. पंचाचाराधिकार– इसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप और वीर्य– इन पंचाचारों का भेद–प्रभेदों द्वारा विस्तृत प्रतिपादन किया गया है। दर्शनाचार के अन्तर्गत जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन नव पदार्थों का वर्णन है। इन नव पदार्थों में जीव तत्त्व के संसारी और मुक्त ये दो–दो भेद किये गये हैं। इन संसारी जीव के पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक तथा त्रस इन छह भेदों का भेदोपभेद पूर्वक विस्तृत प्रतिपादन है। रात्रिभोजन त्याग, पांच समिति, तीन गुप्ति, तप, ध्यान, स्वाध्याय आदि विषयों का विस्तृत स्वरूप कथन तथा इनका पालन करने से होने वाले लाभों का भी विवेचन है। प्रसंगवश गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली अथवा अभिन्नदशपूर्वी द्वारा कथित ग्रन्थों को सूत्र कहा है। संग्रह, आराधना निर्युक्ति, मरणविभक्ति, स्तुति, प्रत्याख्यान, आवश्यक और धर्मकथा आदि जैन सूत्र ग्रन्थों तथा ऋग्वेद, सामवेद आदि वेद शास्त्रों, कौटिल्य, आसुरक्ष, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों एवं रक्तपट, चरक, तापस, परिव्राजक आदि के नामों का उल्लेख मिलता है।

6. पिण्डशुद्धि अधिकार– इसमें तेरासी गाथाएँ हैं। श्रमणों के पिण्डैषणा (आहार) से संबंधित सभी नियमों की विशद मीमांसा की गयी है। उद्‌गम, उत्पादन, एषणा, संयोजन, प्रमाण, इंगाल, धूम और कारण इन आठ दोषों से रहित आहार शुद्धि का, आहार त्याग के कारण, आहार ग्रहण के उद्देश्य, दाता के गुण, चौदह मल, आहार ग्रहण की विधि और मात्रा तथा आहार के अन्तराय आदि आहार चर्या से संबंधित सभी विषयों का विस्तृत विवेचन है।

7. षडावश्यक–अधिकार– इस अधिकार को आवश्यकनिर्युक्ति नाम से अभिहित किया गया है तथा इसका प्रारम्भ पंच नमस्कार की निरुक्तिपूर्वक हुआ है। अर्हन्त, जिन, आचार्य, साधु, उत्तम आदि शब्दों की भी निरुक्ति पूर्वक व्याख्या की गई है। अर्हन्त, पद की निरुक्ति महत्त्वपूर्ण है। सामायिक, स्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकों का निरुक्ति एवं भेदपूर्वक विस्तृत विवेचन है। लोक, धर्म, तीर्थ, भक्ति, विनय, कृतिकर्म, अवनति, चतुर्विध आहार और आलोचना–इन सब विषयों का स्वरूप तथा भेदपूर्वक कथन, स्वाध्याय काल, वन्दनादि कायोत्सर्ग में वर्ज्य बत्तीस दोष, आसिका, निषीधिका का विधान तथा पार्श्वस्थादि पापश्रमणों आदि का विवेचन किया गया है। इस अधिकार की ये विशेषतायें हैं कि इसमें सामायिक संयम और छेदोपस्थापना संयम के विषय में उन मतों का उल्लेख किया गया है जिनका संबंध प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव एवं अन्तिम तीर्थंकर महावीर तथा मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के परम्परा-भेद से है। नित्य प्रतिक्रमण और नैमित्तिक प्रतिक्रमण के संबंध में भी इसी तरह के मतों का उल्लेख है।

8. द्वादशानुप्रेक्षाधिकार— अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यात— इन बारह अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का वैराग्यवर्द्धक सूक्ष्म विवेचन है। इसमें बताया है— राग, द्वेष, क्रोधादि आस्रव हैं, जिनमें कर्मों का आगमन होता है। ये कुमार्गों पर ले जाने वाली अति बलवान शक्तियां हैं। शांति, दया, क्षमा, वैराग्य आदि जैसे—जैसे बढ़ते हैं, जीव वैसे—वैसे मोक्ष के निकट बढ़ता जाता है। चार प्रकार के संसार का स्वरूप तथा अन्त में अनुप्रेक्षाओं की भावना से कर्मक्षय और परिणामशुद्धि का विवेचन है।

9. अनगारभावनाधिकार— इस अधिकार में अनगार का स्वरूप तथा लिंग,व्रत, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान, शरीरसंस्कारत्याग, वाक्य, तप और ध्यान इन दस शुद्धियों को अनगार के सूत्र बताये हैं। अनगार तथा उनके सत्त्वगुणों, अनगार के पर्यायवाची नामों का उल्लेख किया गया है। वाक्यशुद्धि के प्रसंग में स्त्री, अर्थ, भक्त, खेट, कर्वट, राज, चोर, जनपद, नगर और आकर इन कथाओं का स्वरूप तथा रूपक द्वारा प्राणि-संयम और इन्द्रियसंयम रूपी आरक्षकों द्वारा तपरूपी नगर तथा ध्यानरूपी रथ के रक्षण की बात कही गयी है। यथार्थ अनगारों का विवेचन तथा अभ्रावकाश आदि योगों का स्वरूप कथन भी किया गया है।

10 समयसाराधिकार— इस अधिकार में एक सौ चौबीस गाथाएँ हैं। इसमें वैराग्य की समयसारता, चारित्राचरण आदि का कथन करते हुए श्रमण को लौकिक व्यवहार से दूर रहने को कहा है। चारित्रसंयम और तप से रहित ज्ञानादि की निरर्थकता और प्रतिलेखन तथा इसके साधनभूत पिच्छिका की विशेषताएँ आदि इस अधिकार में प्रारम्भिक प्रतिपाद्य विषय हैं। आर्यिकाओं के आवास पर श्रमणों के गमन तथा स्वाध्याय आदि कार्य करने का निषेध किया गया है। पंचेन्द्रिय विषयों एवं काष्ठादि में चित्रित स्त्रियों तक से दूर रहने के कथन प्रसंग में ही अब्रह्म के दस कारण तथा पंचसूना आदि विविध विषयों का अच्छा विवेचन है। इसी अधिकार में आचेलक्य, औद्देशिक शय्यागृहत्याग, राजपिण्डत्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मासस्थितिकल्प एवं पर्यास्थितिकल्प— इन दस स्थितिकल्पों का नामोल्लेख है। अधिकार के अन्त में शास्त्र के सार का प्रतिपादन करते हुए चारित्र को सर्वश्रेष्ठ कहा है।

11. शीलगुणाधिकार— इसमें मात्र छब्बीस गाथायें हैं। इस अधिकार में तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पांच इन्द्रिय, दस काम, दस श्रमणधर्म इन्हीं सबका परस्पर गुणा करने पर शील के अठारह हजार भेदों का कथन किया गया है। इसी अधिकार में गुणों अर्थात् उत्तर गुणों के भेद-प्रभेदों की चौरासी लाख संख्या का कथन किया है।

12.पर्याप्त्यधिकार— इसमें पर्याप्ति, देह, संस्थान, कायइन्द्रिय, योनि, आयु, प्रमाण, योग, वेद, लेश्या, प्रविचार, उपपाद, उद्वर्तन, स्थान, कुल, अल्पबहुत्व और प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेशबंध इत्यादि विषयक सूत्रपदों द्वारा इन विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसी अधिकार में विवेचित गति-आगति का कथन 'सारसमय' नामक ग्रन्थ में स्वयं के द्वारा कहने का उल्लेख किया है। पर यह ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है। वृत्तिकार ने इसकी पहचान व्याख्याप्रज्ञप्ति से की है। जिस विषय के कथन का उल्लेख मूलाचार में है वह विषय श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध व्याख्याप्रज्ञप्ति में नहीं है। इससे लगता है कि उस समय दिगम्बर परम्परा में वट्टेकर का 'सारसमय' ग्रन्थ अवश्य उपलब्ध रहा होगा। इसके प्रमाण रूप धवला टीका में भी इसका उल्लेख मिलता है। षट्खण्डागम के जीवट्ठाण नामक प्रथम खण्ड की गतिआगति नाम की नवमी चूलिका व्याख्याप्रज्ञप्ति से निकली है। इन सब उल्लेखों के अतिरिक्त गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणा, स्वर्ग, नरक, मनुष्य, तिर्यंच गतियों तथा इनके जीवों आदि का विस्तृत विवेचन इस अधिकार में किया गया है। ग्रंथकार ने इस अधिकार का नाम 'पर्याप्ति संग्रहिणी' कहा है।

मूलाचार पर उपलब्ध व्याख्या साहित्य

मूलाचार श्रमणाचार विषयक एक प्राचीन एवं प्रामाणिक श्रेष्ठ ग्रन्थ है। दिगम्बर परम्परा के तद्विषयक प्रायः सभी परवर्ती ग्रन्थ इससे प्रभावित अथवा इसके आधार पर लिखे गये दृष्टिगोचर होते हैं। मूलाचार पर अनेक टीकाएँ तो लिखी ही गई, साथ ही इसको मूल आधार बनाकर जिन ग्रन्थों की स्वतंत्र रचना हुई उनमें अनगार धर्मामृत, आचारसार, चारित्रसार, मूलाचार प्रदीप आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं, जिन पर मूलाचार का स्पष्ट प्रभाव है।

आचार्य वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती की मूलाचार पर 'आचारवृत्ति' नामक सर्वार्थसिद्धि टीका संस्कृत भाषा में लिखी गई उपलब्ध है। आचार्य वसुनन्दि का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्राकृत ग्रन्थ वसुनन्दि श्रावकाचार सुप्रसिद्ध ही है। वस्तुतः मूलाचार विषय को हृदयंगम करने वालों में इनका अग्रणी स्थान है। इनकी आचारवृत्ति इतनी प्रसिद्ध और सरल है कि सामान्य जन भी इसका सुगमता से अध्ययन कर लेते हैं। गूढ़ विषय को स्पष्ट कर चलना और अपनी सहज एवं सरल भाषा में ग्रन्थकार के भावों को प्रकट कर देना यह वसुनन्दि की मुख्य विशेषता है।

मूलाचार के एक और व्याख्याता सकलकीर्ति हैं। इन्होंने इसके आधार पर 'मूलाचार—प्रदीप' नामक संस्कृत भाषा में विस्तृत ग्रंथ लिखा।[१] इनका समय विक्रम को १५वीं शती माना जाता है।

आचार्य सकलकीर्ति ने भी मूलाचारप्रदीप में प्रायः उन सभी विषयों

का विस्तृत वर्णन किया है, जिनका प्रतिपादन आचार्य वट्टकेर ने अपने मूलाचार में किया। मूलाचार के तीसरे व्याख्याकार आचार्य मेघचन्द्र हैं। इन्होंने इस पर कर्नाटक 'मूलाचारसद्वृत्ति' की रचना की। चतुर्थ कर्नाटक टीका 'मुनिजन चिन्तामणि' नाम से मिलती है, इसमें मूलाचार को कुन्दकुन्दाचार्य की रचना बताया है। एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की 'लिस्ट ऑफ जैना एम.एस.एस.' (ग्रन्थ क्रमांक १५२१) को देखने से ज्ञात होता है कि मेधावी कवि द्वारा रचित भी एक अन्य 'मूलाचार टीका' है। वैसे १६वीं शती के मेधावी कवि द्वारा लिखित धर्मसंग्रहश्रावकाचार प्रसिद्ध ही है। इन्हीं कवि का उक्त टीकाग्रन्थ भी संभव है।

उपर्युक्त टीकाओं के अतिरिक्त वीरनन्दि ने मूलाचार के आधार पर 'आचारसार' ग्रन्थ की रचना की है। पं. आशाधर ने 'अनगारधर्मामृत' नामक ग्रन्थ की रचना में इसी का आधार लिया है। पं. नन्दलाल छाबड़ा एवं पं. ऋषभदास निगोत्या विरचित भाषावचनिका भी मूलाचार की व्याख्या में महत्त्वपूर्ण योगदान रखती है।

—अध्यक्ष, जैनदर्शनविभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

भगवती आराधना

पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

अपराजितसूरि की रचना 'भगवती आराधना' दिगम्बर सम्प्रदाय का मान्य ग्रन्थ है। डॉ. सागरमल जी जैन ने इसे 'जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय' पुस्तक में जैनों के लुप्त सम्प्रदाय 'यापनीय' का ग्रन्थ सिद्ध किया है। इस ग्रन्थ का मूलत: नाम 'आराधना' है, भगवती तो विशेषण है, किन्तु 'आराधना' नाम से अनेक कृतियों से इसका वैशिष्ट्य बताने के लिए 'भगवती' विशेषण ग्रन्थ के नाम का ही भाग बन गया। इस ग्रन्थ में पण्डितमरण की प्राप्ति हेतु की जाने वाली आराधना का सुन्दर निरूपण हुआ है। इसका परिचय जैन संस्कृति-संरक्षक संघ, शोलापुर से १९७८ में प्रकाशित 'भगवती आराधना' की प्रस्तावना से चयन कर संगृहीत किया गया है। —सम्पादक

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम आराधना है और उसके प्रति परम आदरभाव व्यक्त करने के लिए उसी तरह भगवती विशेषण लगाया गया है जैसे तीर्थंकरों और महान् आचार्यों के नामों के साथ भगवान विशेषण लगाया जाता है। ग्रन्थ के अंत में ग्रन्थकार ने 'आराहणा भगवदी' (गाथा २१६२) लिखकर आराधना के प्रति अपना महत् पूज्यभाव व्यक्त करते हुए उसका नाम भी दिया है। फलत: यह ग्रन्थ भगवती आराधना के नाम से ही सर्वत्र प्रसिद्ध है। किन्तु यथार्थ में इसका नाम आराधना मात्र है। इसके टीकाकार श्री अपराजित सूरि ने अपनी टीका के अन्त में इसका नाम आराधना टीका ही दिया है।

जैसा कि इस ग्रन्थ के नाम से प्रकट है, इस ग्रन्थ में आराधना का वर्णन है। ग्रन्थ की प्रथम गाथा में ग्रन्थकार ने चार प्रकार की आराधना के फल को प्राप्त सिद्धों और अर्हन्तों को नमस्कार करके आराधना का कथन करने की प्रतिज्ञा की है और दूसरी गाथा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तप के उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन और निस्तरण को आराधना कहा है। टीकाकार ने अपनी टीका में इनको स्पष्ट किया है।

तीसरी गाथा में संक्षेप से आराधना के दो भेद कहे हैं— प्रथम सम्यक्त्वाराधना और दूसरी चारित्राराधना। चतुर्थ गाथा में कहा है कि दर्शन की आराधना करने पर ज्ञान की आराधना नियम से होती है। किन्तु ज्ञान की आराधना करने पर दर्शन की आराधना भजनीय है, वह होती भी है और नहीं भी होती, क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्ज्ञान नियम से होता है, परन्तु ज्ञान के होने पर सम्यग्दर्शन के होने का नियम नहीं है।

गाथा ६ में कहा है कि संयम की आराधना करने पर तप की आराधना नियम से होती है, किन्तु तप की आराधना में चारित्र की आराधना भजनीय है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि भी यदि अविरत है तो उसका तप हाथी के स्नान की तरह व्यर्थ है। अत: सम्यक्त्व के साथ संयमपूर्वक ही तपश्चरण

करना कार्यकारी होता है, इसलिये चारित्र की आराधना में सबकी आराधना होती है अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही सम्यक् चारित्र होता है। इसलिये सम्यक् चारित्र की आराधना में सबकी आराधना गर्भित है। इसी से आगम में आराधना को चारित्र का फल कहा है और आराधना परमागम का सार है।।१४।। क्योंकि बहुत समय तक भी ज्ञान दर्शन और चारित्र का निरतिचार पालन करके भी यदि मरते समय उनकी विराधना कर दी जाये तो उसका फल अनंत संसार है।।१६।। इसके विपरीत अनादि मिथ्यादृष्टि भी चारित्र की आराधना करके क्षणमात्र में मुक्त हो जाते हैं। अत: आराधना ही सारभूत है।।१७।।

इस पर से यह प्रश्न किया गया कि यदि मरते समय की आराधना को प्रवचन में सारभूत कहा है तो मरने से पूर्व जीवन में चारित्र की आराधना क्यों करनी चाहिए।।१८।। उत्तर में कहा है कि आराधना के लिए पूर्व में अभ्यास करना योग्य है। जो उसका पूर्वाभ्यासी होता है उसकी आराधना सुखपूर्वक होती है।।१९।। यदि कोई पूर्व में अभ्यास न करके भी मरते समय आराधक होता है तो उसे सर्वत्र प्रमाणरूप नहीं माना जा सकता।।२४।।

इस कथन से हमारे इस कथन का समाधान हो जाता है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप का वर्णन जिनागम में अन्यत्र भी है, किन्तु वहाँ उन्हें आराधना शब्द से नहीं कहा है। इस ग्रन्थ में मुख्यरूप से मरणसमाधि का कथन है। मरते समय की आराधना ही यथार्थ आराधना है। उसी के लिए जीवनभर की आराधना की जाती है। उस समय विराधना करने पर जीवन भर की आराधना निष्फल हो जाती है और उस समय की आराधना से जीवनभर की आराधना सफल हो जाती है। अत: जो मरते समय आराधक होता है यथार्थ में उसी के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक्तप की साधना को आराधना शब्द से कहा जाता है।

इस प्रकार चौबीस गाथाओं के द्वारा आराधना के भेदों का कथन करने के पश्चात् इस विशालकाय ग्रन्थ का मुख्य वर्ण्य विषय मरणसमाधि प्रारम्भ होता है। इसको प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि यद्यपि जिनागम में सतरह प्रकार के मरण कहे हैं किन्तु हम यहाँ संक्षेप से पाँच प्रकार के मरणों का कथन करेंगे।।२५।। वे हैं—पण्डित-पण्डितमरण, पण्डितमरण, बालपण्डितमरण, बालमरण और बाल बालमरण।।२६।। क्षीणकषाय और केवली का मरण पण्डित—पण्डितमरण है और विरताविरत श्रावक का मरण बालपण्डितमरण है।।२७।। अविरत सम्यग्दृष्टि का मरण बालमरण है और मिथ्यादृष्टि का मरण बाल—बालमरण है।।२९।।

पण्डितमरण के तीन भेद हैं— भक्तप्रतिज्ञा, प्रायोपगमन और इंगिनीमरण। यह मरण शास्त्रानुसार आचरण करने वाले साधु के होता

है।।२९।।

इसके अनन्तर ग्रन्थकार ने सम्यक्त्व की आराधना का कथन किया है।

सम्यक्त्वाराधना-गाथा ४३ में सम्यक्त्व के पाँच अतिचार कहे है– शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और अनायतन सेवाँ तत्त्वार्थसूत्र में अनायतन सेवा के स्थान में 'संस्तव' नामक अतिचार कहा है।

टीकाकार अपराजितसूरि ने अपनी टीका में अतिचारों को स्पष्ट करते हुए शंका अतिचार और संशयमिथ्यात्व के भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि शंका तो अज्ञान के कारण होती है उसके मूल में अश्रद्धान नहीं है। किन्तु संशयमिथ्यात्व के मूल में तो अश्रद्धान है। इसी प्रकार मिथ्यात्व सेवन अतिचार नहीं है, अनाचार है, मिथ्यादृष्टियों की सेवा अतिचार है। द्रव्यलोभादि की अपेक्षा करके मिथ्याचारित्र वालों की सेवा भी अतिचार है।

गाथा ४४ में उपगूहन, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना को सम्यग्दर्शन का गुण कहा है।

गाथा ४५–४६ में दर्शनविनय का वर्णन करते हुए अरहन्त, सिद्ध, जिनबिम्ब, श्रुत, धर्म, साधुवर्ग, आचार्य, उपाध्याय, प्रवचन और दर्शन में भक्ति, पूजा,वर्णजनन तथा अवर्णवाद का विनाश और आसादना को दूर करना, इन्हें दर्शन विनय कहा है। टीकाकार ने इन सबको स्पष्ट किया है। इनमें 'वर्णजनन' शब्द का प्रयोग दिगम्बर साहित्य में नहीं पाया जाता। वर्णजनन का अर्थ है महत्ता प्रदर्शित करना। टीकाकार ने इसका कथन विस्तार से किया है।

गाथा ५५ में मिथ्यात्व के तीन भेद कहे हैं, संशय, अभिगृहीत, अनभिगृहीत।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन आराधना का कथन करने के पश्चात् गाथा ६३ में कहा है कि प्रशस्तमरण के तीन भेदों में से प्रथम भक्तप्रतिज्ञा का कथन करेंगे क्योंकि इस काल में उसी का प्रचलन है। इसी का कथन इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से है, शेष दो का कथन तो ग्रन्थ के अन्त में संक्षेप से किया है।

भक्तप्रत्याख्यान– गाथा ६४ में भक्तप्रत्याख्यान के दो भेद किये हैं– सविचार और अविचार। यदि मरण सहसा उपस्थित हो तो अविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है अन्यथा सविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है। सविचार भक्तप्रत्याख्यान के कथन के लिए चार गाथाओं से ४० पद कहे हैं और उनका क्रम से कथन किया है।

उन ४० पदों में से सबसे प्रथम पद 'अर्ह' का कथन करते हुए कहा है–

जिसको कोई असाध्य रोग हो, मुनिधर्म को हानि पहुँचाने वाली वृद्धावस्था हो, या देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यचकृत उपसर्ग हो, अथवा चारित्र का विनाश करने वाले शत्रु या मित्र हों, दुर्भिक्ष हो, या भयानक वन में भटक गया हो, या आँख से कम दिखाई देता हो, कान से कम सुनाई देता हो, पैरों में चलने–फिरने की शक्ति न रही हो, इस प्रकार के अपरिहार्य कारण उपस्थित होने पर विरत अथवा अविरत भक्तप्रत्याख्यान के योग्य होता है।।७०—७३।।

जिसका मुनिधर्म चिरकाल तक निर्दोश रूप से पालित हो सकता है, अथवा समाधिमरण करने वाले निर्यापक सुलभ हैं या दुर्भिक्ष का भय नहीं है, वह सामने भय के न रहने पर भक्त प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है। यदि ऐसी अवस्था में भी कोई मरना चाहता है तो वह मुनिधर्म से विरक्त हो गया है, ऐसा मानना चाहिए।।७४—७५।। इसके अनन्तर अचेलता, केशलोच, निर्ममत्व आदि औत्सर्गिक लिंग का कथन एवं उसके लाभ बताये हैं।

विजयोदया में इन सबका वर्णन किया है जो अन्यत्र नहीं मिलता। इस प्रकार विचार कर यदि उसकी आयु अल्प रहती है तो वह अपनी शक्ति को न छिपा कर भक्त प्रत्याख्यान का निश्चय करता है।।१५८।। तथा संयम के साधनमात्र परिग्रह रखकर शेष का त्याग कर देता है।।१६४।। तथा पाँच प्रकार की संक्लेश भावना नहीं करता। इन पाँचों भावनाओं का स्वरूप ग्रंथकार ने स्वयं कहा है।।१८२—१८६।।

आगे सल्लेखना के दो भेद कहे हैं बाह्य और आभ्यन्तर। शरीर को कृश करना बाह्य सल्लेखना है और कषायों का कृश करना आभ्यन्तर सल्लेखना है। बाह्य सल्लेखना के लिए छह प्रकार के बाह्य तप का कथन किया है।

विविक्तशय्यासन तप का कथन करते हुए गाथा २३२ में उद्गम, उत्पादन आदि दोषों से रहित वसतिका में निवास कहा है। टीकाकार ने अपनी टीका में इन दोषों का कथन किया है। ये सर्वदोष मूलाचार में भी कहे हैं। आगे वाह्य तप के लाभ बतलाये हैं।

गाथा २५१ में विविध भिक्षु प्रतिमाओं का निर्देश है। टीकाकार अपराजितसूरि ने तो उनका कथन नहीं किया, किन्तु आशाधर जी ने किया है। उनकी संख्या बारह कही है। मूलाचार में इनका कथन नहीं है।

इस भक्त प्रत्याख्यान का उत्कृष्ट काल बारह वर्ष का है। चार वर्ष तप अनेक प्रकार के कायक्लेश करता है। फिर दूध आदि रसों को त्यागकर चार वर्ष बिताता है। फिर आचाम्ल और निर्विकृति का सेवन करते हुए दो वर्ष बिताता है, एक वर्ष केवल आचाम्ल सेवन करके बिताता है। शेष रहे एक वर्ष में से छह मास मध्यम तपपूर्वक और शेष छह मास उत्कृष्ट तपपूर्वक बिताता है। (२५४—२५६)

इस प्रकार शरीर की सल्लेखना करते हुए वह परिणामों की विशुद्धि की ओर सावधान रहता है। एक क्षण के लिए भी उस ओर से उदासीन नहीं होता।

इस प्रकार से सल्लेखना करने वाले या तो आचार्य होते हैं या सामान्य साधु होते हैं। यदि आचार्य होते हैं तो वे शुभमुहूर्त में सब संघ को बुलाकर योग्य शिष्य पर उसका भार सौंपकर सबसे क्षमायाचना करते हैं और नये आचार्य को शिक्षा देते हैं। उसके पश्चात् संघ को शिक्षा देते हैं। यथा—

हे साधुओं! आपको विष और आग के तुल्य आर्याओं का संसर्ग छोड़ना चाहिये । आर्या के साथ रहनेवाला साधु शीघ्र ही अपयश का भागी होता है।।३३२।। महान् संयमी भी दुर्जनों के द्वारा किये गये दोष से अनर्थ का भागी होता है अत: दुर्जनों की संगति से बचो।।३५०।।

सज्जनों की संगति से दुर्जन भी अपना दोष छोड़ देते हैं, जैसे— सुमेरु पर्वत का आश्रय लेने पर कौवा अपनी असुन्दर छवि को छोड़ देता है।।३५२।।

जैसे गन्धरहित फूल भी देवता के संसर्ग से उसके आशीर्वादरूप सिर पर धारण किया जाता है उसी प्रकार सुजनों के मध्य में रहने वाला दुर्जन भी पूजित होता है।।३५३।।

गुरु के द्वारा हृदय को अप्रिय लगने वाले वचन भी कहे जाने पर पथ्यरूप से ही ग्रहण करना चाहिए। जैसे बच्चे को जबरदस्ती मुँह खोल पिलाया गया घी हितकारी होता है।।३६०।।

अपनी प्रशंसा स्वयं नहीं करनी चाहिए। जो अपनी प्रशंसा करता है वह सज्जनों के मध्य में तृण की तरह लघु होता है।।३६१।।

इस प्रकार आचार्य संघ को उपदेश देकर अपनी आराधना के लिए अपना संघ त्यागकर अन्य संघ में जाते हैं। ऐसा करने में ग्रन्थकार ने जो उपपत्तियाँ दी हैं वे बहुमूल्य हैं।।३८५।।

समाधि का इच्छुक साधु निर्यापक की खोज में पाँच सौ सात सौ योजन तक भी जाता है ऐसा करने में उसे बारह वर्ष तक लग सकते हैं।।४०३—४०४।। इस काल में यदि उसका मरण भी हो जाता है तो वह आराधक ही माना गया है।।४०६।। योग्य निर्यापक को खोजते हुए जब वह किसी संघ में जाता है तब उसकी परीक्षा की जाती है।

जिस प्रकार का आचार्य निर्यापक होता है उसके गुणों का वर्णन विस्तार से किया है। उसका प्रथम गुण है आचारवत्त्व।

जो दस प्रकार के स्थितिकल्प में स्थित होता है वह आचारवान होता है।

गाथा ४२३ में इनका कथन है— ये दस कल्प हैं— आचेलक्य, उद्दिष्टत्याग, शय्यागृह का त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मास

और पर्युषण।

श्वेताम्बर आगमों में भी इन दस कल्पों का विस्तार से वर्णन मिलता है। विजयोदया टीकाकार ने अपनी टीका में इनका वर्णन बहुत विस्तार से किया है।

निर्यापक आचार्य के गुणों में एक गुण अवपीडक है। समाधि लेने से पूर्व दोषों की विशुद्धि के लिये आचार्य उस क्षपक से उसके पूर्वकृतदोष बाहर निकालते हैं। यदि वह अपने दोषों को छिपाता है तो जैसे सिंह सियार के पेट में गये मांस को भी उगलवाता है वैसे ही अवपीडक आचार्य उस क्षपक के अन्तर में छिपे मायाशल्य दोषों को बाहर निकालता है।।४७९।।

आचार्य के सन्मुख अपने दोषों की आलोचना करने का बहुत महत्त्व है उसके बिना समाधि सम्भव नहीं होती। अत: समाधि का इच्छुक क्षपक दक्षिण पार्श्व में पीछी के साथ हाथों की अंजलि मस्तक से लगाकर मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक गुरु की वन्दना करके सब दोषों को त्याग आलोचना करता है। अत: गाथा ५६४ में आलोचना के दस द़ोष कहे हैं। यह गाथा सर्वार्थसिद्धि (९—२२) में भी आई है। आगे ग्रन्थकार ने प्रत्येक दोष का कथन किया है।

आचार्य परीक्षा के लिए क्षपक से तीन बार उसके दोषों को स्वीकार कराते हैं। यदि वह तीनों बार एक ही बात कहता है तो उसे सरलहृदय मानते हैं। किन्तु यदि वह उलटफेर करता है तो उसे मायावी मानते हैं और उसकी शुद्धि नहीं करते।

इस प्रकार श्रुत का पारगामी और प्रायश्चित्त के क्रम का ज्ञाता आचार्य क्षपक की विशुद्धि करता है। ऐसे आचार्य के न होने पर प्रवर्तक अथवा स्थविर निर्यापक का कार्य करते हैं। जो अल्पशास्त्रज्ञ होते हुए भी संघ की मर्यादा को जानता है, उसे प्रवर्तक कहते हैं। जिसे दीक्षा लिए बहुत समय बीत गया है तथा जो मार्ग को जानता है उसे स्थविर कहते हैं।

उदाहरणों के द्वारा निर्यापक आचार्य क्षपक को कष्ट—विपत्ति के समय दृढ़ करते हैं।

मरणोत्तर विधि– गा. १९६८ में मरणोत्तर विधि का वर्णन है। जो आज के युग के लोगों को विचित्र लग सकती है। यथा—

१. जिस समय साधु मरे उसे तत्काल वहाँ से हटा देना चाहिए। यदि असमय में मरा हो तो जागरण, बन्धन या छेदन करना चाहिये।।१९६८।।

२. यदि ऐसा न किया जाये तो कोई विनोदी देवता मृतक को उठाकर दौड़ सकता है, क्रीड़ा कर सकता है, बाधा पहुँचा सकता है।।१९७१।।

३. अनिष्टकाल में मरण होने पर शेष साधुओं में से एक दो का मरण हो सकता है इसलिये संघ की रक्षा के लिये तृणों का पुतला बनाकर मृतक के साथ रख देना चाहिये।

४. शव को किसी स्थान पर रख देते हैं। जितने दिनों तक वह शव गीदड़ आदि से सुरक्षित रहता है उतने वर्षों तक उस राज्य में सुभिक्ष रहता है। इस प्रकार सविचार भक्तप्रत्याख्यान का कथन करके अन्त में निर्यापकों की प्रशंसा की है।

अविचार भक्तप्रत्याख्यान– जब विचारपूर्वक भक्तप्रत्याख्यान का समय नहीं रहता और सहसा मरण उपस्थित हो जाता है तब मुनि अविचार भक्त प्रत्याख्यान स्वीकार करता है।।२००५।। उसके तीन भेद हैं– निरुद्ध, निरुद्धतर, और परम निरुद्ध। जो रोग से ग्रस्त है, पैरों में शक्ति न होने से दूसरे संघ में जाने में असमर्थ है उसके निरुद्ध नामक अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। इसी प्रकार शेष का भी स्वरूप और विधि कही है।

इस प्रकार सहसा मरण उपस्थित होने पर कोई—कोई मुनि कर्मों का नाशकर मुक्त होते हैं। आराधना में काल का बहुत होना प्रमाण नहीं है, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि भी वर्द्धन राजा भगवान ऋषभदेव के पादमूल में बोध को प्राप्त होकर मुक्ति गया।।२०२१।।

आगे इंगिणीमरण का कथन है–

इंगिणीमरण– इंगिणीमरण का इच्छुक साधु संघ से अलग होकर गुफा आदि में एकाकी आश्रय लेता है, उसका कोई सहायक नहीं होता। स्वयं अपना संस्तरा बनाता है। स्वयं अपनी परिचर्या करता है। उपसर्ग को सहन करता है क्योंकि उसके तीन शुभ संहननों में से कोई एक संहनन होता है। निरन्तर अनुप्रेक्षारूप स्वाध्याय में लीन रहता है। यदि पैर में कांटा या आँख में धूल चली जाये तो स्वयं दूर नहीं करता। भूख प्यास का भी प्रतीकार नहीं करता।

प्रायोपगमन– प्रायोपगमन की भी विधि इंगिणी के समान है। किन्तु प्रायोपगमन में तृणों के संस्तरे का निषेध है। उसमें स्वयं तथा दूसरे से भी प्रतीकार निषिद्ध है। जो अस्थिचर्ममात्र शेष रहता है वही प्रायोपगमन करता है। यदि कोई उन्हें पृथ्वी जल आदि में फेंक देता है तो वैसे ही पड़े रहते हैं।

बालपण्डितमरण– भेदसहित पण्डित मरण का कथन करने के पश्चात् बाल पण्डितमरण का कथन है। एक देश संयम का पालन करने वाले सम्यग्दृष्टि श्रावक के मरण को बाल पण्डितमरण कहते हैं। उसके पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत ये बारह व्रत होते हैं। दिग्विरति,देशविरति, और अनर्थदण्डविरति ये तीन गुणव्रत हैं।।२०७५।। और भोगपरिमाण, सामायिक, अतिथि-संविभाग और प्रोषधोपवास ये चार शिक्षाव्रत है। तत्त्वार्थसूत्र में भी ये ही व्रत कहे हैं। किन्तु रत्नकरण्ड श्रावकाचार से इसमें अन्तर है।

श्रावक विधिपूर्वक आलोचना करके तीन शल्यों का त्याग अपने घर में ही संस्तर पर आरूढ़ होकर मरण करता है। यह बालपण्डितमरण है।

अन्त में पण्डित पण्डित मरण का कथन है। जो मुनि क्षपक श्रेणी पर

आरोहण करके केवलज्ञानी होकर मोक्ष लाभ करता है उसका पण्डित पण्डित मरण है। उसकी सब विधि कही है कि किस गुणस्थान में किन प्रकृतियों का क्षय करता है। केवलज्ञानी होने पर क्या-क्या करता है, आदि।

अन्त में कहा है कि समस्त आराधना का कथन श्रुतकेवली भी करने में असमर्थ हैं।

उक्त विषयपरिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ का नाम आराधना क्यों रखा गया और क्यों उसके साथ भगवती जैसा आदरसूचक विशेषण लगाया गया।

आचार्य कुन्दकुन्द और उनकी कृतियाँ

डॉ. प्रभावती चौधरी

कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियाँ दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में आगमतुल्य स्थान रखती हैं। षट्खण्डागम एवं कसायपाहुड के अध्येता कम हैं, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं का स्वाध्याय करने वाले बहुत मिलेंगे। दिगम्बरों के सभी उपसम्प्रदायों एवं श्वेताम्बरों में श्रीमद्राजचन्द्र के अनुयायी आचार्य कुन्दकुन्द की कृतियों को ही आगम मानकर स्वाध्याय करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द की कृतियाँ अध्यात्म-प्रधान हैं तथा व्यवहार की अपेक्षा निश्चय नय को अधिक महत्त्व देती हैं। इनमें षड् द्रव्यों एवं नव तत्त्वों का अध्यात्मपरक वर्णन उपलब्ध है। जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग की सहायक आचार्य डॉ० (श्रीमती) प्रभावती चौधरी ने प्रस्तुत आलेख में कुन्दकुन्दाचार्य एवं उनकी कृतियों का परिचय देते हुए वैशिष्ट्य से भी अवगत कराया है। **—सम्पादक**

दिगम्बर जैनाचार्यों में कुन्दकुन्द का नाम सर्वोपरि है। मूर्तिलेखों, शिलालेखों, ग्रन्थप्रशस्तिलेखों एवं पूर्वाचार्यों के संस्मरणों में कुन्दकुन्द का नाम बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है।

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।[1]

प्रस्तुत मंगल पद्य में भगवान महावीर एवं गौतम गणी के पश्चात् दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द को ही मंगल माना है। इनकी प्रशस्ति में कविवर वृन्दावन ने अपने सवैया में कहा है कि कुन्दकुन्द जैसे आचार्य न हुए हैं न होंगे—

विशुद्धि बुद्धि वृद्धिदा प्रसिद्ध ऋद्धि सिद्धिदा।
हुए, न हैं न होंहिगें, मुनिंद कुन्दकुन्द से।।

कुन्दकुन्दाचार्य के विषय में यह मान्यता प्रचलित है कि वे विदेह क्षेत्र गए थे एवं सीमंधर स्वामी की दिव्यध्वनि से उन्होंने आत्मतत्त्व का स्वरूप प्राप्त किया था।

कुन्दकुन्द का परिचय— आचार्य कुन्दकुन्द के अपरनामों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। पंचास्तिकाय के टीकाकार जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द के पद्मनन्दी आदि नामों का उल्लेख किया है। षट् प्राभृत के टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य, गृध्रपिच्छाचार्य— इन पाँच नामों का उल्लेख किया है। नन्दिसंघ से सम्बद्ध विजयनगर के शिलालेख में (१३८६ ई. के लगभग) भी उक्त पाँच नामों का उल्लेख किया है। किन्तु अन्य शिलालेखों में पद्मनन्दी या कोण्डकुन्द इन दो नामों का उल्लेख मिलता है। चन्द्रगिरि पर्वत का शिलालेख द्रष्टव्य है—

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः,

---

1. श्वेताम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द के स्थान पर स्थूलिभद्र का नाम लिया जाता है—
मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं स्थूलिभद्राद्यो, जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्।।

का ऐसा युक्तियुक्त वर्णन अन्य शास्त्रों में दुर्लभ है।

इस प्रकार तीन श्रुतस्कन्धों में विभाजित आत्म द्रव्य, अन्य द्रव्यों से उसका भेद एवं चरणानुयोग का यथार्थ स्वरूप समझने में निमित्तभूत ग्रन्थ प्रवचनसार है। जिनसिद्धान्त बीज रूप में इस ग्रन्थ में विद्यमान है।

समयसार– **वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोपवं गई पत्ते।**
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं।।

समयसार की इस प्रथम गाथा में कुन्दकुन्दाचार्य की प्रतिज्ञा से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का नाम 'समयपाहुड' रखना उन्हें अभिप्रेत था। किन्तु प्रवचनसार एवं नियमसार के साथ समयसार नाम प्रचलित हो गया। समय की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है– 'समयते एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति च' अर्थात् जो पदार्थों को एक साथ जाने अथवा गुण पर्याय रूप परिणमन करे वह समय है। इस निर्वचन के अनुसार जीव समय है और प्राभृत 'प्रकर्षेण आसमन्तात् भृतम् इति' निरुक्ति के अनुसार समस्त युक्तियों से समन्वित उत्कृष्टता से परिपूर्ण होता है। इसे शास्त्र भी कह सकते हैं। इस शास्त्र में जीव या आत्मा का निरूपण है।

ग्रन्थ में दस अधिकार हैं। प्रथम पूर्वरंगाधिकार है। ३८ गाथाओं में से १२ गाथाएँ पूर्वपीठिका के रूप में हैं, जिनमें ग्रन्थकार ने मंगलाचरण, ग्रन्थ-प्रतिज्ञा, स्वसमय-परसमय का निरूपण किया है, शुद्ध एवं अशुद्ध नय का स्वरूप भी इस अधिकार में प्राप्त है।

दूसरा अधिकार जीवाजीवाधिकार है। जीव का अजीव से अनादिकाल से संबंध चला आ रहा है। इसी कारण वह नोकर्म रूप परिणति को आत्म-परिणति मानकर अहं का कर्ता होता है। इस अधिकार में शुद्ध-अशुद्ध, निश्चय एवं व्यवहार नय का भी सम्यक् निरूपण है।

तृतीय कर्तृकर्माधिकार है। इसमें जीव-अजीव के अनादिकाल से चले आ रहे संबंध एवं कारण का विस्तार से निरूपण है। जीव स्वयं को पर का कर्ता मानकर कर्तृत्व के अहंकार से युक्त होता है तथा पर की इष्ट-अनिष्ट परिणति में हर्ष व विषाद का अनुभव करता है।

चतुर्थ पुण्यपापाधिकार है। इस अधिकार में आचार्य ने मोक्ष के अभिलाषी जीव को पुण्य-प्रलोभन के प्रति सचेत किया है। अशुभ के समान शुभ भी जीव को संसारचक्र में फंसाने वाला है। अत: मुमुक्षु के द्वारा अशुभोपयोग के समान शुभोपयोग भी त्याज्य है।

पंचम आस्रवाधिकार है। इसमें जीव की संसारी अवस्था की हेयता एवं मुक्तावस्था की उपादेयता का निरूपण है।

षष्ठ संवराधिकार है। आस्रव का रुक जाना संवर है। उमास्वाति आदि आचार्यों ने गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय रूप चारित्र को

संवर कहा है, किन्तु कुन्दकुन्द ने भेद-विज्ञान को संवर माना है। उनके मत में आज तक जितने भी सिद्ध हुए हैं, इस भेदविज्ञान द्वारा हुए हैं।

सप्तम निर्जराधिकार है। संवर के पश्चात् निर्जरा होती है। सम्यग्दृष्टि ज्ञान तथा वैराग्य के कारण कर्मफलों को त्यागकर बन्धमुक्त हो जाता है। उसके पुन: कर्मों का बन्ध नहीं होता। इस अधिकार में सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का विशद वर्णन किया गया है।

अष्टम अधिकार में बन्ध का निरूपण है। बन्ध का प्रमुख कारण राग को माना गया है। सम्यग्दृष्टि जीव बंध के कारणों को जानकर उन्हें दूर कर देता है एवं निर्बन्धावस्था को प्राप्त हो जाता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि अज्ञान के कारण निर्बन्धावस्था को प्राप्त नहीं होता।

नवम मोक्षाधिकार है। आत्मा की सर्वकर्म से मुक्तावस्था को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष-प्राप्ति के लिए यथार्थ ज्ञान एवं श्रद्धान के साथ सम्यक् चारित्र पर अत्यधिक बल दिया है।

दशम सर्वविशुद्धिज्ञानाधिकार है आत्मा के अनन्तगुणों का ज्ञान ही आत्मा का प्रधान गुण है।

अन्त में अमृतचन्द्राचार्य ने आत्मख्याति टीका के अंगरूप में स्याद्वादाधिकार एवं उपायोपेयभावाधिकार लिखे हैं, जिनमें अनेकान्त का समर्थन करने के लिए अनेक नयों द्वारा आत्म-तत्त्व का निरूपण किया गया है।

पंचास्तिकायसंग्रह— यह ग्रन्थ जिन-सिद्धान्त एवं जिन अध्यात्म का प्रवेश द्वार है। आचार्य कुन्दकुन्द ने महाश्रमण तीर्थंकर देव की वाणी का सार—संक्षेप इस ग्रन्थ में गुम्फित किया है। पंचास्तिकाय का प्रतिपाद्य अमृतचन्द्राचार्य ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

पंचास्तिकायषड्द्रव्यप्रकारेण प्ररूपणम्।
पूर्वं मूलपदार्थानामिह सूत्रकृताकृतम्।।
जीवाजीवद्विपर्यायरूपाणां चित्रवर्त्मनाम्।
ततो नवपदार्थानां व्यवस्था प्रतिपादिता।।
ततस्तत्त्वपरिज्ञानपूर्वेण त्रितयात्मना।
प्रोक्ता मार्गेण कल्याणी मोक्षप्राप्तिरपश्चिमा।।

अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय को दो खण्डों में विभक्त किया है, किन्तु जयसेनाचार्य ने इसे तीन अधिकारों में विभक्त किया है। प्रथम अधिकार तो अमृतचन्दाचार्य के प्रथम श्रुतखण्ड के समान ही है। द्वितीय श्रुतखण्ड का द्वितीय एवं तृतीय अधिकार में विभाजन किया है।

प्रथम खण्ड में मूलपदार्थों का पंचास्तिकाय एवं षड्द्रव्य के रूप में निरूपण है। मंगलपाठ एवं ग्रन्थ प्रतिज्ञा के पश्चात् पाँच अस्तिकायों का वर्णन है। अस्तिकाय का तात्पर्य है— अस्तित्व एवं कायत्व। अस्तित्व को

सत्ता कहते हैं। यही द्रव्य का लक्षण है। यह प्रथम खण्ड ही प्रथम अधिकार भी है। दूसरे खण्ड में जीव अजीव के पर्याय रूप नव पदार्थों का निरूपण है। इसी खण्ड को जयसेनाचार्य ने द्वितीय एवं तृतीय अधिकारों में विभाजित किया है। द्वितीय अधिकार में जीव–अजीव एवं इनके संयोग से निष्पन्न होने वाले सात पदार्थों का निरूपण है। तृतीय अधिकार में स्वसमय, परसमय एवं मोक्षमार्ग का निरूपण है।

कुन्दकुन्द ने पर के प्रति राग का सर्वथा निषेध इस ग्रन्थ में किया है–

सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपउत्तस्स।।

पर के प्रति किंचित् मात्र भी अनुराग, यहां तक कि तीर्थंकर देव के प्रति किया गया भी अनुराग मोक्ष से दूर रखता है। अत:मोक्षमार्गी को राग से दूर रहना चाहिए।

तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणउ मा किंचि।
सो तेण वीदरागो भविओ भवसायरं तरदि।।

अर्थात् जिसका किंचित् मात्र भी राग नहीं है वह वीतराग भवसागर से तर जाता है।

पंचास्तिकाय को आधार मानकर अनेक ग्रन्थ लिखे गए। जिनमें द्रव्यसंग्रह प्रमुख है। प्रवचनसार, नियमसार, समयसार आदि ग्रन्थों को समझने के लिए पंचास्तिकाय का अध्ययन जरूरी है।

नियमसार– इस ग्रन्थ में नियम (मोक्षमार्ग) एवं नियम फल (मोक्ष) का निरूपण है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र ही नियम अथवा मोक्षमार्ग है। सम्यक् चारित्र व्यवहार एवं निश्चय से दो प्रकार का है। इनमें निश्चय चारित्र ही मोक्षमार्ग है। वस्तुत: उस परमागम की रचना कुन्दकुन्द ने स्वान्त: सुखाय की है, जैसा कि इस गाथा से स्पष्ट है–

णियमावणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं।।

नियमसार में सम्पूर्ण विषयवस्तु को १८७ गाथाओं में बारह भागों में विभाजित किया गया है– १. जीवाधिकार २. अजीवाधिकार ३. शुद्धभावाधिकार ४.व्यवहारचारित्राधिकार ५.परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार ६. निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार ७. परमालोचनाधिकार ८. शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार ९. परमसमाधिअधिकार १०.परमभक्ति अधिकार ११.निश्चय-परमावश्यकाधिकार १२.शुद्धोपयोगाधिकार।

प्रथम अधिकार में मंगलपाठ, ग्रन्थ प्रतिज्ञा, प्रतिपाद्य के पश्चात् 'नियमसार' नाम की सार्थकता का प्रतिपादन है, तदनन्तर मोक्षमार्ग या नियम की चर्चा है।

द्वितीयाधिकार में पाँच अजीव द्रव्यों का व तृतीयाधिकार में आत्मा के स्वपरभाव का विवेचन है। व्यवहारचारित्राधिकार में पाँच व्रतों, पाँच

समितियों एवं तीन गुप्तियों का निरूपण है। पंचमाधिकार में आत्मा के माध्यस्थभाव एवं प्रतिक्रमण की चर्चा है। वस्तुत: आत्माराधन ही परमार्थ प्रतिक्रमण है।

आगे के दोनों अधिकारों में ध्यान का निरूपण है। वस्तुत: ध्यान ही सर्व अतिचार का अतिक्रमण है। समस्त वचनों को छोड़कर तथा अनागत शुभाशुभ का निवारण करके जो आत्मा का ध्यान है वही प्रत्याख्यान है।

शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार एवं परम समाधि अधिकार में आत्मा—ध्यान एवं ध्याता—ध्येय की एकरूपता का विवेचन है।

परम भक्ति—अधिकार में आत्मा को आत्मा के साथ योग का निरूपण है। काम क्रोधादि से रहित सदा आत्मभाव में रहने वाला ही भक्त है।

निश्चयपरमावश्यकाधिकार एवं शुद्धोपयोगाधिकार में भी आत्मा के स्व परभव एवं निर्वाण का वर्णन है।

इस प्रकार सम्पूर्ण नियमसार में सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र रूप नियम तथा शुद्धभाव में स्थित आत्मा की आराधना का निरूपण है। शुद्धात्मा ही आराध्य है इसके श्रद्धान, ज्ञान एवं ध्यानरूप परिणितियाँ साधन हैं।

अष्टपाहुड— प्रवचनसार एवं नियमसार के समान अष्टपाहुड भी कुन्दकुन्द के प्रमुख ग्रन्थों में है। अष्ट पाहुड में आठ पाहुड हैं, जिनमें पाहुड के नाम के अनुरूप ही विषयों का निरूपण है, यथा—

1. दर्शनपाहुड— इसमें सम्यग्दर्शन का निरूपण है। दर्शन के भेद, सम्यक्त्व के गुण एवं इनका प्रशमादि चिह्नों में अन्तर्भाव किया गया है। सम्यग्दृष्टि का लक्षण देते हुए मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन का महत्त्व बतलाया गया है।

2. सूत्रपाहुड—इसमें श्रुतज्ञान के महत्त्व एवं सूत्रों की उपादेयता का निरूपण है। द्वादशांग एवं अंगबाह्य रूप श्रुत का वर्णन है। सूत्र के अर्थ को जानने वाला सम्यग्दृष्टि है एवं सूत्र के अर्थ व पद से भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि है।

3. चारित्र पाहुड— सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का निरूपण करते हुए चारित्र के सम्यक्त्व का वर्णन है। सम्यक् चारित्र के दो भेद हैं— सम्यक्त्व चरण एवं संयम चरण। इनके भेदोपभेदों का विस्तृत वर्णन इस पाहुड में किया गया है। अन्त में निश्चय चारित्र रूप ज्ञानधारकों की सिद्धि का वर्णन है।

4. बोधपाहुड—इसमें आयतन-त्रय का लक्षण, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, जिनबिम्ब, जिनदर्शन, जिनमुद्रा, आत्मज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हन्त, प्रव्रज्या आदि का ज्ञान दिया गया है।

5. भावपाहुड— चित्त शुद्धि के बिना तप भी सिद्धि में सहायक नहीं है। इस पाहुड में सांसारिक गतियों के दु:खों का वर्णन एवं विविध मुनियों की कथाओं द्वारा चित्त शुद्धि की महत्ता का निरूपण है। भावपाहुड को पढ़ने एवं सुनने मात्र से मोक्ष-प्राप्ति का कथन है।

१५. बाबू धनपतसिंह मुर्शीदाबाद (बनारस) : अधिकतर आगमों का टीका सहित प्रकाशन

१६. श्री अ.भा.सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, नेहरू गेट के बाहर, ब्यावर–३०५९०१ : हिन्दी अनुवाद-विवेचन के साथ कतिपय आगम प्रकाशित

१७. जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम

१८. अ.भा. साधुमार्गी जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सैलाना

१९. जैन आगम नवनीत सिरोही (राज.) : सभी ३२ आगमों का सार हिन्दी में प्रकाशित

२०. यशोविजय जैन ग्रन्थमाला भावनगर : वृत्ति सहित प्रज्ञापना आदि सूत्रों का प्रकाशन

२१. अगरचन्द भैरोंदान सेठिया पारमार्थिक संस्था, मरोठी सेठिया मोहल्ला, बीकानेर

२२. लाला सुखदेव सहाय,ज्वाला-प्रसाद हैदराबाद : अमोलकऋषिजी जी द्वारा कृत हिन्दी व्याख्या सहित आगमों का प्रकाशन

२३. आगम अनुयोग प्रकाशन ट्रस्ट १५,स्था.जैन सोसायटी नारायणपुरा क्रांसिग के पास अहमदाबाद– ३८००१३ : उपा. श्री कन्हैयालालजी 'कमल' द्वारा तैयार किए गए चारों अनुयोगों का प्रकाशन एवं कतिपय अन्य आगम

२४. आगम रत्न मंजूषा : मूल ४५ आगमों का प्रकाशन

२५. तेरापंथी महासभा, कलकत्ता

२६. देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फाण्ड, मुम्बई

२७. जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुम्बई

२८. दिव्यदर्शन ट्रस्ट,
(i) ६८, गुलालवाड़ी, तीसरा माला, मुम्बई
(ii) ३९, कलिकुंड सोसायटी, धोलका (गुजरात)

२९. प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, ३७५, सरस्वती नगर, आजाद सोसायटी के पास, अहमदाबाद

३०. श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर(काठियावाड)

३१. आगम ज्ञानपीठ, मानसा मण्डी (पंजाब)

३२. दिवाकर प्रकाशन, ए–७, अवागढ़ हाउस, एम.जी. रोड़, आगरा–२८२००२ (उ.प्र.)

३३. मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, पीपलिया बाजार ब्यावर–३०५९०१ (राज.)

३४. सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा (उ.प्र.)

३५. दिवाकर दिव्यज्योति कार्यालय, महावीर बाजार, ब्यावर-३०५९०१

३६. श्रुतज्ञान भवन, ४५ दिग्विजय प्लोट, जामनगर

आगम/टीका एवं जैन साहित्य विक्रय-केन्द्र

१. सरस्वती पुस्तक भण्डार, हाथी खाना, रतनपोल, अहमदाबाद (गुजरात)

२. पार्श्व प्रकाशन, जवेरी वाड़, निशा पोल, अहमदाबाद (गुजरात)

३. मोतीलाल बनारसीदास, ४१ UAबैंग्लो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली—११०००७

सूचनाएँ

१. जिनवाणी का यह 'जैनागम—साहित्य विशेषाङ्क' जनवरी—फरवरी—मार्च—अप्रेल २००२ का संयुक्ताङ्क है। अब मई २००२ से प्रत्येक माह नियमित अंक प्रकाशित होगा। आप इस विशेषाङ्क का स्वाध्याय कर अपनी सम्मति से अवश्य अवगत करावें।

२. विशेषाङ्क के बढ़ते आकार को ध्यान में रखते हुए, इसमें आगमों से सम्बद्ध समीक्षात्मक विषयों पर लेखों का समावेश नहीं किया जा सका है। उन लेखों को जिनवाणी के किसी अंक में एक साथ प्रकाशित करने का प्रयास रहेगा। वह अंक इस विशेषाङ्क का पूरक अंक होगा। —**सम्पादक**

जिन महानुभावों से इस विशेषाङ्क हेतु अर्थ सहयोग प्राप्त हुआ है। उनकी नामावली आगामी अंक में दी जायेगी। जो महानुभाव इस विशेषाङ्क की प्रसन्नता में अर्थसहयोग करना चाहें, वे न्यूनतम ५००/— रुपये की राशि 'जिनवाणी' जयपुर के नाम से बैंक ड्राफ्ट या मनीआर्डर द्वारा भेज सकते हैं। उनके नामों का उल्लेख जिनवाणी के आगामी अंकों में किया जायेगा। —**प्रकाशचन्द डागा, मंत्री, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, जयपुर— 302003, फोन नं. 565997**

आचार्य श्री हस्ती जीवन-चरित्र का प्रकाशन

युगमनीषी आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. के जीवन चरित्र का प्रकाशन शीघ्र संभावित है। समिति की योजना के अनुसार इस ग्रन्थ की १० हजार प्रतियां प्रकाशित की जायेंगी। प्रत्येक अर्थ सहयोगी से २० हजार रूपये का स्वैच्छिक अर्थ सहयोग लिया जाएगा। अर्थ सहयोगियों की नामावली का अकारादि क्रम से ग्रन्थ में प्रकाशन किया जाएगा तथा उन्हें ग्रंथ की २५ प्रतियाँ निःशुल्क दी जायेंगी, जिसका उपयोग वे अपने परिचितों—परिजनों हेतु कर सकेंगे। इस योजना में जुड़कर अपनी भक्ति का परिचय देने वाले महानुभाव शीघ्र सम्पर्क करें—**ज्ञानेन्द्र बाफना, अध्यक्ष, आचार्य श्री हस्ती जीवन चरित्र समिति, सी—55, शास्त्री नगर, जोधपुर. फोन नं. 0291—434355, 645061**

समाचार-दर्शन

देश

गुजरात में हिंसा का वातावरण

धर्म का हठाग्रहं एवं अविवेकयुक्त कार्य साम्प्रदायिक हिंसा का रूप ले लेते हैं, इसका उदाहरण है गुजरात में उत्पन्न हिंसा का वातावरण। २७ फरवरी २००२ को गोधरा में साबरमती एक्सप्रेस की चार बोगियों में आग लगने से हुई लगभग ३०० निर्दोष व्यक्तियों की हिंसा के बाद गुजरात में प्रतिक्रिया स्वरूप हिंसा भड़क उठी। उसके पश्चात् अहमदाबाद, बड़ोदरा, भरूंच आदि में फैले आक्रोश से सैंकड़ों की जाने गई। कई घायल हो गए। हिंसा का यह रूप तीन-चार दिनों में शांत हुआ ही था, उसके पश्चात् एक कांग्रेसी सांसद के भतीजे की हत्या हो जाने से पुनः हिंसा प्रकट हुई, जिसकी छुटपुट प्रतिक्रिया अभी भी देखी जा रही है।

धर्म तो परस्पर मैत्री एवं सहयोग का पाठ पढ़ाता है, फिर यह हिंसा क्यों? हिंसा को त्यागकर पारस्परिक मेलजोल रखने में ही सबका हित है।

समाज-समाचार

पीपाड़ में चार मुमुक्षु बहिनों की भागवती दीक्षा सम्पन्न

रत्नवंश के अष्टम पट्टधर आगमज्ञ आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा. की आज्ञा से पीपाड़ (जिला– जोधपुर) में मधुर व्याख्यानी श्री गौतममुनि जी म.सा., तपस्वी श्री प्रकाशमुनि जी म.सा., शान्तस्वभावी तपस्विनी महासती श्री शांतिकँवर जी म.सा., व्याख्यात्री महासती श्री सोहनकँवर जी म.सा., महासती श्री सुश्रीप्रभा जी म.सा., व्याख्यात्री महासती श्री मुक्तिप्रभा जी म.सा. आदि ठाणा १६ के पावन-सान्निध्य में माघ शुक्ला त्रयोदशी २५ फरवरी २००२ को चार मुमुक्षु बहिनों ने जैन भागवती दीक्षा अंगीकार की। दीक्षा अंगीकार करने वाली बहनें हैं– **सुश्री सुशीला लुणावत** (सुपुत्री ज्ञानचन्द जी चंचलदेवी जी लुणावत, पीपाड़), **सुश्री अनिता जैन** (सुपुत्री श्री बंशीलाल जी शांतिदेवी जी, अलीगढ़–टोंक), **सुश्री समता लुणावत** (सुपुत्री श्री शान्तिलाल जी श्रीमती लीलादेवी जी, पीपाड़) और **सुश्री डिम्पल जैन** (सुपुत्री स्व. श्री पुखराज जी श्रीमती शांतिदेवी जी, बिराई)। भागवती दीक्षा का पाठ मधुरव्याख्यानी श्री गौतममुनि जी म.सा. ने प्रातः ८:१५ बजे प्रारम्भ किया। मुनि श्री ने आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा. से प्राप्त संदेश का भी वाचन किया।

मुनिश्री ने संक्षिप्त उद्बोधन के साथ चारों मुमुक्षु बहनों को 'करेमि भंते' के पाठ से दीक्षित किया। इसके पूर्व मुमुक्षु बहनों को दीक्षित करने हेतु माता-पिता, पारिवारिक-जन, संघाध्यक्ष सहित संघ-पदाधिकारियों, संघ-

प्रमुखों ने सभा-मण्डप में खड़े होकर अनुमति प्रदान की। दीक्षाभिषेक के पश्चात् नवदीक्षिता साध्वियों ने सन्त-सतीवृन्द को विधिवत् वन्दन-नमन कर यथायोग्य स्थान ग्रहण किया। शान्तस्वभावी महासती श्री शांतिकंवर जी म. सा. के संकेतानुसार नमोत्थुणं के पाठ का उच्चारण कराया गया और सिर पर अवशिष्ट केशों का लुंचन किया गया।

दीक्षाविधि के पश्चात् भी समारोह बिना माइक के निराबाध रूप से प्रातः १०.३० बजे तक चलता रहा। इस अवसर पर सर्व श्री नवरतनमल जी डोसी, श्री नवरतन जी डागा, श्री विमलचन्द जी डागा, सुश्री शालिनी मेहता, श्री हस्तीमल जी गोलेच्छा, श्री ज्ञानेन्द्र जी बाफना, विरक्ता बहन सुश्री पायल, सुश्री नूतन, सुश्री माला ने अपने भाव-भक्तिमय विचार प्रकट किये। बालोतरा श्रीसंघ ने चातुर्मास हेतु भावभरी विनति प्रस्तुत की। न्यायाधिपति श्री जसराज जी चौपड़ा ने अपने हृदयोद्‌गार व्यक्त किए।

मुनिश्री का संकेत पाकर महासती श्री मुदितप्रभा जी म.सा., महासती श्री रुचिता जी म.सा., महासती श्री सुश्रीप्रभा जी म.सा. और महासती श्री समता जी म.सा. ने संक्षिप्त किन्तु प्रेरणादायी प्रवचन के माध्यम से संयम की महत्ता बताई।

मधुर व्याख्यानी श्री गौतममुनि जी म.सा. ने अपने प्रवचन में फरमाया— "इन बहिनों ने अंधकार से प्रकाश की ओर तथा अणु से विराट् की ओर बढ़ने हेतु तीन मूल मंत्र स्वीकार किए हैं— १. सावज्जं जोगं पच्चक्खामि २. मित्ती मे सव्वभूएसु और ३.समयं गोयम! मा पमायए।" तपस्वी श्री प्रकाशमुनि जी म.सा. ने अपने आशीर्वचन में फरमाया—"आज सोमवार है। सोम को चन्द्र कहते हैं, आप चन्द्र की तरह प्रकाशित हों।"

प्रवचन के पश्चात् दीक्षा के अनुमोदन में कई भाई-बहनों ने जमीकन्द के त्याग किए। कुछ लोगों ने मौनव्रत का नियम लिया। नवदीक्षिता श्री अनिता जी के ताऊजी श्री भंवरलाल जी जैन ने सपत्नीक शीलव्रत के खंद किए। स्वागत समिति के सदस्य श्री पुखराज जी चौधरी-पीपाड़शहर ने भी शीलव्रत का खंद अंगीकार कर दीक्षा की अनुमोदना की।

स्वागताध्यक्ष एवं अ.भा. श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ के संरक्षक-मण्डल के संयोजक माननीय श्री मोफतराज जी मुणोत ने नवदीक्षिता साध्वियों के प्रति अपनी शुभकामनाएँ व्यक्त करते हुए कहा कि जिस पथ पर वे अग्रसर हुई हैं, उस पर सूर्य की भांति चमकें और स्व-पर का कल्याण करें। लुणावत परिवार, पीपाड़ श्रीसंघ एवं अन्य सहयोगी संस्थाओं और व्यक्तियों का मुणोत साहब ने हृदय से आभार व्यक्त किया। राष्ट्रीय संघाध्यक्ष श्री रतनलाल जी बाफना ने समागत सभी श्री संघों का हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित किया। कार्यक्रम का कुशल संचालन समर्पित युवा श्री

सुमतिचन्द जी मेहता ने किया।

दीक्षा महोत्सव पर विभिन्न स्थानों के लगभग ४ हजार लोग उपस्थित थे। आवास, भोजनादि की सुन्दर व्यवस्था में लुणावत परिवार एवं कवाड़ परिवार का प्रमुख योगदान रहा।

शोभायात्रा एवं अभिनन्दन कार्यक्रम– दीक्षाभिषेक के एक दिन पूर्व २४ फरवरी २००२ को प्रात: १० बजे चारों मुमुक्षु बहिनों की भव्य शोभायात्रा, भक्ति गीत, भजन, गगनभेदी जयनाद के साथ पीपाड़ के प्रमुख मार्गों से निकल कर कोट में विसर्जित हुई।

इसी दिन सायं ७ बजे पश्चात् श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ-पीपाड़ शहर, श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ-पीपाड़ शहर एवं अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ के संयुक्त तत्त्वावधान में वीर माता-पिता और दीक्षार्थिनों बहिनों का स्वागत-अभिनन्दन का कार्यक्रम अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ के अध्यक्ष माननीय श्री रतनलाल जी बाफना की अध्यक्षता में श्री ओसवाल लोड़े साजन विकास केन्द्र (कोट) में रखा गया। समारोह में श्री चुन्नीलाल जी सैनी एस.डी.एम. तथा श्री बाबूलाल जी टाक, नगराध्यक्ष विशिष्ट अतिथि के रूप में पधारे। समारोह में मुमुक्षु बहिनों एवं वीर माता-पिताओं को अभिनन्दन पत्र एवं रजत पट्टिका पर प्रशस्ति-सम्मान अर्पित किया गया।

समारोह में विरक्ता बहनों ने अपने विचार प्रकट करते हुए संयम–जीवन के महत्त्व का प्रतिपादन किया। समारोह के अध्यक्ष श्री रतनलाल जी बाफना ने जीवन की नश्वरता को समझ कर संयम द्वारा इसे सार्थक बनाने की प्रेरणा की।

बड़ी दीक्षा भोपालगढ़ में

३ मार्च २००२ को भोपालगढ़ में मधुर व्याख्यानी श्री गौतममुनि जी म.सा. के मुखारविन्द से चारों नवदीक्षिता साध्वियों की बड़ी दीक्षा सम्पन्न हुई। नवदीक्षिता साध्वियों के नाम निम्नानुसार रखे गए–

सुशीला जी लुणावत –**महासती श्री संयमप्रभा जी**
अनिता जी जैन –**महासती श्री वृद्धिप्रभा जी**
समता जी लुणावत –**महासती श्री ऋद्धिप्रभा जी**
डिम्पल जी जैन –**महासती श्री सिद्धिप्रभा जी**

पूर्व विधायक श्री रामनारायण जी डूडी और भोपालगढ़ के सरपंच ने अपने हृदयोद्‌गार में जैन सन्त-सतीवृन्द के तप:पूत साधनामय जीवन को श्रेष्ठ बताते हुए अपनी ओर से नवदीक्षिता महासती-मण्डल हेतु संयम साधना में उत्तरोत्तर प्रगति की कामना की। कार्यक्रम का संचालन सुश्रावक श्री नेमीचन्द जी कर्णावट ने किया।

१७ अप्रेल को कतिपय चातुर्मासों की स्वीकृति

रत्नवंश के अष्टम पट्टधर परम श्रद्धेय आचार्यप्रवर के श्रीचरणों में चातुर्मास की निरन्तर विनतियां चल रही हैं। श्रीसंघों की भावना का समादर करते हुए आचार्यप्रवर ने १७ अप्रेल, २००२ को कतिपय चातुर्मास स्वीकार करने का मानस बनाया है और अपने मुखारविन्द से चैत्र शुक्ला द्वि. चतुर्थी बुधवार, दिनांक १७ अप्रेल २००२ को कतिपय चातुर्मास स्वीकार करने की बात भी फरमाई है। इस अवसर पर घोटी या उसके आसपास विराजने की संभावना प्रतीत होती है।

अक्षय तृतीया मुम्बई या ठाणे में सम्भावित

तप और दान के विशिष्ट पर्व अक्षय तृतीया पर १५ मई २००२ को आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा. आदि ठाणा मुम्बई महानगर के किसी उपनगर या ठाणे में विराजें, ऐसी संभावना है।

संघ-संरक्षक मण्डल के संयोजक माननीय श्री मोफतराज जी मुणोत ने सभी तप.साधकों एवं नवीन त्याग.तप अंगीकार करने वालों से अक्षय तृतीया पर मुम्बई पधारने के कार्यक्रम की सूचना (जिसमें कौनसी गाड़ी से कहां उतर रहे हैं, कितने सदस्य हैं) करने पर मुम्बई रेलवे स्टेशन से आचार्यप्रवर की सेवा में ले जाने की व्यवस्था करने की बात स्पष्ट की है। अतः तप-साधकों एवं नवीन व्रत.प्रत्याख्यान अंगीकार करने वालों से निवेदन है कि आप अपने कार्यक्रम की जानकारी निम्न पते पर आवश्यक रूप से देने का कष्ट करें—**श्रीयुत मोफतराज जी मुणोत, संयोजक— संरक्षक मण्डल, "मुणोत विला" वेस्ट कम्पाऊण्ड लेन, 63—भूला भाई देसाई रोड़, मुम्बई—400026(महा.) फोन नं. कार्यालय— 022—2822888, 2822679 निवास—022—3648004, 3625205, फैक्स नं. कार्यालय— 2041548 निवास— 3648419**

विचरण विहार की संभावित दिशाएं

- परम श्रद्धेय आचार्यप्रवर पूज्य श्री १००८ श्री हीराचन्द्र जी म.सा., परम श्रद्धेय उपाध्याय पं. रत्न श्री मानचन्द्र जी म.सा. आदि संत-मुनिराजों के नासिक क्षेत्र एवं तदनन्तर घोटी—इगतपुरी क्षेत्र की ओर विहार की संभावना है। नासिक रोड में फाल्गुनी चौमासी पर आचार्यप्रवर एवं उपाध्यायप्रवर आदि ठाणा १० का मधुर मिलन हुआ।
- मधुर व्याख्यानी श्री गौतममुनि जी म.सा., तपस्वी श्री प्रकाशमुनि जी म.सा. ठाणा २ ने भोपालगढ़ से विहार कर दिया है। फाल्गुनी चातुर्मासिक पक्खी पूर्व पालासनी पधारे। अब पाली की ओर विहार संभावित है।
- साध्वीप्रमुखा प्रवर्तिनी महासती श्री लाडकंवर जी म.सा. आदि ठाणा पावटा तथा सरलहृदया महासती श्री सायरकंवर जी म.सा., शासनप्रभाविका महासती श्री मैनासुन्दरीजी म.सा. आदि ठाणा घोड़ों के

चौंक, जोधपुर में विराजमान हैं। महासती श्री चन्द्रकला जी म.सा. के घाव पूरा भरने के बाद एवं स्वास्थ्य-समाधि के रहते अन्य क्षेत्र फरसने की भावना है। फाल्गुनी चातुर्मासिक पक्खी पश्चात् आचार्यप्रवर के दिशा. निर्देशानुसार व्याख्यात्री महासती श्री रतनकंवर जी म.सा. के विहार की संभावना है।

- सेवाभावी महासती श्री संतोषकंवर जी म.सा. आदि ठाणा ४ के फाल्गुनी चौमासी पश्चात् खींवसर से नागौर की ओर विहार संभावित है।
- शांतस्वभावी तपस्विनी महासती श्री शांतिकंवर जी म.सा. आदि ठाणा ९ अभी भोपालगढ़ विराजित हैं। नागौर से महासती श्री इन्दुबाला जी म.सा. आदि ठाणा के पुनः भोपालगढ़ पधारने के बाद अलग-अलग संघाड़ों में समीपवर्ती क्षेत्रों में विहार की संभावना है।
- व्याख्यात्री महासती श्री तेजकंवर जी म.सा. आदि ठाणा का जामनेर से जलगांव की ओर विहार संभावित है।
- विदुषी महासती श्री सुशीलाकंवर जी म.सा. आदि ठाणा के नासिक के आसपास के क्षेत्रों में विहार की संभावना है।
- व्याख्यात्री महासती श्री ज्ञानलता जी म.सा. आदि ठाणा के बजरिया से सवाईमाधोपुर आदि पोरवाल क्षेत्र में विहार की संभावना है।
- व्याख्यात्री महासती श्री निःशल्यवती जी म.सा. आदि ठाणा के दूणी से कोटा की ओर विहार की संभावना है।
- व्याख्यात्री महासती श्री मुक्तिप्रभा जी म.सा. आदि ठाणा भोपालगढ़ से जोधपुर पधारे। अब पाली से मेवाड़ क्षेत्र फरसते हुए मध्यप्रदेश-महाराष्ट्र की ओर बढ़ें, ऐसी संभावना है।

—अरुण मेहता,
महामंत्री– अ.भा. श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ

श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, जयपुर में उच्च शिक्षा का सुअवसर एवं निःशुल्क संस्कार निर्माण शिविर

श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, जयपुर के तत्त्वावधान में माध्यमिक शिक्षा बोर्ड की परीक्षाओं की समाप्ति के पश्चात् एक पंच दिवसीय संस्कार निर्माण शिविर लगाया जायेगा। इस शिविर में इस वर्ष सन् २००२ में कक्षा १० उत्तीर्ण कर कक्षा ११में प्रवेशार्थी छात्रों को प्रवेश दिया जायेगा। इस शिविर के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं:—

१. जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से जीवनोपयोगी तत्त्वज्ञानपूर्वक संस्कार निर्माण के रूप में शिक्षण दिया जायेगा।
२. शिविरार्थियों में से इस संस्थान में प्रवेशार्थी छात्रों का चयन किया जायेगा।

इस संस्थान का उद्देश्य संस्कारशील उच्च स्तरीय जैन विद्वान् तैयार करना है। इसके लिए छात्रों को उच्च स्तरीय संस्कृत, प्राकृत आदि विषयों का अध्यापन कराया जाता है, जिससे छात्र हायर सैंकण्डरी, बी.ए., एम.ए., आर.ए.एस. आदि परीक्षाओं में वरीयता सूची में स्थान पाते हैं तथा छात्रों को आत्म--निर्भर होने के लिए पूर्ण सहयोग दिया जाता है, जिससे उन्हें आजीविका के लिए इधर--उधर जाना नहीं पड़ता है।

संस्थान में परिश्रमी, सेवाभावी, अनुशासनप्रिय, प्रतिभासम्पन्न छात्रों को ही प्रवेश दिया जाता है। संस्थान के छात्रों की भोजन, आवास आदि की व्यवस्था निःशुल्क है।

शिविर तथा संस्थान में प्रवेशार्थी छात्र अपना (१) नाम (२) पिता का नाम (३) गोत्र (४) जन्मतिथि (५) निवास स्थान व पता (६) धार्मिक योग्यता एवं विगत दो वर्षों की विद्यालयीय परीक्षाओं में प्राप्तांक (अंक तालिका की प्रति अलग से संलग्न करें) आदि का विवरण देते हुए निम्नांकित पते पर ३० अप्रेल २००२ तक आवेदन पत्र भेजें, जिससे उन्हें अनुमति पत्र एवं शिविर तिथि की सूचना समय पर भेजी जा सके।

पता-- **अधिष्ठाता, श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान**
ए--9, महावीर उद्यान पथ, बजाजनगर, जयपुर--302015 (राज.)
फोन नं. 0141-- 511946

जैन अध्यापक तैयार करने की दो आकर्षक योजनाएँ

1. तीन वर्ष तक विद्यापीठ में रहकर धार्मिक अध्ययन--न्यूनतम योग्यता--१२वीं पास, आयु--१७से २१ वर्ष

अध्ययनकाल में भोजन आवास तथा धार्मिक शिक्षण की निःशुल्क व्यवस्था के साथ प्रथम वर्ष में रुपये ६००/-- द्वितीय में रुपये ७५०/-- तथा तृतीय में रुपये ९००/-- प्रतिमाह छात्रवृत्ति। पाठ्यक्रम पूर्ण करने पर समाज सेवा में रुपये ५०००/-- माह पर सर्विस की गारण्टी। १० वर्ष तक समाज-सेवा में निरन्तर सर्विस करने पर १ लाख रुपये का सम्मान पुरस्कार। प्राइवेट परीक्षा की छूट।

2. पत्राचार योजना-- घर बैठे तीन वर्ष में कुशल साधक, प्रशिक्षित अध्यापक, प्रभावशाली प्रचारक तथा कर्त्तव्यनिष्ठ समाजसेवी बनने योग्य भाई-बहन इस योजना में शामिल हो सकते हैं। तीन वर्ष का नियत पाठ्यक्रम पूर्ण करने पर आकर्षक पुरस्कार तथा बेचलर ऑफ जैनोलाजी की उपाधि से अलंकरण। साधु--साध्वी तथा शिविरों में अध्यापन का सुअवसर।

पाठ्यक्रम तथा नियमावली के लिए सम्पर्क करें-- **प्रकाशचन्द जैन, प्राचार्य**
श्री महावीर जैन स्वाध्याय विद्यापीठ, व्यंकटेश मंदिर के पीछे, गणपति नगर, जलगांव-- 425001 (महा.)

जिनवाणी हिन्दी मासिक पत्रिका का विवरण

(फार्म 2 नियम 8 देखिए)

1.	प्रकाशन स्थान	:	जयपुर
2.	प्रकाशन अवधि	:	मासिक
3.	मुद्रक का नाम	:	प्रकाशचन्द डागा
4.	प्रकाशक का नाम	:	प्रकाशचन्द डागा
	राष्ट्रीयता	:	भारतीय
	पता	:	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल बापू बाजार, जयपुर-302003 (राज.)
5.	सम्पादक का नाम	:	डॉ. धर्मचन्द जैन
	राष्ट्रीयता	:	भारतीय
	पता-	:	3 के 24-25, कुड़ी भगतासनी हाउसिंग बोर्ड जोधपुर- 342005 (राज.)
6.	उन व्यक्तियों के नाम व पते जिनका पत्र पर स्वामित्व है।	:	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल बापू बाजार, जयपुर-302003 (राज.)

मैं प्रकाशचन्द डागा, मंत्री-सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिया गया विवरण सत्य है।

मार्च 2002

हस्ताक्षर : प्रकाशचन्द डागा
प्रकाशक

शान्ति और समता के लिए न्याय-नीतिपूर्वक धर्म का आचरण ही श्रेयस्कर है।

''आचार्य श्री हस्ती''